2013

कृष्णदास संस्कृत सीरीज ५०

॥ श्रीः ॥

परमलघुमञ्जूषा

'भावप्रकाशिका' 'बालबोधिनी' संस्कृत-हिन्दी-व्याख्योपेता

व्याख्याकारः सम्पादकश्च
डॉ० जयशङ्कर लाल त्रिपाठी

कृष्णदास अकादमी, वाराणसी

कृष्णदास संस्कृत सीरीज
५०

श्रीनागेशभट्ट-विरचिता

परमलघुमञ्जूषा

'भावप्रकाशिका' 'बालबोधिनी' संस्कृत-हिन्दी-व्याख्योपेता

व्याख्याकारः सम्पादकश्च
डॉ० जयशङ्कर लाल त्रिपाठी
व्याकरणाचार्यः (लब्धस्वर्णपदकः),
एम. ए., पी-एच. डी., डी. लिट्.
प्राध्यापकः संस्कृत-विभागः, कलासङ्कायः,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालयः, वाराणसी

प्रस्तावकः
डॉ० विश्वनाथ भट्टाचार्यः
मयूरभञ्ज प्रोफेसर, विभागाध्यक्षश्च संस्कृत-विभाग: कला-संकाय:
काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालयः

कृष्णदास अकादमी, वाराणसी
१९८५

KRISHNADAS SANSKRIT SERIES
50

PARAMA-LAGHU-MAÑJŪṢĀ

OF

SRĪ NĀGEŚA BHAṬṬA

Edited With

BHĀVAPRAKĀŚIKĀ, AND 'BĀLABODHINĪ' SANSKRIT-HINDI COMMENTARIES

By

Dr. Jaya Shankar Lal Tripathi

Vyākaraṇāchārya (Goldmedalist) M. A., Ph. D., D. Litt.

Lecturer, Department of Sanskrit, Art's Faculty,

Banaras Hindu University, Varanasi

Foreword by

Dr. Bishwanath Bhattacharya

Mayūrabhañja Professor & Head, Department of Sanskrit

Banaras Hindu University

KRISHNADAS Academy

VARANASI-221001

1985

प्रस्तावना

डॉ॰ विश्वनाथ भट्टाचार्य
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष,
संस्कृत विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

शास्त्रीय साहित्य-परम्परा में व्याकरण-शास्त्र महत्त्वपूर्ण स्थान का अधिकारी है। भारतीय मनीषा की यह विलक्षणता विश्वविदित है कि किसी भी विषय का विवेचन यहाँ सतही स्तर पर नहीं होता है अपितु उस विषय के आमूलचूल विवेचन प्रस्तुत करने में विद्वानों की गहरी रुचि दिखाई पड़ती है। यही कारण है कि दैनन्दिन जीवन में प्रयुक्त होने वाली मौखिक भाषा के भी गूढ़ातिगूढ़ रहस्य का उद्घाटन संस्कृत में उपलब्ध होता है। विश्व के प्राचीनतम माने जाने वाले वैदेशिक साहित्यों में भी, चाहे ग्रीस का हो, मिश्र का हो या चीन का, कहीं भी मौखिक भाषा का इतना व्यापक और गम्भीर मूल्यांकन करने का प्रयास नहीं किया गया है जितना कि भारत में हुआ है।

व्याकरण को शब्दानुशासन की संज्ञा देते हुए भारतीय वैयाकरणों ने भाषा-विवेचन की जो शृंखला चलायी उसे वस्तुतः अनादि कहा जा सकता है। इतिहास तो तब हमारे सामने उपस्थित होता है जब महामुनि पाणिनि की अष्टाध्यायी, कम से कम ई० पू० ५०० से, विचारों की केन्द्र-बिन्दु बन गयी। पाणिनि की असाधारण प्रतिभा और विद्वत्ता का यही सबसे बड़ा प्रमाण है कि उन्होंने जल-प्रवाह के समान निरन्तर गतिशील भाषा का एक ऐसा रूप व्यवस्थित कर दिया जो आज भी भावों के अनन्त वैचित्र्यों को उसी रूप में प्रकाशित करने में पूर्णतया समर्थ है।

अपने आप में यह विलक्षणता तो अनुपम है ही, पर इसी के साथ भाषा के विद्वानों ने उसका जो दार्शनिक पक्ष प्रस्तुत किया है उसका भी महत्त्व अनस्वीकार्य है। वर्ण, पद और वाक्य से यात्रा आरम्भ कर व्याकरण शब्दब्रह्म तक पहुँच गया है। वस्तुतः ब्रह्म की प्रारम्भिक अवधारणा सम्भवतः व्याकरण शास्त्र की ही देन है और इस प्रसंग में भर्तृहरि का नाम श्रद्धा से स्मरणीय है।

भाषा के व्यावहारिक स्वरूप के साथ ही इसके दार्शनिक स्वरूप के आकलन और निरूपण में परवर्ती काल में जिन वैयाकरणों ने विशेष योगदान किया है इनमें वाराणसी के महाराष्ट्रिय-विद्वान् नागेशभट्ट की देन विलक्षण रही है।

दर्शन, अलंकार, धर्मशास्त्र आदि अनेक शास्त्रों में अद्वितीय अधिकार रखने वाले नागेश भट्ट ने व्याकरण-शास्त्र के भाषा तथा दर्शन इन उभय पक्षों पर ध्यान दिया और प्रक्रिया के साथ-साथ दार्शनिक तत्त्वों का भी विवेचन प्रस्तुत किया। उनके द्वारा लिखे गये सभी ग्रन्थ पठन-पाठन की परम्परा में निरन्तर व्यवहृत होते आ रहे हैं। उत्कट कोटि के विद्वान् होने पर भी उनकी यह विलक्षणता रही है कि शास्त्र में प्रवेशार्थी विद्यार्थियों को भी ध्यान में रखकर उन्होंने अपने ग्रन्थों की रचना की है। यही कारण है कि केवल 'मञ्जूषा' लिखकर ही उन्होंने सन्तोष नहीं किया अपितु अधिकारि-भेद को ध्यान में रखकर 'लघुमञ्जूषा' और 'परमलघुमञ्जूषा' जैसे ग्रन्थों की रचना की। व्याकरण-शास्त्र के दार्शनिक सिद्धान्तों के सरलतम प्रतिपादन के लिए 'परमलघुमञ्जूषा' अपनी कोटि का अद्वितीय ग्रन्थ है। मौलिकता नहीं अपितु गम्भीर से गम्भीर तात्त्विक सिद्धान्तों का सरलतम प्रतिपादन इस ग्रन्थ का अनुपम वैशिष्ट्य है।

विस्तृत भूमिका, तात्त्विक विवेचन, प्राञ्जल अनुवाद और सयत्न सम्पादन करते हुए हमारे सहयोगी डा० जयशंकरलाल त्रिपाठी ने 'परम-लघु-मञ्जूषा' का यह नवीन संस्करण प्रकाशित करते हुए एक महान् अभाव को दूर कर दिया है। हम उनको हार्दिक साधुवाद देते हैं। हमें आशा है कि सुसम्पादित यह ग्रन्थ विद्याक्षेत्र में पूर्णतया समादृत होगा।

मकर संक्रान्ति
वि. सं. २०४१

—विश्वनाथ भट्टाचार्य

सम्पादकीय

वाक्-तत्त्व के विषय में भारतीय मनीषियों का चिन्तन अत्यन्त प्राचीन और गम्भीर है। इसी के फलस्वरूप शब्द-शास्त्र ने भी दर्शन का गरिमामय पद प्राप्त किया। समय-समय पर विभिन्न आचार्यों की कल्पना ने व्याकरण को दर्शन की कोटि में प्रतिष्ठापित करने का जो स्तुत्य प्रयास किया वह विद्वानों से छिपा नहीं है। पाणिनि के पूर्वकाल से लेकर अद्यावधि इस दिशा में चिन्तन-मनन की अजस्र धारा प्रवाहित हो रही है।

व्याकरण-दर्शन के प्रमुख ग्रन्थों में—व्याडि का 'संग्रह' ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है, पतञ्जलि का महाभाष्य अतिगूढ है, वाक्यपदीय मतमतान्तरों से युक्त है। इस दिशा में भट्टोजिदीक्षित, कौण्डभट्ट और नागेश भट्ट का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वैयाकरणभूषणद्वय और वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषात्रयी में विपक्षियों के मतों का सयुक्तिक खण्डन करके वैयाकरणों के सिद्धान्तों की स्थापना की गयी है। गुरु, लघु एवं परम-लघु-यह मञ्जूषात्रयी क्रमबद्ध और सुव्यस्थितरूप में व्याकरण के दार्शनिक पदार्थों का प्रतिपादन करती है।

विगत अनेकवर्षों से इस दिशा में चिन्तन, मनन एवं शोधकार्य करते समय यह विचार बना कि इन ग्रन्थों की एक सरल, व्यापक और प्रामाणिक व्याख्या लिखी जाय। संस्कृत-शास्त्रों की अपनी एक शैली है। उनके गम्भीर विषयों का स्पष्टीकरण अल्प आयास से जानने के लिये संस्कृत-व्याख्या अधिक सहायक होती है, यह सभी विद्वान् जानते हैं। अतः मैंने यह निश्चय किया कि सर्व प्रथम परम-लघुमञ्जूषा पर विस्तृत एवं सरल संस्कृत-व्याख्या लिखूँ। परन्तु इससे केवल संस्कृतज्ञ ही लाभान्वित हो सकेंगे, अतः सर्वजनोपयोगी बनाने के लिये राष्ट्रभाषा हिन्दी में भी विस्तृत व्याख्या लिखने का निश्चय किया।

इस उपयोगी ग्रन्थ पर पं० नित्यानन्द पर्वतीय, पं० वंशीधर मिश्र एवं पं. कालिकाप्रसाद शुक्ल आदि की टीकायें प्रकाशित हो चुकी हैं। परन्तु अभी भी शोधपूर्ण प्रामाणिक संस्करण और विस्तृत संस्कृत-हिन्दी-व्याख्या की महती आवश्यकता थी। इसी उद्देश्य से प्रस्तुत व्याख्याद्वयी का सम्पादन किया गया है। भूमिका अंश में नागेश भट्ट के जीवनवृत्त आदि पर विचार किया गया है। ग्रन्थस्थ समस्त विषयों का झटिति ज्ञान हो सके इसके लिये परमलघुमञ्जूषा के समस्त विषयों का संक्षेप में हिन्दी में उल्लेख किया गया है, जो अति उपयोगी होगा। मूलग्रन्थ के प्रत्येक पद का आशय

संस्कृत-व्याख्या में लिखा गया है। हिन्दी में अनुवाद से स्पष्ट न हो सकने वाले गम्भीर स्थलों को 'विमर्श' के अन्तर्गत समझाया गया है। परिशिष्ट भाग में समस्त उद्धरणों के मूलस्थान का निर्देश किया गया है। इस प्रकार इसे प्रत्येक दृष्टि से उपयोगी बनाने की पूर्ण चेष्टा की गयी है। इस संस्करण से यदि निर्मत्सर विद्वानों और जिज्ञासु अध्येताओं को यत्किञ्चिदपि लाभ हुआ तो अपने प्रयास की सार्थकता समझूँगा।

प्रस्तुत संस्करण के प्रेरक एवं प्रस्तावना-लेखक माननीय विद्वद्वर डाक्टर विश्वनाथ भट्टाचार्य, प्रोफेसर एवम् अध्यक्ष संस्कृतविभाग, कलासंकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी, के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

प्रस्तुत व्याख्याद्वयी के लेखन में जिन विद्वानों एवं जिनकी कृतियों से सहायता प्राप्त हुई है उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

विपुल व्याख्याद्वयी के साथ परमलघुमञ्जूषा को प्रकाशित करने की समस्या उपस्थित हुई। इसका समाधान करने का श्रेय कृष्णदास अकादमी, वाराणसी के संचालकों को ही है जिन्होंने इसके प्रकाशन का उत्तरदायित्व लेकर इसे विद्वज्जनों के समक्ष प्रस्तुत किया है। अतः मैं हृदय से इनका आभारी हूँ।

प्रस्तुत संस्करण के सम्पादन से लेकर प्रकाशनपर्यन्त सदैव अपेक्षित सहायता प्रदान करने वाले प्रिय मित्र डॉक्टर सुधाकर मालवीय को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ॥ इति शम्॥

मकर संक्रान्ति
वि. सं. २०४१

—जयशङ्कर लाल त्रिपाठी

विषयानुक्रमणी

विषयाः— पृष्ठम्

(१) प्रस्तावना १
(२) सम्पादकीय ३
(३) विषय-सूची ५
(४) संकेत-सूची ११

भूमिका—

(१) पाणिनीय व्याकरण ... १
(२) पाणिनीय व्याकरण का विकास ... ३
(३) वैयाकरण-सिद्धान्त-मञ्जूषा ... ५
(४) वैयाकरण-सिद्धान्त-लघु-मञ्जूषा ... ६
(५) परम-लघु-मञ्जूषा ... ६
(६) व्याकरण-दर्शन के अन्य प्रमुख ग्रन्थ ... ७
(७) मञ्जूषाकार नागेश भट्ट ... ८
(क) जीवनवृत्त ... ७
(ख) नागेश की गुरु-शिष्य-परम्परा ... ८
(ग) नागेश का जन्मकाल ... ९
(घ) नागेश के आश्रयदाता ... १२
(ङ) नागेश की कृतियाँ ... १२
(८) नागेश की कृतियों में मञ्जूषात्रयी का स्थान ... १३

परम-लघु-मञ्जूषा के विवेच्य विषय—

(१) शक्ति ... १४
(२) लक्षणा ... १५
(३) व्यञ्जना ... १६
(४) वृत्त्याश्रय ... १६
(५) शाब्दबोध के सहकारी कारण ... १७
(६) धात्वर्थ ... १८
(७) आख्यातार्थ ... १९

(८) निपातार्थं ... २०
(९) लकारार्थं ... २१
(१०) कारकार्थं ... २३
(११) नामार्थं ... २४
(१२) समासादिवृत्त्यर्थं ... २५

मङ्गलाचरणम्— १

स्फोट-भेद-निरूपणम् ... ५
वाक्यस्फोटस्य मुख्यत्वम् ... ६
वर्णादीनां काल्पनिकत्वम् ... ७
आप्तलक्षणम् ... ११
शाब्दबोधे कार्यकारणभाव-विचारः ... १२
कल्पितकार्यकारणभावस्य फलम् ... १४
वृत्तेस्त्रैविध्यम्— ... १६

शक्ति निरूपणम्—

शक्ति-विषयकं नैयायिकमतम् ... १६
नैयायिकमतखण्डनम् ... १९
शक्ति-विषयकं मञ्जूषाकारमतम् ... १९
तादात्म्यस्य सम्बन्धत्वम् ... २२
ईश्वरीयसंकेतस्य शक्तित्वनिरासः ... २५
तादात्म्यस्वरूपप्रतिपादनम् ... २५
बोद्धपदार्थं-निरूपणम् ... २५
अपभ्रंशेषु शक्तिसाधनम् ... ३२
अपभ्रंशेषु शक्तिविषयकतार्किकमतनिरासः ... ३३
शक्तेस्त्रैविध्यम् ... ३७
संयोगादीनां शक्तिनियामकत्वम् ... ४०

लक्षणानिरूपणम्—

नैयायिकाभिमतं लक्षणास्वरूपम् ... ४५
लक्षणानिमित्तानि ... ४८
लक्षणाप्रवृत्तिविषयकं मञ्जूषाकारमतम् ... ५०
जहदजहल्लक्षणा ... ५१
मीमांसकाभिमतं लक्षणास्वरूपम् ... ५३

लक्षितलक्षणास्वरूपम्	...	५३
लक्षणायाः द्वैविध्यम्	...	५४
लक्षणायाः खण्डनम्	...	५७
शक्त्यैव निर्वाहः	...	५९

व्यञ्जनानिरूपणम्

व्यञ्जनास्वरूपनिरूपणम्	...	६०
तार्किकमतखण्डनम्	...	६२

स्फोट-निरूपणम्

वर्णादीनां वाचकत्वनिरासः	...	६५
तार्किकमतम्	...	६८
तार्किकमतनिराकरणम्	...	६९
स्फोटस्य वृत्त्याश्रयत्वम्	...	७१
वाचश्चतुर्विधत्वम्	...	७१
स्फोटाभिव्यक्तिप्रकारः	...	७४
प्राकृतध्वनेः स्फोटव्यञ्जकत्वम्	...	७७
स्फोटाभिव्यक्तिनिरूपणम्	...	८०

शाब्दबोध-सहकारिकारणनिरूपणम्

आकाङ्क्षास्वरूपम्	...	८३
आकाङ्क्षायाः पुरुषनिष्ठत्वम्	...	८४
आकाङ्क्षायाः स्वरूपान्तरनिरूपणम्	...	८६
योग्यतानिरूपणम्	...	८८
अत्र नैयायिकमतखण्डनम्	...	८८
आसत्तिनिरूपणम्	...	९२
तात्पर्यनिरूपणम्	...	९४

धात्वर्थ निरूपणम्

धात्वर्थफलस्य निरूपणम्	...	९६
धात्वर्थव्यापारस्य निरूपणम्	...	९६
धात्वर्थविषयकं मञ्जूषाकारमतम्	...	१०१
धात्वर्थविषयकं मीमांसकमतं तत्खण्डनञ्च	...	१०३
क्रियास्वरूपविचारः	...	१११

साध्यत्वसिद्धत्व-विषयकं भूषणकारादिमतम् ... ११४
साध्यत्वविषयकं मञ्जूषाकारमतम् ... ११४
अस्त्यादिधात्वर्थविचारः ... ११६
सकर्मकत्वविवेचनम् ... ११७
ज्ञाधात्वर्थविचारः ... १२०
इष्-पत्-कृञ्-धात्वर्थ-विचारः ... १२३
धात्वर्थ-विषयकं नैयायिकमतं तत्खण्डनञ्च ... १२६
धात्वर्थव्यापारस्य प्राधान्य-निरूपणम् ... १३४
प्रथमान्तार्थ-मुख्यविशेष्यक-बोधस्य खण्डनम् ... १३६

निपातार्थ-निरूपणम्

निपातानां द्योतकत्वसमर्थनम् ... १४२
निपातोपसर्गार्थविषयकं नैयायिकमतम् ... १४५
नैयायिकमतखण्डनम् ... १४५
निपातार्थविषयकं भूषणकारादिमतम् ... १४७
भूषणकारादिमतखण्डनम् ... १४७
द्योत्यार्थेनैव निपातानामर्थवत्त्वम् ... १५०

निपातविशेषाणामर्थविचारः

इवार्थविचारः ... १५४
मञ्जूषाकारमतम् ... १५६
नञर्थविचारः ... १५८
नञर्थविषयकं नैयायिकमतं तत्खण्डनञ्च ... १७२
एवार्थविचारः ... १७४
एवार्थावधारणस्य त्रैविध्यम् ... १७४
आलङ्कारिकमतोपन्यासः ... १७७
नियमपदेन परिसंख्याया अपि ग्रहणम् ... १७८

लकारार्थ निरूपणम्

लादेशतिङामर्थबोधकत्वसमर्थनम् ... १८४
लादेशतिङां सामान्यार्थविचारः ... १८४
वर्तमानकालत्वविवेचनम् ... १८६
परोक्षत्वविवेचनम् ... १८८
लुट्-लृटतिङर्थविचारः ... १८९

लेट्-लोट्-लङामर्थविचारः ... १९०
लिङर्थ-विचारः ... १९१
प्रवर्तनात्वपरिष्कारः ... १९१
लुङ्लृङोरर्थनिर्णयः ... १९४
नैयायिकमतेन लकारार्थविचारः ... १९४
मीमांसकमतेन तिङर्थविचारः ... २०९
विध्यर्थविषयकमतभेदः ... २१२

कारकार्थ-निरूपणम्

षट्कारक-परिगणनम् ... २२३
कारकत्वनिर्वचनम् ... २२३
कर्तृत्वपरिष्कारः ... २२३
सम्बोधनविभक्तेरपि कारकत्वसमर्थनम् ... २३०
क्रियानिमित्तत्वरूपकारकत्वस्य निराकरणम् ... २३३
नैयायिकाद्यभिमतकर्तृत्वस्य निराकरणम् ... २३३
कर्मत्वलक्षणपरिष्कारः ... २३५
अनीप्सितस्थलेऽपि कर्मत्वोपपादनम् ... २४०
तार्किकाभिमतकर्मत्वस्य निराकरणम् ... २४३
सकर्मकत्वाकर्मकत्वविवेचनम् ... २४७
करणत्वविचारः ... २४९
सम्प्रदानत्वविचारः ... २५१
अपादानत्वविचारः ... २५७
शब्दालिङ्गितशाब्दबोधस्योपपादनम् ... २५८
भूषणकारादिखण्डनम् ... २६२
अधिकरणत्वविचारः ... २६४
सप्तम्यर्थविचारः ... २६९
षष्ठ्यर्थविचारः ... २७०

नामार्थ-निरूपणम्

जातिशक्तिवादि-मीमांसकमतोपन्यासः ... २७५
मीमांसकमतखण्डनम् ... २७५
व्यक्तावपि शक्तिसमर्थनम् ... २८०
लिङ्गस्य नामार्थत्वम् ... २८४

संख्याया नामार्थत्वम् ... २८५
कारकस्य नामार्थत्वम् ... २८६
शाब्दबोधे शब्दमानस्य समर्थनम् ... २८७
अनुकार्यानुकरणत्वयोर्विवेचनम् ... २८८

समासादिवृत्त्यर्थनिरूपणम्

वृत्तेर्द्वैविध्यम् ... २९४
व्यपेक्षावादिनां नैयायिकमीमांसकादीनां मतम् ... २९७
व्यपेक्षावादस्य खण्डनं विशिष्टशक्तिवादस्य समर्थनम् ... ३०१
व्यपेक्षावादे दूषणान्तराणि ... ३१२

उद्धरणसूची ३१५

अशुद्धिपत्रम् ३१९

संकेत-सूची

आप० श्रौ० सू०	=	आपस्तम्बश्रौतसूत्रम्
का० प्र०	=	काव्यप्रकाशः
का० वा०	=	कात्यायनवार्त्तिकम्
कै० प्र०	=	कैयटीयप्रदीपः
छा० उप०	=	छान्दोग्य–उपनिषत्
जै० सू०	=	जैमिनीय-सूत्रम्
तं० वा०	=	तन्त्रवार्त्तिकम्
तै० ब्रा०	=	तैत्तिरीयब्राह्मणम्
तै० सं०	=	तैत्तिरीय-संहिता
न्या० भा०	=	न्यायभाष्यम्
न्या० सू०	=	न्यायसूत्रम्
प० ल० म०	=	परमलघुमञ्जूषा
पा० शि०	=	पणिनीयशिक्षा
पा० सू०	=	पाणिनीयसूत्रम्
पुण्यराज	=	वाक्यपदीयटीकाकारः
म० भा०	=	महाभाष्यम्
महा० भा०	=	महाभारतम्
मै० सं०	=	मैत्रायणीसंहिता
यो० द०	=	योगदर्शनम्
यो० भा०	=	योगदर्शनभाष्यम्
यो० सू०	=	योगसूत्रम्
वा० प०	=	वाक्यपदीयम्
वै० भू० का०	=	वैयाकरणभूषण-कारिका
वै० भू० सा०	=	वैयाकरणभूषणसारः
सं० व्या० इति०	=	संस्कृत-व्याकरण का इतिहास
सं० व्या० द०	=	संस्कृत व्याकरणदर्शनम्
सं० शा० इ०	=	संस्कृत-शास्त्रों का इतिहास
सि० कौ०	=	सिद्धान्त-कौमुदी

(१)

अर्थप्रवृत्तितत्त्वानां शब्दा एव निबन्धनम् ।
तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणाद् ऋते ॥

(वाक्यपदीयम् १।१३)

(२)

तद्द्वारमपवर्गस्य वाङ्मलानां चिकीर्षितम् ।
पवित्रं सर्वविद्यानामधिविद्यं प्रकाशते ॥

(वाक्यपदीयम् १।१४)

(३)

शब्दार्थ-सम्बन्धनिमित्ततत्त्वं
वाच्याविशेषेऽपि च साध्वसाधून् ।
साधुप्रयोगानुमितांश्च शिष्टान्
न वेद यो व्याकरणं न वेद ॥

(वाक्यपदीयटीकायां हरिवृषभः)

भूमिका

भारतीय मनीषियों ने अत्यन्त प्राचीन काल से ही वाक् तत्त्व का सूक्ष्म चिन्तन प्रारम्भ कर दिया था। उनके गम्भीर मनन एवम् अनुशीलन के फलस्वरूप ही प्रातिशाख्य ग्रन्थों एवं व्याकरण ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। व्याकरण जिसका प्राचीन नाम शब्दानुशासन था, उसका व्यवस्थित एवं विशाल रूप सुदीर्घ प्राचीन काल से ही प्राप्त होता है। गोपथब्राह्मण में पाणिनीय व्याकरण में प्रयुक्त अनेक पारिभाषिक शब्दों की उपलब्धि भी उक्त तथ्य का समर्थन करती है।[1] निरुक्त[2], वाल्मीकीय-रामायण[3], महाभारत[4] एवं महाभाष्य[5] आदि ग्रन्थों के अनुशीलन से यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत भाषा का व्याकरण अतीव प्राचीन काल में ही अस्तित्व में आ चुका था।

[१] पाणिनीय व्याकरण :

आज आचार्य पाणिनि का व्याकरण ही सर्वमान्य एवं सर्वोपरि है। किन्तु इनके पूर्व भी अनेक वैयाकरण हो चुके थे। इसका संकेत अष्टाध्यायी के परिशीलन से मिलता है। स्वयं पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में दश आचार्यों के नामों का उल्लेख किया है।[6] ऐतिहासिक अनुसन्धानों से यह ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में दो वैयाकरण-सम्प्रदाय प्रमुख थे—(१) ऐन्द्र और (२) शैव।

---

1. ओङ्कारं पृच्छामः, को धातुः, किं प्रातिपदिकम्, किं नामाख्यातम्, किं लिङ्गम्, किं वचनम्, का विभक्तिः, कः प्रत्ययः, कः स्वर उपसर्गो निपातः, किं वै व्याकरणम्, को विकारः, को विकारी, कतिमात्रः, कतिवर्णः, कत्यक्षरः, कतिपदः, कः संयोगः, किं स्थाननादानुप्रदानानुकरणम्.... । गोपथब्राह्मण पू० १।२४
2. नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणाः। निरुक्त १३।२
3. नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्। बहु व्याहरतानेन न किञ्चिदपभाषितम्॥ वाल्मीकि. किकां. ३।२९
4. सर्वार्थानां व्याकरणाद्वैयाकरण उच्यते।
   तन्मूलतो व्याकरणं व्याकरोतीति तत्तथा॥ महाभा. उ.प. ४३।६१
5. पुराकल्पे एतदासीत्—संस्कारोत्तरकालं ब्राह्मणा व्याकरणं स्माधीयते।
   म. भा. पस्पशा।
6. आपिशलि [पा. सू. ६।१।९२], काश्यप [पा. सू. १।२।२५], गार्ग्य [पा. सू. ८।३।२०], गालव [पा. सू. ८।४।६७], चाक्रवर्मण [पा. सू. ६।१।१३०], भारद्वाज [पा. सू. ७।२।६३], शाकटायन [पा. सू. ८।४।५०], शांकल्य [पा. सू. ८।३।१९], सेनक [पा.सू. ५।४।११२], स्फोटायन [पा. सू. ६।१।१२३]।

ऐन्द्र व्याकरण अत्यन्त विस्तृत था। आज इसका प्रचलन नहीं है। शैव-(माहेश्वर) सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व पाणिनीय व्याकरण करता है। अन्य भी अनेक सम्प्रदायों के संकेत मिलते हैं।[1]

आचार्य पाणिनि संस्कृत भाषा के संक्रमण काल में अवतीर्ण हुए थे। एक ओर वैदिक भाषा का प्रचलन कम हो रहा था, उसका ह्रास काल था, दूसरी ओर लौकिक संस्कृत का प्रयोग होने लगा था, उसका विकास काल था। इसीलिए इन्होंने दोनों का समावेश करने की दृष्टि से अपने सूत्रों का प्रणयन किया। अलौकिक प्रतिभा-सम्पन्न पाणिनि ने अपने समय में विद्यमान संस्कृत भाषा के लिये व्यवस्थित व्याकरण शास्त्र बनाने में पूर्ण सफलता प्राप्त की, इसमें किसी का सन्देह नहीं है। इनकी शैली की विशेषता है—अल्पता।[2] वैज्ञानिक रीति से प्रणीत अष्टाध्यायी के छोटे-छोटे सूत्र ही अपेक्षित अर्थ का ज्ञान कराते हैं। इसका कारण है अनुवृत्ति का आश्रयण। सूत्र-शैली के प्रणेताओं में आचार्य पाणिनि का स्थान प्रमुख है।

पाणिनि ने अपने समय में विद्यमान संस्कृत भाषा के शब्दों के लिये नियमों का निर्माण किया था। किन्तु उनकी दृष्टि में न आ सकने वाले तथा आगे प्रयुक्त होने वाले शब्दों के लिये भी नियमों की आवश्यकता पड़ी। क्योंकि पाणिनि के काल की अन्तिम अवधि ई. पू. ५०० है[3] अतः इसके बाद के शब्दों के विषय में नियम बनाने वाले द्वितीय आचार्य कात्यायन हुए। इन्होंने वार्तिकों का प्रणयन किया। इनकी भी शैली संक्षिप्त ही थी[4]। इनका काल ई. पू. ३०० के लगभग माना जाता है। सूत्र एवं वार्तिकों के संक्षिप्तरूप में होने के कारण समय-समय पर अनेक व्याख्यायें भी लिखी गईं होंगीं। उनमें आचार्य पतञ्जलि का महाभाष्य अनुपम कृति है। इसकी भाषा एवं प्रतिपादनशैली संस्कृत-साहित्य में बेजोड़ है। यह सूत्रों का केवल व्याख्यान ग्रन्थ ही नहीं है अपितु विभिन्न दर्शनों, विशेषरूप से व्याकरण-दर्शन, का उत्स माना जाता[5] है। इस ग्रन्थसिन्धु की महिमा का वर्णन करना कठिन है। इसके महत्त्व का अनुमान इस वचन से सुस्पष्ट है—'यथोत्तरं मुनीनां

---

1. द्र० संस्कृत व्याकरण का इतिहास पृ. ५८–७२।
2. अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः। परिभाषेन्दुशेखर १३३
3. द्र० पाणिनिकालीन भारतवर्ष अध्याय ८।
4. उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते।
   तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुः वार्तिकज्ञाः विचक्षणाः॥
5. कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना।
   सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने॥ वाक्यपदीय २।४७९

प्रामाण्यम्[1]।' पतञ्जलि का समय ई०पू० १५० माना जाता है।[2]

[२] पाणिनीय व्याकरण का त्रिविध विकास :

उत्तरवर्त्ती विद्वानों ने पाणिनीय व्याकरण का विकास तीन रूपों में किया—

(क) अष्टाध्यायीक्रम

(ख) प्रक्रियाक्रम

(ग) दार्शनिकक्रम

अष्टाध्यायी-क्रम के अन्तर्गत वे रचनायें आती हैं जिनमें अष्टाध्यायी में विद्यमान सूत्रक्रम के अनुसार ही व्याख्या की गयी है। इसमें वृत्ति एवं भाष्य आदि आते हैं। सम्प्रति पतञ्जलि का महाभाष्य, वामन-जयादित्य की काशिकावृत्ति एवं भट्टोजिदीक्षित का शब्दकौस्तुभ आदि प्रधान ग्रन्थ हैं।

प्रक्रिया-क्रम का विकास ग्यारहवीं शताब्दी में हुआ। अष्टाध्यायीस्थ सूत्रों को प्रक्रिया=शब्द-रूपसाधन की दृष्टि से अलग-अलग प्रकरणों में लिखा गया है। आज यही लोकप्रिय पद्धति है। इसमें सर्वप्रथम धर्मकीर्ति नामक [११४० सम्वत्][3] किसी विद्वान की 'रूपावतार' नामक रचना आती है। इसके पश्चात् विमल सरस्वती [१४०० सम्वत्] की 'रूपमाला' है। इस पद्धति में रामचन्द्राचार्य [१४८० सं०] की 'प्रक्रियाकौमुदी' एक विशिष्ट रचना है। इसकी कई व्याख्यायें भी बनीं। इसके पश्चात् भट्टोजि दीक्षित की अमर कृति 'वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी' है। दीक्षित का काल पण्डितराज जगन्नाथ से पूर्व लगभग १५६० ई० है। इन्हीं के शिष्य वरदराजाचार्य ने मध्यसिद्धान्तकौमुदी एवं लघुकौमुदी की रचना की।

व्याकरण-अध्ययन की तीसरी पद्धति है—**दार्शनिक अध्ययन**। यद्यपि व्याकरण शास्त्र का प्रमुख उद्देश्य शब्दों की शुद्धता एवं अशुद्धता का ही निर्णय करना है[4] तथापि अर्थविहीन केवल शब्द के साधुत्व का निर्णय करना सम्भव नहीं है, अतः अर्थ पर भी विचार नितान्त अपेक्षित हो जाता है। इसी दिशा में यह तुलनात्मक गम्भीर चिन्तन की ओर अग्रसर होता हुआ दर्शन का रूप धारण कर लेता है। इसीलिए भर्तृहरि ने कहा है—

अर्थप्रवृत्तितत्त्वानां शब्दा एव निबन्धनम्।
तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते ॥[5]

---

1. सिद्धान्त कौमुदी में 'न बहुव्रीहौ [पा०सू० १।१।२९] पर उल्लिखित।
2. पुष्यमित्रो यजते, याजकाः याजयन्ति। [म. भा. ३।१।२६] तथा 'इह पुष्यमित्रं याजयामः। [म.भा. ३।२।१२३]
3. ये प्रसिद्ध बौद्ध पण्डित धर्मकीर्ति से भिन्न १२वीं शती के हैं।
4. साधुत्वज्ञानविषया सैषा व्याकरणस्मृतिः। वाक्यपदीय १।१४२
5. वाक्यपदीय १।१३

दार्शनिक अध्ययन की ओर अधिक विद्वानों के प्रवृत्त न होने पर भी जितना साहित्य उपलब्ध होता है, उतना कम नहीं है। जिस युग में शब्दतत्त्व का सूक्ष्म चिन्तन प्रारम्भ हुआ वही इसके दार्शनिक रूप के उद्भव का क्षण था। इस दिशा में सबसे प्राचीन आचार्य 'स्फोटायन' माने जाते हैं। ये ही सम्भवतः 'स्फोटवाद' के जन्मदाता रहे हैं। पाणिनि ने इनका उल्लेख "अवङ् स्फोटायनस्य" [पा० सू० ६।१।१२३] में किया है। शब्दतत्त्व के अति प्राचीन चिन्तकों में औदुम्बरायणाचार्य का भी स्थान है।[1]

इस परम्परा में आचार्य व्याडि की रचना 'संग्रह' का उल्लेख भाष्यकार पतञ्जलि ने किया है।[2] व्याख्याकारों के अनुसार इस महाग्रन्थ में एक लाख श्लोक थे।[3] यह अत्यन्त दुःख का विषय है कि आज इस ग्रन्थ का कोई रूप हमारे सामने नहीं है। यत्र तत्र कुछ उद्धरण ही प्राप्त होते हैं। इसके बाद पतञ्जलि का महाभाष्य ही है। इस ग्रन्थ-सिन्धु में व्याकरण-दर्शन के समस्त पदार्थों का विवेचन भिन्न-भिन्न स्थलों पर किया गया है। इस विकीर्ण सामग्री को क्रमबद्ध व्यवस्थित रूप देने के लिए आचार्य भर्तृहरि [चतुर्थ शती] ने 'वाक्यपदीय' नामक ग्रन्थ की रचना की। इसमें तीन काण्ड हैं। प्रथम ब्रह्मकाण्ड, द्वितीय वाक्यकाण्ड एवं तृतीय पदकाण्ड है। कुछ लोग द्वितीय को ही वाक्य एवं पदकाण्ड मानते हैं। और तृतीय को प्रकीर्ण काण्ड मानते हैं। इस विषय में भर्तृहरि ने स्वयं कोई उल्लेख नहीं किया है। इसमें व्याकरण के दार्शनिक पदार्थों का प्रतिपादन करते समय अन्य मत मतान्तरों का भी उल्लेख करना आवश्यक समझा गया है।[4] यह कारिकामय है। इसके अतिरिक्त मण्डन मिश्र कृत स्वोपज्ञ व्याख्यासहित स्फोटसिद्धि तथा भरत मिश्र द्वारा भी इसी नाम से लिखी गयी स्फोटसिद्धि, केशव कविकृत स्फोटप्रतिष्ठा, शेष-श्रीकृष्णकविकृत स्फोटतत्त्व, श्रीकृष्ण भट्ट कृत स्फोटचन्द्रिका तथा कुन्द भट्ट कृतस्फोट-वाद तथा नागेशभट्ट कृत स्फोटवाद आदि ग्रन्थ व्याकरणदर्शन के प्रमुख तत्त्व का सयुक्तिक प्रतिपादन करते हैं।

किन्तु उपर्युक्त लघुकाय ग्रन्थों में केवल स्फोट की ही स्थापना एवं समर्थन किया गया है। और वाक्यपदीय कारिकाओं में उपनिबद्ध ग्रन्थ है। अतः महावैयाकरण

---

1. इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः। निरुक्त १।१
   तथा द्र० संस्कृत व्याकरण का इतिहास भाग दो पृ० ३४४
2. सङ्ग्रहे एतत् प्राधान्येन परीक्षितम्—'नित्यो वा स्यात् कार्यो वेति। म. भा. पस्पशा
3. एकलक्षश्लोकात्मको ग्रन्थ इति प्रसिद्धिः। उद्द्योत। म० भा० पस्पशा०
4. प्रज्ञा विवेकं लभते भिन्नैरागमदर्शनैः।
   कियद् वा शक्यमुन्नेतुं स्वतर्कमनुधावता। वाक्यदीय २।४८६

भट्टोजिदीक्षित ने शब्दकौस्तुभ नामक विशाल व्याख्याग्रन्थ के प्रणयन के उपरान्त निष्कर्ष रूप में एक कारिकाग्रन्थ लिखा, जिसके नाम से बहुत कम लोग परिचित हैं।[1] इसका नाम 'वैयाकरणमतोन्मज्जन'[2] है। इसकी विस्तृत एवं संक्षिप्त दो व्याख्यायें दीक्षित के भतीजे कौण्ड भट्ट ने लिखीं। विस्तृत का नाम बृहद् वैयाकरणभूषण तथा संक्षिप्त का नाम वैयाकरण-भूषण-सार है। इसका एक उत्तम संस्करण के० पी० त्रिवेदी ने बम्बई से प्रकाशित करवाया था और दूसरा संस्करण चौखम्बा संस्कृत सीरीज से प्रकाशित हुआ था। दुर्भाग्यवश इनमें से कोई भी संस्करण अनेक वर्षों से प्राप्त नहीं होता है। इस व्याख्या ग्रन्थ में मीमांसकों और नैयायिकों की कटु आलोचना करते हुए वैयाकरणों के सिद्धान्तों की स्थापना की गई है।[3]

[३] वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा :

बहुमुखी प्रतिभा के धनी नागेश भट्ट ने व्याकरण की समस्त धाराओं में सफल उन्मज्जन किया। इन्होंने महाभाष्य पर प्रदीपोद्द्योत, सिद्धान्तकौमुदी पर शब्देन्दु-शेखरद्वय एवं दार्शनिक क्षेत्र में मञ्जूषात्रयी की रचना करके महान् उपकार किया। आज का प्रत्येक व्याकरणजिज्ञासु इनकी कृतियों का अधमर्ण है। कौण्ड भट्ट के वैयाकरणभूषण की अनुकृति पर इन्होंने 'वैयाकरण-सिद्धान्त-मञ्जूषा' की सर्वप्रथम रचना की। इसे ही गुरुमञ्जूषा, बृहन्मञ्जूषा तथा स्फोटवाद कहा जाता है।[4] भूषण को रखने के लिए जैसे मञ्जूषा [पेटिका] की उपयोगिता है, उसमें उन्हें छिपा दिया जाता है, उसी प्रकार दीक्षितादि के ग्रन्थों में वर्णित विषय इसमें छिप जाते हैं।

---

1. फणिभाषितभाष्याब्धेः शब्दकौस्तुभ उद्धृतः।
   तत्र निर्णीत एवार्थः सङ्क्षेपेणेह कथ्यते ॥ वैयाकरणभूषणकारिका १
2. गुरुमञ्जूषासमासशक्तिनिरूपण में यह लिखा है—
   पर्यवस्यच्छाब्दबोधाविदूरप्राक्क्षणस्थितेः।
   शक्तिग्रहेऽन्तरङ्गत्वबहिरङ्गत्वचिन्तनम् ॥ (वै. भू. का. ३५) इति वैयाकरण-मतोन्मज्जने दीक्षिताः।
   शाङ्करीव्याख्यायुत वैयाकरणभूषणसार और उसकी भूमिका में इसे 'वैयाकरण-सिद्धान्तकारिका' लिखा गया है।
3. ढुण्ढि गौतमजैमिनीयवचनव्याख्यातृभिर्दूषितान्।
   सिद्धान्तानुपपत्तिभिः प्रकटये तेषां वचो दूषये। वैयाकरण-भूषण मंगलश्लोक ४
4. लघुमञ्जूषा से भेद करने के लिए वैद्यनाथ ने कला टीका में अनेकत्र गुरुमञ्जूषा शब्द का प्रयोग किया है। मञ्जूषा के अन्त में नागेश ने "वैयाकरणसिद्धान्त-मञ्जूषाख्यः स्फोटवादः समाप्तः" लिखा है।

मंजूषा पर भूषण के अतिरिक्त गदाधर भट्टाचार्य के व्युत्पत्तिवाद आदि ग्रन्थों का भी पर्याप्त प्रभाव दिखाई देता है। यह उस समय की रचना है जब नागेश प्रतिपक्षियों के खण्डन में अपना पाण्डित्य प्रदर्शित कर रहे थे। अतः इसमें मौलिक नवीन सिद्धान्तों की स्थापना की अपेक्षा परमतसमालोचन अधिक है।

[४] वैयाकरणसिद्धान्तलघुमञ्जूषा :

निरन्तर चिन्तनशील नागेश अपनी प्रथम कृति से संतुष्ट नहीं हुए, उसमें कुछ वक्तव्य शेष दिखाई दिये। इसके लिए इन्होंने वैयाकरणसिद्धान्तलघु-मञ्जूषा की रचना की। यह उनकी प्रौढ़ अवस्था की कृति है। इसकी भाषा प्रौढ़ एवं सन्तुलित है। प्रतिपादनशैली गम्भीर एवं स्पष्ट है। परमतखण्डन के साथ-साथ स्वमत्त-स्थापन इसकी प्रमुख विशेषता है। यह गुरुमञ्जूषा का सारमात्र न होकर अनेक दृष्टियों से नवीन ग्रन्थ है। नागेश के बहुमुखी वैदुष्य, व्यापक शास्त्रज्ञान एवं स्वतन्त्र चिन्तन का पदे पदे दर्शन इसके महत्त्व को स्थापित करता है। नागेश के प्रमुख शिष्य वैद्यनाथ पायगुण्डे ने इस पर कला नामक व्याख्या लिखी। इसके बिना नागेश के गूढ़ रहस्यों को समझना अत्यन्त कठिन है।[1] यह टीका सम्पूर्ण ग्रन्थ पर है। दुर्बलाचार्य ने इस पर कुञ्जिका नामक व्याख्या लिखी जो कृदर्थनिरूपण तक ही है। इन दोनों टीकाओं के साथ यह सम्पूर्ण ग्रन्थ दो भागों में (१५७४ पृष्ठों में) चौखम्बा संस्कृत सीरीज से प्रकाशित हुआ था। किन्तु इस समय प्राप्त नहीं होता है। पं० सभापति शर्मोपाध्याय की रत्नप्रभा टीका के साथ इसका कुछ अंशमात्र [तात्पर्यनिरूपणान्त] ही उपलब्ध होता है। पं० सूर्यनारायण शुक्ल ने भी कुछ अंश पर व्याख्या लिखी जो प्रकाशित हुई थी। इस विपुलकाय प्रौढ़ गन्थ का 'एक समीक्षात्मक अध्ययन' मेरा शोधप्रबन्ध राष्ट्रभाषा में लिखा हुआ है। इसके शीघ्र ही प्रकाशित होने की सम्भावना है।

[५] परमलघुमञ्जूषा :

उपर्युक्त मञ्जूषाद्वयी की रचना करके भी नागेश को शान्ति नहीं मिली। वे साधारण जिज्ञासुओं के लिए भी रचना करना चाहते थे। इसी उद्देश्य से इन्होंने प्रस्तुत कृति **परमलघुमञ्जूषा** की रचना की। भट्टोजिदीक्षित की कौमुदी के जैसे तीन रूप हैं उसी प्रकार इसके भी तीन रूप बनाने की इच्छा भी इसमें कारण हो सकती है। इसके अतिरिक्त, मीमांसा में जैसे मीमांसान्यायप्रकाश और अर्थसंग्रह हैं, न्याय-वैशेषिक में न्यायसिद्धान्तमुक्तावली एवं तर्कभाषा हैं उसी प्रकार व्याकरणदर्शन के प्रत्येक श्रेणी के जिज्ञासुओं के लिए इन्होंने मञ्जूषात्रयी की रचना की। यह

---

1. मञ्जूषास्थस्य रत्नादेर्न लाभः कलया विना।
वैयाकरणसिद्धान्तज्ञानस्यापि यथा तथा॥ कला मंगलश्लोक ३

उपर्युक्त ग्रन्थद्वय का सारांशमात्र ही नहीं है। इसमें भी कुछ नवीन तथ्य प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इसमें निष्कर्षभूत परमत एवं वैयाकरणमत प्रस्तुत किये गये हैं। इसकी भाषा स्पष्ट और अपेक्षाकृत सरल है। प्रतिपादनशैली सन्तुलित है।

इसमें नागेश के अपने समस्त निष्कर्षों का दर्शन न हो सकने के कारण कुछ लोग उनके किसी शिष्य आदि द्वारा इसकी रचना मानते हैं। परन्तु ठोस प्रमाण के अभाव में इसे नागेश की कृति न मानना अनुचित है। लेखनव्यसनी नागेश के लिए यह कार्य सुकर था।

[६] व्याकरणदर्शन के अन्य ग्रन्थ :

नैयायिकों में जगदीश तर्कालङ्कार की शब्दशक्तिप्रकाशिका एवं गदाधर भट्टाचार्य के शक्तिवाद तथा व्युत्पत्तिवाद अत्यन्त प्रौढ़ ग्रन्थ है। गिरिधर भट्टाचार्य का विभक्त्यर्थनिर्णय, गोकुलनाथ उपाध्याय का पदवाक्यरत्नाकर, और रामाज्ञा पाण्डेय की व्याकरणदर्शनभूमिका आदि [अर्वाचीन] रचनायें भी महत्त्वपूर्ण हैं। डॉ० कपिलदेव का 'भाषाविज्ञान एवं व्याकरण दर्शन', डॉ० सत्यकाम वर्मा का 'भाषातत्त्व एवं वाक्यपदीय' तथा डॉ० रामसुरेश त्रिपाठी का 'संस्कृत-व्याकरण-दर्शन' प्रसिद्ध रचनायें हैं। अंग्रेजी भाषा में लिखे गये ग्रन्थों में डॉ० गौरीनाथ शास्त्री का 'दि फिलासफी आफ वर्ड एण्ड मीनिंग', प्रभात चन्द्र चक्रवर्ती का 'फिलासफी आफ संस्कृत ग्रामर', डॉ० रामचन्द्र पाण्डेय का 'प्रोब्लेम ऑफ मीनिंग इन इण्डियन फिलासफी' तथा डॉ. के. एन. चटर्जी का [शब्दशक्तिप्रकाशिका पर आधृत] 'वर्ड एण्ड इट्स मीनिंग : ए न्यू पर्स्पेक्टिव' महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी ग्रन्थ हैं। मेरा शोधप्रबन्ध 'वैयाकरण-सिद्धान्त-लघुमञ्जूषा : एक समीक्षात्मक अध्ययन' भी [शीघ्र प्रकाशित होने वाला] है।

[७] मञ्जूषाकार नागेश भट्ट :

(क) जीवनवृत्त

मञ्जूषात्रयी के प्रणेता नागेश भट्ट का एक नाम नागोजिभट्ट[1] भी था। इनका उपनाम 'काल' था[2]। ये महाराष्ट्रिय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम शिव भट्ट एवं माता का नाम सती देवी था।[3] ये अपने माता पिता के परम भक्त थे। इन्होंने अपने महत्त्वपूर्ण प्रत्येक ग्रन्थ के आदि अथवा अन्त में कहीं न कहीं अपने माता-पिता

---

1. परिभाषेन्दुशेखर की समाप्ति में तथा महाभाष्यप्रदीपोद्द्योत में प्रत्येक आह्निक की समाप्ति में इसी नाम का उल्लेख है।
2. इति श्रीकालोपनामकशिवभट्टसुत-सतीगर्भज-नागेशभट्टविरचिते सिद्धान्तकौमुदी-व्याख्याने शब्देन्दुशेखराख्ये पूर्वार्धं समाप्तम्।
3. इसका उल्लेख इनकी प्रत्येक महत्त्वपूर्ण कृति के प्रारम्भ अथवा अन्त में है।

का उल्लेख अवश्य किया है। निरन्तर शास्त्राभ्यास में लगे रहने के कारण इन्हें सन्तानोत्पत्ति की चिन्ता ही नहीं हुई। बाद में पितृऋण से मुक्त होने की समस्या आने पर इन्होंने अपने शब्देन्दुशेखर को पुत्ररूप में एवं वैयाकरण-सिद्धान्त-मञ्जूषा को कन्यारूप में मानकर अपने माता-पिता को और श्लेषवचन द्वारा सती एवं शिव भगवान को समर्पित कर दिया—

शब्देन्दुशेखरं पुत्रं मञ्जूषां चैव कन्यकाम् ।
स्वमतौ सम्यगुत्पाद्य शिवयोरर्पितौ मया ॥[1]

इनके जन्मस्थान का निर्णय करना कठिन है। यद्यपि ये महाराष्ट्रिय थे तथापि इनकी शिक्षादीक्षा काशी में हुई थी। इन्हें दीर्घ आयु प्राप्त हुई थी। इसका सदुपयोग इन्होंने निरन्तर सारस्वत साधना में किया और लगभग एक सौ ग्रन्थ लिखने में सफल हुए। अपने पाण्डित्य एवं लेखकत्व की स्वयं प्रशंसा करते हुए लिखा है—

सर्वतन्त्रार्थतत्त्वज्ञः सर्वत्र च निबन्धकृत् ।[2]

(ख) नागेश की गुरुशिष्य परम्परा

भट्टोजिदीक्षित के पौत्र, वीरेश्वर दीक्षित के पुत्र हरि दीक्षित नागेश के प्रधान गुरु थे। ये महाभाष्य के परम मर्मज्ञ थे।[3] ऐसी अनुश्रुति है कि नागेश ने इनसे अठारह बार महाभाष्य का अध्ययन किया था। इनके प्रति अगाध श्रद्धा व्यक्त करते हुए नागेश ने कृतज्ञता ज्ञापित की है। प्रौढ़मनोरमा की टीका रूप में बृहत् एवं लघु शब्दरत्न इन्हीं हरि दीक्षित की कृतियाँ मानी जाती हैं। कुछ लोग इन्हें गुरु के नाम से नागेश द्वारा ही लिखित मानते हैं।

अपने समय के प्रसिद्ध शास्त्रार्थमहारथी पण्डित रामराम भट्टाचार्य से न्यायशास्त्र का अध्ययन करने वाले नागेश ने इनके वैदुष्य की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। नागेश को पाण्डित्यप्रदर्शनार्थ शास्त्रार्थ में रुचि नहीं थी।

न्यायतन्त्रं रामरामाद् वादिरक्षोघ्नरामतः ॥[4]
दृढस्तर्कोऽस्य नाभ्यास इति चिन्त्यं न पण्डितैः ।
दृषदोऽपि हि सन्तीर्णाः पयोधौ रामयोगतः ॥[5]

---

1. लघुमञ्जूषा की समाप्ति पर अन्तिम श्लोक।
2. लघुमञ्जूषा की समाप्ति में अन्तिम श्लोक संख्या ३
3. नागेशभट्टो नागेशभाषितार्थविचक्षणः।
हरिदीक्षितपादाब्जसेवनावाप्तसन्मतिः। प्रदीपोद्द्योत मंगलश्लोक २
4. लघुमञ्जूषा की समाप्ति में श्लोक सं० १
5. लघुमञ्जूषा की समाप्ति में श्लोक सं० ४–५

इन दो गुरुओं के अतिरिक्त अन्य किसी का उल्लेख नहीं प्राप्त होता है।

वैद्यनाथ पायगुण्डे नागेश के प्रधान शिष्य थे।[1] ये भी नागेश के ही समान बहुशास्त्रज्ञ थे। नागेश की समस्त प्रौढ़ कृतियों पर इन्होंने कुछ न कुछ व्याख्या अवश्य लिखी है। नागेश के वास्तविक रहस्यों का परिज्ञान इन्हीं की टीकाओं की सहायता से सम्भव है। इनके पुत्र बाल शर्मा ने भी नागेश से शिक्षा ग्रहण की थी।[2] यह नागेश की दीर्घावस्था का स्पष्ट प्रमाण है।

(ग) नागेश का जन्मकाल

नागेश के जन्मकाल की तिथि का निर्णय करना एक कठिन कार्य है। इन्हें दीर्घ आयु प्राप्त थी। उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर इनका जीवनकाल १६६०–१७६० तक माना जा सकता है—

(१) भट्टोजिदीक्षित के पौत्र हरिदीक्षित से नागेश ने व्याकरण-शास्त्र का अध्ययन किया था।[3] भट्टोजिदीक्षित ने शेषकृष्ण से विद्याध्ययन किया था।[4] शेषकृष्ण के पुत्र वीरेश्वर से पण्डितराज ने पढ़ा था। इस प्रकार पण्डितराज का काल भट्टोजिदीक्षित से एक पीढ़ी बाद एवं नागेश से एक पीढ़ी पहले है। शाहजहाँ एवं दाराशिकोह के दरबार में इन्हें 'पण्डितराज उपाधि' मिली थी और इनका यौवनकाल नहीं बीता था।[5] दरबार के आसफ अली की मृत्यु से दुखी होकर इन्होंने 'आसफ विलास' की रचना की थी। इनकी मृत्यु १६४१ में हुई थी[6] और शाहजहाँ १६२७ में गद्दी पर बैठा था। अतः सत्तरहवीं शती का प्रारम्भ पण्डितराज का काल होना चाहिए।

(२) भट्टोजिदीक्षित ने 'वैयाकरणमतोन्मज्जन'[7] नामक कारिका ग्रन्थ लिखा था जिस पर इनके भतीजे[8] कौण्डभट्ट ने वृद्ध एवं सार दो रूपों में वैयाकरण-भूषण नामक व्याख्या ग्रन्थ लिखे। इसके हस्तलेख का रचना काल सम्वत् १७०७ [सन् १६५०] है। इस व्याख्या के लेखक कौण्डभट्ट राजा वीरभद्र के राज्यकाल १६२९–

---

1. नमामि दुरिताहरं गुरुवरं सनागेश्वरम्। कला मंगलश्लोक २
2. वैद्यनाथ पायगुण्डे का पुत्र बाल शर्मा नागेश भट्ट का शिष्य था। संस्कृत व्याकरण का इतिहास पृ० ३९२
3. अधीत्य फणिभाष्याब्धिं सुधीन्द्रहरिदीक्षितात्। लघुमञ्जूषा की समाप्ति में।
4. तदेतत् सकलमभिधाय प्रक्रियाप्रकाशे गुरुचरणैरुक्तम्। शब्दकौस्तुभ पृ० १४५
5. दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीतं नवीनं वयः। पण्डितराज का प्रसिद्ध श्लोक
6. द्र. काव्यप्रकाश भूमिका डॉ. नागेन्द्र सम्पादित।
7. यह नाम नागेश ने गुरुमञ्जूषा में लिखा है। काशीनाथ अभ्यङ्कर शास्त्री ने 'वैयाकरणसिद्धान्तकारिका' यह नाम लिखा है।
8. भट्टोजिदीक्षितमहं पितृव्यं नौमि सिद्धये। वैयाकरणभूषण मंगल श्लोक ३

४५ में प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे। अतः कौण्डभट्ट का काल सत्तरहवीं शती का प्रारम्भ सिद्ध होता है। इनके चाचा भट्टोजिदीक्षित का काल सोलहवीं शती का मध्य भाग सिद्ध होता है

(३) भट्टोजिदीक्षित के पुत्र थे वीरेश्वर दीक्षित। इनके पुत्र हरिदीक्षित थे जिनसे नागेश ने व्याकरणादि शास्त्र पढ़े थे। पं० बलदेव उपाध्याय के अनुसार वीरेश्वर ने संन्यास-ग्रहण किया था और उस समय इनका नाम रामाश्रम पड़ा।[1] इन्होंने अमरकोश पर रामाश्रमी नामक एक टीका लिखी। यह टीका बघेलवंशी राजा कीर्ति-सिंह की आज्ञा से लिखी गयी थी। कीर्ति सिंह १६३०–७० तक मइहर (मध्यप्रदेश) के राजा थे। हस्तलेख के आधार पर सन् १६४१ से पूर्व भानुजि अपर नाम वीरेश्वर दीक्षित का संन्यास लेना सिद्ध होता है। इन्हीं के एक शिष्य वत्सराज ने सम्वत् १६६८ [सन् १६४१] में 'काशीदर्पणदीपिका' ग्रन्थ में भट्टोजिर्दीक्षित एवं इनके पुत्र रामाश्रम इन दोनों को प्रणाम किया है[2]। इससे यही ज्ञात होता है कि सन् १६४१ तक अवश्य संन्यास लेने वाले का जन्म १६०० के आस पास ही होना चाहिये और इनके पुत्र हरिदीक्षित का जन्म १६२० ई० के आस पास होना उचित है। पुत्र के युवा होने पर ही संन्यासग्रहण तर्कसंगत है। पितामह भट्टोजिदीक्षित तथा पौत्र हरि दीक्षित के मध्य में लगभग ५०–६० वर्ष का व्यवधान होना अनुभवसिद्ध है।

(४) जयपुर के महाराजा जयसिंह ने अठारहवीं शती के उत्तरार्द्ध में अश्वमेध यज्ञ किया था। उसमें नागेश भट्ट भी आमन्त्रित किये गये थे किन्तु क्षेत्र-संन्यास ले लेने के कारण ये काशी से बाहर नहीं जा सके। युधिष्ठिर[3] मीमांसक के अनुसार यह यज्ञ १७१४ ई० में और पं० बलदेव उपाध्याय के अनुसार १७४२ में हुआ था।[4] यह काल नागेश की वृद्धावस्था का होना चाहिये। इससे भी नागेश का जन्मकाल ई० १६५०–७० के मध्य सिद्ध होता है।

(५) नागेश के न्यायशास्त्र के गुरु रामराम भट्टाचार्य[5] का एक हस्ताक्षर सं. १७१४

---

1. भानुजिदीक्षित भट्टोजिदीक्षित के पुत्र थे। इनका अपर नाम वीरेश्वर दीक्षित था। संन्यास लेने पर इनका नाम 'रामाश्रम' पड़ा।
   संस्कृत शास्त्रों का इतिहास पृ० ५०८

2. भट्टोजिदीक्षितं नत्वा रामाश्रमगुरुं पुनः।
   वत्सराजः करोत्येतां काशीदर्पणदीपिकाम्॥
   संस्कृत शास्त्रों का इतिहास पृ० ३४५ में उद्धृत

3. संस्कृत व्याकरण का इतिहास पृ० ३६३
4. संस्कृत शास्त्रों का इतिहास पृ० ५२३
5. बृहच्छब्देन्दुशेखर की भूमिका पृ० ५७।

[सन् १६५७] का प्राप्त होता है। यह इनके गुरु की प्रौढ़ावस्था का काल है। अतः नागेश का जन्म उसके आस पास या कुछ बाद में मानना चाहिये।

(६) पण्डितराज ने भट्टोजिदीक्षित की प्रौढ़मनोरमा के खण्डन में 'कुचमर्दिनी' नामक व्याख्या लिखी। पण्डितराज की मृत्यु के बाद हरिदीक्षित ने इसका खण्डन शब्दरत्न में किया। पण्डितराज का काल १७वीं शती का प्रारम्भ है तो हरिदक्षित का काल १६२५ के आसपास होना चाहिये। इनके प्रधान शिष्य नागेश का काल १६५०–७० के मध्य ही होना उचित है।

(७) नागेश के प्रधान शिष्य वैद्यनाथपायगुण्डे का पुत्र बालशर्मा भी नागेश का शिष्य बना था। इसने हेनरी टामस कोलब्रुक [१७८३–१८१५ ई०] की आज्ञा से 'धर्मशास्त्र-सङ्ग्रह' नामक ग्रन्थ लिखा था। बाल शर्मा की मृत्यु १८३० ई० में हुई और उस समय में ये ९० वर्ष के थे। इससे इनका जन्म काल १७४० ई० ज्ञात होता है।[1] इससे नागेश का दीर्घजीवी होना और सत्तरहवीं शती के मध्यकाल में होना सिद्ध होता है।

(८) सम्वत् १७६१ [सन् १७०४] में लिखित बृहत्शब्देन्दुशेखर का एक हस्तलेख वाराणसी के सरस्वती भवन पुस्तकालय में है[2]। इस प्रौढ़ एवं विशाल ग्रन्थ की रचना करते समय नागेश की अवस्था ३०-४० वर्षों से कम नहीं रही होगी। इससे भी नागेश का जन्मकाल १६६० ई० के समीप ही सिद्ध होता है। इसी प्रकार भानुदत्त की रसमञ्जरी पर नागेशकृत टीका का एक हस्तलेख सम्वत् १७६९ [सन् १७१२] का इण्डिया आफिस लाईब्रेरी, लन्दन में है।[3] यह भी उपर्युक्त तिथि में प्रमाण है।

(९) सिद्धान्त-कौमुदीकी अतिप्रसिद्ध टीका बाल-मनोरमा के लेखक वासुदेव दीक्षित तञ्जौर के महाराजा शाहजी, शरभजी, तुक्कोजी के समय हुए थे।[4] इनका काल १६८७–१७३८ ई० है। इस टीका में नागेश की मञ्जूषा एवं शेखर आदि का अनेकत्र उल्लेख है। इससे यही सिद्ध होता है कि १८वीं शती के प्रारम्भ तक नागेश के मतों को मान्यता प्राप्त हो चुकी थी। अतः इनका जन्म १७वीं का मध्य भाग अर्थात् १६५०–७० ई० सिद्ध होता है।

---

1. द्र. संस्कृत शास्त्रों का इतिहास पृ. ५५९ तथा संस्कृत-व्याकरण का इतिहास पृ. ३९३
2. बृहच्छब्देन्दुशेखर भूमिका पृ. २६–२७
3. द्र० संस्कृतशास्त्रों का इतिहास पृ० ५२५ तथा संस्कृत-व्याकरण का इतिहास पृ० ३९३
4. इतिश्रीमत् .... श्रीशाहजी शरभजी तुक्कोजीभोसलचोल ....। बाल-मनोरमा की समाप्ति में।

(१०) नागेश के 'सापिण्ड्य-प्रदीप' नामक एक ग्रन्थ का एक हस्तलेख १८०३ ई. का प्राप्त होता है।[1] इसमें शंकर भट्ट [१५४०-१६०० ई०], नन्द पण्डित [ई० १५९५-१६००] तथा अनन्तदेव [१६४५-१६७५ ई०] इन तीन नामों का संकेत प्राप्त होता है। अतः नागेश की पूर्व सीमा १६५०-७० तक है।

(११) गदाधर भट्टाचार्य के व्युत्पत्तिवाद का प्रचुर प्रभाव नागेश की कृतियों में दिखाई देता है। और गदाधर का काल १६५० ई० के लगभग है।[2] अतः नागेश का काल इनके कुछ बाद या समकाल माना जा सकता है।

(१२) महामहोपाध्याय हरप्रसाद के अनुसार नागेश का देहावसान १७७५ ई० में हुआ था, ये दीर्घजीवी थे।[3] इससे भी यही ज्ञात होता है कि नागेश १७वीं शती के मध्य में हुए थे।

उपर्युक्त प्रमाणों एवं तर्कों के आधार पर नागेश के जन्म की पूर्व सीमा १६६०-७० एवं पर सीमा १७७०-७५ ई० माननी चाहिये।

(घ) नागेश के आश्रयदाता

शृङ्गवेरपुर [वर्तमान सिंगरौर] के महाराजा रामसिंह वर्मन् नागेश के आश्रयदाता थे। नागेश ने इनकी उदारता का वर्णन अनेक स्थलों पर किया है—

याचकानां कल्पतरोररिकच्छहुताशनात्।
शृङ्गवेरपुराधीशाद् रामतो लब्धजीविकः॥[4]

(ङ) नागेश की कृतियाँ

नागेश ने अपने को 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्र' तथा 'सर्वत्र निबन्धकृत्'[5] घोषित किया है। अतः अनेक ग्रन्थों का प्रणेता होना सिद्ध है। इन्होंने अपने दीर्घ जीवन का साफल्य स्वाध्याय एवं लेखन दोनों में ही माना। ऐसा प्रतीत होता है कि शताधिक ग्रन्थ लिखने की इनकी प्रतिज्ञा रही होगी। इनके प्रकाशित एवं हस्तलिखित ९३ ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं इनका विषयानुसार संक्षिप्त विवरण निम्न है—

	विषय	ग्रन्थसंख्या
१.	व्याकरण	२६
२.	दर्शन	७
३.	अलङ्कार	६

---

1. द्र. संस्कृतशास्त्रों का इतिहास पृ० ५२५
2. आचार्य विश्वेश्वर सम्पादित तर्कभाषा की भूमिका पृ. ५७
3. बृहच्छब्देन्दुशेखर भूमिका पृ. ५८
4. महाभाष्यप्रदीपोद्द्योतमंगल एवं शेखरमंगल
5. सर्वतन्त्रार्थतत्त्वज्ञः सर्वत्र च निबन्धकृत्। लघुमञ्जूषा की समाप्ति में

	विषय	ग्रन्थसंख्या
४.	रामायण-व्याख्यायें	२
५.	सप्तशती-व्याख्या	१
६.	स्तोत्र	६
७.	धर्मशास्त्र	६
८.	स्मृति	१४
९.	ज्योतिष	८
१०.	तन्त्र	५
११.	गीता	१
१२.	कोश	१
१३	प्रकीर्ण	४
	कुल योग	९३

व्याकरण की कृतियों में वैयाकरण-सिद्धान्त-मञ्जूषात्रयी, शब्देन्दुशेखर-द्वय, परिभाषेन्दु-शेखर एवं महाभाष्य-प्रदीपोद्द्योत अति प्रसिद्ध एवं प्रकाशित हैं। दर्शन की कृतियों में वेदान्तसूत्रवृत्ति, पातञ्जल-सूत्रवृत्ति और युक्ति-मुक्तावली प्रसिद्ध हैं। आलङ्कारिक कृतियों मे बृहत् एवं लघु काव्यप्रदीपोद्द्योत, गुरुमर्मप्रकाशिका, [कुवलयानन्दटीका] षट्पदानन्द, चित्रमीमांसाखण्डन, रसमञ्जरीटीका, बालमीकीय-रामायण की तिलक एवं अध्यात्म-रामायण की सेतुटीका [ये अपने आश्रयदाता राजा रार्मसिह वर्मन् के नाम से लिखी हैं], चण्डीपाठटीका, तीर्थेन्दुशेखर श्राद्धेन्दुशेखर' व्रात्यता-प्रायश्चित्तनिर्णय, तिथीन्दुशेखर, कात्यायनीतन्त्र, अमर-टिप्पण तथा वेदसूक्तभाष्य आदि ग्रन्थ उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण हैं।

[८] नागेश की कृतियों में मञ्जूषात्रयी का स्थान :

व्याकरणादि विविध विषयों पर लिखनेवाले नागेश की कृतियों में वैयाकरण-सिद्धान्तमञ्जूषात्रयी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये मूलतः वैयाकरण थे। व्याकरण शास्त्र के सर्वाङ्गीण वैदुष्य का प्रदर्शन इनकी कृतियों में हुआ है। किन्तु महाभाष्य-प्रदीपोद्द्योत तथा शबदेन्दुशेखर ये टीकाग्रन्थ हैं। इनमें अपनी मौलिकता एवं स्वतन्त्र सिद्धान्त प्रस्तुत करने का समुचित अवसर नहीं प्राप्त हो सकता था। इसके अतिरिक्त सुव्यवस्थित एव क्रमबद्धरूप में विषयों का विवेचन करना भी कठिन था। साथ ही, व्याकरण के दार्शनिक पदार्थों का विशद विवेचन करना आवश्यक था। इसके लिए इन्होंने मञ्जूषात्रयी की रचना की। जैसा कि प्रारम्भ में लिखा जा चुका है कि नागेश ने सर्वप्रथम गुरुमञ्जूषा लिखी जिसका प्रमुख उद्देश्य परमत-खण्डन था। बाद में लघुमञ्जूषा लिखी जिसका प्रमुख उद्देश्य स्वकीय नवीन सिद्धान्तों की स्थापना था।

व्याकरण-दर्शन के सामान्य जिज्ञासु के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ परमलघुमञ्जूषा की रचना की। यह संक्षिप्त एवं परम उपयोगी ग्रन्थ है। इसकी लोकप्रियता ही इसके महत्त्व की सूचक है।

[६] परमलघुमञ्जूषा के विवेच्य विषय :

(१) शक्ति

परमलघुमञ्जूषा में सर्वप्रथम वृत्तियों के विचार के प्रसङ्ग में शक्ति पर विचार किया गया है। सभी प्रकार के शब्द सभी प्रकार के अर्थों का ज्ञान नहीं करा सकते हैं, इसके लिए एक कार्यकारणभाव की कल्पना की जाती है—

'तद्धर्मावच्छिन्नविषयकशाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति तद्धर्मावच्छिन्ननिरूपितवृत्तिविशिष्ट-ज्ञानं हेतुः। वैशिष्ट्यञ्च—स्वविषयकोद्‌बुद्धसंस्कारसामानाधिकरण्य–स्वाश्रयपदविषय-कत्वोभयसम्बन्धेन।'

[इसकी विशद व्याख्या आगे टीकाओं में देखना चाहिये।]

यहाँ वृत्ति के तीन भेद हैं—(१) शक्ति, (२) लक्षणा (३) व्यञ्जना।

नैयायिकों में प्रचीनों के मतानुसार ईश्वरेच्छा शक्ति है। और 'एकादशेऽहनि पिता नाम कुर्यात्' आदि स्मृति-वचनों के अनुसार आधुनिक नामों में भी ईश्वरेच्छा शक्ति सिद्ध है। किन्तु नव्यनैयायिक केवल इच्छा को शक्ति मानते हैं। अतः आधुनिक नामों में शक्ति के विषय में सन्देह का प्रश्न ही नहीं उठता है। यह इच्छा दो प्रकार की होती है—'यह पद इस अर्थ का बोध कराये'—यह पदविशेष्यिका तथा 'इस पद से यह अर्थ समझना चाहिए'—यह अर्थविशेष्यिका।

नागेश के मतानुसार इच्छा को शक्ति मानना ठीक नहीं है क्योंकि शक्ति पद एवं पदार्थ की सम्बन्धरूप होती है, किन्तु इच्छा सम्बन्धियों [–पद एवं पदार्थ] की आश्रयता [वृत्तिता] की नियामक नहीं होती है, अतः इच्छा को सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। इसलिए पद-पदार्थ का अन्य सम्बन्ध—'वाच्यवाचक-भाव' ही शक्ति है। दीक्षित एवं भूषणकारादि ने बोधजनकता को शक्ति माना है। इसका भी खण्डन लघुमञ्जूषा में किया गया है। पद एवं पदार्थ का तादात्म्य माना जाता है—योऽर्थः सः शब्दः, यः शब्दः सोऽर्थः' इत्याकारक इतरेतराध्यासमूलक संकेत शक्तिग्राहक होता है। यह तादात्म्य भेदाभेदघटित है। अतः 'अग्नि' आदि के उच्चारण में मुख का जलना अथवा गुड़ के उच्चारण में माधुर्य का अनुभव होना आदि दोष नहीं आते हैं। वास्तव में बौद्ध स्फोटरूप शब्द वाचक है और बौद्ध [बुद्धिप्रदेस्थ] अर्थ ही वाच्य है—इन्हीं का तादात्म्य है। इसीलिए 'वन्ध्यासुत' आदि की अर्थवत्ता मानकर प्रातिपदिक संज्ञा-प्रयुक्त कार्य होते हैं।

यह शक्ति साधु शब्दों के समान ही असाधु शब्दों में भी रहती है क्योंकि शक्ति-ग्राहकों में प्रधान, व्यवहार दोनों में तुल्यरूप से होता है। नैयायिक अपभ्रंश शब्दों में शक्ति नहीं मानते हैं। इनके अनुसार असाधु से साधु शब्द के स्मरण द्वारा अर्थ का ज्ञान होता है। अथवा साधु के भ्रम से बोध होता है। परन्तु ये दोनों मत ठीक नहीं है क्योंकि ये दोनों तर्क एवम् अनुभव-विरुद्ध हैं। यह साधुत्व—व्याकरण से अन्वाख्येय होना अथवा पुण्यजनकतावच्छेदक-धर्मवान् होना है। इनसे भिन्न असाधु होता है।

यह शक्ति तीन प्रकार की है—(१) रूढि, (२) योग और (३) योग-रूढि। समुदाय की वाचकता में रूढि, प्रकृति-प्रत्यय की वाचकता में योग और दोनों की वाचकता में योगरूढि मानी जाती है। कुछ लोग यौगिक रूढ़ि यह चौथा भेद मानते हैं।

अर्थ का संदेह होने पर संयोग, विप्रयोग आदि को शक्ति का निर्णायक माना जाता है।

(२) लक्षणा

नैयायिकों के अनुसार 'शक्यसम्बन्ध' लक्षणा है। इसमें तात्पर्य की अनुपपत्ति कारण है। यह दो प्रकार की है—(१) गौणी और (२) शुद्धा। शक्य के सादृश्य सम्बन्ध को मानकर होने वाली गौणी और इससे भिन्न सम्बन्ध को मानकर होने वाली शुद्धा है। इसके भी जहत्स्वार्था तथा अजहत्स्वार्था ये दो भेद होते हैं। जहाँ शक्यार्थ का परित्याग करके अन्य अर्थ लक्षित होता है वहाँ जहत्स्वार्था और जहाँ शक्यार्थ को लेते हुए अन्य अर्थ लक्षित होता है वहाँ अजहत्स्वार्था होती है। अतः 'गां वाहीकं पाठय' यहाँ जहत्स्वार्था तथा 'छत्रिणो यान्ति, यष्टीः प्रवेशय' आदि में अजहत्स्वार्था है। तत्स्थता, तद्धर्मता, तत्समीपता एवं तत्सहचरता से लक्षणा होती है।

मीमांसकों के अनुसार 'स्वबोध्य-सम्बन्धो लक्षणा' यह है। कारण यह है कि 'गम्भीरायां नद्यां घोषः' यहाँ किसी एक पद में लक्षणा मानकर अभीष्ट अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः समुदाय में ही लक्षणा माननी चाहिये। इससे 'गाम्भीर्यविशिष्ट-नदीतटे घोषः' यह लक्ष्यार्थ प्रतीत होता है।

इसके पुनः दो भेद होते हैं—(१) प्रयोजनवती एवं (२) रूढा। जहाँ किसी प्रयोजन विशेष का प्रतिपादन करने के लिए लक्षणा होती है वहाँ प्रयोजनवती होती है। जैसे 'गङ्गायां घोषः' आदि में गंगागत शैत्य पावनत्वादि की प्रतीति कराना प्रयोजन है। बिना किसी प्रयोजन के शक्यसम्बन्ध निरूढ़ लक्षणा है जैसे, त्वचा ज्ञातम् [त्वक् की त्वगिन्द्रिय में लक्षणा होती है, उससे जाना—यह अर्थ है]।

परमलघुमञ्जूषा में लक्षणा की अनावश्यकता प्रतिपादित की गयी है। 'तात्पर्य रहने पर सभी शब्द सभी अर्थों के प्रतिपादक होते हैं', इस भाष्यवचन से शक्ति द्वारा

ही बोधकता होती है। इस शक्ति के दो भेद हैं—(१) प्रसिद्धा और (२) और अप्रसिद्धा। सबके जानने योग्य प्रसिद्धा है और सहृदयों द्वारा जानने योग्य अप्रसिद्धा है। देवताऋषिलोकव्यवहारादि से तात्पर्यनिर्णय करना चाहिये।

(३) व्यञ्जना

नैयायिक लक्षणा में ही व्यञ्जना का अन्तर्भाव करते हैं। इसका खण्डन साहित्यिकों ने काव्यप्रकाशादि में किया है। नागेश व्यञ्जना की आवश्यकता पर जोर देते हैं। अन्यथा निपातों की द्योतकता और स्फोट की व्यङ्ग्यता का उपपादन कठिन हो जायगा। लक्षणा पद में रहती है किन्तु व्यञ्जना पद, पदैकदेश, पदार्थ, वर्णरचना, चेष्टा आदि सभी में रहती है। अतः उससे भिन्न है। व्यञ्जना का लक्षण मञ्जूषाकार ने यह लिखा है—

'मुख्यार्थबाधनिरपेक्षबोधजनको मुख्यार्थसम्बद्धासम्बद्धसाधारणः प्रसिद्धाप्रसिद्धार्थविषयको वक्त्रादिवैशिष्ट्यज्ञानप्रतिभाद्युद्बुद्धः संस्कारविशेषो व्यञ्जना।'

लक्षणा में मुख्यार्थबाध और मुख्यार्थ का सम्बन्ध आवश्यक है। किन्तु व्यञ्जना के लिये इन दोनों की अनिवार्यता नहीं है। इनके बिना भी व्यञ्जना से बोध होता है।

(४) वृत्त्याश्रय

उपर्युक्त वृत्ति का आश्रय कौन शब्द माना जाय—इस पर नैयायिकादि वर्णों को ही वृत्त्याश्रय—वाचक मानते हैं। परन्तु यह ठीक नहीं है। क्योंकि इसमें दो पक्ष हो सकते हैं—(१) प्रत्येक को वाचक मानना अथवा (२) समुदाय को वाचक मानना। इनमें प्रत्येक की वाचकतापक्ष में प्रथम वर्ण से ही अर्थज्ञान हो जाने पर द्वितीयादि वर्णों का उच्चारण व्यर्थ होने लगेगा। और समुदाय की भी वाचकता सम्भव नहीं है क्योंकि वर्ण उच्चरित-प्रध्वंसी होते हैं, कभी भी एक साथ नहीं रह सकते।

वर्णों की अभिव्यक्ति अथवा उत्पत्ति इन दोनों ही पक्षों में वर्णों के क्षणस्थायी होने से क्षणात्मक काल के प्रत्यक्षयोग्य न होने से उस काल से विशिष्ट वर्णों का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। नष्ट वर्णों में 'यह पूर्व है, यह पर है' आदि प्रत्यक्षविषयक ज्ञान भी नहीं हो सकता। अविद्यमान वर्ण में भी वृत्ति की आश्रयता मान लेने पर 'नष्टो घटो जलवान्' यह भी व्यवहार होने लगेगा। संस्कार मानकर पूर्व एवं पर वर्णों का पौर्वापर्य हो जाता है—यह भी ठीक नहीं है क्योंकि जिस क्रम से अनुभव होता है उसी क्रम से संस्कार—इसमें कोई प्रमाण नहीं है, विपरीत क्रम भी हो सकता है। अतः अन्य मार्ग का ही अवलम्बन करना चाहिये। वैयाकरण स्फोटात्मक शब्द को वृत्ति का आश्रय अर्थात् वाचक मानते हैं।

वाणी के चार भेद हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी। इनमें मध्यमानाद स्फोट का व्यञ्जक है। वैखरीनाद ध्वनिरूप है। स्फोटात्मक शब्द मध्यमानाद से अभिव्यङ्ग्य ब्रह्मरूप और नित्य है।

स्फोट की दो व्युत्पत्तियां हैं— (१) स्फुट्यते—अभिव्यज्यते वर्णैरिति स्फोटः। (२) स्फुटति=अभिव्यक्तीभवति अर्थो यस्मात् सः स्फोटः। यह स्फोट यद्यपि एक ही है तथापि व्यञ्जक वर्णरूपी उपाधियों से अनेक प्रकार का प्रतीत होता है। व्यञ्जक की विशेषताओं का व्यङ्ग्य में भान होना अनुभवसिद्ध है। घटादि उपाधियों के भेद से आकाश के भेद की प्रतीति के समान यहाँ भी समझना चाहिये। प्राकृत एवं वैकृत दो प्रकार की ध्वनियाँ होती हैं। इनमें प्राकृत ध्वनि स्फोट की व्यञ्जक होती है। यह स्फोट पद एवं वाक्यादि रूप में बुद्धि-निर्ग्राह्य ही होता है और कत्वादिरूप से श्रोत्रग्राह्य होता है।

इस स्फोट के आठ भेद हैं—(१) वर्ण-स्फोट [=प्रकृतिस्फोट प्रत्ययस्फोट], (२) पदस्फोट, (३) वाक्यस्फोट, (४) वर्णजातिस्फोट, (५) पदजातिस्फोट, (६) वाक्यजाति-स्फोट, (७) अखण्डपदस्फोट, (८) अखण्डवाक्यस्फोट। यह आठ प्रकार का स्फोटात्मक शब्द ही वृत्ति का आश्रय [वाचक] मानना चाहिये। इनमें भी वाक्यस्फोट अथवा वाक्यजाति-स्फोट ही प्रधान है क्योंकि ऐसा ही लोक में अनुभव होता है।

(५) शाब्दबोध के सहकारी कारण

शाब्दबोध के निम्न चार सहकारी कारण होते हैं—

(अ) आकाङ्क्षा

वाक्यीय सङ्केत की बोधिका आकाङ्क्षा है। यह आकाङ्क्षा—एक पदार्थ का ज्ञान हो जाने पर उस अर्थ के अन्वययोग्य अन्य अर्थ का जो ज्ञान, तद्विषयक इच्छा 'इस अर्थ का अन्वयी अर्थ कौन है'—इत्याकारक है जो आत्मा में रहने वाली है। किन्तु आकाङ्क्षा के विषयभूत अर्थ में इसका आरोप मान लिया जाता है, क्योंकि 'यह अर्थ अन्य अर्थ की आकाङ्क्षा रखता है' ऐसा व्यवहार होता है। पद में इसका आरोप सम्भव नहीं है क्योंकि अर्थज्ञान के बाद ही आकाङ्क्षा उठती है।

एक पदार्थ में अन्य पदार्थ के अभाव को मानकर होने वाला अन्वयबोधाजनकता का ज्ञान जिज्ञासा का उठाने वाला है। अतः उसमें भी आकांक्षाव्यवहार होता है। अथवा उत्थापकता एवं विषयता किसी एक या दोनों सम्बन्धों से अन्य अर्थ की जिज्ञासा आकाङ्क्षा है।

(आ) योग्यता

नैयायिक लोग बाधाभाव को योग्यता कहते हैं। बाधस्थल में शाब्दबोध न मान कर केवल पदार्थोपस्थिति मानते हैं। किन्तु यह ठीक नहीं है। बाधस्थल में भी

बोध होना अनुभव-सिद्ध है। यह अलग विषय है कि वह बोध अप्रमात्मक हो। इसीलिए लोक में बाधित अर्थ वाले वाक्यों के प्रयोग करने वालों का उपहास करना संगत होता है।

नागेश के अनुसार—परस्पर-अन्वय-प्रयोजक-धर्मवत्ता योग्यता है। अतः 'जलेन सिञ्चति' यह वाक्य योग्यताविशिष्ट है और 'वह्निना सिञ्चति' यह योग्यता से रहित। प्रथम वाक्य में सेचन की अन्वयप्रयोजकद्रवद्रव्यत्वरूपी योग्यता जल में है और करणत्व-रूप से जलान्वयप्रयोजक आर्द्रीकरणत्वरूप योग्यता सेचन-क्रिया में है। वह्नि में सेचन-क्रियान्वयप्रयोजक द्रवद्रव्यत्व नहीं है। अतः यहाँ योग्यता नहीं है। इस योग्यता का भान शाब्दबोध में होता है।

(इ) आसत्ति

प्रस्तुत [=अभीष्ट] अन्वयबोध के अजनक पदों का व्यवधान [=बीच में प्रयोग] न होना—आसत्ति है। यह आसत्ति मन्दबुद्धि वालों को शीघ्र बोध कराने में सहायक होती है। व्युत्पन्न व्यक्ति तो पदार्थज्ञान होने पर आकाङ्क्षादि के बल से ही बोध कर लेते हैं, आसत्ति को कारण मानने की आवश्यकता नहीं है।

(ई) तात्पर्य

'यह पद अथवा वाक्य इस अर्थ के बोध के लिए उच्चारण करना चाहिये' ऐसी इच्छा तात्पर्य है। सन्देहस्थल में प्रकरणादि को तात्पर्य का निर्णायक माना जाता है। इसीलिए भोजनकाल में 'सैन्धव लाओ' ऐसा कहने पर नमक का और युद्धकाल में घोड़े का ज्ञान होता है। वेद-वाक्यों में ईश्वरीय तात्पर्य की कल्पना करनी चाहिये। यद्यपि प्रकरणादि शक्ति के नियामक होते हैं अतः शक्ति से ही काम चल जाना चाहिये परन्तु 'इस शब्द से दो अर्थों का ज्ञान हो रहा है क्योंकि दोनों में इसकी शक्ति है परन्तु तात्पर्य किस अर्थ में है—यह नहीं मालूम है,' इस अनुभव के आधार पर तात्पर्यज्ञान को भी शाब्दबोध का कारण मानना उचित है।

(६) धात्वर्थ

वैयाकरण-मतानुसार सभी शब्दों का मूल धातु ही है। इसके अर्थ के विषय में पर्याप्त मतभेद हैं :—

मीमांसक-मत—धातु का अर्थ केवल फल है। आख्यात प्रत्यय का अर्थ व्यापार है। आख्यातार्थ व्यापार के प्रति धात्वर्थ फल विशेषण होता है। व्यापारमुख्य-विशेष्यक शाब्दबोध होता है। व्यापार=भावना है।

नैयायिक-मत—प्राचीनों के अनुसार धातु का अर्थ केवल व्यापार है फल की प्रतीति तो द्वितीयादि से होती है। नव्यनैयायिक फल एवं व्यापार दोनों को धातु का अर्थ मानते हैं। किन्तु शाब्दबोध में प्रथमान्त पदार्थ ही मुख्य रहता है, धात्वर्थ

विशेषण। आख्यात प्रत्यय का अर्थ कृति [मानस संकल्परूप] है। धात्वर्थ व्यापार आख्याताथ कृति में और कृति प्रथमान्तार्थ में विशेषण बनती है।

प्राचीन वैयाकरण-मत—भट्टोजिदीक्षित एवं भूषणकार आदि के मतानुसार धातु के दो अर्थ हैं—(१) फल तथा (२) व्यापार। इन दोनों में पृथक् पृथक् शक्ति है। इन दोनों का अन्वय परस्पर होता है। नैयायिकादिमत में आख्यातपदोपस्थाप्य कृति एवं वर्तमानत्व के परस्पर अन्वय के समान यहाँ फल एवं व्यापार में भी परस्पर अन्वय होना उचित है। कर्तृप्रत्यय एवं कर्मप्रत्यय दोनों स्थलों पर व्यापार-मुख्य-विशेष्यक ही शाब्दबोध होता है। आख्यात—तिङ् के अर्थ कर्ता, कर्म, संख्या एवं काल हैं। संख्या का अन्वय कर्ता तथा कर्म में एवं काल का अन्वय व्यापार में होता है। फल एवं व्यापार में परस्पर अनुकूलत्व—जनकत्व सम्बन्ध है।

नागेश-मत—इनके अनुसार फल एवं व्यापार ये दोनों ही धातु के अर्थ हैं। परन्तु विशिष्ट में शक्ति माननी चाहिये—फल-विशिष्ट व्यापार तथा व्यापार-विशिष्ट फल का बोध होता है। पृथक्-पृथक् शक्ति मानने पर फल एवं व्यापार में उद्देश्य-विधेयभाव से अन्वय होने का प्रसङ्ग आता है। इनके मत में कर्तृप्रत्यय स्थल में व्यापार-मुख्य विशेष्यक तथा कर्म-प्रत्ययस्थल में फलविशेष्यक व्यापार-विशेषणक ही शाब्दबोध होता है। कर्ता तथा कर्म अर्थ वाले उन उन प्रत्ययों के समभिव्याहार को उक्त बोधों में कारण मान लेना चाहिये। अतः व्यवस्था बन जाती है।

सिद्ध अथवा असिद्ध जो भी साध्यत्वरूप से अभिधीयमान होता है, क्रमरूप का आश्रय वाला होने से क्रिया कहा जाता है। अन्य क्रिया की आकाङ्क्षा को उठाने वाला वैजात्य जिसमें हैं वह सिद्ध है। जिसमें अन्य क्रिया की आकाङ्क्षा को उठानेवाला वैजात्य न होते हुए कारक की अन्वययोग्यतावच्छेदकधर्मवत्ता है, वह साध्य है। वास्तव में निष्पाद्य होना ही साध्य होना है। फल के व्यधिकरण व्यापार का वाचक धातु सकर्मक तथा फल के समानाधिकरण व्यापार का वाचक अकर्मक होता हैं। कहीं कहीं फलांश की प्रतीति न होने से भी अकर्मक होता है। वास्तव में तो व्याकरण शास्त्र जिनकी कर्मसंज्ञा करता है उन अर्थों के साथ अन्वित अर्थ वाली धातु सकर्मक और अन्वित न होनेवाले अर्थवाली धातु अकर्मक होती है।

(७) आख्यातार्थ

मीमांसक-मत में आख्यात प्रत्यय का अर्थ 'भावना' है। नैयायिक मत में 'कृति' है। और वैयाकरणों के मत में 'कर्ता' तथा 'कर्म' के साथ-साथ 'संख्या' एवं 'काल' ये चार अर्थ हैं।

(क) मीमांसक-मतानुसार शाब्दबोध—चैत्रः तण्डुलं पचति—तण्डुलभाव्यिका

[—तण्डुलसाध्यिका] पाककरणिका चैत्रकर्तृका भावना। कर्म प्रत्यय में भी आख्यातार्थ भावना ही मुख्य विशेष्य रहती है,

(ख) नैयायिकमतानुसार—रामः ग्रामं गच्छति—इस कर्तृ प्रत्यय में—ग्रामाभिन्न-उत्तरदेश-संयोगानुकूलव्यापारानुकूलकृतिमान् रामः। रामेण ग्रामः गम्यते—इस कर्मप्रत्यय में—रामवृत्तिकृतिजन्यगमनजन्यफलशाली ग्रामः यह प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यक बोध होता है।

(ग) प्राचीन-वैयाकरण-मतानुसार—रामाभिन्नकर्तृकः ग्रामाभिन्नकर्मकः उत्तरदेश-संयोगानुकूलो व्यापारः। रामेण ग्रामः गम्यते—यहाँ भी उक्त व्यापार-मुख्य-विशेष्यक ही शाब्दबोध होता है।

(घ) नागेशमतानुसार—रामः ग्रामं गच्छति—यहाँ कर्तृ प्रत्यय में तो उपर्युक्त ही बोध होता है किन्तु रामेण ग्रामः गम्यते—इस कर्म प्रत्यय में फल-मुख्यविशेष्यक बोध होता है—रामकर्तृक-वर्तमान-कालिक-व्यापारजन्यो ग्रामाभिन्नकर्मनिष्ठः संयोगः—यह व्यापारविशेषणक फलविशेष्यक शाब्दबोध होता है।

भावप्रत्ययस्थल में कोई अन्तर नहीं है।

(८) निपातार्थ

निपात शब्दों के अर्थ के विषय में नैयायिकों तथा वैयाकरणों का मतभेद है। नैयायिक लोग निपातों को वाचक तथा उपसर्गों को द्योतक मानते हैं। किन्तु वैयाकरण इस भेद को न मानकर सभी की द्योतकता का ही समर्थन करते हैं।

केवल उपसर्ग का प्रयोग नहीं होता है। अतः उसके साथ धातु का प्रयोग होने पर प्रतीयमान अर्थ किसका है—इस विषय में तीन पक्ष हो सकते हैं। जैसे प्रजपति यहाँ प्रकृष्ट जपरूप अर्थ (१) 'प्र' उपसर्ग का है, (२) 'जप' धातु का है अथवा (३) दोनों के समुदाय का है? 'प्र' का अर्थ मानने पर 'प्रभवति' यहाँ भी प्रतीति होने लगेगी। जप का अर्थ मानने पर 'प्र' के अभाव में भी प्रतीति होने लगेगी। समुदित का अर्थ मानने पर अडादि-व्यवस्था में अनुपपत्ति होने लगेगी। अतः यही उचित है कि यह अर्थ धातु का ही माना जाय और उपसर्ग को इसका द्योतक माना जाय। यह द्योतकता 'सक्षात्क्रियते गुरुः' आदि निपात-प्रयोग में भी माननी चाहिये। द्योतकता का अर्थ है—(१) अपने समभिव्याहृत [साथ में प्रयुक्त] पद में रहने वाली वृत्ति का उद्बोधक होना। (२) कहीं-कहीं क्रिया-विशेष का आक्षेपक होना भी द्योतकता है। जैसे 'प्रादेशं विलिखति' यहाँ 'वि' उपसर्ग 'मान' क्रिया का आक्षेपक है 'विमाय लिखति' यह अर्थ होता है। (३) कहीं कहीं सम्बन्ध का परिच्छेदक होना भी द्योतकता है। जैसे—'जपमनु प्रावर्षत्' आदि में कर्मप्रवचनीय शब्दों की होती है। लक्ष्यलक्षणभाव सम्बन्ध प्रतीत होता है।

उपसर्ग एवं निपात दोनों ही द्योतक हैं। अतः इनकी अर्थवत्ता भी द्योत्य अर्थ को ही लेकर है क्योंकि शक्ति, लक्षणा एवं द्योतकता किसी भी एक सम्बन्ध से बोधक होना द्योतक होना है।

इस प्रकरण में निपातविशेष इव, नञ् तथा एव के अर्थों पर भी विचार किया गया है। इव यह निपात उपमानता का द्योतक है। उपमान एवम् उपमेय दोनों में रहने वाले साधारण-धर्मवत्त्वरूप से ईषत् इतरपरिच्छेदक होना उपमानता है। और इसी धर्मवत्ता से परिच्छेद्य होना उपमेयता है। साधारण धर्म का सम्बन्ध कहीं विशेष्यता-रूप से और कहीं विशेषणतारूप से होता है।

नञ् दो प्रकार हैं—(१) पर्युदास और (२) प्रसज्यप्रतिषेध। इनमें पर्युदास नञ् का द्योत्यार्थ है—आरोपविषयता। आरोपविषयता के द्योतक होने का अर्थ है—नञ् से समभिव्याहृत घटादि पदों का आरोपित प्रवृत्तिनिमित्त की बोधकता में तात्पर्य-ग्राहक होना। अतः 'अब्राह्मणः' आदि में आरोपित-ब्राह्मणत्ववान्, यह अर्थ होता है। अन्य में अन्य के धर्म का आरोप तो आहार्य ज्ञानरूप होता है। सादृश्य और अभाव आदि छह तो नञ् के आर्थिक अर्थ हैं शाब्दिक नहीं।

प्रसज्यप्रतिषेध समस्त एवम् असमस्त दोनों स्थलों पर होता है। इसमें समास स्थल में अत्यन्ताभाव अर्थ होता है तथा असमास-स्थल में अत्यन्ताभाव एवम् अन्योन्या-भाव दोनों अर्थ होते हैं। तादात्म्य सम्बन्ध से भिन्न सम्बन्ध से अभाव अत्यन्ताभाव और तादात्म्य सम्बन्ध का अभाव अन्योन्याभाव होता है। अत्यन्ताभाव विशेष्यतारूप से तिङन्तार्थक्रिया में ही अन्वित होता है।

[इसका विशद विवेचन मूल एवं व्याख्याओं में देखें।]

एव के दो अर्थ हैं (१) अवधारण और (२) असम्भव। यह अवधारण तीन प्रकार का होता है—(१) विशेष्य के साथ एवकार में अन्ययोगव्यच्छेदरूप (२) विशेषण के साथ एवकार में अयोगव्यवच्छेदरूप तथा (३) क्रिया के साथ एवकार में अत्यन्त-अयोगव्यवच्छेदरूप। योग—सम्बन्ध, व्यवच्छेद—निवृत्ति, अयोग—सम्बन्धाभाव। क्रमशः उदाहरण—(१) पार्थ एव धनुर्धरः, यहाँ अन्य में धनुर्धरत्व का व्यवच्छेद। (२) शङ्खः पाण्डुर एव—यहाँ अयोगव्यवच्छेद—सम्बन्धाभाव की निवृत्ति से पाण्डुरत्व का अव्यभिचरित सम्बन्ध प्रतीत होता है। (३) नीलं सरोजं भवत्येव—यहाँ अतिशयित अयोग—सम्बन्धाभाव की निवृत्ति प्रतीत होती है। अतः नीलत्व गुणवान् से अभिन्न सरोज-कर्तृक सत्ता और कभी कभी अन्य गुण से युक्त सरोज-कर्तृक-सत्ता इसकी भी प्रतीति होती है।

(६) लकारार्थ

लाघव को ध्यान में रखते हुए नैयायिकों ने लकारों के ही अर्थ पर विचार किया

है। परन्तु वैयाकरणों का मत यह है कि 'उच्चारित शब्द ही अर्थ का प्रत्यायक होता है अनुच्चारित नहीं, इस भाष्यकथन के द्वारा तथा लोक में अनुभव होने के कारण लकारों के आदेशभूत तिङ् प्रत्ययों के ही अर्थ मानकर विचार करना चाहिए। आदेशों के अर्थों का स्थानी में आरोप मानकर 'वर्तमाने लट्' [पा. सू. ३।२।१२३] तथा "ल कर्मणि च" [पा. सू. ३।४।६९] आदि सूत्रों की प्रवृत्ति माननी चाहिये।

एकत्वादि-संख्या विशेष वर्तमानत्वादि कालविशेष एवं कर्ता तथा कर्म कारक—ये लकारादेश तिङ् के सामान्य अर्थ हैं, सर्वत्र होते हैं। (१) लट् के आदेश का वर्तमान काल, शप् आदि के समभिव्याहार में कर्ता, (२) यक् एवं चिण् के समभिव्याहार में भाव एवं कर्म तथा (३) दोनों के समभिव्याहार में एकत्वादिसङ्ख्या अर्थ होता है। तिङ् समभिव्याहार में तिङर्थसङ्ख्या तिङर्थकारक में विशेषण होती है। किन्तु काल तो धात्वर्थ व्यापार में ही विशेषण होता है। तिङर्थ कर्ता व्यापार में और तिङर्थ कर्म फल में विशेषण होता है।

प्रारब्ध किन्तु अपरिसमाप्त क्रिया से उपलक्षित [आश्रय] होना वर्तमान होता है। लिट् तिङ् का भूत अनद्यतन एवं परोक्षत्व यह अधिक अर्थ है। परोक्षता कारक का विशेषण है क्रिया का नहीं। 'साक्षात् किया' ऐसी विषयता वाले ज्ञान का विषय न होना—भूत होना है। वर्तमान प्रागभाव की प्रतियोगिनी क्रिया से उपलक्षित होना भविष्यत् होता है। लेट् तिङ् का अर्थ विधि आदि है। यह वैदिक लकार है। लोट् तिङ् तथा लिङ् तिङ् का भी विधि आदि अर्थ होता है। विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण, अधीष्ट तथा सम्प्रश्न इन सभी की प्रवर्तनात्वरूप से प्रतीति माननी चाहिये। और प्रवृत्तिजनक ज्ञान की विषयता की अवच्छेदक प्रवर्तना होती है। और यह इष्टसाधनता का ही होता है। अतः इसे ही लिङ् का अर्थ मानना चाहिये। वर्तमान ध्वंस की प्रतियोगिभूत क्रिया से उपलक्षित होना भूत होता है। क्रिया की अतिपत्ति—अनिष्पत्ति तथा हेतुहेतुमद्भाव गम्यमान रहने पर भूतत्व एवं भविष्यत्व लृङ् के तिङ् का अर्थ होता है।

नैयायिक मत में लकार का अर्थ कृति—यत्न है। मीमांसकों के मत में व्यापार=भावना अर्थ है। लाघव के आधार पर यत्नत्व को ही शक्यतावच्छेदक मानना चाहिये। लकारों में ही शक्ति है तिङ् में नहीं। अतीत, अनागत एवं वर्तमान काल भी लकारों का अर्थ है। लिङ्, लेट्, लोट् का अर्थ विधि है। वर्तमानध्वंस-प्रतियोग्युत्पत्तिकत्व भूतत्व है। वर्तमान प्रागभावप्रतियोग्युत्पत्तिकत्व भविष्यत्त्व है।

लिङ् का अर्थ विधि है। भट्ट-मतानुयायी इसे प्रवर्तना और प्रभाकरानुयायी 'कार्य' मानते हैं। प्रवर्तक ज्ञान का विषय विधि है—यह नैयायिक मानते हैं। और (१) कृतिसाध्यत्व (२) इष्टसाधनत्व और (३) बलवान अनिष्ट का अननुबन्धित्व

=अजनकत्व—इन तीनों का ज्ञान प्रवर्तक होता है। कुछ लोग इन तीनों के समुदाय में एक ही शक्ति मानते हैं और कुछ लोग अलग-अलग तीनों में शक्ति मानते हैं। नञ्-समभिव्याहार में अनिष्टजनकता की प्रतीति होती है। [विशेष व्याख्यान मूल एवं व्याख्याओं में देखें।]

(१०) कारकार्थ

कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण ये छह कारक हैं। क्रिया का निष्पादक—जनक होना कारकत्व होता है। यह छहों में रहता है। दीक्षितादि ने क्रियान्वयी होना कारक माना है। कुछ लोगों ने क्रिया का निमित्त होना कारकत्व माना है, वह ठीक नहीं है क्योंकि 'चैत्रस्य तण्डुलं पचति' यहाँ सम्बन्धी चैत्र में अतिव्याप्त होने लगेगा; क्योंकि अनुमति आदि के प्रकाशन द्वारा सम्प्रदान के समान तण्डुलादि द्वारा सम्बन्धी चैत्र भी क्रिया का निमित्त हो जाता है।

प्रकृतधातु के वाच्य व्यापार का आश्रय होना कर्ता होना है। अन्य कारकों का व्यापार प्रकृतधातु का वाच्य नहीं होता है। प्रकृत धात्वर्थ प्रधानीभूत व्यापार के प्रयोज्य प्रकृत धात्वर्थ फल के आश्रयत्वरूप से उद्देश्य होना कर्म होना है। यही ईप्सिततम है। भिन्न-भिन्न लक्ष्यों के अनुसार इस कर्मलक्षण में संशोधन कर लिया जाता। [इसके लिए मूल एवं व्याख्यायें देखें।]

नैयायिकों के अमुसार धात्वर्थतावच्छेदक-व्यापारव्यधिकरण-फलशाली होना कर्म होता है।

स्वनिष्ठव्यापार के अव्यवधान से फल का निष्पादक होना करण होता है। यही साधकतम है।

क्रियामात्र के कर्म के सम्बन्ध के लिये क्रिया में उद्देश्य होना सम्प्रदान होना है। सम्प्रदान चतुर्थी का अर्थ उद्देश्य है। अकर्मक क्रिया का उद्देश्य होना भी सम्प्रदानत्व है। अतः 'पत्ये शेते' में उपपत्ति हो जाती है।

उन उन कर्ताओं में समवेत [—समवायसम्बन्ध से वर्तमान] उन उन क्रियाओं से जन्य, प्रकृतधातु के अवाच्य विभाग का आश्रय होना अपादान होना है। इसे ही अवधि होना कहा जाता है। यहाँ भाष्यादि के आधार पर विभाग को वास्तविक सम्बन्धपूर्वक ही लेने का आग्रह नहीं है, बुद्धिपरिकल्पित सम्बन्धपूर्वक भी विभाग लिया जाता है। इसीलिए 'माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतराः' यह भाष्यप्रयोग संगत है। और 'चैत्रात् सुन्दरः मैत्रः' यह लोकव्यवहार है। कहीं अनुपपत्ति रहने पर शब्दरूप उपाधि का आश्रयण कर लेना चाहिये। पञ्चमी का अर्थ अवधि है।

कर्ता के माध्यम से व्यापार का आधार होना और कर्म के माध्यम से फल का आधार होना अधिकरण होना है। आधार-भेद से अधिकरण तीन प्रकार का होता

है—(१) अभिव्यापक (२) औपश्लेषिक और (३) वैषयिक। इनमें अभिव्यापक आधार मुख्य है। गौण आधार की भी अधिकरण संज्ञा होती है।

ज्ञापक क्रिया के आश्रय के वाचक से होनेवाली सप्तमी 'सति सप्तमी' हैं, इसका अर्थ है—अन्य क्रिया का ज्ञापक होना।

कर्मादि कारक तथा प्रातिपदिकार्थ से भिन्न जो स्व-स्वामिभाव आदि सम्बन्ध होते हैं वे षष्ठी के अर्थ हैं। इस सम्बन्ध के उभयनिष्ठ होने पर भी विशेषणवाचक से ही षष्ठी की उत्पत्ति होती है क्योंकि सम्बन्ध अर्थ प्रधान है तथा 'प्रकृति एवं प्रत्यय के अर्थों में प्रत्ययार्थ ही प्रधान होता है,' यह व्युत्पत्ति है। अतः 'राजसम्बन्धी पुरुष' इस विवक्षा में राजाशब्द से ही षष्ठी उचित है। राजा की विशेष्यता में 'पुरुषस्य राजा' यह भी होता ही है।

(११) नामार्थ

नाम—प्रातिपदिक शब्द के अर्थ के विषय में मतभेद है। मीमांसकमतानुसार जाति अर्थ में ही नाम की शक्ति माननी चाहिये क्योंकि जाति एक है अतः लाघव है। व्यक्ति में शक्ति मानने पर अनन्तता और व्यभिचार दो दोष आते हैं। काल एवं देश के भेद से व्यक्तियों के अनन्त होने से प्रथम दोष है। गृहीतशक्तिक से भिन्न का बोध नहीं होना चाहिए किन्तु होता है अतः कारणाभाव में कार्यरूप व्यभिचार है। 'नागृहीतविशेषणा बुद्धिर्विशेष्ये उपजायते' इस नियम का तात्पर्य है विशेषण—जाति अंश में शक्ति और विशेष्य में लक्षणा। जातिपक्ष का समर्थन 'जात्याख्यायामेकस्मिन्' [पा० सू० १।२।५८] 'सवर्णेऽण्ग्रहणमपरिभाष्यम्, आकृतिग्रहणात् सिद्धम्'' यह ''सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ [पा०सू० १।२।६४] इस सूत्र का महाभाष्य और ''आकृतिं वाजप्यायनः'' यह भाष्य करता है।

मीमांसकों का उपर्युक्त मत ठीक नहीं है क्योंकि व्यक्तियों के अनन्त होने पर भी शक्यतावच्छेदक जाति के उपलक्षण होने से और उस जाति के एक होने से उस जाति से उपलक्षित व्यक्ति में शक्ति मान लेने से अनन्त शक्ति की कल्पना नहीं करनी है। लक्ष्यतावच्छेदकतीरत्व आदि के समान शक्यतावच्छेदक [जाति] के वाच्य न होने पर भी दोष नहीं है। और जाति के उपलक्षक होने से उस जाति के आश्रय समस्त व्यक्तियों का बोध हो जाने से अन्य व्यक्ति के बोध न होने का प्रसङ्ग नहीं आता है।

शक्तिग्राहकों में व्यवहार प्रमुख है। वह व्यक्ति में ही शक्तिग्रह करवाता है; क्योंकि लोक में 'गामानय' आदि वाक्यों से व्यक्ति में ही शक्तिग्रह होता है।

नैयायिक-मत में जाति-आकृति-विशिष्ट व्यक्ति अर्थ होता है। इसका मूल है 'जात्याकृतिव्यक्तयस्तु पदार्थः [न्या०सू० २।२।६८] गौतमसूत्र।

नागेश का मत है कि ''न हि आकृति-पदार्थकस्य द्रव्यं न पदार्थः'' इस ''सरूपाणाम्०'' [पा० सू० १।२।६४] सूत्रस्थ भाष्यवचन से जातिविशिष्ट व्यक्ति

अथवा व्यक्तिविशिष्ट जाति अर्थ ही मानना उचित है। पाणिनि-मत में दोनों अर्थ है क्योंकि "जात्याख्यायाम्" [पा० सू० १।२।५८] सूत्र से जाति और "सरूपाणामेकशेष" [पा० सू० १।२।६४] से व्यक्ति अर्थ सिद्ध होता है। [विशेष विवेचन लघुमञ्जूषा में देखना चाहिये।]

जाति एवं व्यक्ति के साथ साथ लिङ्ग भी नाम—प्रातिपदिक का अर्थ है क्योंकि वाक्, उपानत् आदि शब्दों में बिना प्रत्यय के स्त्रीत्व का बोध होता है। इसी प्रकार संख्या भी नामार्थ है, विभक्ति द्योतक होती है। इसीलिए "आदिर्ञिटुडवः" [पा० सू० १।३।५] यह सूत्र संगत होता है।

कारक भी नामार्थ है। क्योंकि 'दधि तिष्ठति' 'दधि पश्य' आदि में विभक्तियों के न होने पर भी कर्तृत्व एवं कर्मत्व की प्रतीति होती है। ऐसे स्थलों में लुप्त प्रत्यय के स्मरण से लिङ्ग, संख्या एवं कारक की प्रतीति का उपपादन कठिन है; क्योंकि लोप न जानने वाले को भी बोध होते देखा जाता है।

वैयाकरणों का मत है कि शब्द भी शाब्दबोध में भासित होता है। विशेषणतया इसकी प्रतीति होती है। 'युधिष्ठिर आसीत्' आदि में 'युधिष्ठिर-पदवाच्यः कश्चिद् आसीत्' यह बोध होता है। 'विष्णुमुच्चारय' आदि में विष्णु शब्द की ही प्रतीति होती है। इसीलिये अनुकरण से अनुकार्य शब्दस्वरूप की प्रतीति होती हैं। शब्द में बोधकत्व एवं बोध्यत्व ये दो शक्तियाँ रहती हैं। अतः शब्द को भी अपने बोध का विषय मानना उचित है। ज्ञानमात्र में शब्द का भान होता है।

(१२) समासादिवृत्त्यर्थ

समास, कृत्, तद्धित, एकशेष और सनाद्यन्त-धातुरूप—ये पाँच वृत्तियाँ होती हैं। नागेश एकशेष को वृत्ति नहीं मानते हैं, क्योंकि 'परार्थ से अन्वित स्वार्थ का उपस्थापक होना रूप वृत्तित्व' एकशेष में नहीं होता है।

अर्थ के अनुसार वृत्ति के दो भेद होते हैं—(१) जहत्स्वार्था एवम् (२) अजहत्स्वार्था। अवयवार्थ के प्रति निरपेक्ष होते हुए समुदाय के अर्थ की बोधक होना जहत्स्वार्था है। अवयवार्थ-संवलित समुदाय के अर्थ की बोधक होना अजहत्स्वार्था है। 'रथन्तरम्' तथा 'शुश्रूषा' आदि शब्दों में अवयवार्थ [रथकरणकतरणकर्तारूप तथा श्रवणकर्मक इच्छारूप] की प्रतीति नहीं होती है। अतः ऐसे उदाहरण जहत्स्वार्था के हैं। और 'राजपुरुषः' आदि में अजहत्स्वार्था है क्योंकि यहाँ अवयवार्थ की भी प्रतीति होती है।

'समर्थः पदविधिः' [पा० सू० २।१।१] यहाँ सामर्थ्य दो प्रकार का है—(१) एकार्थीभावरूप और (२) व्यपेक्षारूप। वैयाकरण एकार्थीभाव को और नैयायिक तथा मीमांसक व्यपेक्षा—परस्पराकांक्षा को सामर्थ्य मानते हैं।

नैयायिक एवं मीमांसक व्यपेक्षावादी हैं। ये समास में विशिष्ट अर्थ में विशिष्ट समुदाय की शक्ति नहीं मानते हैं। समुदाय में शक्ति, सम्बन्ध की प्रतीति के लिए ही है। यह प्रतीति राजपद की राजसम्बन्धी में लक्षणा करने पर भी हो जाती है। '--राजसम्बन्धवान् से अभिन्न पुरुष' यह बोध हो जाता है। इसलिए 'राजा पदार्थैक-देश होता है, उसमें 'ऋद्धस्य' आदि विशेषण का अन्वय नहीं होता है। इसी प्रकार 'घनश्यामः' 'निष्कौशाम्बिः' आदि में 'इव' तथा 'क्रान्त' आदि पदों के प्रयोग का प्रसङ्ग नहीं आता है क्योंकि लक्षणा द्वारा ही इन अर्थों के उक्त हो जाने से इनके वाचक शब्दों के प्रयोग की आवश्यकता नहीं है। लक्ष्यानुरोध से उत्तरपद अथवा पूर्वपद में लक्षणा मानी जाती है। अतः विशिष्ट--समुदाय की विशिष्ट अर्थ में शक्ति मानने की आवश्यकता नहीं है।

वैयाकरण विशिष्टशक्तिवादी हैं। ये समुदाय में शक्ति मानकर उसीसे विशिष्ट अर्थ का बोध मानते हैं। समास--समुदाय में शक्ति न स्वीकार करने पर उस समुदाय की अर्थवत्ता न होने के कारण "अर्थवद्" [पा० सू० १।२।४५] सूत्र से प्रातिपदिक संज्ञा नहीं हो सकती।

समास में शक्ति न मानने पर, उस समुदाय का अर्थ न होने पर 'शक्य-सम्बन्धरूप' लक्षणा भी नहीं हो सकती है। अतः लाक्षणिक अर्थवत्ता भी न होने से प्रातिपदिकत्व का उपपादन सर्वथा असम्भव है। उस संज्ञा के न होने पर सु आदि की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी और फलस्वरूप पदसंज्ञा नहीं हो सकेगी। अतः 'अपदं न प्रयुञ्जीत' इस नियम से उन समस्त पदों का प्रयोग ही नहीं हो सकेगा। इसलिये प्रातिपदिक संज्ञारूप कार्य ही अर्थवत्ता का अनुमान कराता है--समास अर्थवान् है, प्रातिपदिक होने के कारण, जो अर्थवान् नहीं होता वह प्रातिपदिक नहीं होता, जैसे अभेदानुकरणविवक्षापक्ष में 'भू सत्तायाम्' आदि।

समासादि में 'विशेषण का योग न होना, लिङ्ग एवं संख्या का योग न होना' इसके लिए व्यपेक्षावादियों को नवीन अतिरिक्त वचनों की कल्पना करनी पड़ती है। वैयाकरणों के मत में तो एकार्थीभाव मान लेने से अवयवों का अर्थ न होने से विशेषणादि का योग न होना न्यायसिद्ध है, इसके लिये अतिरिक्त वचन की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार व्यपेक्षावादियों को 'घटपटौ' 'घनश्यामः' आदि में 'च' 'इव' आदि का निषेध करना होगा। वैयाकरणमत में विशिष्ट में ही शक्ति मानने के कारण उनका प्रयोग ही नहीं प्राप्त होता है। इस प्रकार अनेक दोष एवं गौरव होने के कारण व्यपेक्षावाद न मानकर एकार्थीभाव मानना तर्कसंगत है। वैयाकरणों का यही सिद्धान्त है।

—:०:—

परमलघुमञ्जूषा

॥ श्रीः ॥

परमलघुमञ्जूषा

'भावप्रकाशिका' संस्कृत-हिन्दी-व्याख्योपेता

शिवं नत्वा हि नागेशेनानिन्द्या परमा लघुः ।
वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषैषा विरच्यते ॥ १ ॥

विश्वेशं शारदां ढुण्ढि कपीशं च शनैश्चरम् ।
गुरून् नत्वारभे व्याख्यामिमां भावप्रकाशिकाम् ॥ १ ॥
मीमांसकैस्तर्कधुरन्धरैश्च नैयायिकैः शाब्दिकशास्त्रसिद्धान् ।
सन्दूषितान् साधयितुं पदार्थान् व्याख्यामुखेनैष मम प्रयत्नः ॥ २ ॥

"मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते" इति महाभाष्यादि - स्मृति - शिष्टाचारानुमितसिद्धाऽऽचरणकं ग्रन्थनिर्विघ्नसमाप्ति - तत्प्रचारादि-प्रतिबन्धकं मङ्गलं शिष्यशिक्षायै व्याख्यातृश्रोतॄणामनुषङ्गतो मङ्गलाय च ग्रन्थादौ विलिखन्नागेशभट्टो वैयाकरणः प्रेक्षावतां प्रवृत्तयेऽनुबन्धचतुष्टयमपि निरूपयति—शिवं नत्वेति । शिवं=महेश्वरम्, 'विद्यामिच्छेत्तु शङ्करादि'ति वचनात् पाणिनीयव्याकरणस्य माहेश्वरसूत्रमूलकत्वाच्च शिवस्य नमनमुचितम् । अथवा अन्यत्रेवात्रापि शिवभट्टनामकं पितरमित्यर्थः । नत्वा = प्रणम्य, नागेशेन=नागोजिभट्टेतिनामकेन विदुषा, अनिन्द्या= दोषरहितत्वेनानिन्दनीया, परमा लघुः=अत्यन्तं लघ्वी, (लघुत्वञ्च शब्दाल्पत्वेन, तेनार्थगौरवमव्याहतमेव), एषा = बुद्धिविषयत्वेन विद्यमाना, वैयाकरण-सिद्धान्त-मञ्जूषा = वैयाकरण-सिद्धान्तानां मञ्जूषेव तन्नाम्ना प्रसिद्धा कृतिः, विरच्यते= विलिख्यते ।

मङ्गललक्षणन्तु—विघ्नभिन्नत्वे सति विघ्नध्वंसप्रतिबन्धकाभावभिन्नत्वे सति प्रारिप्सित (ग्रन्थादि)—विघ्नध्वंसाऽसाधरणकारणत्वम् । विघ्नेऽतिव्याप्तिवारणाय—विघ्नभिन्नत्वे सतीति, विघ्नस्यापि स्वध्वंसाऽसाधारणकारणत्वात् । विघ्नध्वंसप्रतिबन्धकाभावेऽतिव्याप्तिवारणाय—विघ्नध्वंसप्रतिबन्धकाभावभिन्नत्वे सतीति । कारीरीयागे-

ऽतिव्याप्तिवारणाय—प्रारिप्सितेति, तस्यापि विघ्नभिन्नत्वाद् विघ्नध्वंसप्रतिबन्धकाभावभिन्नत्वाद्, वृष्टिप्रतिबन्धकानां विघ्नानां यो ध्वंसस्तस्यासाधारणकारणत्वाच्च । ईश्वरादिसाधारणकारणेऽतिव्याप्तिवारणाय—असाधारणेति । कार्यमात्रं प्रति ईश्वरतज्ज्ञानादीनां साधारणकारणत्वात् ।

ननु मङ्गलं विघ्नध्वंसं प्रति न कारणम्, कादम्बर्यादौ बहुमङ्गलसत्त्वेऽपि ग्रन्थसमाप्त्यदर्शनात्, विनापि मङ्गलं नास्तिकादीनां ग्रन्थेषु निर्विघ्नपरिसमाप्तिदर्शनादितिचेन्न; अविगीतशिष्टाचारविषयत्वेन मङ्गलस्य सफलत्वे सिद्धे सम्भवति दृष्टफलकत्वेऽदृष्टफलकल्पनाया अन्याय्यत्वाद् उपस्थितत्वाच्च समाप्तेरेव तत्फलत्वेन कल्पनीयत्वात् । एवञ्च यत्र मङ्गलादर्शनं तत्रापि जन्मान्तरीयं तत्कल्पनीयम्; यत्र च सत्यपि मङ्गले समाप्त्यभावो दृश्यते तत्र बलवत्तरो विघ्नो विघ्नप्राचुर्यं वा बोध्यमिति दिक् ।

ननु श्रुत्यादौ शिवस्य निर्गुणत्वदर्शनात् नमस्कारस्य च सगुणत्वप्रयोजकत्वात् शिवकर्मकं नमनमसङ्गतमिति चेन्न; (प्रलये जगत्) शेतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या शिवस्यापि सगुणत्वसिद्धत्वात् । किञ्च, श्लेषेण स्वपितुः शिवभट्टस्यापि बोधनात्, तत्कर्मकनमनस्योचितत्वात् ।

नत्वेति—नम् धात्वर्थश्च—स्व (=नमस्कर्तृ)-निष्ठापकृष्टतानिरूपितोत्कृष्टताविशिष्टबोधानुकूलो व्यापारः । वैशिष्ट्यञ्च—स्ववृत्तिविषयतानिरूपकत्व –स्वविषयकबोधीयविषयताश्रय समवायित्वैतदुभयसम्बन्धाभ्याम् । स्वम्=उत्कृष्टत्वम्, प्रथमसम्बन्धे प्रकारताख्या विषयता, द्वितीयसम्बन्धे च विषयः प्रकाररूपः, विषयता च विशेष्यताख्या ग्राह्या, बोधश्च नमस्कार्यनिष्ठः । व्यापारश्चात्र—करशिरःसंयोग-कर-सम्बलनादिरूपः, नम्धातूच्चारणादिरूपश्चेत्यन्यत्र विस्तरः ।

ननु— आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च ।
श्रेयस्कामो न गृह्णीयाज्ज्येष्ठापत्यकलत्रयोः ॥ [स्मृतिः]

इति निषेधस्य सत्वान्नागेश इति स्वनामोच्चारणं प्रामादिकमिति चेन्न; न गृह्णीयाद् इत्यस्य नोच्चारयेदित्यर्थकत्वेन लेखने दोषाभावात्, "रामो द्विर्नाभिभाषते," "मनुरब्रवीत्", "कर्माण्यपि जैमिनिः फलार्थत्वात्" (जै० सू० ३।१।४) इत्यादिप्रयोगदर्शनेनात्रापि अनौचित्याभावाच्च । अन्यकर्तृकत्वनिरासार्थं स्वनामोल्लेखनस्यावश्यकत्वाच्चेति बोध्यम् ।

अनिन्द्येति—अत्र ग्रन्थे सारभूतसिद्धान्तानामुपस्थाप्यतया परैरपि अनिन्दनीयत्वेनास्य ग्रन्थस्यापि अनिन्दनीयत्वं बोध्यम् ।

परमालघुः—लघुत्वञ्चात्र शब्दाल्पत्वरूपम् । परमात्वं च अनपेक्षितप्रतिपादनपरित्यागरूपम् । एवञ्चात्र सर्वथोपयोगिविषया एवाल्पशब्दैः गभीरभावप्रतिपादकैर्नि-

रूपिता:। वैयाकरणेति—व्याक्रियते=व्युत्पाद्यते=प्रकृतिप्रत्ययविभागतत्तदर्थविभाग-तत्तदन्वयबोधविषयकज्ञानम् अनेनेति-व्याकरणम्=शब्दानुशासनशास्त्रम्। प्रकृतिप्रत्ययादि-विभाग-तत्तदर्थविभाग-तत्तदन्वयबोध (=शाब्दबोध-) विषयकपदार्थज्ञानरूपा या व्युत्पत्तिस्तत्साधनं शास्त्रं व्याकरणमुच्यते। एवञ्च—व्याकृति:=व्युत्पत्तिरिति समानार्थकम्। वि-आङ्पूर्वकात् कृधातो: करणे ल्युटि—व्याक्रियन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्। व्याकरणमधीयते विदन्ति वा—इति वैयाकरणा:। "तदधीते तद्वेद" (पा० सू० ४।२।५९) इत्यनेन व्याकरणशब्दात् तदध्ययनकर्तरि तज्ज्ञानकर्तरि वार्थेऽणि, "न य्वाभ्याम्०" (पा० सू० ७।३।३) इति ऐजागमे सिद्ध्यति वैयाकरण इति। तेषां सिद्धान्ता:—सिद्धा:=प्रमाणैर्निर्णीताश्च तेऽन्ता:=अर्था इति सिद्धान्ता: प्रमाणतो निर्णीतार्था: इति यावत्। यद्वा सिद्ध:=निष्पन्नोऽन्त:=निश्चयो येषामर्थानां ते सिद्धान्ता:=निश्चितार्था: इति यावत्, तेषां मञ्जूषा। यथा कश्चित् मञ्जूषायां मणि-मुक्तादि-बहुमूल्यानि रत्नानि स्थापयति तथैव नागेशभट्टोऽपि अत्र ग्रन्थे व्याकरणशास्त्रीय-सिद्धान्तरत्नानि स्थापयति। ये जिज्ञासव: ते प्रतिभाख्यया कुञ्जिकया समुद्घाट्य विलोकयन्तु गृह्णन्तु चेति भाव:। एषेति—ननु सिद्धस्यैव पदार्थस्य समीपवर्तित्वसम्भवेन मञ्जूषायाश्च भाविनीत्वेन समीपतरवर्तिपदार्थबोधकैतदा शब्देन बोधासम्भवेन—एषा—इति निर्देशासङ्गतिरिति चेन्न; भाविन्या अपि मञ्जूषाया ग्रन्थकर्त्रा स्वबुद्धिविषयीकृतत्वेन समीपतरवर्तितया एतद्-शब्देन बोधनस्यौचित्यात्। सत्कार्यवादानुसारं पूर्वमपि सत्ताया अक्षते:; ग्रन्थकारेण सर्वपदार्थानां बुद्धिदेशस्थत्वस्य बहुभिस्तर्कै: प्रमाणैश्च साधितत्वाच्चेति दिक्। विरच्यते—विपूर्वकाद् रच् धातोश्चुरादित्वात् स्वार्थे णिचि कर्मणि "वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा" (पा० सू० ३।३।१३१) इति सूत्रेण भविष्यति लटि रूपं बोध्यम्। "वर्तमाने लट" (पा० सू० ३।३।१२३) इति लट् तु न, मङ्गल-निर्माणकाले मञ्जूषाया: निर्माणस्याभावेन वर्तमानत्वाभावात्। मङ्गलस्यापि ग्रन्थ-घटकत्वे तु वर्तमाने एव लट् बोध्य:। यद्यपि रच प्रतियत्ने इति पाठात् रच् धातु: प्रतियत्नार्थक:। प्रतियत्नश्च सिद्धे वस्तुनि गुणाधानम् इति प्रकृते सिद्धायां मञ्जूषायां गुणाधानस्याभावेन 'विरच्यते' इति प्रयोगो न सङ्गच्छते तथापि धातूनामनेकार्थत्वात् तत्र तत्र साहित्यादौ रचनाशब्दस्य शब्दविन्यासादिरूपार्थे प्रयोगदर्शनाच्च 'निर्मीयते' इत्यर्थेऽपि तत्प्रयोगस्य असङ्गत्यभावादिति बोध्यम्।

> सिद्धार्थं ज्ञातसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते।
> शास्त्रादौ तेन वक्तव्य: सम्बन्ध: सप्रयोजन:॥
> सम्बन्धश्चाधिकारी च विषयश्च प्रयोजनम्।
> विनानुबन्धं ग्रन्थादौ मङ्गलं न प्रशस्यते॥

इति वृद्धोक्त्या ग्रन्थादौ श्रोतृप्रवृत्तये प्रयोजनाद्यनुबन्धचतुष्टयं वक्तव्यम्। अत्र

च तत् ''शिवं नत्वे''ति पद्येन नमस्कारात्मकं मङ्गलं कुर्वन् 'वैयाकरणसिद्धान्त-मञ्जूषैषा—' इत्यनेन सूचितम्। अत्र (१) विषयः—वैयाकरण-सिद्धान्तः, (२) अधिकारी—तज्जिज्ञासुः (३) प्रयोजनं—तज्ज्ञानम्, (४) सम्बन्धः—प्रयोजन-ग्रन्थयोः साध्यसाधनभावः।

मङ्गलाचरण—श्री शिव जी [भगवान् शङ्कर अथवा अपने पिता शिवभट्ट] को प्रणाम करके नागेश भट्ट अनिन्दनीय [अन्य शास्त्रकारों द्वारा आलोचना की अविषय] इस परमलघुवैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा [वैयाकरण-सिद्धान्त-परमलघु-मञ्जूषा] का प्रणयन करते हैं।

विमर्श—नागेश भट्ट व्याकरणशास्त्र की सभी धाराओं पर अपनी योग्यता प्रदर्शित करने वाले अपूर्व प्रतिभाशाली वैयाकरण थे। व्याकरण-दर्शन से सम्बद्ध ग्रन्थों में इन्होंने सर्वप्रथम वैयाकरण-सिद्धान्तमञ्जूषा, जो गुरुमञ्जूषा भी कही जाती है, का प्रणयन किया था। अन्य शास्त्रकारों के मतों का खण्डन करके व्याकरण-सम्प्रदाय-सम्मत सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना इस ग्रन्थ का उद्देश्य प्रतीत होता है। गुरु-मञ्जूषा का प्रणयन इनकी युवावस्था में किया गया प्रतीत होता है। विभिन्न शास्त्रकारों के मतों के सम्यक् अध्ययन एवं चिन्तन के उपरान्त लघुमञ्जूषा की रचना की है। यह इनकी प्रौढ़ावस्था की कृति है। इनके चिरस्थायी यश के लिये यह एक कृति ही पर्याप्त है। इसमें स्थल स्थल पर इनकी अतुलनीय प्रतिभा के दर्शन होते हैं। प्रायः प्रत्येक विषय में नवीन सिद्धान्त स्थापित करना या नवीन रीति से व्याख्या करना इनकी एक महती विशेषता लघुमञ्जूषा के अनुशीलनकर्ताओं को इनकी प्रशंसा करने को बाध्य कर देती है। अपनी प्रथम कृति से भेद स्थापित करने के लिये इन्होंने इसमें 'लघु' यह विशेषण दिया है। इसलिये उत्तरवर्त्ती विद्वानों ने प्रथम कृति के साथ 'गुरु' यह विशेषण जोड़कर 'गुरुमञ्जूषा' कहना प्रारम्भ कर दिया है। इसका मूल वैद्यनाथ की कला टीका में अनेक स्थलों पर 'गुरुमञ्जूषायाम्, गुरु-मञ्जूषादौ' आदि उल्लेख हैं।

यद्यपि नागेश ने द्वितीय कृति को लघुमञ्जूषा कहा है परन्तु इसकी विपुलता और प्रौढ़ता वैयाकरणों से छिपी नहीं है। यह खेद का विषय है कि इस सम्पूर्ण ग्रन्थ का प्रकाशन लगभग १६०० पृष्ठों में एक ही बार चौखम्बा संस्कृत सीरीज से हुआ है। इसकी रचना करके भी नागेश भट्ट को यह असन्तोष ही रहा होगा कि सामान्य विद्वानों के लिये व्याकरण-दर्शन का ग्रन्थ नहीं है। इसीसे इन्होंने अत्यन्त सारभूत विषयों का विवेचन करने के लिये प्रस्तुत कृति 'परमलघुमञ्जूषा' का प्रणयन किया। यह प्रथम कृतिद्वय का सङ्क्षेपमात्र ही नहीं है। इस में भी यत्र तत्र नवीन विचारों की झलक मिलती ही है।

[स्फोटनिरूपणम्]

तत्र वर्णपदवाक्यभेदेन स्फोटस्त्रिधा। तत्रापि जातिव्यक्तिभेदेन पुनः षोढा। अखण्डपदस्फोटोऽखण्डवाक्यस्फोटश्चेति सङ्कलनयाऽष्टौ स्फोटाः।

नैयायिकाः वैखरीध्वनीनामेव वाचकत्वं प्रतिपादयन्ति शब्दानामनित्यत्वञ्च निरूपयन्ति। मीमांसकाः शब्दानां नित्यत्वं स्वीकुर्वन्तोऽपि ध्वनिरूपत्वमेव तेषां साधयन्ति। किन्तु वैयाकरणाः ध्वनिव्यतिरिक्तं स्फोटात्मकमेव शब्दं स्वीकुर्वन्ति, यतो हि "योग्यविभुविशेषगुणानां स्वोत्तरवर्तियोग्यविभुविशेषगुणनाश्यत्वनियमः" इति सिद्धान्तानुसारं प्रथमशब्दस्य द्वितीयशब्देन नाश आवश्यकः। एवञ्च वर्णरूपप्रकृतिप्रत्ययानामाशुतरविनाशित्वात् तत्र शक्तिग्रहस्यासम्भवात् तेषां वाचकत्वं दुर्लभमिति व्याकरणशास्त्रस्य शक्तिग्राहकत्वमपि सर्वथाऽसम्भवमिति शङ्कानिरासाय नित्यस्य वैखरीध्वनिव्यङ्ग्यस्य स्फोटात्मकशब्दस्यैव वाचकत्वमिति सिद्धान्तयिष्यन् पूर्वं तद्भेदान् निरूपयति—तत्रेति—विवेचयिष्यमाणेषु स्फोटभेदेषु। वर्णेति—वर्णस्फोटः, पदस्फोटः, वाक्यस्फोट इति त्रयो भेदाः। तत्रापीति—त्रिविधेष्वपि स्फोटेष्वित्यर्थः। जातीति—वर्णजातिस्फोटः, पदजातिस्फोटः, वाक्यजातिस्फोटश्चेति पुनस्त्रयो भेदाः। एवञ्च सम्मेलनेन षड्विधः स्फोटः सम्पद्यते। सखण्डस्फोटाङ्गीकारे गौरवात् अखण्डपदस्फोटः अखण्डवाक्यस्फोटश्चेति अष्टभेदाः भवन्ति। अत्र वर्णपदेन प्रकृतिप्रत्ययाः गृह्यन्ते इति बोध्यम्। स्फोटस्य द्विविधा व्युत्पत्तिरङ्गीक्रियते--(१) स्फुटति=प्रकाशते, अवगम्यतेऽर्थोऽनेनास्माद्वेति व्युत्पत्त्या—अर्थविषयकोपस्थितिजनकतावच्छेदकीभूतशक्तिमत्त्वं स्फोटत्वमिति भावः। (२) स्फुट्यते=अभिव्यज्यते वर्णैरिति स्फोट इति व्युत्पत्त्या वैखरीध्वनीनां व्यञ्जकत्वं स्फोटस्य च व्यङ्ग्यतेति सिद्ध्यति। विस्तरस्तु यथावसरेऽग्रे भविष्यति।

स्फोट के भेद

उन [आगे विवेचित होने वाले स्फोट-भेदों में अथवा वैयाकरणों के सिद्धान्त] में—(१) वर्ण (२) पद और (३) वाक्य के भेद से स्फोट तीन प्रकार का [होता] है। इन [तीन स्फोट-भेदों] में भी (१) जाति और (२) व्यक्ति के भेद से पुनः छह प्रकार का [स्फोट हो जाता] है। (१) अखण्ड-पद-स्फोट और (२) अखण्डवाक्य-स्फोट [हैं] इस प्रकार योग करने पर आठ स्फोट [हो जाते] हैं।

विमर्श—वैयाकरणों के सिद्धान्तानुसार स्फोटरूप शब्द ही वास्तव में वाचक है। स्फोट शब्द की व्युत्पत्ति यह है—स्फुटति=अभिव्यक्तीभवति प्रकाशते वा अर्थो यस्मात् सः स्फोटः। जिससे अर्थ की अभिव्यक्ति=प्रकाश=ज्ञान होता है वह स्फोट है। वैयाकरणों ने इस स्फोट के अनुभवानुरोध से आठ भेद किये हैं—(१) वर्णस्फोट, (२) पदस्फोट (३) वाक्यस्फोट (४) वर्णजातिस्फोट, (५) पदजातिस्फोट (६) वाक्यजातिस्फोट (७) अखण्डपदस्फोट (८) अखण्डवाक्यस्फोट। इनमें

वर्णस्फोट का तात्पर्य प्रकृतिप्रत्ययस्फोटों से है। आगे यथाप्रसङ्ग इनका विवेचन किया जायगा।]

तत्र वाक्यस्फोटो मुख्यः, तस्यैव लोकेऽर्थबोधकत्वात्तेनैवार्थसमाप्तेश्चेति। तदाह न्यायभाष्यकारः—''पदसमूहो वाक्यमर्थसमाप्तौ'' (न्या० भा० २-१-२५) इति। अस्य समर्थमिति शेषः।

तत्र प्रतिवाक्यं सङ्केतग्रहासम्भवाद् वाक्यान्वाख्यानस्य लघूपायेनाशक्यत्वाच्च कल्पनया पदानि प्रविभज्य पदे प्रकृतिप्रत्ययभागान्प्रविभज्य कल्पिताभ्यामन्वयव्यतिरेकाभ्यां तत्तदर्थविभागं शास्त्रमात्रविषयं परिकल्पयन्ति स्माचार्याः।

तत्रेति—अष्टसु स्फोटेषु मध्ये इत्यर्थः। वाक्यस्फोट इति—बोधजनकत्वेन वाक्यस्फोटस्यैव मुख्यत्वं शक्तिग्राहकेषु प्रधानीभूतेन प्रयोज्यप्रयोजकव्यवहारेण वाक्ये एव शक्तिग्रहादिति भावः। अर्थसमाप्तेरिति—निराकाङ्क्षस्य वाक्यार्थस्य वाक्येनैव बोधजनकत्वेन तेनैव वाक्यार्थस्य पूर्णत्वादिति भावः। तथा 'तत्र घट' इत्यादिपदानामर्थबोधकत्वेऽपि न तस्य परिसमाप्तिः। न्यायभाष्यकारः=वात्स्यायनः। पदसमूह इति—अत्र पदं सुबन्तं तिङन्तं च; तदाह भगवान् गौतमः ''ते विभक्त्यन्ताः पदम्'' (न्यायसूत्र २।२।६०)। एवञ्च सुबन्तपदसमूहः, तिङन्तपदसमूहः, सुबन्त-तिङन्तपदसमूहश्च वाक्यत्वेन ग्राह्यः। उक्तञ्चामरसिंहेनापि—''सुप्तिङन्तचयो वाक्यमि''ति। प्रविश, पिण्डीमित्यादौ केवलपदस्यापि वाक्यत्वं लघुमञ्जूषादौ प्रतिपादितं तत एव बोध्यम्।

ननु पदसमूहो वाक्यमिति वैयाकरणमतेऽसङ्गतम्, एकस्याखण्डस्यैव स्फोटस्य वाक्यत्वेन प्रतिपादनात् प्रतिभायाश्च वाक्यार्थतयाऽङ्गीकारादिति चेन्न; पदे प्रकृतिप्रत्ययादिविभागकल्पनामिव वाक्येऽपि पदादि-विभागकल्पनामङ्गीकृत्य तदुक्तत्वात्।

ननु वाक्यस्फोटस्यैव मुख्यत्वे व्याकरणशास्त्रस्यानर्थक्यमत्र प्रकृति-प्रत्ययादितत्तदर्थानां प्रतिपादनेन तस्यान्वाख्यानाभावादत आह तत्रेति—वाक्ये इति। सङ्केतग्रहासम्भवादिति—सङ्केतग्राह्यशक्तिग्रहस्यासम्भवादिति भावः, शक्तिसङ्केतयोर्भेदाङ्गीकारात्। असम्भवत्वञ्च देशकालकर्तृभेदेन वाक्यानामानन्त्यादिति बोध्यम्।

अयं भावः—देशकालकर्तृभेदेन वाक्यानि अनन्तानि तेषु सर्वेषु शक्तिग्रहोऽसम्भवी। एवमेव निखिलवाक्यानामन्वाख्यानमपि केनापि लघूपायेनाशक्यमतस्तत्र वाक्येषु वस्तुतस्तत्त्वाभावेऽपि पदानां कल्पना, पदेषु च प्रकृतिप्रत्ययभागानां कल्पना क्रियते। तथा घटमानय, पटमानयेत्यादौ घटादिप्रकृतिसत्त्वे तेषामर्थाः ज्ञायन्ते, तदभावे न ज्ञायन्ते; एवमेव अमादिप्रत्ययसत्त्वे तेषामर्थाः, तदभावे न तेषामर्था इति प्रकृतीनां प्रत्ययानाञ्चार्था अन्वयव्यतिरेकाभ्यां कल्प्यन्ते। किन्तु कल्पितानामेषामर्थानामुप-

योगस्तु व्याकरणशास्त्रीयप्रक्रियानिर्वाहायैव; लोके तु वाक्यस्यैव बोधजनकतयोपयोग: । अतएव "विभाषा सुप:" [पा० सू० ५।३।६८] इति सूत्रे कैयटोऽप्याह—"अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रकृति-प्रत्ययानामिह शास्त्रेऽर्थवत्तापरिकल्पनात् ।"

वाक्यस्फोट की मुख्यता

इन [उपर्युक्त आठ स्फोटों] में वाक्यस्फोट [ही] मुख्य है, क्योंकि लोक में यह [वाक्यस्फोट] ही अर्थ का बोध करवाता है और इस [वाक्यस्फोट] से ही अर्थ की परिसमाप्ति [निराकाङ्क्ष अर्थ की परिपूर्णता] होती है। जैसा कि न्यायभाष्यकार वात्स्यायन ने कहा है—'अर्थसमाप्ति में [समर्थ] पदसमूह वाक्य [होता] है।' इस [भाष्यवाक्य] का 'समर्थ' यह शेष है। [अर्थात् भाष्यवाक्य में 'समर्थम्' यह जोड़कर अर्थ करना चाहिये—अर्थपरिसमाप्ति=निराकाङ्क्ष अर्थबोध कराने में समर्थ पदों का समूह वाक्य होता है।]

वाक्यस्फोट के ज्ञान के लिये प्रकृति-प्रत्यय की कल्पना

उसमें [उपर्युक्त रीति से वाक्यस्फोट के ही मुख्य होने पर] प्रत्येक वाक्य में सङ्केतग्रह [सङ्केतग्राह्य-शक्तिग्रह] सम्भव नहीं है और वाक्य का अन्वाख्यान लघु उपाय से नहीं किया जा सकता है; इसलिये आचार्य लोग [वस्तुत: न होने पर भी] कल्पना से [वाक्यों में] पदों का विभाजन करके [और] पदों में भी प्रकृतिभाग एवं प्रत्ययभाग का विभाजन करके कल्पित अन्वयव्यतिरेक के द्वारा उन प्रकृति एवं प्रत्ययों के अर्थ-विभाग को केवल व्याकरणशास्त्र के लिये परिकल्पित करते हैं।

विमर्श—यहाँ का आशय यह है कि लोक में वाक्य ही अर्थबोध का जनक होता है। किन्तु देश, काल, वक्ता आदि के भेद से वाक्य अनन्त हो जाते हैं उन सभी में संकेतग्रह द्वारा शक्ति-ग्रह सम्भव नहीं है। साथ ही किसी भी लघु उपाय से वाक्यों का अन्वाख्यान करना सम्भव नहीं है। इसलिये ऋषियों ने व्याकरणशास्त्र के उपयोग के लिये वाक्यों में पद और पदों में प्रकृतिप्रत्यय-भागों की कल्पना की है। और उन प्रकृति तथा प्रत्यय के अर्थों की भी कल्पना की है। इस कल्पना का आधार है—अन्वयव्यतिरेक। अमुक प्रकृति अथवा प्रत्यय के रहने पर अमुक अर्थ प्रतीत होता है, न रहने पर नहीं प्रतीत होता है; अत: वह अर्थ उसी प्रकृति या प्रत्यय का मान लेना चाहिये। इस प्रकार यह समस्त कल्पना ही है, वास्तविकता नहीं है। इसका उपयोग व्याकरणशास्त्र की प्रक्रिया का निर्वाह करना है। अन्यथा अखण्ड वाक्य अखण्ड वाक्यार्थ का बोधक है; इस मत में प्रकृति प्रत्ययादि और इनके अर्थों का ज्ञान कराने वाला व्याकरण शास्त्र व्यर्थ हो जायगा।

तत्र शास्त्रप्रक्रियानिर्वाहको वर्णस्फोट:। प्रकृतिप्रत्ययास्तत्तदर्थवाचका

एवेति तदर्थः। उपसर्गनिपातधात्वादिविभागोऽपि काल्पनिकः। स्थानिनो लादय आदेशास्तिबादयः कल्पिता एव। तत्र ऋषिभिः स्थानिनां कल्पिता अर्थाः कण्ठरवेणैवोक्ताः। आदेशानां तु स्थान्यर्थाभिधानसमर्थस्यैवादेशतेति-भाष्यात्तेऽर्थाः। एवं च स्थानिनां वाचकत्वमादेशानां वेति विचारो निष्फल एव; कल्पितवाचकत्वस्योभयत्र सत्त्वात्। मुख्यं वाचकत्वं तु कल्पनया बोधितसमुदायरूपे पदे वाक्ये वा, लोकानां तत एवार्थबोधात्।

उपेयप्रतिपत्त्यर्था उपाया अव्यवस्थिताः।

(वै०भू०का० ६८ उत्तरार्द्ध)

इति न्यायेन व्याकरणभेदेन स्थानिभेदेऽपि न क्षतिः, देशभेदेन लिपिभेदवदिति दिक्।

वाक्यस्फोटस्यैव मुख्यत्वमिति प्रतिपाद्य शास्त्रोपयोगित्वेन सर्वतोऽपकृष्टमाद्यमाह तत्रेति—अष्टसु मध्ये कल्पितपदतदेकदेशयोर्मध्ये वा वर्णस्फोटः व्याकरणशास्त्रीय-सूत्रप्रवृत्त्यादिप्रक्रियाप्रयोजकः। वर्णस्फोट इत्यस्य वर्णाः वाचकाः इति तु नार्थः, तेषामानर्थक्यस्य भाष्ये बहुशः स्पष्टमुक्तत्वात्; किन्तु वर्णपदं पदावयवपरम्। एवञ्च वर्णस्फोट इत्यनेन प्रकृतिप्रत्ययादीनां वाचकत्वं बोध्यम्; वर्णानां वाचकत्वस्वीकारेऽनन्त-दोषप्रसङ्गात्। प्रकृतित्वञ्च—प्रत्ययनिष्ठविधेयतानिरूपितोद्देश्यतावच्छेदकाक्रान्तत्वम्। प्रत्ययत्वञ्चार्थबोधकत्वे सति पाणिनीयादिसङ्केतसम्बन्धेन प्रत्ययपदवत्त्वम्। प्रक्रियते= प्रत्ययात् पूर्वं क्रियते या सा प्रकृतिरिति तु न सम्यक्, बहुपटव इत्यादावव्याप्तेः। तत्तदर्थवाचका इति। पदावयवानां प्रकृति-प्रत्ययादीनामर्थानां वाचकाः प्रकृतिप्रत्यया इति भावः। अत्र 'एव' शब्दपाठस्तु नोचितः, लघुमञ्जूषादावदर्शनात्। यद्वा 'प्रकृति-प्रत्यया एव तत्तदर्थवाचकाः, इति योजनीयम्। तदर्थः=वर्णस्फोटपदस्यार्थः। काल्पनिक इति—यथा प्रकृतिप्रत्ययादयः काल्पनिका एव, एवमेव उपसर्गधात्वादीनां विभागोऽपि शास्त्रीयप्रक्रियानिर्वाहाय एव कल्प्यते। परमार्थस्तु पदस्फोटो वाक्यस्फोटो वा, लोके तत एव बोधदर्शनात्। लडादिस्थानिनां तिबाद्यादेशानां च कल्पनापि प्रक्रियानिर्वाहार्थमेव। तत्रेति—स्थान्यादेशमध्ये, प्रकृतिप्रत्ययमध्ये वा। कण्ठरवे-णैवेति—"लः कर्मणि च" [पा० सू० ३।४।६९] इत्यादिरूपेणेति भावः। स्थान्य-र्थेति—"स्थानेऽन्तरतमः" [पा० सू० १।१।५०] इति परिभाषासूत्रानुरोधेन यदुच्चा-रणप्रसङ्गे यदुच्यते तत् तदर्थं बोधयतीति सिद्धान्तानुसारं स्थानिनामिवादेशानामपि वाचकत्वमक्षुण्णमिति भावः। एवञ्च यथा स्थानिनामर्था एवमेवादेशानामप्यर्थाः सुतरां सिद्धाः। निष्फल एवेति—लाघवानुरोधेन नैयायिकाः लडादीनां स्थानिनामेव वाचकत्वं प्रतिपादयन्ति। वैयाकरणास्तु—"उच्चारित एवार्थंप्रत्यायको भवति नानुच्चरित" इति भाष्योक्त्याऽऽदेशानामेव वाचकत्वं साधयन्ति। किन्तु कल्पितवाचकत्वस्योभयत्र

सत्त्वेनायं विवादः निष्फलः। कल्पनयेति—शास्त्रीयप्रक्रियानिर्वाहार्थमङ्गीकृतयेति भावः। बोधितसमुदायरूपे=प्रकृतिप्रत्ययसमुदायभूते। लौकिकानां बोधस्तु कल्पित-प्रकृतिप्रत्ययसमुदायरूपेण पदेन वाक्येन वा जायते। प्रकृतिप्रत्ययविभागकल्पना तु शास्त्रीयप्रक्रियानिर्वाहार्थमेवोक्तत्वात्। अत्र मानन्तु "भूवादयो धातवः" [पा० सू० १।३।१] इति सूत्रस्थं महाभाष्यम्। अस्य सूत्रस्यार्थविवेचना-वसरे "भुवं=जायमानं क्रियारूपमर्थं येऽभिदधति ते धातुसञ्ज्ञकाः" इत्यर्थमुपक्रम्य 'शिश्ये' इत्यत्र दोषं प्रदर्श्य "इतरेतराश्रयञ्च भवति, केतरेतराश्रयता? प्रत्यये भाव-वचनत्वं भाववचनत्वे च प्रत्ययः।" धातूद्देश्यक-प्रत्ययविधायकशास्त्रव्यापारात् पूर्वं शिश्ये इति समुदाय एव नास्ति, कुतोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थस्य प्रविभाग इति शिश्ये इत्यस्य प्रयोगसत्त्वेऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां भाववचनत्वकल्पनम्, भाववचनत्वे च धातुसंज्ञायां तदुद्देश्यक-प्रत्यये शिश्ये इत्यस्य प्रयोग इत्यन्योन्याश्रय—इत्याशङ्का-याम् "अनाश्रित्य भाववचनत्वं प्रत्ययो नित्यत्वाच्छब्दानाम्" [म० भा० १।३।१] इत्युक्तम्। कैयटेन चात्र "व्यवस्थिता एव पचत्यादयः समुदायाः संसृष्टार्थाभिधायिनः केवलमुत्प्रेक्ष्योत्प्रेक्ष्य प्रक्रियामर्थविभागः शब्दविभागश्चापोद्ध्रियते" इति व्याख्यातम्। अत्रापोद्ध्रियते इत्यस्य कल्प्यते इत्यर्थः।

उपेयेति। भूषणसारस्य कारिकेयं पूर्वार्द्धेन सहिता—

पञ्चकोशादिवत्तस्मात् कल्पनैषा समाश्रिता।
उपेयप्रतिपत्त्यर्था उपाया अव्यवस्थिताः॥ [वै० भू० का० ६८]

अयं भावः—तैत्तिरीयोपनिषद्गता अनुवाकसमूहात्मिका भृगुप्रश्नाश्रिता भृगुवल्ली अस्ति। तत्र वरुणपुत्रो भृगुः स्वपितरं वरुणं ब्रह्म पृष्टवान्। तत्र वरुणः अन्नमय-प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमयानन्दमयात्मकपञ्चकोशद्वारा अपारमार्थिकं ब्रह्म निरुपयन् "ब्रह्मपुच्छंप्रतिष्ठा" (तै० उ० २।५) इति ज्ञेयं ब्रह्म प्रतिपादितवान्। पुच्छम्=सर्वाधारभूतम्। अत्र यथा पारमार्थिकं ब्रह्म उपदिष्टवान् तथैव प्रकृति-प्रत्ययादिकल्पनाद्वारा वाक्यस्फोटस्य प्रतिपादनमिति बोध्यम्। उपेयस्य=बोद्धव्यस्य, प्राप्तुं योग्यस्य वा प्रतिपत्तिः=ज्ञानं प्राप्तिर्वा, तदर्थम् उपायाः=साधनानि अव्य-वस्थिताः=अनन्ताः कल्प्यन्ते। अत्र व्याकरणशास्त्रे वास्तवस्फोटव्युत्पादनायैव प्रकृतिप्रत्ययादिव्युत्पादनमिति न कस्याप्यानर्थक्यमिति बोध्यम्। एवञ्च व्याकरण-भेदेन प्रतिपादनशैलीभेदेन च स्थानिनोऽपि भिन्नाःभिन्नाः न तु नियता इति स्थानिनां वाचकत्वे लाघवमिति नैयायिकादीनां भ्रमः। यथा भिन्न-भिन्नप्रदेशेषु भिन्ना-भिन्ना लिपयः सर्वा एव विनिगमनाविरहात् शब्दविषयकोद्बोधनद्वारा शब्दोद्बोधका भवन्ति तथैव सर्वेऽपि स्थानिनो वाचका भवन्ति। एवञ्चात्र गौरव-लाघवचर्चा काकदन्तपरीक्षणवदुपेक्षणीया। दिगिति। दिगर्थस्तु वृत्तिषु एकार्थी-भावः, नामार्थयोः, प्रकृतिप्रत्यययोरित्यादिकमपि कल्पितमिति।

उपसर्ग-धात्वादि विभाग भी काल्पनिक

इन [कल्पित पद एवं प्रकृति-प्रत्यय] में वर्णस्फोट [व्याकरण] शास्त्र की प्रक्रिया का निर्वाहक है। प्रकृति एवं प्रत्यय उन उन [अपने अपने] अर्थों के वाचक ही हैं, यह उस [वर्णस्फोट] का अर्थ है। [अर्थात् वर्णस्फोट का अभिप्राय है—पदावयवस्फोट।] [प्रकृति एवं प्रत्यय-विभाग के समान ही] उपसर्ग, निपात एवं धातु आदि का विभाग भी काल्पनिक ही है। स्थानी ल् आदि और आदेश तिप् आदि कल्पित ही हैं। इन [स्थानी और आदेश] में [पाणिनि आदि] ऋषियों ने [लकार आदि] स्थानियों के कल्पित अर्थ कण्ठस्वर से ही कह दिये हैं [अर्थात् स्थानियों के अर्थों का निर्देश स्वयं उच्चारणपूर्वक बतला दिया है] किन्तु आदेशों के वे [कल्पित] अर्थ तो—स्थानी के अर्थ को कहने में समर्थ ही आदेश होता है—इस भाष्य से [सिद्ध] हैं। इस प्रकार [पद अथवा वाक्य के ही वाचक होने पर] 'स्थानी वाचक होते हैं अथवा आदेश'—यह [विभिन्न शास्त्रकारों का] विचार निष्फल ही है, क्योंकि कल्पित वाचकता दोनों [स्थानी एवम् आदेश] में है। मुख्यवाचकता तो [प्रकृति प्रत्ययादि की] कल्पना से बोधित [प्रकृति-प्रत्ययादि के] समुदायरूप पद में अथवा वाक्य में [ही] है, क्योंकि लोगों को उस [पद अथवा वाक्य] से ही बोध होता है।

उपेय [प्राप्तियोग्य अर्थ] की प्रतिपत्ति [प्राप्ति या ज्ञान] के लिये उपाय [=साधन] अव्यवस्थित [अनन्त] हैं।

इस न्याय से [पाणिनीय एवं सारस्वत आदि] व्याकरणों के भेद से स्थानी [सु, सि, रु आदि] का भेद होने पर भी देशभेद से लिपिभेद के समान कोई क्षति नहीं है। [जैसे विभिन्न प्रकार की सङ्केतरूपी लिपियों से एक ही प्रकार के अक्षर का बोध होता है उसी प्रकार विभिन्न स्थानियों से भी समान ही पदादि का बोध होता है।]

विमर्श—स्थानियों की संख्या कम मानकर लाघव को महत्त्व देने वाले नैयायिक लट् आदि स्थानियों को ही उन उन अर्थों का वाचक मानते हैं। परन्तु 'उच्चारित एव प्रत्यायको भवति नानुच्चारितः' इस वचन के आधार पर तथा लोकानुभव के आधार पर भट्टोजिदीक्षित आदि वैयाकरण तिप् आदि आदेशों की वाचकता का समर्थन करते हैं। इस सम्बन्ध में मञ्जूषाकार का यह वक्तव्य है कि प्रस्तुत विवाद व्यर्थ है। जैसे एक ही अक्षर या शब्दविशेष का ज्ञान कराने के लिये भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न प्रकार की लिपियों की कल्पना की गई है। उन सभी लिपियों से अक्षर या शब्द-विशेष का ज्ञान होना सर्वानुभवसिद्ध है। इसी प्रकार विभिन्न व्याकरणसम्प्रदायों में भिन्न-भिन्न प्रकार के स्थानी एवम् आदेश कल्पित हैं। उन सभी का उद्देश्य है

परिनिष्ठित अर्थबोधजनक प्रयोगार्ह पदादि का ज्ञान करवाना। इसलिये इस विवाद का कोई महत्त्व नहीं है।

प्रस्तुत कारिका वैयाकरणभूषण की उत्तरार्ध है—

पञ्चकोशादिवत्तस्मात् कल्पनैषा समाश्रिता।
उपेयप्रतिपत्त्यर्था उपाया अव्यवस्थिताः॥ [वै. भू. का. ६८]

तैत्तिरीय उपनिषद् में यह उल्लेख मिलता है कि वरुणपुत्र भृगु ने अपने पिता वरुण से ब्रह्म के विषय में पूछा। वरुण ने उसे क्रमशः पाँच कोशों का ज्ञान करवाया (१) अन्नमय कोश (२) प्राणमय कोश (३) मनोमय कोश (४) विज्ञानमय कोश (५) आनन्दमय कोश। इन उत्तरोत्तर कोशों की कल्पना के माध्यम से ब्रह्म के वास्तविक रूप का ज्ञान करवाया। इनमें पूर्ववर्ती चार कोश काल्पनिक हैं। वास्तव में आनन्दमय कोश ही ब्रह्म है। इसी प्रकार प्रकृति प्रत्यय आदि के रूप में वर्णस्फोट आदि की कल्पना के द्वारा वास्तविक वाक्यस्फोट का ज्ञान करवाया जाता है। इसका विशेष विवेचन वैयाकरणभूषण एवं उसकी टीकाओं में द्रष्टव्य है। यहाँ भी संस्कृत व्याख्या में कुछ विस्तृत विवेचन किया गया है।

[अथ शक्तिनिरूपणम्]

तत्र 'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि' (न्या० सू० १।१।३) इति गौतमसूत्रे शब्दश्चाप्तोपदेशरूपः प्रमाणम्। आप्तो नामानुभवेन वस्तुतत्त्वस्य कार्त्स्न्येन निश्चयवान्, रागादिवशादपि नान्यथावादी यः स इति चरके पतञ्जलिः।

वाक्यरूपशब्दस्य वाचकत्वं निरूप्य तस्यैव प्रामाण्यं प्रतिपादयति-तत्रेति। वाक्येष्वि-त्यर्थः। प्रत्यक्षेति—प्रत्यक्षप्रमितेः षड्विधसन्निकर्षादिव्यापारवत्त्वे सति कारणम्= करणम्, प्रत्यक्षं प्रमाणम्, प्रतिगतमक्षं—प्रतिगमकम्, इन्द्रियमित्यर्थः। अनुमित्यात्मक-प्रमितेः परामर्शात्मकव्यापारवत्त्वे सति कारणम्=करणम् अनुमानम्—अनुमीयते-अनेनेति अनुमानम्=व्याप्तिज्ञानम्। उपमित्यात्मकप्रमाया उपदिष्टवाक्यार्थस्मरणात्मक-व्यापारवत्त्वे सति कारणम्—उपमानम्—उपमीयते अनेनेति व्युत्पत्त्या उपमानम्= सादृश्यज्ञानम्। शाब्दबोधात्मकप्रमायाः पदार्थस्मरणात्मक व्यापारवत्त्वे सति कारणम्= करणम् शब्दः=पदज्ञानमिति न्यायविदः। आप्तोपदेशरूपेति—उपदिश्यतेऽसावुपदेशः, आप्तस्योपदेशः—आप्तोच्चारित इति यावत्। यद्वा—उपदेशनमुपदेशो भावे घञ्, तथा चाप्तोपदेशेन=आप्तोच्चारणेन, रूप्यते=ज्ञायते इत्याप्तोपदेशरूपस्तथा चाप्तकर्तृकव्यवहार-ग्राह्य इत्यर्थः। यद्वा आप्तश्चासावुपदेशश्चाप्तोपदेशः, युक्तोपदेश इति यावत्। उपदेशे युक्तत्वञ्च यथार्थज्ञानजनकत्वम्। वेदानामपौरुषेयत्वमते आप्तकर्तृकोपदेशत्वाभावे-ऽप्याप्तत्वविशिष्टोपदेशत्वसत्त्वान्नासङ्गतिरिति दिक्। नामेति वाक्यालङ्कारे। अनु-

भवेन=स्वकीयज्ञानेन । वस्तुतत्त्वस्य=पदार्थानां यथार्थज्ञानस्य । कात्स्न्र्येन=सर्वतो भावेन, अनेनैकदेशिनिश्चयस्य व्यावृत्तिः । निश्चयवान्=यथार्थज्ञानवान् भ्रमसंशयरहित इति यावत् । रागादीति—रागो नाम—इदं मदिष्टसाधनमित्याकारकज्ञानजन्यो धर्मविशेषः । आदिना मोहद्वेषादयो ग्राह्याः । अन्यथावादी=अन्यथावदनशीलः=असत्यवादी न यः स आप्त इति भावः । एवञ्च—रागादिरहितत्वे सति सकलवस्तुविषयकस्वीयानुभवप्रयोज्यनिश्चयवत्त्वमाप्तत्वमिति फलति ।

प्रमाणीभूत शब्द का स्वरूप

उन [वाचक वाक्यों] में 'प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द प्रमाण (होते) हैं,' इस गौतमसूत्र में आप्तोपदेशरूप शब्द प्रमाण (प्रमात्मक ज्ञान का करण) है। '(अपने) अनुभव के द्वारा वस्तु=पदार्थ के तत्त्व=वास्तविक ज्ञान का पूर्णरूप से निश्चय कर लेने वाला, (सांसारिक) राग, द्वेष आदि से भी अयथार्थवादी=असत्यवादी जो नहीं है, वह (ही) आप्त है, ऐसा चरक में पतञ्जलि ने लिखा है। (आप्तोपदेशरूप शब्द की विशेष व्याख्या संस्कृत में देखिये) ।

तद्धर्मावच्छिन्नविषयकशाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति तद्धर्मावच्छिन्ननिरूपितवृत्तिविशिष्टज्ञानं हेतुः । अत एव नागृहीतवृत्तिकस्य शाब्दबोधः । अत एव च 'नहि गुड इत्युक्ते मधुरत्वं प्रकारतया गम्यते' इति समर्थसूत्रभाष्यं सङ्गच्छते । गुडादिशब्देन गुडत्वजात्यवच्छिन्नो गुडपदवाच्य इत्येव बोधो जातिप्रकारकः; मधुरत्वं तु 'गुडो मधुर ऐक्षवत्वात्' इत्यनुमानरूपमानान्तरगम्यम् ।

ननु प्रमाकरणत्वं प्रमाणत्वं तच्च तादृशशब्दस्य चेत् सर्वस्य श्रोतुस्तर्हि ततो बोधापत्तिरत आह—तद्धर्मेति । अयं भावः-शब्दस्य प्रमाजनकत्वे सर्वैः शब्दैः सर्वेषां श्रोतॄणां बोधापत्तिभयेन तद्विषयकशाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति वृत्तिप्रयोज्योपस्थितेरन्वयव्यतिरेकाभ्यां कारणत्वमङ्गीकरणीयम् । दाहं प्रति वह्निरिव बोधं प्रति वृत्तिः न स्वरूपेण हेतुः, सर्वेषां बोधप्रसङ्गादिति ज्ञाताया एव तस्याः कारणत्वं स्वीक्रियते । एवञ्च तद्धर्मावछिन्नविषयक-शाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति तद्धर्मावच्छिन्न-निरूपितवृत्तिविशिष्टज्ञानं हेतुरिति कार्यकारणभावः सिध्यति । यद्धर्मावच्छिन्नं लक्ष्यं स धर्मो लक्ष्यतावच्छेदकः; एवं यो धर्मो यस्यावच्छेदको भवति स तेन धर्मेण अवच्छिन्नो भवति । यथा घटादीनामवच्छेदकाः घटत्वादयः, अतो घटादयस्तैर्घटत्वादिभिरवच्छिन्ना भवन्ति । एवञ्च यद्धर्मावच्छिन्नविषयकशाब्दबोध अपेक्षितः तत्र तद्धर्मावच्छिन्ननिरूपितवृत्तिविशिष्टज्ञानं हेतुः । तेन घटत्वधर्मावच्छिन्नघटविषयकशाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति घटत्वधर्मावच्छिन्ना घटनिरूपिता या वृत्तिस्तद्विशिष्टज्ञानं हेतुरिति फलति । अतो घटपदात् पटविषयको बोधो न

न भवति। अतएवेति—उक्तसमुदितस्य कारणत्वादेव। अगृहीतवृत्तिकस्य=वृत्तिज्ञानरहितस्य। अतएव=तादृशकार्यकारणभावस्वीकारादेव। एवञ्च स्मृतिशाब्दबोधवृत्तिज्ञानानां समानधर्मप्रकारकत्वनियमेन—गुडपदं गुडत्वावच्छिन्ने शक्तमिति शक्तिज्ञाने गुडत्वस्यैव प्रकारतया भानाद् गुडपदस्य गुडत्वावच्छिन्ने एव शक्तिर्नतु मधुरत्वावच्छिन्नेऽतो न गुडपदेन मधुरत्वस्य प्रकारतया प्रतीतिरिति भावः। ननु मधुरत्वप्रतीतिः कथमत आह—मधुरत्वमिति। गुडो मधुर इक्षुविकारत्वात्, यो यो मधुरत्वाभाववान्, स स इक्षुविकारत्वाभाववान्, यथा पिचुमन्दः न चायं तथा, तस्मात् तथा (मधुरः) इति पञ्चावयववाक्यरूपमनुमानम्। अनेनानुमानेन तत्र मधुरत्वप्रतीतिर्नतु मधुरत्वप्रकारको बोध इति भावः।

शाब्दबोध में वृत्तिज्ञान की हेतुता

उस (घटत्वादि) से अवच्छिन्न (विशिष्ट) (=घटादि)-विषयक शाब्दबुद्धित्वावच्छिन्न=शाब्दबोध के प्रति उस (घटत्वादि) धर्म से अवच्छिन्न-(विशिष्ट) से निरूपित (सम्बन्धी) वृत्ति (शक्ति) से विशिष्ट ज्ञान कारण (होता) है। (उक्त कार्यकारणभाव स्वीकार किया जाता है) इसीलिये वृत्तिज्ञानरहित (व्यक्ति) को शाब्दबोध नहीं होता है। और (उक्त कार्यकारणभाव माना जाता है) इसीलिये 'गुड़'-ऐसा कहने पर प्रकारतारूप से मधुरत्व की प्रतीति नहीं होती है, ऐसा "समर्थः पदविधिः" [पा० सू० २।१।१] सूत्र का भाष्य संगत होता है। गुड़ आदि शब्द से—गुड़त्व जाति से अवच्छिन्न (पदार्थ) गुड़ पद का वाच्य है—यही (गुड़त्वरूप) जातिप्रकारक शाब्दबोध होता है (न कि मधुरत्वादिप्रकारक); मधुरत्व (मिठास) तो—गुड़ मीठा (होता) है, ऐक्षव (ईख का विकार) होने के कारण—इस प्रकार के अनुमानरूप प्रमाण से प्रतीत होने वाला है।

विमर्श—विना कारण के कार्य नहीं होता है। अतः शाब्दबोधरूप कार्य के लिये भी एक कारण की कल्पना आवश्यक है। ऐसा न मानने पर अव्यवस्था का प्रसङ्ग आता है। इसीलिये मञ्जूषाकार नागेश भट्ट ने भी एक कार्यकारणभाव को माना है—घटत्वादि धर्म से अवच्छिन्न-घटादिविषयक शाब्दबोध के प्रति, घटत्वादिधर्म से अवच्छिन्न जो घटादि, उससे निरूपित जो वृत्ति, उससे विशिष्ट ज्ञान कारण होता है। प्रस्तुत कार्यकारणभाव मान लेने के कारण ही घट पद से पटादि का बोध नहीं होता है। और इसी के कारण गुड पद से गुडत्वरूप जातिप्रकारक गुडविशेष्यक ही शाब्दबोध होता है, मधुरत्वप्रकारक-गुडविशेष्यक नहीं। क्योंकि कार्यकारणदल में धर्मपद से गुडत्व ही लिया जाता है मधुरत्व नहीं। मधुरत्व की प्रतीति शब्दजन्य न होकर इस अनुमान से गम्य है—(१) गुड मधुर (मीठा)

होता है। (२) ईख का विकार होने के कारण। (३) जो जो ईख का विकार होता है वह वह मधुर होता है जैसे शर्करा। (४) यह गुड़ भी ईख का विकार है। (५) अतः यह भी मीठा है। अनुमान की उपपत्ति—(१) प्रतिज्ञा—गुड़ मीठा होता है। (२) हेतु—ईख का विकार होने के कारण। (३) उदाहरण—जो जो मीठा नहीं होता है, वह वह ईख का विकार नहीं होता है जैसे नीम। (४) उपनय—यह गुड़ वैसा नहीं है क्योंकि ईख का विकार है। (५) निगमन—अतः गुड मीठा है।

विशेष्यविशेषणभावव्यत्यासेन गृहीतशक्तिकस्य पुंसो घटपदाद् घटत्व-विशिष्टबोधवारणाय तद्धर्मावच्छिन्नेति। ज्ञाने वृत्तिवैशिष्ट्यं च स्वविषय-कोद्बुद्धसंस्कारसामानाधिकरण्य-स्वाश्रयपदविषयकत्वोभयसम्बन्धेन बोध्यम्। अतो नागृहीतवृत्तिकस्य, नापि विस्मृतवृत्तिकस्य, नापि तत्पदमजानतो, नापि घटपदाश्रयत्वेनोपस्थिताकाशस्य, नापि जनकतयोपस्थितचैत्रादेश्च बोधः। संस्कारकल्पिका च वृत्तिस्मृतिरेव शाब्दबुद्धिरेव वेत्यन्यदेतत्।

ननुतद्विषयक शाब्दबोधं प्रति तद्धर्मावच्छिन्ननिरूपितवृत्तिविशिष्ट-ज्ञानस्यैव हेतुत्वं स्वीकार्यम्, कार्यदले विशेष्यविशेषणभावनिवेशस्य किं फलमत आह—विशेष्येति। विशेष्य-विशेषणभावव्यत्यासेन=विशेष्यविशेषणभावव्युत्क्रमेण—घटपदं घटावच्छिन्नघटत्वे शक्तमित्येवंरूपेण। गृहीतशक्तिकस्य=ज्ञातशक्तिकस्य। तद्धर्मावच्छिन्नेति—अयं भावः—कस्यचन पुरुषस्य ज्ञानम्—घटपदं घटावच्छिन्नघटत्वे शक्तमिति जातम्। अनेन ज्ञानेन घटत्वावच्छिन्नघटविषयको बोधो न स्यादतः कार्य-दलेऽपि विशेष्यविशेषणयोर्निवेश आवश्यकः। विपरीतज्ञानसत्त्वे न तादृशं ज्ञानमतो न तादृशो बोधः। तद्धर्मावच्छिन्नेत्यादिनिवेशेन घटत्ववृत्तिप्रकारतानिरूपित-घट-वृत्तिविशेष्यताक-शाब्दबोधं प्रति घटत्ववृत्तिप्रकारतानिरूपित-घटवृत्ति-विशे-ष्यताकशक्तिज्ञानस्यैव हेतुत्वेन न विपरीतशक्तिग्रहात् तथा बोध इति बोध्यम्। वृत्तिविशिष्टज्ञानमित्यत्र ज्ञाने वृत्तिवैशिष्ट्यं सम्बन्धद्वयेन बोध्यम्। तच्च (१) स्व-(वृत्ति-) विषयकोद्बुद्धसंस्कारसामानाधिकरण्यम् (२) स्व (वृत्ति)-आश्रयपद विषयकत्वम्। अयं भावः—यत्र पदस्य श्रावणप्रत्यक्षं, वृत्तेश्च संस्कारजन्यस्मरणात्मकं ज्ञानं जातं तत्र पदरूपे विषये विषयतया वृत्तिविषयकोद्बुद्धसंस्कारः पदज्ञानञ्च वर्तते, उभयोरपि पदविषयकत्वेन सामानाधिकरण्यम् = पदरूपैकाधिकरणवृत्तित्वं सुलभम्। घटपदे गृहीतवृत्तिकस्य कलशपदेन शाब्दबोधवारणाय पदरूपदेशमादायैव सामानाधि-करण्यं बोध्यम्। नन्वेवमपि घटपदे गृहीतवृत्तिकस्य चैत्रस्य तादृशसंस्कारसामाना-धिकरण्यमादायागृहीतवृत्तिकस्यापि मैत्रादेस्तादृशपदेन शाब्दबोधापत्तिरिति चेन्न; ज्ञाने समवायेनापि वृत्तिवैशिष्ट्यस्य निवेशेन चैत्रात्मनि वृत्तेर्मैत्रात्मनि पदज्ञानस्य च

सत्त्वे वैयधिकरण्येनादोषात्। अतः=पूर्वोक्तकार्यकारणभावात्। वैशिष्ट्यघटक-प्रथमसम्बन्धस्य फलमाह—नागृहीतवृत्तिकस्येति। वृत्तिविषयकसंस्काराभावान्नास्य बोधः। उद्बुद्धसंस्कारस्य फलमाह—नापि विस्मृतवृत्तिकस्येति। येन वृत्तिज्ञानं विस्मृतं तस्योद्बुद्धसंस्काराभावान्न शाब्दबोधः। वैशिष्ट्यघटक-द्वितीय-सम्बन्धस्य फलमाह—नापि तत्पदमजानत इति। वृत्त्याश्रयपदविषयतया पदे पदज्ञानाभावान्नैतादृशस्य पुंसो बोधः; हस्तचेष्टादिनाप्यर्थज्ञानसम्भवादतिव्याप्तिवारणाय पदेत्युक्तिः। पद-विषयकत्वमात्रोक्तौ यत्किञ्चित् पदविषयकत्वमादायातिव्याप्तिवारणाय—स्वाश्रयेति। स्वम्=वृत्तिः। द्वितीयसम्बन्धे स्वाश्रयस्य निवेशस्य—अर्थात् तद्धर्मावच्छिन्ननिरूपित-वृत्त्याश्रयत्वनिवेशस्य फलमाह—नापि घटपदाश्रयत्वेनोपस्थितस्याकाशस्येति। अयं भावः—एकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिनः स्मारकमिति सिद्धान्तात् घटपदेन समवायेन शब्दगुणाश्रयत्वात् अपरसम्बन्धिन आकाशस्योपस्थितिर्भवति। किन्तु घटपदे आका-शत्वावच्छिन्नार्थ-निरूपितवृत्त्याश्रयत्वं नास्तीति न तस्य बोधापत्तिः। पूर्वोक्तकार्य-कारणभावादेवोच्चारणकर्तृत्वेन पदव्यञ्जकतयोपस्थितचैत्रादेर्न शाब्दबोधे भानापत्तिरत आह—नापि जनकतयेति। नन्वेवं यच्छक्तिग्रहात् संस्कारो नोत्पन्नस्तत्र स्व=वृत्ति-विषयकोद्बुद्धसंस्कारसामानाधिकरण्याभावेन वृत्तिवैशिष्ट्याभावाच्छाब्दबोधानापत्तिरिति चेन्न; संस्काराजनकशक्तिग्रहसत्त्वे तेन शाब्दबोधजनने च मानाभावात्। ननु संस्कार-स्यातीन्द्रियतया तत्त्वे मानाभावात् न तेन सह वृत्त्याश्रयपदविषयकज्ञानस्य सामाना-धिकरण्योपपत्तिः। न च "स्वर्गकामो यजेत" (तै.सं.२।२।५) इति श्रुत्या स्वर्गं प्रति यागस्य कारणत्वमुच्यते। यागश्च व्यापारविशेषरूपतया आशुतरविनाशी। अतो मरणानन्तरभाविस्वर्गं प्रति अस्य यागस्य कारणत्वासम्भवात् अदृष्टाख्यः संस्कारस्तत्र-कल्प्यते, स एव च स्वर्गं प्रति कारणम्, तद्वत् प्रकृते संस्कारकल्पिका सामग्री कुत अत आह—संस्कारकल्पिकेति। वृत्तिविषयकस्मरणरूपकार्येण वृत्तिविषयकसंस्काररूप-कारणस्यानुमानमेव प्रमाणमिति कारणमन्तरा कार्यस्यानुत्पादात् कार्येण कारणानुमान-मिति भावः। ननु वृत्तिस्मृतावेवात्रं किं गमकमत आह—शाब्दबुद्धिरेव वेति। शाब्द-बोधरूपं कार्यं दृष्ट्वा वृत्तिस्मतेरनुमानम्, स्मृत्या च संस्कारकल्पनम्, अन्यथानुपपद्य-मानकार्येण कारणकल्पनादिति बोध्यम्।

कार्यकारणभाव का फल

विशेष्यविशेषणभाव के वैपरीत्य से (अर्थात् घटत्व में विशेष्यता और घट में विशेषणता रूप से) जिस पुरुष को शक्तिज्ञान हुआ है ऐसे पुरुष को घटपद से घटत्व-विशिष्ट (घट) का बोध रोकने के लिये (उक्त कार्यकारणभाव में) तद्धर्म (=घटत्वादि) से अवच्छिन्न—ऐसा (निवेश किया गया) है। (अर्थात् जिस व्यक्ति

को घटप्रकारक घटत्वविशेष्यक ऐसा विपरीत शक्तिग्रह हुआ है उस व्यक्ति को घट पद से घटत्वप्रकारक घटविशेष्यक शाब्दबोध न होने लग जाय, इसको रोकने के लिये यह कहा गया है—उस धर्म से अवच्छिन्न शाब्दबोध के प्रति उस धर्म से अवच्छिन्न से निरूपित वृत्तिज्ञान कारण है। उक्तस्थल पर कारण न होने से शाब्दबोधरूप कार्य नहीं होता है।) और ज्ञान में वृत्ति का वैशिष्टय दो सम्बन्धों से समझना चाहिये—(१) स्व(वृत्ति)-विषयक उद्बुद्ध संस्कार का सामानाधिकरण्य, (२) स्व=वृत्ति-आश्रय पदविषयकत्व। इसलिये न वृत्तिज्ञानरहित (व्यक्ति) का, न वृत्ति को भूलने वाले (व्यक्ति) का, न उसको न जानने वाले (व्यक्ति) का, न घट पद के आश्रयत्वरूप से उपस्थित आकाश का और न जनकता (उच्चारणकर्तृत्वरूप) से उपस्थित चैत्र आदि का बोध (देखा जाता) है। (उक्त प्रकार के) संस्कार की कल्पना कराने वाली वृत्ति की स्मृति है अथवा शाब्दबोध ही है, यह अलग (विषय) है।

विमर्श—भाव यह है कि तद्धर्म से अवच्छिन्न-विषयक शाब्दबोध के प्रति तद्धर्म से अवच्छिन्न से निरूपित जो वृत्ति उससे विशिष्ट ज्ञान कारण होता है। यहाँ वृत्ति से विशिष्ट जो ज्ञान है उसमें वृत्ति का वैशिष्ट्य दो सम्बन्धों से है। (१) वृत्तिविषयक उद्बुद्ध संस्कार का समानाधिकरण होना (२) वृत्तिआश्रय पदविषयक होना। अर्थात् ज्ञान को वृत्तिविषयक उद्बुद्ध संस्कार का समानाधिकरण और वृत्ति-आश्रय पदविषयक होना चाहिये। जहाँ पद का श्रावण प्रत्यक्षादि हुआ है और वृत्ति का स्मरणात्मक ज्ञान हुआ है, वहाँ पदरूप विषय में विषयतासम्बन्ध से वृत्तिज्ञान और पदज्ञान दोनों हैं। क्योंकि दोनों ज्ञान पदविषयक हैं। इस प्रकार दोनों के समानाधिकरण होने से प्रथम सम्बन्ध उपपन्न होता है। और वृत्ति के आश्रयभूत पदविषयक ज्ञान होना चाहिये। इस प्रकार दूसरा सम्बन्ध भी उपपन्न होता है।

सा च वृत्तिस्त्रिधा—शक्तिर्लक्षणा व्यञ्जना च। तत्र शक्तिः कः पदार्थ इति चेत् ?

अत्र तार्किकाः—'अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्यः' इत्याकारा 'इदं पदमिममर्थं बोधयतु' इत्याकारा वेश्वरेच्छा शक्तिः, लाघवात्। सैव सङ्केतः सम्बन्धः।

शक्तेर्यद्यपि विषयत्वलक्षणः सम्बन्धः पदेऽर्थे बोधे च, तथाऽपि बोधनिष्ठजन्यतानिरूपितजनकतावत्वेन शक्तिविषयो वाचकः, पदजन्यबोधविषयत्वेन शक्तिविषयो वाच्य इति नातिप्रसङ्गः। यद्यपि प्रथमं शक्तिग्रहो वाक्य एव तथाऽप्यावापोद्वापाभ्यां शास्त्रकृत्कल्पिताभ्यां तत्तत्पदशक्तिग्रह इत्याहुः।

ननु वृत्तित्वसामान्यमनुक्त्वा तद्विभाजनमसङ्गतम्, विशेषज्ञानस्य सामान्यज्ञानपूर्वकत्वनियमादिति चेन्न, वृत्तिपदव्यवहार्यत्वस्यार्थपदोभयनिरूपितसम्बन्धत्वरूपस्य वा वृत्तित्वस्य प्रसिद्धत्वेन तदनुक्तौ क्षत्यभावात् । वृत्ति विभज्यते—सा चेति । शाब्दबोधे कारणत्वेनापेक्षिता वृत्तिश्चेतिभावः । त्रिधेति । अत्र प्रकारार्थक- धा-प्रत्ययः । प्रकारश्च सामान्यस्य भेदको विशेषधर्मः । एवञ्च—शक्तित्व—लक्षणात्व— व्यञ्जनात्वरूपविशेषधर्मत्रयविशिष्टा वृत्तिः । तत्र=तासु वृत्तिषु । दूषयितुं तावत् प्रथमं नैयायिकमतमेवाह—अत्रेति । अयं भावः - नैयायिका ईश्वरेच्छारूपां शक्तिं स्वीकुर्वन्ति । सा चेच्छा द्विविधा—(१) पदप्रकारकार्थविशेष्यिका (२) अर्थप्रकारकपदविशेष्यिका चेति । तत्रेच्छायाः प्रथमं स्वरूपमाह—अस्मादिति । अस्मात्=घटादिपदाद्, अयम्=जात्याकृतिविशिष्टव्यक्तिरूपः कम्बुग्रीवादिमान् पदार्थः, बोद्धव्यः=ज्ञातव्यः । कलाकृत्तु—बोद्धव्ये ण्यर्थान्तर्भाव इति तेन ज्ञापयितव्य इत्यर्थः । नैयायिकमते प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यको बोधस्तेन—इदमभिन्नशब्दनिरूपितजन्यतावद्बोधनिरूपित-विषयतावानर्थ—इत्याकारिका शब्दप्रकारिकाऽर्थविशेष्यिकेश्वरेच्छा शक्तिः सध्यति ।

द्वितीयं स्वरूपमाह—इदमिति । इदमर्थनिष्ठविषयतानिरूपक-बोधनिष्ठ-जन्यतानिरूपितजनकतावत्पदमिति-अर्थप्रकारकपदविशेष्यिकेच्छा शक्तिः । एवमेव 'एतत्पदजन्यो बोध एतदर्थनिष्ठविषयतानिरूपको भवतु' इति बोधविशेष्यिका, एतदर्थनिष्ठा विषयता एतत्पदजन्यबोधनिरूपिता भवतु-इति विषयताविशेष्यिका नानाविधेश्वरेच्छा विनिगमनाविरहात्कल्पनीया । लाघवादिति । लौकिकेच्छायाः बाहुल्येनेश्वरेच्छाया एव शक्तित्वकल्पने लाघवादिति भावः । सैव=ईश्वरेच्छैव । सम्बन्धः पदपदार्थयोरिति शेषः ।

नन्वेवं स्वीकारे वाच्यवाचकव्यवस्थानुपपत्तिस्तस्याः सर्वत्राविशेषादत आह—शक्तेरिति । अयं भावः—उक्तेश्वरेच्छायां घटकीभूतेषु पद-पदार्थ-सम्बन्ध-ज्ञानेषु ईश्वरेच्छा विषयतासम्बन्धेन वर्तते, इमे सर्वेपि पदार्थाः ईश्वरेच्छाया विषयाः । एवञ्च विषयतासम्बन्धेनेश्वरेच्छावत्त्वमेव वाच्यत्वं वाचकत्वं च वाच्यमिति वाच्यवाचकलक्षणेऽव्यवस्थापत्तिस्तत्परिहारायेदं वक्तव्यम्—ईश्वरेच्छाविषयो योऽर्थबोधस्तन्निष्ठजन्यतानिरूपितजनकताख्यविषयताश्रयत्वसम्बन्धेन इच्छावत्त्वं वाचकत्वम् । इच्छीयबोधनिष्ठविषयितानिरूपितविषयतावत्त्वसम्बन्धेनेच्छावत्त्वं वाच्यत्वमिति न सम्बन्धादौ वाचकत्वादिलक्षणातिव्याप्तिरिति दिक् ।

ननु शक्तिग्राहकशिरोमणेर्व्यवहारस्य वाक्ये एव दर्शनात् पदेषु शक्तिकल्पनमसङ्गतमत आह—यद्यपीति । वाक्ये एवेति=बालानां वाक्यादेवार्थबोधादिति भावः । आवापः=पदान्तरप्रक्षेपः, उद्वापः=विद्यमानपदपरित्यागः । अयं भावः—शक्तिग्रहजिज्ञासुर्बालः प्रयोज्यप्रयोजकव्यवहारं दृष्ट्वा प्रथमं वाक्ये एव शक्तिग्रहं करोति । यथा प्रयोजकेन

प्रयुक्तं 'घटमानय' इति वाक्यं श्रुत्वा 'घटकर्मकमानयनं प्रेरणाविषयः' इत्यर्थं जानाति। पुनः घटपदं परित्यज्य पटपदं प्रक्षिप्य 'पटमानय' इति प्रयोजकोच्चारितं वाक्यं श्रुत्वा पटानयने प्रवृत्तं प्रयोज्यं दृष्ट्वा तत्र पटपदस्य शक्तिग्रहं करोति। अनेन रूपेण सर्वेषु पदेषु शक्तिग्रहो जायते। ननु शाब्दिकनये वाक्यस्याखण्डत्वेन निक्षेपनिष्कासनासम्भवमत आह—शास्त्रकृदिति। शास्त्रकारैः शास्त्रीयप्रक्रियानिर्वाहार्थमावापोद्वापौ कल्पितौ, ताभ्यां च पदादिविभागः कल्पितः, अखण्डस्य वाक्यस्यान्वाख्यानस्यासम्भवत्वस्य प्रागेवोक्तत्वादिति भावः। वस्तुतस्तु नैयायिकैर्वाक्यस्याखण्डत्वस्वीकाराऽभावात्पदादिषु शक्तिग्रहे बाधकाभावः।

वृत्ति के तीन भेद और शक्ति का स्वरूप—

और वह वृत्ति तीन प्रकार की होती है (१) शक्ति, (२) लक्षणा, (३) व्यञ्जना। इन (तीनों) में शक्ति क्या पदार्थ है ? (अर्थात् शक्ति का स्वरूप क्या है ? ऐसा प्रश्न करो तो)—

शक्तिस्वरुपविषयक नैयायिकमत—

यहाँ (उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर में) नैयायिक यह कहते हैं— (१) इस शब्द से यह अर्थ समझना चाहिए, (इस आकारवाली अर्थविशेष्यिका) अथवा 'यह पद इस अर्थ का ज्ञान कराये'—इस आकारवाली (पदविशेष्यिका) ईश्वरेच्छा शक्ति है, क्योंकि (इसे मानने में) लाघव है। (ईश्वरीय इच्छा एक है और लौकिक इच्छायें अनेक हैं। अतः ईश्वरेच्छा शक्ति मानने में लाघव स्पष्ट है।)

यद्यपि (ईश्वरेच्छारूप) शक्ति का विषयतालक्षण सम्बन्ध पद, अर्थ और बोध (इन सभी) में है (ये तीनों शक्ति के विषय बनते हैं) तथापि बोध में रहने वाली जन्यता से निरूपित जनकतावत्त्वरूप से (जनक होने वाले रूपसे) शक्ति का विषय वाचक होता है। और पद से होने वाले बोध के विषयत्वरूप (बोध का विषय होते हुये रूप से) से शक्ति का विषय वाच्य होता है। इसलिए अतिप्रसङ्ग नहीं आता है। यद्यपि प्रथम शक्तिग्रह वाक्य में ही होता है तथापि शास्त्रकारों द्वारा कल्पित आवाप (रखना) और उद्वाप (निकालना) के द्वारा (वाक्यघटक) उन उन पदों में शक्तिग्रह हो जाता है।

विमर्श—['संस्कारकल्पिका च वृत्तिस्मृतिरेव शाब्दबुद्धिरेव वेत्यन्यदेतत्' का तात्पर्य यह है कि जैसे—'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि श्रुतिवचन से स्वर्ग के प्रति याग की कारणता का ज्ञान होता है। किन्तु याग एक व्यापारविशेष है जो नष्ट होने वाला है। अतः यह वर्तमान कारणता, मरणोपरान्त प्राप्त होने वाले स्वर्ग के प्रति, उपपन्न नहीं हो पाती है। इस कारण वहाँ 'अपूर्व' की कल्पना की जाती है जो याग और स्वर्गप्राप्ति के मध्य में तब तक रहता है जब तक स्वर्ग की प्राप्ति नहीं हो जाती है। इसी प्रकार प्रस्तुत

स्थल में भी संस्कार की कल्पना में दो आधार हैं—(१) वृत्ति का स्मरण (२) शाब्दबोध। वृत्तिविषयक स्मरणरूप कार्य से वृत्तिविषयक संस्काररूप कारण का अनुमान किया जाता है। यदि यह प्रश्न किया जाय कि वृत्तिविषयक स्मरण होने में ही क्या प्रमाण है ?तो उत्तर है शाब्दबोध होना। अर्थात् शाब्दबोधरूप कार्य देखकर वृत्तिस्मरण की कल्पना और वृत्तिस्मरणरूप कार्य देखकर वृत्तिविषयक संस्कार की कल्पना की जाती है। यहाँ अन्यथानुपपत्त्या कार्य से कारण का अनुमान किया जाता है।]

हम लोग यह देखते हैं कि अपने से बड़े लोगों के व्यवहार को देखकर बालक शक्तिग्रह करता है उस समय वाक्यों का ही प्रयोग रहता है। अतः पहले शक्तिग्रह वाक्यों में ही देखा जाता है। परन्तु पिता के द्वारा 'घटम् आनय' यह कहा जाने पर नौकर या अन्य किसी के द्वारा घट का लाया जाना देखकर उस वाक्य का शक्तिग्रह घटानयन अर्थ में करता है। बाद में 'घटं नय पटम् आनय' यह सुनकर घट ले जाता हुआ और पट को लाता हुआ देखकर उन वाक्यों में शक्तिग्रह करता है। यहां 'घटम्' और 'आनय' इन पदों को हटाकर 'पटम्' और 'नय' इन नवीन पदों को सुनकर उनमें शक्तिग्रह करता है। इस प्रकार शब्द के बदल देने पर अर्थ का बदल जाना देखकर उस शब्द का वह अर्थ समझता है। इस लिए आवाप (नवीन पद को रखना) और उद्वाप (प्रयुक्त पद को हटाना) के द्वारा पदों में भी शक्तिग्रह होता है। अतः पदों में शक्ति मानने में बाधा नहीं है।

तन्न। इच्छायाः सम्बन्धिनोराश्रयतानियामकत्वाभावेन सम्बन्धत्वासम्भवात्; 'सम्बन्धो हि सम्बन्धिद्वयभिन्नत्वे सति, द्विष्ठत्वे च सति आश्रयतया विशिष्टबुद्धिनियामकः' इत्यभियुक्तव्यवहारात्। यथा घटवद् भूतलमित्यादौ संयोगरूपः सम्बन्धः सम्बन्धिभ्यां भिन्नो द्विष्ठो घटनिरूपितसंयोगाश्रयो भूतलमिति विशिष्टबुद्धिनियामकश्च, नात्र तथा घटशब्दः इच्छावान् तदर्थो वा इच्छावानिति व्यवहारः।

तस्मात् पदपदार्थयोः सम्बन्धान्तरमेव शक्तिः, वाच्यवाचकभावापरपर्याया। तद्ग्राहकञ्चेतरेतराध्यासमूलकं तादात्म्यम्। तदेव सम्बन्धः। उभयनिरूपिततादात्म्यवानुभय इत्यर्थपदयोर्व्यवहारात्। शक्तेरपि कार्यजनकत्वे सम्बन्धस्यैव नियामकत्वात्। दीपादिगतप्रकाशकत्वशक्तावपि आलोकविषयसम्बन्धे सत्येव वस्तुप्रकाशकत्वं नान्यथेति दृष्टत्वात्।

साम्प्रतं नैयायिकमतं दूषयितुमाह—तन्नेति। तार्किकोक्तमीश्वरेच्छायाः शक्तित्वं न समीचीनमिति भावः। सम्बन्धिनोः=पदपदार्थयोः। अयं भावः—यदा इच्छायाः सम्बन्धत्वं सिध्येत तदैव तस्याः शक्तित्वं स्यात्; यो हि आधाराधेयभावनियामकत्वेन दृष्टः स एव सम्बन्धः, प्रकृते च इच्छीयविषयताश्रयबोधनिष्ठजन्यतानिरूपितजनकता-

च्यविषयतासम्बन्धेन 'अयमर्थः इच्छावान्, अयं शब्दो वा इच्छावान्' इति व्यवहार-स्यादर्शनात् तस्या इच्छायाः सम्बन्धत्वाभावः। किञ्च, बोधजनकत्वमपि न शक्तिः, तस्यापि उभयवृत्तित्वाभावः, इच्छाविषयबोधीयविषयतायामिच्छाश्रयतानियामकत्वा-भावादिति, विस्तरस्तु लघुमञ्जूषायां द्रष्टव्यः। ननु नैयायिकोक्तेच्छायाः दीक्षितायुक्तबोध-जनकतायाश्चाश्रयतानियामकत्वाभावेऽपि सम्बन्धत्वे किं बाधकमतः सम्बन्धस्वरूप-माह—सम्बन्धो हीति। अयं भावः—यः प्रतियोग्यनुयोगिरूपसम्बन्धिभ्यां भिन्नः, प्रतियोग्यनुयोग्युभयाश्रितः आश्रतया विशिष्टबुद्धिनियामकश्च भवति स एव सम्बन्धपदे-नोच्यते। अत्र सम्बन्धलक्षणेऽशत्रयं तत्र 'द्विष्ठः सम्बन्ध' इति भर्तृहरेः सिद्धान्तः, अन्यच्च नैयायिकादीनामिति बोध्यम्। विशेष्यविशेषणसम्बन्धरूपविषयत्रितयावगाहिनी बुद्धिर्विशिष्टबुद्धिरित्युच्यते। अत्र सम्बन्धघटकेन प्रथमांशेनाभेदस्य सम्बन्धत्वनिरासः, द्वितीयांशेन केवलजन्यत्वादेः सम्बन्धत्वनिरासः तृतीयांशेन च वृत्त्यनियामकविषयत्वा-दीनां सम्बन्धत्वनिरासः। एवमेव इच्छाया अपि सम्बन्धत्वनिरास इति बोध्यम्। सम्बन्धस्य समन्वयमाह—यथेति। अयं भावः—घटवद् भूतलमित्यत्र घटभूतलयोः यः संयोगाख्यः सम्बन्धः सः घटभूतलोभयसम्बन्धिभ्यां भिन्नः, घटभूतलोभयसम्बन्धिनिष्ठः, घटनिरूपितः यः संयोगस्तदाश्रयो भूतलमिति या विशिष्टा बुद्धिः=बोधस्तन्नियामकश्च। अतः संयोगस्य सम्बन्धत्वमुपपद्यते। अत्र=प्रकृते, तथा=संयोग इव, न=नैव सम्भवति घटशब्द इच्छावान्, घटपदार्थो वा इच्छावान्। इच्छादयस्तु आत्मनिष्ठाः गुणाः अचेतने घटादिपदे पदार्थे वा न कथमपि सम्भवन्ति। अतः इच्छायाः सम्बन्धत्वाभा-वाच्छक्तित्वासम्भव इति बोध्यम्।

स्वमतमाह—तस्मात्=नैयायिकोक्तमतस्योक्तदूषणग्रस्तत्वात्, पदपदार्थयोः सम्बन्धा-न्तरम्=उक्तेच्छादिभिन्नम्, वाच्यवाचकभावापरपर्याया=वाच्यवाचकभावपदप्रतिपाद्ये-त्यर्थः। अत्र वाच्यवाचकत्वे अखण्डपदार्थरूपमेव बोध्यम् नतु वाच्यत्वम्=बोधविषयत्वम्, वाचकत्वम्=बोधजनकत्वमिति सखण्डम्, नैयायिकादिपक्षोक्तदोषस्यानिवारणीयत्वात्। अयञ्च वाच्यवाचकभावः शब्दार्थोभयनिष्ठः। तद्ग्राहकञ्च=शक्तिज्ञापकञ्च, इतरेतराध्या-समूलकम्=इतरेतराध्यासो मूलम्=ज्ञापकं यस्य तत्। अन्यस्मिन्नन्यधर्मावभासोऽध्यासः, एतन्मूलकमेव तादात्म्यम्। यथा इदं रजतमित्यादौ इदंपदार्थरजतपदार्थयोस्तादात्म्यं तथैव पदपदार्थयोरपि, 'अयं घट' इति तादात्म्यमध्यासमूलकमेव न तु वास्तविकम्। अनुमानप्रकारश्चेत्थम्—शब्दार्थौ परस्परतादात्म्यवन्तौ, इतरेतराध्यासवत्त्वात्। अन्वय-व्याप्तिः—यत्र यत्र इतरेतराध्यासस्तत्र तत्र तादात्म्यम्, यथा नीलो घट इत्यादौ गुणगु-णिनोः। व्यतिरेकव्याप्तिस्तु–यत्र न तादात्म्यं तत्र नाध्यासः, यथा घटपटयोः। एवञ्चैतेन तादात्म्येन शक्तिज्ञानमुपपद्यते। तदेव=तादात्म्यमेव। यथा रूपवान् पट इत्यादावाश्रयता-बुद्धिनियामकत्वात् तादात्म्यस्य सम्बन्धत्वं सुस्पष्टमेव। इदं च तादात्म्यं पदपदार्थोभय-

निष्ठम्, विशिष्टबुद्धिनियामकञ्चेति सम्बन्धत्वं सिद्धमेव । शक्तेरपि=अनुभवसिद्धायाः शक्तेरपीति । कार्यजनकत्वे =कार्यसम्पादकत्वे । लोके शक्तितः भिन्न एव सम्बन्धः शक्तेः कार्यजनकत्वस्य नियामकत्वेन दृश्यते । एवं शास्त्रेपि कल्पनीयम् । शक्तेरपि कार्यजनकत्वे सम्बन्धस्यैव नियामकत्वं दृष्टान्तेन साधयन्नाह—दीपादिति । अयं भावः—यद्यपि दीपे प्रकाशकत्वशक्तिर्विद्यते किन्तु सा शक्तिस्तदैव कार्यं जनयति यदा दीपस्य आलोकविषयभूतस्य घटादेश्च संयोगादिसम्बन्धो भवति । स च सम्बन्धः प्रकाशकत्व-शक्त्यतिरिक्त एव । उभयसम्बन्धाभावे सति प्रकाशकत्वशक्तिः स्वकार्यं साधयितुं न समर्था । एवमेवात्रापि घटशब्दादिनिष्ठशक्तिरपि तदैव शाब्दबोधरूपं कार्यं जनयितुं समर्था यदोभयोः कश्चन सम्बन्धः स्यात् । स च सम्बन्धोऽत्र तादात्म्यरूप एव स्वीकार्यः ।

शक्तिविषयक नैयायिक मत का खण्डन—

वह (नैयायिकों का उपर्युक्त मत) ठीक नहीं है, क्योंकि इच्छा (पद एवम् अर्थ इन) दोनों सम्बन्धियों की आश्रयता (वृत्तिता) की नियामक न होने के कारण सम्बन्ध नहीं हो सकती । कारण यह है कि "सम्बन्ध दोनों सम्बन्धियों से भिन्न होते हुए, द्विष्ठ (दोनों में रहने वाला) होते हुये आश्रयत्वरूप से विशिष्ट बुद्धि का नियामक होता है—ऐसा अभियुक्तों (आचार्यों) का व्यवहार है । जैसे—'घटवद् भूतलम्' इत्यादि में संयोगरूप सम्बन्ध (घट एवं भूतलरूपी) दोनों सम्बन्धियों से भिन्न, दोनों (सम्बन्धियों) में रहने वाला और 'घटनिरूपित संयोग का आश्रय भूतल है'—इस विशिष्ट (विशेषणविशेष्यावगाही) बुद्धि का नियामक है । किन्तु प्रकृत में 'घट शब्द इच्छावाला है' अथवा 'घटशब्दार्थ इच्छावाला है' ऐसा व्यवहार नहीं (होता) है ।

विमर्श-(१) उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इच्छा में सम्बन्धत्व के लक्षण का समन्वय नहीं होता है । इच्छा तो चेतनमात्र में रहने वाला धर्म है, पद या पदार्थ में उसकी वृत्तिता उपपादित करनी कठिन है । अतः नैयायिकोक्त इच्छा का सम्बन्धत्व सम्भव न होने से उसे शक्ति मानना तर्कसङ्गत नहीं है ।

मञ्जूषाकार का मत—

अनु०—(इच्छा को सम्बन्ध मानना सम्भव नहीं है) इसलिये (नैयायिकादि से स्वीकृत ईश्वरेच्छादि से) भिन्न सम्बन्ध ही शक्ति है उसका दूसरा नाम वाच्यवाचकभाव है । और इतरेतराध्यासमूलक तादात्म्य इस शक्ति का बोधक है । वह तादात्म्य ही सम्बन्ध है, क्योंकि (पद तथा अर्थ ये) दोनों उभयनिरूपित तादात्म्यवाले हैं—ऐसा पद और अर्थ दोनों के विषय में व्यवहार होता है ।

(२) मञ्जूषाकार के अनुसार वाच्यवाचकभाव यह अखण्डोपाधिरूप एक अन्य ही पदार्थ समझना चाहिये, वाच्यत्व और वाचकत्व को पृथक्-पृथक् निरूप्यनिरूपक-

भावापन्न नहीं। अन्यथा अनेक दोष प्रसक्त होंगे। इस वाच्यवाचकभावरूप शक्ति का ज्ञापक तादात्म्य है। इसलिये तादात्म्य और शक्ति भिन्न-भिन्न हैं। इतरेतराध्यास के कारण शब्द और अर्थ दोनों में तादात्म्य मान लिया जाता है। इसलिये शक्ति का बोधक तादात्म्य सम्बन्ध है, शक्तिरूप नहीं है।

अनु०—शक्ति के भी कार्यजनक होने में (शक्ति से भिन्न) सम्बन्ध ही नियामक (निश्चायक) होता है। दीपक आदि में रहने वाली प्रकाशकता शक्ति में भी आलोक के विषय (पदार्थ) का सम्बन्ध रहने पर ही वस्तु की प्रकाशकता देखी जाती है, अन्यथा (अर्थात् सम्बन्ध न रहने पर) नहीं।

(३) दीपक में वस्तुओं को प्रकाशित करने की स्वाभाविक शक्ति रहती है। किन्तु यह तभी कार्य करने में समर्थ हो पाती है जब घटादिविषय और दीपादि का सम्बन्ध हो। सम्बन्ध के बिना यह शक्ति वस्तुओं को प्रकाशित नही करती है।

तदुक्तं हरिणा—

उपकारः स यत्रास्ति धर्मस्तत्रानुगम्यते।
शक्तीनामप्यसौ शक्तिर्गुणानामप्यसौ गुणः॥

(वा० प० ३।३।६) इति।

उपकारः—उपकार्योपकारकयोर्बोधशक्त्योरुपकारस्वभावः सम्बन्धो यत्रास्ति तत्र धर्मः शक्तिरूपः कार्यं दृष्ट्वाऽनुमीयते। असौ सम्बन्धः शक्तीनामपि कार्यजनने उपकारकः गुणानामपि द्रव्याश्रितत्वनियामक इति हेलाराजः।

सः सम्बन्धः पदे वाक्ये च। तदाह न्यायभाष्यकारः—'समयज्ञानार्थं चेदं पदलक्षणाया वाचोऽन्वाख्यानं व्याकरणं, वाक्यलक्षणाया वाचोऽर्थलक्षणम्' इति। अनेन पदेष्विव वाक्येष्वपीश्वरसमय इति स्पष्टमेवोक्तम्। तस्मादितरेतराध्यासः सङ्केतस्तन्मूलकं तादात्म्यञ्च सम्बन्ध इति सङ्घातार्थः।

तदुक्तं पातञ्जलभाष्ये—

'सङ्केतस्तु पद पदार्थयोरितरेतराध्यासरूपः स्मृत्यात्मको योऽयं शब्दः सोऽर्थो योऽर्थः स शब्दः' इति। (यो० भा० ३।१७)

स्मृत्यात्मक इत्यनेन ज्ञातस्यैव सङ्केतस्य शक्तिबोधकत्वं दर्शितम्।

हरिणा=भर्तृहरिणा। यत्र=शब्दे इति भावः, उपकारः=उपकारस्वभावः सम्बन्धोऽस्ति, तत्र=शब्दे, धर्मः=सामर्थ्यरूपः शक्तिरूप इति यावत्, अनुगम्यते=अनुमीयते। असौ=सम्बन्धः, शक्तीनामपि पदार्थनिष्ठानामिति भावः, शक्तिः=

कार्योत्पत्तौ उपकारकः, गुणानामपि=रूपादीनामपि द्रव्याश्रितानामिति भावः, गुणः=द्रव्याश्रितत्वस्य नियामक इत्यर्थः ।

स्वोक्तौ प्रामाण्याय हेलाराजव्याख्यानं प्रस्तौति—उपकार इति । उपकारः=उपकार्यस्योपकारकस्य चेत्यनयोरुपकारस्वभावः=उपकारः स्वभावो यस्य सः उपकारकः इति भावः, सम्बन्धः यत्र शब्दादावस्ति तत्र धर्मः=शक्तिरूपः, कार्यम्=शाब्दबोधादिरूपम्, दृष्ट्वा=अनुभूय, अवलोक्य वा, अनुमीयते । यथा दाहरूपं कार्यं दृष्ट्वा अग्नौ दाहकत्वशक्तिरनुमीयते । सा च शक्तिः अग्नि-हस्तायोः सम्बन्धे एव दाहं जनयति, एवमेव बोधरूपं कार्यं दृष्ट्वा शब्दनिष्ठा शक्तिरनुमीयते तत्र पदपदार्थयोस्तादात्म्यरूपस्सम्बन्धो नियामक इति भावः । असौ सम्बन्धः वस्तुनिष्ठानां शक्तीनामपि कार्यजनने=दाहप्रकाशादिकार्योत्पत्तौ, शक्तिः=उपकारकः, रूपादीनां गुणानामपि द्रव्याश्रितत्वनियामकः= द्रव्याश्रिता गुणा इत्यत्र गुणगुणिनोः समवायसम्बन्ध एव नियामकत्वेन दृश्यते । अत्र चोपकार्यः=अर्थः, उपकारकः=शब्दः । अनयोस्सम्बन्धसत्त्वे एव शक्तिः बोधरूपं कार्यमुत्पादयतीति भावः । हेलाराजः=वाक्यपदीयस्य व्याख्याता ।

स सम्बन्धः=उपकार्योपकारकस्वभावः वाच्यवाचकभावरूपः सम्बन्धः पदे अन्येषां मतेन, वैयाकरणानां मतेन वाक्ये । तत्=सम्बन्धस्य पदनिष्ठत्वं वाक्यनिष्ठत्वञ्च। न्यायभाष्यकारः=वात्स्यायनः, समयज्ञानार्थम्=सङ्केतज्ञानार्थम्, इदम्=व्याकरणशास्त्रम्, पदलक्षणायाः=पदरूपायाः, वाचः=वाण्याः, अन्वाख्यानम्=प्रकृति-प्रत्यय-तत्तदर्थबोधनपूर्वकं बोधकम्, वाक्यलक्षायाः=वाक्यरूपायाः वाचः=वाण्याः अन्वाख्यानम् अर्थलक्षणम्=वाक्यार्थबोधकं शास्त्रं तर्कमीमांसादि । कलाकृत्तु व्याकरणमित्यस्य मध्यमणिन्यायेनान्वयं स्वीकृत्योभयत्र व्याकरणं योजयति । पदरूपाया वाचः सङ्केतज्ञानार्थमन्वाख्यानं व्याकरणम्, वाक्यरूपवाचः अर्थलक्षणम् । अत्र करणे ल्युट्—लक्ष्यतेऽनेनेति । एवञ्चार्थबोधजनकतायाः(वाक्यनिष्ठायाः)बोधकं व्याकरणमिति । अनेन=वाक्यलक्षणाया वाच इति प्रतिपादकभाष्यग्रन्थेन, ईश्वरसमयः=ईश्वरसङ्केतो यथा पदेषु तथैव वाक्येष्वपीति बोध्यम् । वाक्यविषये सङ्केतग्राहकमाकाङ्क्षाद्यधिकमिति दिक् । तस्मात्=पूर्वोक्ततर्क-प्रामाण्यादितः, इतरेतराध्यासः=परस्परान्यधर्माध्यासः सकेतः, तन्मूलकम्=इतरेतराध्यासमूलकं तादात्म्यम्=तद्भिन्नत्वे सति तदभेदेन प्रतीयमानत्वम्, सम्बन्धः=पदपदार्थयोरिति शेष इति सङ्घातार्थः=समुदितस्य तात्पर्यम् ।

तदुक्तम्=तादात्म्यस्याध्यासमूलकत्वमित्यर्थः । पातञ्जलभाष्ये=पातञ्जलयोगभाष्ये इत्यर्थः ।

इतरेतराध्यासरूपः=इतरेतराध्यासेन ज्ञाप्यः, स्मृत्यात्मकः=स्मृतिविषयः आत्मा=स्वरूपं यस्य सः=स्मर्यमाण इति भावः । स्मृतिविषयो ज्ञातः सङ्केत एव शक्तेर्बोधको भवति ।

ननु 'अस्यार्थस्यायं वाचकः, अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्यः,' इत्याकारकेच्छारूपेऽर्थे संकेतशब्दस्य रूढत्वेन इतरेतराध्यासे संकेतस्य प्रयोगोऽसमीचीन इति चेन्न, शाब्दबोधोपपत्तये कल्प्यमानस्य सङ्केतस्य इतरेतराध्यासरूपत्वस्वीकारेऽपि बाधकाभावात्। "सङ्केतस्तु पदपदार्थयोरितरेतराध्यासरूप"—इत्यादिना पतञ्जल्युक्तेश्च। यद्यपि लघुमञ्जूषायाम् -'तद्ग्राहकं चेतरेतराध्यासमूलकं तादात्म्यम्, तच्च (तादात्म्यञ्च) सङ्केतः' इत्युक्तम्। अत्र च 'इतरेतराध्यासः सङ्केतः, तन्मूलकं तादात्म्यमि'त्युक्तमिति विरोधः प्रतिभाति। तथापि अध्यासाभिन्नत्वमेव सङ्केतस्य स्वीकार्यम्। इतरेतराध्यासरूप इत्यत्र इतरेतराध्यासो रूपं=स्वरूपम् आत्मा यस्येति बोध्यम्। सङ्केतमूलकत्वं तादात्म्यस्य। सङ्केतस्तु द्विविधः—नैयायिकाभिमतेश्वरेच्छारूपः पातञ्जलाभिमततादात्म्यरूपश्चेति बोध्यम्।

यह (उपर्युक्त तथ्य) भर्तृहरि ने कहा है—

जिस (शब्द) में उपकार (उपकार्योपकारकभाव सम्बन्ध) है उस (शब्द) में (शक्तिरूप, सामर्थ्यरूप) धर्म का अनुमान कर लिया जाता है। (अर्थात् शब्द से होने वाले बोधरूपी कार्य को देखकर शब्दनिष्ठ बोधजनक शक्तिरूप अर्थसम्बन्ध का अनुमान कर लिया जाता है।) यह सम्बन्ध शक्तियों का भी (कार्यजनन में) शक्ति=उपकारक है और गुणों का भी गुण (=द्रव्याश्रित होने में नियामक) है।

उपकार=उपकार्य=बोध और उपकारक=शक्ति का उपकारस्वभाव सम्बन्ध जहाँ (शब्द में) है वहाँ धर्म=शक्तिरूप का अनुमान (बोधरूपी) कार्य को देखकर कर लिया जाता है। (क्योंकि शक्ति रहने पर भी असम्बद्ध कार्यकी जनक नहीं होती है।) यह (सम्बन्ध) शक्तियों के भी कार्यजनन में उपकारक (होता) है और गुणों के भी द्रव्याश्रित होने में नियामक होता है। ऐसा हेलाराज (ने लिखा है)।

वह सम्बन्ध पद और वाक्य दोनों में (रहता है) यह न्यायभाष्यकार (वात्स्यायन) ने कहा है—"समय=सङ्केत के ज्ञान के लिए पदस्वरूप इस वाणी का अन्वाख्यान (प्रकृति प्रत्यय एवं इनके अर्थों का प्रदर्शन करते हुये बोधक) यह व्याकरण है और वाक्यरूप वाणी का (अन्वाख्यान=विभागपूर्वक बोधक) अर्थलक्षण=वाक्यार्थबोधक शास्त्र (तर्कमीमांसा आदि हैं)।" (वाक्यलक्षण वाणी के बोधक तर्कशास्त्रादि हैं) इस कथन के द्वारा पदों के समान वाक्यों के विषय में भी ईश्वर का सङ्केत है (अर्थात् जैसे पदों में पदार्थबोधक शक्ति रहती है उसी प्रकार वाक्य में वाक्यार्थबोधक शक्ति रहती है)— यह स्पष्ट ही कहा है। इसलिये (इच्छा के सम्बन्धत्व का निराकरण हो जाने से) इतरेतराध्यास=परस्पर अन्य धर्म का अवभास सङ्केत है, और अध्यासमूलक तादात्म्य सम्बन्ध है—यह (इस) पूरे समुदाय (प्रकरण) का अभिप्राय है। (तादात्म्य अध्यासमूलक है) जैसा कि पातञ्जल (योग) भाष्य में

कहा गया है—"सङ्केत तो पद और पदार्थ का इतरेतराध्यासरूप, स्मृत्यात्मक=स्मृतिविषय 'जो यह शब्द है वह अर्थ है, जो अर्थ है वह शब्द है।'" स्मृत्यात्मक=स्मृतिविषय—यह कहने से ज्ञात ही सङ्केत का शक्तिबोधक होना प्रदर्शित किया है।

विमर्श—मञ्जूषाकार का तात्पर्य यह है कि शब्द और अर्थ में परस्पर अध्यास है क्योंकि 'शब्द क्या है ?' तथा 'अर्थ क्या है ?' इन दोनों प्रकार के प्रश्नों के उत्तर में 'घट यह शब्द है, घट यह अर्थ है'—ऐसा एक ही प्रकार का उत्तर देखा जाता है। इससे इन दोनों का अध्यास सिद्ध है। यह सङ्केत है। और अध्यासमूलक तादात्म्य सम्बन्ध है। यह शक्ति का ज्ञापक है, शक्तिरूप नहीं है।

उक्त ईश्वरसंकेत एव शक्तिरिति नैयायिकमतं न युक्तम्, 'अयमेतच्छक्यः' 'अत्रास्य शक्तिः' इत्यस्य संकेतस्य शक्तितः पार्थक्येन प्रसिद्धत्वात्। अत एव न्यायवाचस्पत्ये उक्तम्-'सर्गादिभुवां महर्षिदेवतानामीश्वरेण साक्षादेव कृतः संकेतस्तद्व्यवहाराच्चास्मदादीनामपि सुग्रहस्तत्संकेतः' इति।

तस्य च तादात्म्यस्य निरूपकत्वेन विवक्षितोऽर्थःशक्यः, आश्रयत्वेन विवक्षितः शब्दः शक्तः इत्युच्यते। शब्दार्थयोस्तादात्म्यादेव 'श्लोकमशृणोदथार्थं शृणोति, अर्थं वदति' इत्यादिव्यवहार; "ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म" (ब्रह्मविद्योप०२)

'रामेति द्व्यक्षरं नाम मानभङ्गः पिनाकिनः,' "वृद्धिरादैच्" [पा० सू० १।१।१] इति शक्तिग्राहकश्रुतिस्मृतिविषये सामानाधिकरण्येन प्रयोगश्च।

तादात्म्यं च तद्भिन्नत्वे सति तदभेदेन प्रतीयमानत्वमिति भेदाभेदसमनियतम्। अभेदस्याध्यस्तत्वाच्च न तयोर्विरोधः।

यत्तु तार्किकाः,—शब्दार्थयोस्तादात्म्यस्वीकारे मधुशब्दोच्चारणे मुखे माधुर्यरसास्वादापत्तिः, वह्निशब्दोच्चारणे मुखे दाहापत्तिरित्याहुः। तन्न; भेदाभेदस्योपपादितत्वात्।

[बौद्धपदार्थ-निरूपणम्]

वस्तुतो बौद्ध एवार्थः शक्यः, पदमपि स्फोटात्मकं प्रसिद्धम्, तयोस्तादात्म्यम्। तत्र बौद्धे वह्न्यादावर्थे दाहादिशक्तिमत्त्वाभावात्। अत एव 'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः'(यो०सू०१।९) इति विकल्पसूत्रं सङ्गच्छते। शब्दज्ञानमात्रेणानुपाती=बुद्धावनुपतनशीलो वस्तुशून्यः=बाह्यार्थरहितः विशेषेण कल्प्यत इति विकल्पः, बुद्धिपरिकल्पित इति तदर्थः।

नैयायिकमतं निराकरोति—उक्त ईश्वरसङ्केत इति। 'अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्यः' 'इदं पदममुमर्थं बोधयतु' इति अर्थविशेष्यकः पदविशेष्यको वा ईश्वरेच्छारूपः सङ्केत इत्यर्थः। न युक्तमिति। सङ्केतस्य शक्तिग्राहकत्वेन मुख्यशक्तित्वाभावादिति

भावः। तदेव स्पष्टीकरोति— अयमिति। अयमर्थः एतत्पदस्य शक्यः, अत्र=अस्मिन् अर्थे, अस्य पदस्य शक्तिः, इत्याकारकस्य संकेतस्य शक्त्यपेक्षया भिन्नत्वरूपेण प्रसिद्धत्वात्। सङ्केतो यदि शक्तिरूपः स्यात्तदाऽत्र घटकतया शक्तिनिवेशो न स्यात्, स्वस्य स्वघटकत्वाभावात्। किञ्चेदृशसंकेतस्य लोके दर्शनेन तादृशेश्वरसङ्केतस्याप्यनुमानात्। अत्र मानमाह—अतएवेति। सङ्केतस्य शक्तित्वाभावात्, शक्तिग्राहकत्वाच्चैव। न्यायवाचस्पत्ये "सामयिकः शब्दादर्थप्रत्ययः" (वै० सू०७।२।२०) इति सूत्रस्थे; सर्गादिभुवाम् =सृष्ट्याद्यकाले गृहीतजन्मनाम्, महर्षिदेवतानां भगवता 'अस्यायं वाचकः, अस्मादयं बोद्धव्यः' इति सङ्केतःसाक्षादेव कृतः,अस्य ज्ञानन्तु वृद्धव्यवहारादिना जायते। नन्वस्माकं कथं सङ्केतग्रह अत आह— तद्व्यवहाराच्चेति। महर्षिदेवतानां व्यवहारपारम्पर्यात्तु तत्सङ्केतः=ईश्वरसङ्केतः, सुग्रहः=सुबोध इत्यर्थः। योगवाचस्पत्येऽप्येवमेवोक्तम्—"सर्वे च शब्दाः सर्वार्थाभिधानसमर्थाः इति सर्वैरर्थैः सर्वेषां शब्दानां सम्बन्धः, ईश्वरसङ्केतस्तु प्रकाशकः।" भर्तृहरिरप्याह—

नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः समाम्नाता महर्षिभिः।
सूत्राणां सानुतन्त्राणां भाष्याणाञ्च प्रणेतृभिः॥ (वा० प० १।२३)

पातञ्जलभाष्येऽप्युक्तम्–"स्थितोऽस्य वाचकस्य वाच्येन सह सम्बन्धः, सङ्केतस्तूक्तरूप ईश्वरस्य स्थितमेवार्थमभिनयति, यथावस्थितः पितापुत्रयोः सम्बन्धः सङ्केतेनावद्योत्यते 'अयमस्य पिता, अयमस्य पुत्र' इति।

तादात्म्यस्य सम्बन्धत्वं समर्थ्यं तस्यान्यत्फलं निरूपयन्नाह—तस्येति। इतरेतराध्यासमूलकस्य तादात्म्यस्य। शक्यः=शक्तिविषयः। शक्तः=शक्त्याश्रयः। व्यवहार इति। अयं भावः—श्लोकमशृणोत् इतिवत् अर्थं शृणोति इत्यादिव्यवहारः शब्दार्थयोस्तादात्म्यमाश्रित्यैव सम्भवति, यतोहि अर्थे श्रावणप्रत्यक्षविषयतावच्छेदकधर्मावच्छिन्नत्वं बाधितं किन्तु शब्दस्यैव एतत्। अतस्तयोः तादात्म्यमावश्यकम्। एवमेव 'अर्थं वदति' इत्यादावपि तादात्म्यमन्तरा नोपपत्तिः, वदनं नामोच्चरणम्, उच्चारणकर्मत्वञ्च शब्दस्यैव नार्थस्येति बोध्यम्। श्रुत्यादितोऽपि तमेवार्थं साधयति—ओमित्यादिना। सामानाधिकरण्येन शब्दार्थयोः प्रयोग एव तयोरितरेतराध्यासमूलके तादात्म्ये प्रमाणमिति भावः। तादात्म्याभावे तत्र श्रुत्यादावभेदस्य बाधितत्वेन 'नामार्थयोरभेदसम्बन्धेनैवान्वयो व्युत्पन्नः' इति न्यायेन भेदस्याप्यसम्भवेन तादृशप्रयोगाणामसङ्गतिर्दुरुद्धरैवेति बोध्यम्।

ननु शब्दार्थयोस्तादात्म्याङ्गीकारे अग्न्यादिशब्दोच्चारणे मुखदाहाद्यापत्तिः, अस्यार्थस्यायं शब्दो वाचक इत्यादिव्यवहाराणामसङ्गतिश्चात आह—तादात्म्यं चेति। वस्तुतो भेदेऽप्यभेदेन प्रतीयमानत्वं तादात्म्यमिति न कोऽपि दोषः। अत्र अभेदस्याध्यस्तत्वात्=आरोपितत्वात्, तयोः=भेदाभेदयोः न विरोधः। यथा गङ्गायां घोषः इत्यादौ

तटे गङ्गात्वारोपे कृतेऽपि तेन स्नानादिकार्यं न सम्भवति तथैव प्रकृतेऽपि अभेदस्यारोपितत्वेऽपि तदाश्रितं सर्वं कार्यं न भवति ।

निराकर्तुं नैयायिकमतमनुवदति—यत्त्विति । नैयायिकानामयमभिप्रायो यत् शब्दस्यार्थस्य च यदि तादात्म्यं स्वीक्रियते तदार्थाश्रितानि कार्याण्यपि प्रसक्तानि भवन्ति । तेन यदा कश्चित् मधुशब्दमुच्चारयति तदा तस्य मुखे माधुर्यरसास्वादप्रसङ्गः, एवमग्निशब्दोच्चारणे दाहादिप्रसङ्गः इति । किन्तु नैते दोषाः; तादात्म्ये भेदाभेदयोः सत्त्वात्=वस्तुतो भेदस्य आरोपितस्याभेदस्य च सत्त्वादिति शाब्दिकाः ।

वैयाकरणा बौद्धौ=बुद्धिदेशस्थौ शब्दार्थौ स्वीकुर्वन्ति । अतः बुद्धिदेशस्थ एवार्थः शक्यः, स्फोटात्मकश्च शब्दोऽपि बुद्धिदेशस्थ एव शक्तः । अनयोरेव तादात्म्यं, तेन न क्वापि क्षतिः । बुद्धिप्रदेशस्थे वह्न्यादावर्थे दाहादिशक्तिमत्त्वं नास्ति । अत एव=बौद्धपदार्थस्वीकारादेव । शब्दजन्यज्ञानानन्तरं वस्तुतत्त्वमनपेक्ष्यैव बुद्धावनुपतनशीलोऽध्यवसायो विकल्प इत्यर्थः । शब्दश्च तज्जन्यज्ञानं च ते अनुपातिनी यस्य सः शब्द-ज्ञानानुपाती । शब्दप्रयोगं तज्जन्यज्ञानं चानुपतति, तज्जनको बाह्यवस्तुशून्यो वृत्तिविशेषो बाधाबाधकालाविशेषेण सदैव जायमानो विकल्प इत्यर्थः । बौद्धपदार्थास्वीकारे चैतस्यानुपपत्तिरिति बोध्यम् ।

उपर्युक्त (पदविशेष्यक अथवा अर्थविशेष्यक यह द्विविध) ईश्वरीय सङ्केत ही शक्ति है—यह नैयायिकों का मत ठीक नहीं है, क्योंकि 'यह (अर्थ) इस (शब्द) का शक्य है' 'इस (अर्थ) में इस (शब्द) की शक्ति है' यह सङ्केत शक्ति की अपेक्षा पृथक्रूप से प्रसिद्ध है। (अर्थात् सङ्केत शक्ति के बोधकरूप से प्रसिद्ध एवम् अनुभवसिद्ध है अतः वह शक्ति नहीं माना जा सकता । सङ्केत शक्ति का ग्राहक ही है ।) इसलिये न्यायवाचस्पत्यम् में (ऐसा) कहा गया है—"सृष्टि के आदि में होने वाले महर्षि एवं देवताओं के सम्बन्ध में ईश्वर द्वारा साक्षात् सङ्केत किया गया था उन्हीं के व्यवहार से हम लोगों को भी ईश्वर के सङ्केत का सरलता से ग्रहण (ज्ञान) हो जाता है।"

और उस तादात्म्य के निरूपकत्वरूप से विवक्षित (कहा जाने के लिये इष्ट) अर्थ शक्य है और तादात्म्य के आश्रयत्वरूप से विवक्षित शब्द शक्त है—यह कहा जाता है। शब्द एवम् अर्थ के तादात्म्य के कारण ही 'श्लोक सुना गया' 'अब अर्थ को सुनता है' 'अर्थ को कहता है' इत्यादि व्यवहारहोताहै। (अर्थ न तो श्रवण का विषय होता है और न कथनका। शब्द ही कथन एवं श्रवण का विषय होता है। किन्तु शब्दार्थ के तादात्म्य के कारण ही उक्त व्यवहार देखे जाते हैं।) और 'ओम् यह एक अक्षर ब्रह्म है' 'राम यह दो अक्षरों का नाम पिनाकी (शिव) के मानको भङ्ग करने वाला है' 'आद् ऐच् वृद्धि है'

इन शक्ति की बोधक श्रुति एवं स्मृति के विषय में सामानाधिकरण्य (=अभेद) से प्रयोग है। (अर्थात् ओम् इति पदाभिन्नं ब्रह्म, वृद्धिपदाभिन्ना आदैचः—ऐसा अर्थबोध कराने वाला प्रयोग होता है)।

तादात्म्य का स्वरूप—

और तादात्म्य—उससे भिन्न होते हुए उसके अभेद से प्रतीत होना है, इसलिये भेदाभेद समनियत है। (भेद और अभेद दोनों से घटित है) और अभेद अध्यस्त= आरोपित होता है (वास्तविक नहीं है) इसलिए इन दोनों में विरोध नहीं है।

विमर्श—यहाँ मञ्जूषाकार का आशय यह है कि शब्द एवम् अर्थ का तादात्म्य मान लेने पर मधु शब्द का उच्चारण करने पर मुख में माधुर्य रस का आस्वाद होने का प्रसङ्ग आयेगा और अग्नि आदि का उच्चारण करने पर मुख जलने आदि का प्रसङ्ग आयेगा—ऐसी शङ्कायें नहीं की जानी चाहिये क्योंकि वास्तव में तो शब्द एवम् अर्थ का भेद ही होता है, व्यवहारोपपत्ति के लिये अभेद का आरोप कर लिया जाता है। आरोपित को मानकर वास्तविक व्यवहारों की आपत्ति नहीं करनी चाहिये।

शब्दार्थ-तादात्म्य में दोषों का निराकरण—

नैयायिक यह कहते हैं—शब्द एवम् अर्थ का तादात्म्य स्वीकार कर लेने पर मधु शब्द के उच्चारण में मुख में माधुर्य रस के आस्वाद का प्रसङ्ग आयेगा और वह्नि शब्द के उच्चारण में मुख में जलने आदि का प्रसङ्ग आयेगा—वह (नैयायिकों का उपर्युक्त कथन) ठीक नहीं है क्योंकि (तादात्म्य में) भेद एवम् अभेद का उपपादन किया जा चुका है। (अर्थात् भेद वास्तविक है अभेद आरोपित है—यह कहा जा चुका है।)

बौद्ध पदार्थ का अस्तित्व—

वास्तव में बौद्ध (बुद्धिदेशस्थ) ही अर्थ शक्य (वाच्य) है और पद भी स्फोटात्मक (बुद्धिदेशस्थ) ही प्रसिद्ध है; इन दोनों (बुद्धिदेशस्थ शब्द एवम् अर्थ) का तादात्म्य है। क्योंकि बौद्ध वह्नि आदि अर्थ में दाह आदि शक्ति नहीं रहती है। (पदार्थ की बुद्धिदेश में ही सत्ता है) इसीलिये "शब्दज्ञानानुपाती=शब्दजन्य ज्ञान के अनन्तर होने वाला (बाह्य-) वस्तुशून्य विकल्प (ज्ञान होता है)—यह विकल्प (स्वरूपप्रतिपादक) सूत्र सङ्गत होता है। शब्दज्ञानमात्र से=शब्दजन्य ज्ञानमात्र से अनुपाती=बुद्धि में अनुपतनशील=होनेवाला, वस्तुशून्य=बाह्यपदार्थरहित, विशेषरूप से कल्पित किया जाने वाला विकल्प है, बुद्धि से परिकल्पित होता है, यह इस सूत्र का अर्थ है।

अत एव—

एष वन्ध्यासुतो याति खपुष्पकृतशेखरः ।
कूर्मक्षीरचये स्नातः शशशृङ्गधनुर्धरः ॥

इत्यत्र वन्ध्यासुतादीनां बाह्यार्थशून्यत्वेऽपि बुद्धिपरिकल्पितं वन्ध्यासुत-शब्दवाच्यार्थमादायार्थवत्त्वात्प्रातिपदिकत्वम् । अन्यथाऽर्थवत्त्वाभावेन प्राति-पदिकत्वाभावात्स्वाद्युत्पत्तिर्न स्यात् ।

यत्तु शशशृङ्गमित्यत्र शृङ्गे शशीयत्वभ्रम इति तार्किकैरुक्तम् । तन्न; शशशब्दवाच्यजन्तुदर्शनरूपबाधे सति शशशृङ्गं नास्तीति वाक्ये शशशृङ्ग-मित्यस्य प्रातिपदिकत्वानापत्तेः ।

बौद्धार्थसमर्थनेऽन्यत्प्रमाणमाह—अत एवेति । बौद्धार्थस्वीकारादेवेत्यर्थः । श्लोका-र्थस्तु सुस्पष्टः । अत्र बन्ध्याया सुतोत्पत्त्यभावात् तस्य यानक्रियायामन्वयस्य बाधः । आकाशे पुष्पाणां सर्वथाऽसम्भवेन तद्भूषणानां धारणमप्यसम्भवम् । एवं कूर्मपत्नीनां (कच्छपीनां) दुग्धस्यासम्भवेन तत्समुदाये स्नानासम्भवः । एवमेव शशशृङ्गाणामभा-वेन तद्धनुर्धारणासम्भवः। एवञ्च कस्याप्यर्थस्याभावेन प्रातिपदिकत्वानापत्तिरिति बोध्यं, तदेवाह—इत्यत्रेति । अस्मिन् पद्ये इत्यर्थः । बन्ध्यासुतादिशब्दानां बाह्यार्थशून्य-त्वेऽपि=बहिर्जगति सर्वथाऽभावेऽपि, बुद्धिपरिकल्पितम्=बुद्धिदेशे परिकल्पितम्, बन्ध्यासुतादिशब्दवाच्यार्थमादायैव अर्थवत्त्वं तेन च प्रातिपदिकत्वमिति बोध्यम् । अन्यथा=बुद्धिपरिकल्पितार्थास्वीकारे, अर्थवत्त्वाभावेन=बाह्यदेशीयार्थवत्त्वाभावेन प्रातिपदिकत्वाभावात् "स्वौजसि" (पा० सू० ४।१।२) त्यादिसूत्रेण स्वादिविभ-क्त्युत्पत्तिर्न स्यादिति भावः ।

एतादृशस्थलेषु नैयायिकपरिकल्पितं मतं निराकर्तुमाह—यत्त्विति । अयमाशयः—शशशृङ्गादिपदार्थानां क्वाप्यप्रसिद्धत्वात् अप्रसिद्धप्रतियोगिकाभावस्य नैयायिकैरस्वीकारात् शशशृङ्गमित्यादौ प्रातिपदिकत्वानापत्तिरित्याशङ्क्य महिष्यादीनां पशूनां शृङ्गंप्रसिद्धम्; शशोऽपि प्रसिद्धः । एवञ्च शृङ्गे शशीयत्वस्य (शशसम्बन्धित्वस्य) भ्रमात् वस्तुतो बाह्यार्थस्याभावेऽपि भ्रमविषयमर्थमाश्रित्य प्रातिपदिकत्वसाधनं सुलभम्। एतदर्थं बौद्धार्थ-परिकल्पनमनावश्यकमननुभूतञ्च । एवञ्च – शशशृङ्गमित्यादावाहार्यमेव प्रतियोगिज्ञान कारणमिति नैयायिकाः प्रतिपादयन्ति । तन्निराकरोति—तन्नेति । शशशब्दवाच्यः चतुष्पादजीवविशेषः, तस्य दर्शनरूपे बाधे सत्त्वे तदभावस्य वक्तुमशक्यतया एकदेशस्यान-र्थक्येन विशिष्टस्यार्थवत्वाभावात् प्रातिपदिकत्वं न सम्भवतीति तात्पर्यम् । एतादृशस्थ-लेषु बौद्धार्थास्वीकारे न निर्वाह इतिबोध्यम् ।

स्फोटात्मकं पदमिव शक्यार्थोऽपि बुद्धिसत्तासमाविष्ट एव न तु बाह्यसत्ताऽऽविष्टः; 'घटः' इत्यत एव सत्तावगमेन 'घटोऽस्ति' इति प्रयोगे गतार्थत्वाद् 'अस्ति' इति प्रयोगानापत्तेः, सत्तया विरोधात् 'घटो नास्ति' इति प्रयोगानापत्तेश्च। बौद्धपदार्थवादिनस्तु बाह्यसत्ता–तदभावयोर्बोधनाय 'अस्ति' 'नास्ति' इति प्रयोगः। किञ्च 'शशशृङ्गं नास्ति' 'अङ्कुरो जायते' इत्यतो बोधानापत्तिः, मम तु बुद्धिसन्नङ्कुरो बाह्यरूपेण जायत इत्यर्थः। सा सत्तापि शब्दवाच्येति तदभावः। किञ्च, इच्छादीनामन्तःकरणनिष्ठतया तत्र विषयस्य सामानाधिकरण्येनैव कारणत्वौचित्येन बौद्धपदार्थसत्तावश्यिकी। भ्रमस्थलेऽपि बौद्धस्यैवाधिष्ठानत्वं न बाह्यस्येति बोध्यम्।

गौतमोऽप्यसत एवोत्पत्तिकर्तृकत्वं कथम्? इत्याशङ्क्य सूत्रितवान् "बुद्धिसिद्धन्तु तदसत्" (न्या० सू० ४।१।५०) इति। तत्कार्यमुत्पत्तेः प्राङ् नाशोत्तरं चासदपि बुद्धिविषयतया सिद्धमिति तदर्थः। "जन्माद्यस्य यतः" (वे० सू० १।१।२) इति सूत्रे वाचस्पतिरप्याह—"चेतनो हि नामरूपे बुद्धावालिख्य 'घट' इति नाम्ना कम्बुग्रीवादिना रूपेण च बाह्यं घटं निष्पादयति।" अत एव च स्मृतिः—

विप्र! पृथ्व्यादि चित्तस्थं न बहिस्थं कदाचन।
स्वप्नभ्रममदाद्येषु सर्वैरेवानुभूयते॥

अत्र भर्तृहरिः—

यो वाऽर्थो बुद्धिविषयो बाह्यवस्तुनिबन्धनः।
स बाह्यं वस्त्विति ज्ञातः शब्दार्थः सम्यगिष्यते॥ (वा०प० २।३२)

बौद्धार्थस्वीकारादेव "उपदेशेऽजनुनासिक" (पा०सू० १।३।२) इति सूत्रे भाष्ये उक्तम् "को देवदत्त?" इति प्रश्ने 'अङ्गदी कुण्डली व्यूढोरस्को वृत्तबाहुरीदृशो देवदत्तः' इति। बाह्यपदार्थवादिनो मते एकव्यक्तौ भेदाभावाद् 'ईदृशः' इत्यस्यासङ्गतिः, मम तु एतैः शब्दैर्यादृशोऽर्थो बुद्धौ प्रतिभासते तादृशो बाह्य इत्यर्थः। अत्र 'ईदृश' 'तादृश' शब्दाभ्यां प्रत्यभिज्ञाविषयत्वमुपलक्ष्यत इति बोध्यमिति दिक्।

(बुद्धिदेशस्थ पदार्थ माना जाता है) इसीलिये आकाशपुष्पों से सिर का आभूषण बनाये हुये, कछवी के दुग्धसमुदाय में स्नान किये हुये, खरगोश के सींगों का धनुष धारण किये हुये यह बन्ध्या का पुत्र जा रहा है।

इस (श्लोक) में बन्ध्यासुत आदि (शब्दों) के बाह्य अर्थ से शून्य होने पर भी वन्ध्यासुत (आदि) शब्दों के बुद्धिपरिकल्पित वाच्यार्थ को लेकर अर्थवत्ता के कारण प्रातिपदिक संज्ञा (आदि) होती है। अन्यथा=यदि पदार्थ की बुद्धि देश में सत्ता नहीं मानी जायगी तो अर्थवत्ता न होने से प्रातिपदिक संज्ञा न होने के कारण सु आदि (प्रत्ययों) की उत्पत्ति (विधान) नहीं हो सकेगी।

नैयायिक-मत का निराकरण

शशश्रृङ्ग–इसमें श्रृङ्ग में शशीय होने का भ्रम होता है—ऐसा तार्किक लोगों ने कहा है।

विमर्श—नैयायिकों का यह कहना है कि भैंस आदि के श्रृङ्ग (सींग) प्रतीत पदार्थ हैं और शश (खरगोश) भी प्रतीत पदार्थ है। यहाँ श्रृङ्ग में शशीयत्व=खरगोशसम्बन्धी होने का भ्रम हो जाता है। इसलिये वस्तुतः बाह्य पदार्थ के न रहने पर भी भ्रमविषय पदार्थ को मानकर प्रातिपदिक संज्ञा आदि कार्यों का उपपादन कर लेना चाहिये।

अनु०—वह (नैयायिकों का उपर्युक्त कथन) ठीक नहीं है, क्योंकि शश शब्द के वाच्य जीवविशेष=खरगोश का दर्शनरूप बाध- (ज्ञान) रहने पर 'शशश्रृङ्ग नहीं है' इस वाक्य में शशश्रृङ्ग इसकी प्रातिपदिक संज्ञा नहीं हो सकेगी।

विमर्श—मञ्जूषाकार का आशय यह है कि शशशब्द के वाच्य पशुविशेष=खरगोश का देखा जाना यह उसके न होने (अभावज्ञान) का बाधक है। अतः उसके अभाव का ज्ञान नहीं कराया जा सकता। इस प्रकार एकदेश(अभाव) के अनर्थक होने से विशिष्ट =शशसम्बन्धी श्रृङ्ग भी अर्थवान् नहीं हो सकता है। इसलिये विशिष्ट की प्रातिपदिक संज्ञा नहीं की जा सकती है।

अर्थपदयोस्तादात्म्यात्त तदर्थतादात्म्यापन्नः शब्दो भिन्न इति हेतोरर्थभेदाच्छब्दभेद इति व्यवहारः। समानाकारमात्रेण तु, एकोऽयं शब्दो बह्वर्थ इति व्यवहारः।

तादात्म्यमूलके वाच्यवाचकभावसम्बन्धे प्रसिद्धं व्यवहारमुपपादयति—अर्थपदयोरिति। अर्थपदयोस्तादात्म्ये तत्तदर्थतादात्म्यापन्नः=तेनार्थेन तादात्म्यमुपगतः सः सः शब्दोऽपि भिन्नो भिन्न एव; अत एव 'अर्थभेदाच्छब्दभेद' इत्यादिव्यवहारो दृश्यते। नन्वर्थभेदाच्छब्दभेदस्वीकारे 'अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामी' त्यत्राग्निशब्दस्य सूर्यरूपार्थे विनियोगकाले प्रयोगदर्शनात् अर्थभेदात् शब्दभेदापत्तिरिति चेत्, इष्टापत्तेः। न चैवं तेषां वेदत्वानापत्तिरिति वाच्यम्, एतेषामूहशब्दानामपि वेदान्तर्गतत्वस्य स्वीकारेणादोषात्। तदुक्तं भर्तृहरिणा

मन्त्रास्तु विनियोगेन लभन्ते भेदमूहवत्।
तान्याम्नायान्तराण्येव पठ्यते कश्चिदेव तु॥

(वा० प० २।२५८-५९) इति।

मन्त्राणां सर्वेषां वेदत्वमेवेति बोध्यम् । वेदे तु कश्चिदेव मन्त्रः पठ्यते इति तदर्थः । नन्वस्मिन् पक्षे अर्थभेदः शब्दभेदकारकः; एवञ्च "एकः शब्दो नानार्थः, अक्षाः पादाः माषाः" इति "सरूप"० (पा० सू० १।२।६४) सूत्रस्थं भाष्यं विरुध्येतात आह— समानेति । समानाकारत्वमात्रेण=आनुपूर्व्याः ऐक्यमात्रेण शब्दस्य एकत्वव्यवहारात् । एवञ्च न भाष्यासङ्गतिः ।

तादात्म्य से अन्य व्यवहार

अर्थ और शब्द के तादात्म्य से उन उन अर्थों के साथ तादात्म्य को प्राप्त करने वाला शब्द भिन्न होता है, इस कारण—अर्थ के भेद से शब्द का भेद होता है—यह व्यवहार (होता है)। और समानाकार=समान आनुपूर्वी वाला होने से ही तो एक ही यह शब्द बहुत अर्थों वाला है-यह व्यवहार (होता है)। (वास्तव में अर्थ के आधार पर शब्दों का भेद हो जाता है किन्तु आनुपूर्वी एक ही प्रकार की होती है इसी से यह कह दिया जाता है कि यह शब्द बहुत अर्थों वाला है।)

[अपभ्रंशेषु शक्तिसाधनम्]

सा च शक्तिस्साधुष्विवापभ्रंशेष्वपि, शक्तिग्राहकशिरोमणेर्व्यवहारस्य तुल्यत्वात् । व्यवहारदर्शनेन च पूर्वजन्मानुभूतशक्तिस्मरणम् । अत एव बालानां तिरश्चां चान्वयबोधः । न हि तेषां तदैव तत्सम्भवः ।

शक्त्याश्रयविषयकं सिद्धान्तं प्रदर्शयन्नाह—साचेति । वाच्यवाचकभावापरपर्याया शक्तिः । साधुष्विव=शुद्धशब्देष्विव, अपभ्रंशेष्वपि=अपभ्रंशशब्देष्वपि । तत्र हेतुमाह—शक्तिग्राहकेत्यादि । पदानामर्थविषयकशक्तिग्रहे यथा साधुशब्दानां घटादीनां व्यवहारो दृश्यते तथैव असाधूनां गगर्यादिशब्दानामपीति भावः ।

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च ।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥ इति ।

ननु व्यवहारदर्शनं न शक्तिग्राहकम्, उत्पत्तिकाले तद्बोधकशब्दज्ञानाभावात् । शक्तिग्रहाभावे च इष्टसाधनत्वज्ञानाभावेन बालानां स्तनपानादौ प्रवृत्त्यनापत्तिरत आह—व्यवहारेति । प्रवृत्तिं विलोक्य पूर्वजन्मनि अनुभूतायाः शक्तेः स्मरणं कल्प्यते, कारणाभावात् कार्याभाव इति सिद्धान्तात् । अत एव=पूर्वजन्मानुभूतशक्तिस्मरणादेव । बालानाम्=सद्यो गृहीतजन्मनाम, तिरश्चाम्=जडानां पशुपक्ष्यादीनाञ्च, अन्वयबोधः=पदार्थसम्बन्धज्ञानम् । पश्वादीनां जडप्रायाणां स्वस्वजात्यनुसारेणैव प्रतिनियता काचित् प्रतिभा बोध्यते, अतस्तेषामप्यनादिवासनैव बीजमिति भावः । तदैव=जन्मकाले एव, आद्यबोधकाले एव वा, तत्सम्भवः=शक्तिज्ञानसम्भवः, तदानीं शक्तिग्राहकसामग्र्यभावादिति भावः ।

अपभ्रंश शब्दों में शक्ति

और वह (वाच्यवाचकभावरूप) शक्ति साधु=शुद्ध शब्दों के समान अपभ्रंश शब्दों में भी (रहती) है, क्योंकि शक्ति के ग्राहकों=बोधकों में शिरोमणि व्यवहार (दोनों में) तुल्य होता है। और व्यवहार देखने से पूर्वजन्म में अनुभूत शक्ति का स्मरण (मान लेना चाहिये)। (पूर्वजन्म की शक्ति के स्मरण से बोध होता है) इसीलिये बालकों और पक्षियों (तथा पशुओं आदि) का अन्वयज्ञान (देखा जाता है)। क्योंकि उसी (जन्मकाल में या) समय में उन (बालकों आदि) का वह (शक्तिज्ञान) सम्भव नहीं है।

यत्तु तार्किकाः—असाधुशब्देन साधुस्मरणद्वाराऽर्थबोध इत्याहुः। तन्न;साधुस्मरणं विनाऽपि बोधानुभवात्। तद्वाचकसाधुशब्दमजानतां बोधानापत्तेश्च। न च शक्तिभ्रमाद् बोधोऽसाधुशब्देष्विति वाच्यम्, निस्सन्देहप्रत्ययस्य बाधकं विना भ्रमत्वायोगात्। अत एव स्त्रीशूद्रबालादीनामुच्चारिते साधावर्थसंशये तदपभ्रंशेनार्थनिर्णयः। अत एव 'समानायामर्थावगतौ शब्दैश्चापशब्दैश्च शास्त्रेण धर्मनियमः' (म० भा० पस्पशा०) इति भाष्यम्;

वाचकत्वाविशेषेऽपि नियमः पुण्यपापयोः। (वा० प० ३।३।३०)

इति हरिकारिका च सङ्गच्छते। अत एवार्यम्लेच्छाधिकरणं सङ्गच्छते। तत्र हि यद्यपि आर्या यवशब्दं दीर्घशूके प्रयुञ्जते म्लेच्छास्तु प्रियङ्गौ प्रयुञ्जते, तमेव च बुध्यन्ते, तथाऽप्यार्यप्रसिद्धेर्बलवत्त्वाद् वेदे दीर्घशूकपरतैवेति सिद्धान्तितम्। तव तु म्लेच्छबोधस्य शक्तिभ्रममूलकत्वेन भ्रान्तिविषयरजतज्ञानस्येव म्लेच्छप्रसिद्धेर्वस्तवसाधकतयाऽऽर्यम्लेच्छप्रसिद्ध्योः कस्याः बलवत्त्वमिति विचारासङ्गतिः स्पष्टैव।

साधुत्वं च व्याकरणान्वाख्येयत्वं पुण्यजनकतावच्छेदकधर्मवत्त्वं वा। तद्भिन्नत्वमसाधुत्वम्।

तार्किकाः केवलेषु साधुषु शब्देषु शक्तिं स्वीकुर्वन्ति असाधुशब्दैर्बोधविषये प्रकारद्वयं प्रतिपादयन्ति। यदा व्युत्पन्ना असाधुशब्दान् शृण्वन्ति तदा ते तेषां साधुशब्दान् संस्मृत्य बोधं कुर्वन्ति। एवञ्च तेषां बोधः साधुशब्दस्मरणद्वारा। यदा चाव्युत्पन्ना अज्ञा असाधून शब्दान् शृण्वन्ति तदा ते शक्तिभ्रमात् बोधं कुर्वन्ति। भ्रमश्चायं परम्परयेति बोध्यम्। एतन्मतं निराकर्तुमनुवदति—यत्त्विति। असाधुशब्देन=साधुप्रकृतिकापभ्रंशशब्देन, साधुस्मरणात्=साधुशब्दस्य स्मरणद्वारा अर्थस्य ज्ञानं जायते। तन्न=स्मरणद्वाराऽर्थबोधो भवतीति यदुक्तं तन्नेत्यर्थः। तत्र हेतुमाह—साधुशब्दस्य स्मरणमकृत्वापि अर्थबोधोऽनुभूयतेऽतः स्मरणे मानाभावः। नन्वनुभव एव वैमत्यम्, कारणं

विना कार्यानुभवस्य कुत्राप्यदर्शनेन मानाभावश्चेति बोधरूपफलानुरोधेन साधुस्मरणरूप-नियमकल्पनान्न दोषोऽत आह–तद्वाचकशब्दम्=अपभ्रंशबोध्यार्थवाचकसाधुशब्दमजानतां ज्योतिर्विदामन्येषाञ्च शाब्दबोधो न स्यात्। किन्तु तेषां बोधो दृश्यत एव, अतो न साधु-शब्दस्मरणस्यावश्यकता। अव्युत्पन्नानां शक्तिभ्रमाद्बोध इति निरस्यति—नचेति। असाधुशब्देषु साधुशब्दानां शक्तिभ्रमाद्बोधः, पूर्वपूर्वभ्रमाच्चोत्तरोत्तरभ्रम इति पामराणां शक्त्यग्रहेऽपि तेषां भ्रमोपपत्तिरिति तु न वाच्यम्; बाधज्ञानं विना जायमानस्य असन्दिग्धज्ञानस्य भ्रमत्वस्याकल्पनात्। अयं भावः—यस्मिन् ज्ञाने उत्तरकाले बाधो दृश्यते तत्रैव भ्रमः स्वीक्रियते तद्वति तदभावप्रकारकज्ञानस्यैव भ्रमत्वात्। गगर्यादिशब्दानां श्रवणानन्तरम् 'इमे गगर्यादिशब्दाः वाचकत्वाभाववन्तः' इति ज्ञानं न कस्यापि जायते; अतोऽत्र भ्रमस्य वक्तुमशक्यत्वम्। किञ्च घटत्वादिविशिष्टघटादि-रूपार्थनिरूपिताया घटादिपदवृत्तित्वेन गृहीताया भिन्नानुपूर्वीकत्वरूपविशेषदर्शनसत्त्वेन साधारणधर्मदर्शनाभावेन च गगरीपदादौ भ्रमानुपपत्तेः। अतएव=असाधूनामपि बोधकत्वेन शक्तत्वादेव। बालादीनामित्यस्य व्यवहिते 'अर्थसंशयेऽ'न्वयो बोध्यः। उच्चारिते=अन्येन उच्चारिते इत्यर्थः, साधौ=साधुशब्दे, स्त्रीशूद्रबालादीनाम्= संस्कृतशब्दज्ञानरहितजनानामित्यर्थः, अर्थसंशये=अर्थविषयके सन्देहे उत्पन्ने सति, तदपभ्रंशेन=साधुशब्दानामपभ्रंशशब्देन अर्थनिर्णयः। अयं भावः—यदा कश्चित् संस्कृतज्ञो व्यवहारकालेऽपि संस्कृतशब्दं प्रयुङ्क्ते तं श्रुत्वा अज्ञाः स्त्रियो बालाश्च संशयग्रस्ताः भवन्ति। तदा तेषामपभ्रंशशब्दोच्चारणेन अर्थविषयकसंशयो दूरीभवति। यदि असाधवः वाचका न स्युः तदा तैरर्थबोधाजनकत्वेन सन्देहनिराकरणं न स्यात्। अन्ये चेत्थं वर्णयन्ति—संस्कृतज्ञानरहिताः स्त्रियो बालकाश्च यदा कदाचित् संस्कृतशब्दमुच्चारयन्ति तदा अशक्त्यादिकारणैरस्पष्टोच्चारणात् विदुषां संशयो भवति। तदा ते तैः शब्दैःसाधूनां स्मरणादिकं कृत्वार्थबोधं सम्पादयन्ति। असाधूनामवाचकत्वे तु अर्थबोध-निर्णयोऽसम्भव इति बोध्यम्। अतएव=अपभ्रंशानामपि वाचकत्वादेव। अयं भावः—साधुशब्दा असाधुशब्दाश्च समानमेव बोधं जनयन्ति अर्थबोधे न किमपि वैचित्र्यम्। अस्यां स्थितौ व्याकरणशास्त्रं धर्मनियमं करोति–"साधुशब्दैरेव भाषितव्यं नासाधुशब्दैरिति। एवं क्रियमाणमभ्युदयकारि भवति।" (म० भा० पस्पशा०) अनेन भाष्येणापशब्दानां वाचकत्वं सुस्पष्टमेवोक्तम्। साधुशब्दैस्तु अर्थबोधेन सह धर्मोत्पत्तिरपीति विशेषः। वाचकत्वाविशेषेऽपि=साधावसाधौ च वाचकत्वशक्तेस्तुल्यत्वेऽपि, व्याकरणशास्त्रेण, पुण्यपापयोः=धर्माधर्मयोः, नियमः=साधुभिर्भाषितव्यं नासाधुभिरित्याकारकः नियमः क्रियते। हरिकारिका=वाक्यपदीयकारिका, सङ्गच्छते=संगता भवति। मीमांस-कानामपि सम्मतिमाह—अतएवेति। अपभ्रंशानां वाचकत्वादेवेति। अधिकरणं नाम–विषय-सन्देह-पूर्वपक्ष सिद्धान्तप्रतिपादको वेदवाक्यार्थनिर्णायको वाक्यविशेषः।

आर्यम्लेच्छावधिकृत्य प्रवृत्तमधिकरणमार्यम्लेच्छाधिकरणमित्युच्यते। मीमांसाशास्त्रीयानेनाधिकरणेनापभ्रंशानामशक्तत्वम् (अवाचकत्वं) न प्रतिपाद्यते किन्तु वेदार्थनिर्णयविषये तदधिकारित्वाद् वैदिकार्थसन्देहे सति आर्याः यं शब्दं यस्मिन्नर्थे प्रयुञ्जते तस्य शब्दस्य स एवार्थः ग्राह्य इति निर्णयो बोध्यते। इदमेव प्रतिपादयति—तत्र=आर्यम्लेच्छाधिकरणे, आर्याः=शिष्टाः, दीर्घशूके=दीर्घाः शूकाः (यवस्योपरि उभयभागे स्थिताः कण्टकाः) येषां ते इत्यर्थः। प्रियङ्गौ=धान्यविशेषे (कंगनी इति प्रसिद्धे)। म्लेच्छाः=अपशब्दवक्तारः। आर्यास्तु शिष्टाः। तदुक्तं महाभाष्ये "के पुनः शिष्टाः? वैयाकरणाः। कुत एतत्? शास्त्रपूर्विका हि शिष्टिः, वैयाकरणाश्च शास्त्रज्ञाः। यदि तर्हि शास्त्रपूर्विका शिष्टिः, शिष्टिपूर्वकं च शास्त्रम्, तदितरेतराश्रयं भवति; इतरेतराश्रयाणि च कार्याणि न प्रकल्पन्ते। एवं तर्हि निवासतश्चाचारतश्च। स चाचार आर्यावर्ते एव। कः पुन आर्यावर्तः? प्रागादर्शात् प्रत्यक्कालकवनात्। दक्षिणेन हिमवन्तमुत्तरेण पारियात्रम्। एतस्मिन्नार्यावर्त्ते निवासिनो ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्या अलोलुपा अगृह्यमाणकारणाः, किञ्चिदन्तरेण कस्याश्चिद्विद्यायाः पारङ्गतास्तत्रभवन्तः शिष्टाः।" (मभा.६।१।१०९) तव तु=अपभ्रंशेषु शक्तिमस्वीकुर्वतो नैयायिकस्य तु। म्लेच्छबोधस्य=अपशब्दवक्तृज्ञानस्य। अयमाशयः—नैयायिका अपभ्रंशेषु शक्तिं न स्वीकुर्वन्ति, म्लेच्छाश्च अपभ्रंशशब्दानेव प्रयुञ्जते। नैयायिकमतानुसारेण यवशब्दात् म्लेच्छानां यो बोधो भवति स साधुशब्दभ्रमादेव। एवञ्चायं बोधः शक्तिभ्रमजन्य एवेति वक्तव्यम्। तथा च शुक्तौ रजतत्वभ्रमवान् पुरुषस्तेन रजतेन किञ्चिदपि कार्यं कर्तुं न प्रभवति। तस्य ज्ञानं न किमपि साधकं भवति तथैव म्लेच्छप्रसिद्धिर्भ्रममूलिका वस्त्वसाधिका। यत्र च वस्तुसाधकयोः द्वयोः समवधानं भवति तत्रैवैकस्य बलवत्ताऽपरस्य चाबलवत्त्वं भवति। अत्र च म्लेच्छानां प्रसिद्धिर्भ्रममूलिका, तेन वस्त्वसाधिका। एवञ्च बलाबलविचारप्रसक्त्यभावेन तदसङ्गतिर्नैयायिकमते दुरुद्धरा। विस्तरस्तु लघुमञ्जूषादौ द्रष्टव्यः।

नन्वपभ्रंशानां शक्तत्वस्वीकारे साधुत्वापत्तिरत आह—साधुत्वं चेति। व्याकरणान्वाख्येयत्वम्=शब्दशास्त्रस्य व्युत्पादनमार्गेणानुसन्धेयत्वम्। चार्थे 'वे'ति बोध्यम्। पुण्यजनकताया अवच्छेदको यो धर्मस्तद्वत्त्वञ्चेत्यर्थः। तद्भिन्नम्=पूर्वोक्तसाधुत्वाद्भिन्नं पापजनकतावच्छेदकधर्मवत्त्वमिति यावत्।

ननु किमिदं साधुत्वं नाम यदपभ्रंशेषु नास्ति। न च व्याकरणनिष्पाद्यत्वं नव्यनैयायिकोक्तं तदिति वाच्यम्; अनुकरणे शब्दमात्रस्य व्याकरणनिष्पाद्यत्वेन सर्वत्र साधुत्वापत्तौ साध्वसाधुविभागोच्छेदापत्तेः। न च यः शब्दो यत्रार्थे व्याकरणव्युत्पन्नः स तत्र साधुः, तद्व्युत्पन्नत्वग्रहश्च क्वचित् स्पष्टोपलभ्यमानव्याकरणात् क्वचित् शिष्टप्रयोगकोशादिभिरनुमानात् तस्य च बाहुलकादिना सङ्ग्रहः। यथा पुष्पवन्तपदं साहित्यावच्छिन्नोभयविषयकार्थबोधे एव साधु, नैकतरार्थमात्रबोधे। यथा वा दारशब्दो

बहुवचनान्त एव साधुर्नान्यवचनान्तो, यथा वा वच्धातुस्तिप्तस्पर एव साधुर्नान्तिपर इति वाच्यम्, लाक्षणिकानां तत्तदर्थे व्युत्पादनविरहेण तेषां तत्र साधुत्वानापत्तेः। एतेन शक्तत्वमेव साधुत्वमित्यप्यपास्तम्। तत्त्वाज्ञानेऽपि साधुत्वव्यवहाराच्चापभ्रंशेष्वतिव्याप्तेश्च। परमते समासादौ प्रकृतिप्रत्ययसमुदाये च शक्त्यभावेन तस्यासाधुतापत्तेश्च। प्रत्येकशक्तिमादाय साधुत्वे च 'बाधते' इत्यादिवद् 'बाधति' इत्यादेरपि साधुतापत्तेश्च, द्योतकेष्वव्याप्तेश्च। ननु औपसन्दानिकी शक्तिरेव द्योतनेति चेन्न, उपसन्दीयते इत्युपसन्दानं समभिव्याहृतपदं, तद्वृत्तिशक्त्युद्बोधकत्वमिति तदर्थसत्त्वेन तेषु शक्त्यभावात्। एतेन वृत्तिमत्त्वं तदित्यपि परास्तमित्यन्यत्र विस्तरः।

नन्वपभ्रंशानां शक्तत्वेऽर्थवत्त्वात् प्रातिपदिकत्वापत्तिरिति चेत्, इष्टापत्तिरिति भूषणकारादयः। मञ्जूषाकारास्तु—"साध्वनुशासनेऽत्र" (म० भा० १।१।१) इति भाष्योक्तेरर्थवत्त्वेन साधूनामेव संज्ञाविधावुद्देश्यत्वमिति नासाधुषु प्रातिपदिकसंज्ञेत्याहुः। विस्तरस्तु लघुमञ्जूषादौ द्रष्टव्यः।

अपभ्रंशों में शक्तिविरोधी नैयायिक-मत का खण्डन

असाधु (अपभ्रंश) शब्द से साधु (शुद्ध) शब्द के स्मरण द्वारा अर्थ का बोध होता है—ऐसा जो नैयायिक कहते हैं, वह (नैयायिक-मत) ठीक नहीं हैं, क्योंकि असाधु शब्दों से साधु शब्द के स्मरण के विना भी (अर्थ के) ज्ञान का अनुभव (होता) है और उस (असाधु शब्द से बोध्य अर्थ) के वाचक साधु शब्द को न जाननेवालों को बोध नहीं हो सकेगा। (जबकि बोध होना अनुभवसिद्ध है।) (साधु शब्दों की) शक्ति के भ्रम से असाधु शब्दों में बोध होता है—ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि किसी बाधक के बिना असन्दिग्ध ज्ञान भ्रम नहीं हो सकता। (असाधु शब्दों में शक्ति स्वीकार की जाती है) इसीलिये स्त्री, शूद्र एवं बालकों आदि के उच्चरित साधु शब्द में अर्थविषयक सन्देह होने पर उस (साधु) के अपभ्रंश (शब्द) के द्वारा अर्थ का निर्णय किया जाता है।

विमर्श—आशय यह है कि सामान्यज्ञान वाली स्त्रियाँ एवं बालक आदि अज्ञानता या अशक्ति के कारण संस्कृत शब्दों का स्पष्ट उच्चारण नहीं कर पाते हैं। अतः उनके द्वारा उच्चारित शब्दों से विद्वानों के ज्ञान में सन्देह उत्पन्न होता है। अतः उन अस्फुट अशुद्ध शब्दों से अपभ्रंशों का स्मरण करके अर्थ का निर्णय किया जाता है। यदि अपभ्रंश वाचक ही नहीं होते तो उनके द्वारा अर्थनिर्णय का प्रसङ्ग ही नहीं आता है।

अनु०—(अपभ्रंशों में भी शक्ति रहती ही है) इसीलिये 'शब्द और अपशब्द दोनों के द्वारा समान ही अर्थज्ञान होने पर व्याकरण शास्त्रद्वारा धर्म का नियम किया जाता है" यह भाष्य और—

'वाचकता में अन्तर न होने पर भी पुण्य और पाप के लिये नियम (किया जाता) है।'

यह भर्तृहरि की कारिका सङ्गत होती है। (अपभ्रंशों में शक्ति होती है) इसी लिये (मीमांसा-शास्त्र का) आर्यम्लेच्छाधिकरण सङ्गत होता हैं। क्योंकि उस (अधिकरण) में 'यद्यपि आर्य लोग यव शब्द को दीर्घशूक (दोनों ओर लगे हुये लम्बे काटों वाले धान्य) के विषय में प्रयुक्त करते हैं किन्तु म्लेच्छ (आर्यों से भिन्न) लोग तो प्रियङ्गु (एक धान्यविशेष कंगनी) के विषय में प्रयुक्त करते हैं और इसे ही समझते हैं तथापि आर्यों में होने वाली प्रसिद्धि के बलवती होने के कारण वेद में (यव शब्द का) दीर्घशूकपरक होना ही है,' यह निर्णय किया गया। (अपभ्रंश में शक्ति न मानने वाले) तुम्हारे (अनुसार) तो म्लेच्छों का बोध शक्तिभ्रम-मूलक होने से, भ्रान्ति के विषय रजतज्ञान के समान, म्लेच्छों की प्रसिद्धि वस्तु की साधक नहीं होती है; इस कारण से आर्य-प्रसिद्धि और म्लेच्छप्रसिद्धि इन दोनों में कौन बलशाली है—इस विचार की असङ्गति स्पष्ट ही है।

विमर्श—केवल साधु शब्दों में शक्ति स्वीकार करने वाले नैयायिकों के मत में म्लेच्छ को यव शब्द से होनेवाला प्रियङ्गु-विषयक ज्ञान शक्तिभ्रम जन्य ही होगा, वास्तविक नहीं। इसलिये शुक्ति में रजतभ्रम वाले व्यक्ति का वह रजत जैसे किसी कार्य का साधक नहीं होता है उसी प्रकार भ्रममूलक होने से म्लेच्छों की प्रसिद्धि भी किसी वस्तु की साधिका नहीं हो सकेगी। और जहाँ दोनों पदार्थ वस्तुसाधक होते हैं वहीं उनके मध्य में एक को बली और दूसरे को निर्बल माना जाता है। एक के प्रधान होने पर ही दूसरा अप्रधान होता हैं। किन्तु यहाँ म्लेच्छप्रसिद्धि भ्रमजन्य है। अतः दोनों के तुल्यबल न होने से बलाबल-विचार का अवसर ही नहीं आता है।

साधुत्व का स्वरूप—

अनु०—और साधुत्व—व्याकरण शास्त्रद्वारा अन्वाख्येय होना अथवा पुण्यजनकता के अवच्छेदक धर्मवाला होना है। इससे भिन्न होना असाधुत्व है। (अर्थात् जिसका अन्वाख्यान व्याकरण से किया जाता है और जो पुण्यजनकधर्म से युक्त होता है, वह शब्द साधु होता है। अन्वाख्यान = प्रकृति-प्रत्ययादिविभाग-ज्ञानपूर्वक रूपसिद्धि आदि करना।)

सा च शक्तिस्त्रिधा, रूढिर्योगो योगरूढिश्च। शास्त्रकल्पितावयवार्थभानाभावे समुदायार्थनिरूपितशक्ती रूढिः, यथा मणिनूपुरादौ। शास्त्रकल्पितावयवार्थनिरूपिता शक्तिर्योगः, यथा पाचकादौ। शास्त्रकल्पितावयवार्थान्वितविशेष्यभूतार्थनिरूपिता शक्तिर्योगरूढिः, यथा पङ्कजपदे। तत्र पङ्क-

जनिकर्तृ पद्ममिति बोधात्। पद्मेऽनुपपत्तिप्रतिसन्धानं सम्बन्धप्रतिसन्धानं च विना न लक्षणावसरः। क्वचित् तात्पर्यग्राहकवशात् केवलरूढ्यर्थस्य केवलयोगार्थस्य च बोधः "भूमौ पङ्कजमुत्पन्नम्" कह्लारकैरवमुखेष्वपि पङ्कजेषु" इत्यादौ। स्पष्टं चेदम् 'आर्हाद्' [पा० सू० ६।१।१९] इति सूत्रे भाष्ये।

शक्तेः स्वरूपं निरूप्य विशेषजिज्ञासायां तद्भेदानाह—सा चेति। वैयाकरणसिद्धान्तभूता वाच्यवाचकभावापरपर्याया शक्तिरित्यर्थः। त्रिधा=त्रिप्रकारा। रूढिरिति=शास्त्रकृत्कल्पितानामवयवार्थानां प्रतीत्यभावे यदर्थनिरूपितं बोधकत्वं प्रकृति-प्रत्यय-समुदाय एव, तत्पदे सा तदर्थनिरूपिता रूढिः शक्तिः। पदघटकानामवयवानां स्वार्थानुपकत्वे सति समुदायेनार्थोपस्थापकत्वमिति यावत्। मणिरिति। भ्वादिगणपठित-शब्दार्थक 'मण्' धातोरौणादिक इन् प्रत्ययः। एवमेव स्तुत्यर्थक णूञ् धातोः नवनं नूरिति 'सम्पदादिभ्यः क्विप्' "इति क्विपि, सर्वापहारिलोपे 'नूः' इति। 'अग्रगमनार्थक 'पुर्' धातो "इगुपध" (पा०सू०३।१।१३५) इति 'क' प्रत्यये 'पुर' इति। नुवःपुरः—नूपुरः अत्रोभौ शब्दौ शब्दकर्तृरूपमर्थं स्तुतिसम्बन्ध्यग्रगमनकर्तृरूपं चार्थं न बोधयतः, किन्तु समुदायशक्त्या रत्नविशेषं भूषणविशेषञ्चेति रूढित्वं बोध्यम्। योग इति। यत्र शास्त्रकृत्कल्पितेषु अवयवेषु अर्थनिरूपिता शक्तिः सा योगशक्तिः। पाचकादौ=पाकार्थक 'पच्' धातोः कर्त्रर्थे ण्वुलि (अके) पाचक इति। अत्र धातोः प्रत्ययस्य चार्थौ, तन्निरूपिता शक्तिर्वर्तते। योगरूढिरिति=शास्त्रकृत्कल्पितावयवार्थेषु अन्वितो यो विशेष्यभूतार्थस्तन्निरूपितं समुदायबोधकत्वं यत्र सा शक्तिः योगरूढिः। यथा पङ्कजपदे। अत्रावयवार्थानां 'पङ्के जायते' 'इत्यादीनां समुदायार्थस्य च युगपद्बोधो जायते। एवञ्च यत्रावयवशक्ति-समानाधिकरणा समुदायशक्तिस्तत्र योगरूढि.। यथाऽत्र पङ्कजनिकर्तृत्वान्वितं विशेष्यं पद्ममिति भावः। ननुः पङ्कजपदादपि कदाचिल्लक्षणया कुमुदबोध इष्ट एव। तथा च सर्वसाधारणी शक्तिरेवास्तु, पद्मत्वविशिष्टरूपार्थविशेषपरतायां तु लक्षणैवास्तु, किं समुदायशक्त्याऽत आह—पद्म इति। एवञ्चात्र लक्षणाया बीजाभाव एव बोध्यः। केवलरूढ्यर्थबोधमाह-भूमौ पङ्कजमिति। अत्र पङ्के जायते इति योगार्थस्य बाधः। केवलयोगार्थमाह—कह्लारम्=सौगन्धिकं ह्रस्वकमलम्। कैरवम्=कुमुदम्, मुखेषु=प्रभृतिषु। अत्र 'पङ्केजायते' इति योगार्थ एव कह्लारकैरवादौ न तु रूढिरिति भावः। भाष्ये इति। "आर्हाद्" (पा० सू० ६।१।१९) इति सूत्रे भाष्ये परिमाणशब्दस्य सर्वतो माने प्रस्थादौ योगरूढिरित्युक्त्वा "तदस्य परिमाणम्" (पा०सू०५।१।५७) "सङ्ख्यायाः संज्ञा" (पा० सू० ५।१।५८) इति सूत्रयोर्विशेष्यविशेषणभावानुपपत्तिमाशङ्क्य "वचनादीयती विवक्षा भविष्यती" त्युक्तम्। "रूढिपरित्यागेन परिच्छेदकत्वमात्रमाश्रयिष्यत इत्यर्थः" इति कैयटः।

शक्ति के तीन भेद और उनका स्वरूप—

और वह (वैयाकरणों में प्रसिद्ध) शक्ति तीन प्रकार की है—(१) रूढि, (२) योग और (३) योगरूढि । १:—शास्त्र में कल्पित अवयवों के अर्थ का भान न होते हुये समुदाय के अर्थ की बोधिका शक्ति रूढि है। जैसे —मणि और नूपुर आदि में। (इनमें, मण् धातु और इन् प्रत्यय का अलग-अलग कोई अर्थ नहीं है। समुदाय से रत्नविशेष का ज्ञान होता है। इसी प्रकार नू तथा पुर का अलग-अलग कोई अर्थ नहीं है। समुदाय से ही पैरों में पहने जाने वाले आभूषणविशेष का ज्ञान होता है।) २:—शास्त्र में कल्पित अवयवों के अर्थ की प्रतिपादिका शक्ति योग है। जैसा—पाचक आदि में है। (पाचक शब्द में पच् धातु का अर्थ पाकक्रिया और ण्वुल्=अक प्रत्यय का अर्थ कर्त्ता है। इस प्रकार पाक-क्रिया-कर्त्ता—यह अवयवों का अर्थ प्रतीत होता है।) ३:—शास्त्र में कल्पित अवयवों के अर्थों से अन्वित (सम्बद्ध) विशेष्यभूत अर्थ की प्रतिपादक शक्ति योगरूढि है। जैसा—पङ्कज पद में है। क्योंकि यहाँ पङ्कजनिकर्त्ता पद्म (पङ्क में जन्म लेने वाला पद्म)—यह बोध होता है। (अर्थात् जहाँ अवयवशक्ति की समानाधिकरण समुदाय शक्ति है, जैसे —पङ्कात् जायते इति पङ्कजम्=पङ्क से जन्म लेने वाला (जनि का कर्ता) पद्म-यह अर्थ अवयवों एवं समुदाय दोनों से प्रतीत होता है। ऐसे स्थलों पर योगरूढि मानी जाती है।) (पङ्कज शब्द लक्षणा द्वारा पद्म=कमल अर्थ का बोध कराये, योगरूढि मानने की कोई आवश्यकता नहीं है—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि तात्पर्य —) अनुपपत्ति के प्रतिसन्धान के विना और (शक्य के) सम्बन्ध के प्रतिसन्धान के विना पद्म में लक्षणा करने का कोई अवसर नहीं है। 'भूमि में पङ्कज उत्पन्न हुआ' 'कह्लार=सुगन्धयुक्त छोटा कमल, कैरव=कुमुद, मुख=आदि पङ्कजों में' इत्यादि में कहीं-कहीं तात्पर्यबोधक के कारण केवल रूढ्यर्थ का और कहीं केवल योगार्थ का ज्ञान होता है। (प्रथम उदाहरण में केवल रूढ्यर्थ=पद्म का और द्वितीय में केवल योगार्थ=पङ्क से उत्पन्न होने वाले का बोध होता है।) और यह (तात्पर्यवश योगार्थ या रूढ्यर्थ किसी एक का बोध होना) "आर्हाद्" (पा० सू० ६।१।१९) सूत्र भाष्यमें स्पष्ट किया गया है।

अश्वगन्धादिपदमोषधिविशेषे रूढम्, अश्वसम्बन्धिगन्धवत्तया वाजिशालाबोधे यौगिकम्। इदं यौगिकरूढमित्युच्यते। एवं मण्डपपदं गृहविशेषे रूढं, मण्डपानकर्त्तरि यौगिकम्।

अर्थभेदाच्छब्दभेद इति मते उक्तान्तर्भावसम्भवान्न तुरीयोऽतिरिक्तः शब्द इति नैयायिकाद्युक्तश्चतुर्धा तद्विभागोऽसमीचीन अत आह—अश्वगन्धेति। 'गन्धो गन्धक' इत्यादि-कोशानुसारं सम्बन्धार्थको गन्धशब्दोऽत आह—अश्वसम्बन्धीति। अश्वस्य

सम्बन्धिगन्धवत्तयाऽयं शब्दो वाजिशालाया अपि बोधकमिति भावः। लघुमञ्जूषायान्तु—"अश्वसम्बन्धवत्तया वाजिशालाबोधे" अत्र तु "अश्वसम्बन्धिगन्धवत्तया वाजिशालाबोधे यौगिकम्" इति पाठः। इदमेव नैयायिकादिभिर्योगरूढत्वेनाङ्गीक्रियते। अर्थभेदेऽपि शब्दैक्यमिति मतेन समानाकारत्वमात्रेण चाह—इदमिति। इदमेवेत्यर्थः। नत्वतिरिक्तः स तद्भेद इति भावः।

अश्वगन्धा आदि पद औषधिविशेष अर्थ में रूढ हैं, अश्वसम्बन्धी गन्धवाला होने से 'अश्वशाला' के बोध में यौगिक हैं। यह यौगिकरूढ कहा जाता है। इसी प्रकार मण्डप पद गृहविशेष अर्थ में रूढ है और मण्डप=मांड़ पीने वाला—इस अर्थ में यौगिक है। (इस लिए यह यौगिकरूढ कहा जाता है। अतः अतिरिक्त भेद मानने की आवश्यकता नहीं है।)

सैषा शक्तिः संयोगादिभिर्नानार्थेषु नियम्यते।

तदुक्तं हरिणा—

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥ इति॥

[वा० प० २।३१७, ३१८]

एते संयोगादयो नानार्थेषु शब्देषु शब्दार्थस्यानवच्छेदे=सन्देहे तदपाकरणद्वारा विशेषार्थनिर्णायका इति तदर्थः।

पूर्वं बोधे तात्पर्यग्राहकमुक्तं किं तदित्याकाङ्क्षायां प्रसिद्धानि तानि निरूपयितुमाह—सेति। त्रिविधेति भावः, नानार्थेषु=नानार्थकशब्देषु, नियम्यते=नियन्त्रिता क्रियते। हरिणा=भर्तृहरिणा वाक्यपदीये इति शेषः। संयोगः=प्रसिद्धः सम्बन्धः, इदञ्च उदाहरणे स्पष्टम्। विप्रयोगः=प्रसिद्धसम्बन्ध-विच्छेदः, साहचर्यम्=सादृश्यम्, न तु सहचरणं, भाष्यविरोधात्। अन्ये काव्यप्रकाशकारादयः—साहचर्यम्=सहचरणम्, एकत्र कार्ये प्रसिद्धं परस्परसापेक्षत्वमित्याहुः। तद् भाष्यविरोधान्न समीचीनम्। सहचरस्य भावः साहचर्यम्, सहचरणं च प्रायेण सदृशयोः सदृशानामेव वा दृष्टमिति साहचर्यशब्देन सादृश्यमुच्यते। विरोधिता=विरोधः, अर्थः=पदार्थः, अत्रार्थपदेनान्यथा साध्यं प्रयोजनमपि बोध्यम्। प्रकरणम्=वक्तृश्रोतृबुद्धिः, लिङ्गम्=संयोगातिरिक्तसम्बन्धेन सम्बद्ध इतरव्यावर्तको धर्मविशेषः, एकशक्यगतः साक्षाद् शब्दवेद्यो धर्मविशेष इति यावत्। सन्निधिः=नानार्थकपदस्यैकार्थमात्रवाचक-पदसमभिव्याहारः।

सामर्थ्यम् = कारणत्वम्, तच्च द्विविधं शब्दगतमर्थगतञ्च। औचिती = योग्यता। देश: = ग्रामादि:। काल: = दिवसादि:। व्यक्ति: = पुंनपुंसक-स्त्रीत्वानि। स्वर: = उदात्तादय:। आदिशब्देन षत्व-सत्व-णत्व-नत्वादीनि बोध्यानि। स्वयं व्याख्यातुमुपक्रमते – एते इति। संयोगादय: नानार्थकेषु शब्देषु शब्दार्थस्य अनवच्छेदे = अनिश्चये, अत्र कतमोऽर्थ: ग्राह्य:? इत्याकारके सन्देहे सति तदपाकरणद्वारा = तन्निवारणपूर्वकं विशेष-स्मृतिहेतव: = विशेषार्थस्य निर्णायका भवन्ति। परेतु—एषु सामर्थ्यमेवैकं मुख्यं निर्णायकं संयोगादयस्तद्-व्यञ्जकप्रपञ्च:, तै: सामर्थ्यस्यैवाभिव्यक्तेरित्याहु:।

शक्ति के नियामक—

यह (वाच्यवाचकभाव) शक्ति नानार्थक शब्दों में संयोगादि (निम्नलिखित कारणों) के द्वारा (किसी एक अर्थ में) नियमित कर दी जाती है। जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है—

(१) संयोग (२) विप्रयोग (३) साहचर्य=सादृश्य या एक काल एक देश में स्थित होना (४) विरोधिता = विरोध (५) अर्थ=प्रयोजन (६) प्रकरण= वक्ता श्रोता का बुद्धिस्थ होना (७) लिङ्ग=संयोग से भिन्नसम्बन्ध से सम्बद्ध, अन्य पक्ष का व्यावर्तक धर्मविशेष (८) अन्य शब्द की सन्निधि=सन्निधान (९) सामर्थ्य= कारणता (१०) औचिती=योग्यता (११) देश=ग्रामादि स्थान (१२) काल= समय (१३) व्यक्ति=पुँल्लिङ्गत्व स्त्रीलिङ्गत्व आदि (१४) (उदात्त आदि) स्वर आदि—(ये) अनेकार्थक शब्दों के अनवच्छेद=सन्देह में विशेष अर्थ की स्मृति= बोध में हेतु (होते) हैं।

ये संयोगादि नानार्थक शब्दों में किसी शब्द के अर्थ का अनवच्छेद = सन्देह होने पर उसे दूर करते हुये विशेष अर्थ के निर्णायक होते हैं। यह इन (दोनों कारिकाओं) का अर्थ है।

संयोगविप्रयोगयोरुदाहरणे सवत्सा धेनुरवत्सा धेनुरिति। साहचर्यस्य रामलक्ष्मणाविति। साहचर्यं सादृश्यं सदृशयोरेव सहप्रयोग इति नियमात्। रामार्जुनगतिस्तयोरित्यादौ विरोधेन तत्। 'अञ्जलिना जुहोति' 'अञ्जलिना सूर्यमुपतिष्ठत' इत्यत्र जुहोतीत्यादिपदार्थवशाद् अञ्जलिपदस्य तत्तदाकाराञ्जलिपरत्वम्। सैन्धवमानयेत्यादौ प्रकरणेन तत्। 'अक्ता: शर्करा उपदधाति' इत्यादौ 'तेजो वै घृतम्' इति घृतस्तुतिरूपाल्लिङ्गादक्ता इत्यस्य घृतसाधनकाञ्जनपरत्वम्। रामो जामदग्न्य इति जामदग्न्यपदसन्निधानाद्राम: =परशुराम:। 'अभिरूपाय कन्या देया' इत्यादौ अभिरूपतरायेति सामर्थ्यात् प्रतीयते।

यश्च निम्बं परशुना यश्चैनं मधुसर्पिषा ।
यश्चैनं गन्धमाल्याद्यैः सर्वस्य कटुरेव सः ।।

इत्यत्रौचित्यात् परशुनेत्यस्य छेदनार्थत्वम्, मधुसर्पिषा इत्यस्य सेचनार्थत्वम्, गन्धमाल्याद्यैरित्यस्य पूजनार्थत्वम् । 'भात्यत्र परमेश्वर' इत्यत्र राजधानीरूपदेशात्परमेश्वरपदं राजबोधकम् । चित्रभानुर्भातीत्यादौ रात्रावग्नौ दिवा सूर्ये । व्यक्तिर्लिङ्गम् । मित्रो भाति मित्रं भातीत्यादावादौ सूर्योऽन्त्ये सुहृत् । स्थूलपृषतीमित्यादौ स्वरात्तत्पुरुषबहुव्रीह्यर्थनिर्णयः ।

।। इति शक्तिनिरूपणम् ।।

एतेषां संयोगादीनामुदाहरणानि प्रदर्शयति—संयोग इति । धेनुशब्दस्य नवप्रसूतामात्रवाचकत्वेनेदमुक्तम् । यदाऽयं धेनुशब्दो नवप्रसूतगवीमात्रवाचक उच्यते तदा 'सशङ्खचक्रो हरिरि' त्युदाहरणान्तरं बोध्यम् । अवत्सा धेनुरित्यत्र निषेधस्य प्राप्तिपूर्वकत्वात् प्राप्तेश्च गव्येव सम्भवाद् 'अवत्सा' इत्यनेनापि गौरेवोच्यते । रामलक्ष्मणाविति । सदृशयोरेव सहचरणस्य दृष्टत्वात् लक्षणादिना साहचर्यशब्दस्य सादृश्यार्थकत्वमुच्यते । अत्र दशरथापत्यत्वरूपसादृश्यम् । रामार्जुनगतिस्तयोरित्यत्र परस्परं विरोधेनोभयोर्नियमनं तेन परशुरामकार्तवीर्ययोर्बोधः । पदार्थवशात्=तत्पदानामर्थवशात् अञ्जलिशब्दो विभिन्नाकारकाञ्जलीन् बोधयति । प्रकरणेनेति । 'सैन्धवमानय' इति वाक्ये भोजनप्रकरणे प्रयुक्ते सति लवणं यात्राप्रकरणे चाश्वं बोधयति । तत्=तात्पर्यंनियनमित्यर्थः । अक्ता इति । यद्यपि अक्ताः शब्देनाञ्जनविशिष्टा इति सामान्यार्थं एव बोध्यते तेन तैल-घृतोभयाञ्जनपरकत्वं तथापि "तेजो वै घृतम्" इत्यनेन घृतस्तुतिरूपलिङ्गेन 'अक्ता' इत्यस्य घृतसाधनकाञ्जनपरकत्वं बोध्यते । अस्य प्रसिद्धमुदाहरणं 'कुपितो मकरध्वजः' इत्यत्र समुद्रव्यावृत्तात् कोपात् कामदेवार्थे नियमनमिति बोध्यम् । राम इति । अत्र भृगुपुत्रार्थकसमानाधिकरण-जामदग्न्यपदसन्निधानात् 'राम' शब्दः परशुरामरूपमर्थं बोधयति । अभिरूपेति । कन्या तु सुन्दरायैव वराय प्रदीयतेऽतः 'अभिरूपाय कन्या देया' इत्यत्राभिरूपशब्दसामर्थ्यादभिरूपतरोऽर्थः बोध्यते ।

यश्चेति । अत्रपद्ये परशोः करणकारकत्वेनानेकक्रियाविषयकसन्देहे योग्यतयाऽध्याहारेण छेदनक्रियान्वयित्वम् । एवमेव 'मधुसर्पिषा' इत्यस्यापि कारकत्वेन क्रियासन्देहे योग्यतयाऽध्याहारेण सेचनक्रियान्वयित्वम्,गन्धमाल्याद्यैरित्यत्र च पूजनक्रियान्वयित्वं बोध्यम् । तथा च योग्यतावशादेव तत्तदर्थाः प्रतीयन्ते । परमेश्वर इति । 'अत्र' शब्दो राजधानीरूपदेशार्थे प्रयुक्तस्त्वेन परमेश्वरशब्दो राज्ञो बोधकम् । चित्रभानुर्भातीति । यदा रात्रौ प्रयुज्यते तदाऽग्निरूपोऽर्थः; यदा दिने तदा सूर्यरूपोऽर्थः प्रतीयते । मित्र इति । पुलिङ्गत्वे सूर्यरूपोर्थः नपुंसकत्वे सुहृद्रूपोऽर्थः । स्थूलपृषतीमिति । 'स्थूलपृषतीमाग्निवारुणी-

मनड्वाहीमालभेत' इत्यत्र 'स्थूलपृषतीशब्दे सन्देहः—स्थूला चासौ पृषती च—इति तत्पुरुषः अथवा स्थूलानि पृषन्ति यस्याः सा—इति बहुव्रीहिः। अत्र निर्णयार्थं स्वरो द्रष्टव्यः। यदि पूर्वपदस्य (स्थूलशब्दस्य) प्रकृतिस्वरस्तदा बहुव्रीहिः "बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्" (पा० सू० ६।२।१) इति नियमात्। यदि चान्तोदात्तस्तदा तत्पुरुषः, "समासस्य" (पा० सू० ६।१।२२३) इति नियमात्। अत्र च पूर्वपदस्य प्रकृतिस्वरः (अन्तोदात्तः स्थूलशब्दः), तेन बहुव्रीह्यर्थनिर्णयः। आदिपदेन गृहीतानामुदाहरणानि—'सुसिक्तम्' इत्यत्र 'सुः पूजायाम्' (पा० सू० १।४।९४) इति कर्मप्रवचनीयत्वात् उपसर्गत्वाभावान्न षत्वम्। सुषिक्तमित्यत्रोपसर्गः पूजाभिन्नार्थकः। प्रणायक—इत्यत्र यदा 'प्र' शब्दो णीञ्धातुसम्बद्धस्तदोपसर्गत्वं तेन णत्वसिद्धिः। यदा च प्रशब्दस्य नायक-शब्देन सम्बन्धस्तदा क्रियावाचकशब्देन योगाभावान्नोपसर्गत्वं तेन च न णत्वम्। एवञ्चा-नेन प्रगतनायकवतो देशस्य बोधः।

॥ इति शक्तिनिरूपणम् ॥

नियामकों के उदाहरण

(१) संयोग का उदाहरण—सवत्सा धेनुः (बछड़े सहित गाय)।

(२) विप्रयोग का उदाहरण—अवत्सा धेनुः (बछड़े से रहित गाय)।

विमर्श—यद्यपि धेनु शब्द नवप्रसूतामात्र का वाचक है तथापि वत्स शब्द के संयोग या विप्रयोग से यह केवल गाय का वाचक माना जाता है क्योंकि वत्स—बछड़ा के होने न होने का अवसर गाय के साथ ही है। यदि धेनु शब्द केवल नवप्रसूता गाय का ही वाचक मानते हैं तो 'सशङ्खचक्रो हरिः, अशङ्खचक्रो हरिः' ये उदाहरण समझने चाहिये।

(३) साहचर्य का (उदाहरण है)—रामलक्ष्मणौ। साहचर्य=सादृश्य, क्योंकि सदृशों का ही साथ साथ प्रयोग होता है, यह नियम है। (४)(विरोध का उदाहरण-) 'राम और अर्जुन के समान उनकी स्थिति है' इत्यादि में (दोनों के परस्पर) विरोध के कारण वह (अर्थ का नियमन)होता है। (परस्पर विरोध के कारण ही रामसे परशु-राम का और अर्जुन से कार्तवीर्य का बोध होता है।) (५) 'अञ्जलि से हवन करता है' 'अञ्जलि से सूर्य का उपस्थान करता है,' इनमें 'जुहोति' एवम् 'उपतिष्ठते' इन पदों के अर्थों के कारण अञ्जलि पद उन विशेष आकारवाली अञ्जलियों का बोधक होता है। (अर्थात् हवन करते समय और उपस्थान करते समय अञ्जलि कैसी होनी चाहिये इसका निर्णय साथ में प्रयुक्त क्रियावाचक पद ही करते हैं। अतः अञ्जलि शब्द विशेष विशेष रूप वाली अञ्जलि का बोधक है।) (६) (प्रकरण का उदाहरण—) 'सैन्धव को लाओ' यहाँ प्रकरण के द्वारा वह (अर्थ-नियमन) होता है। (भोजन के

प्रकरण में सैन्धव का अर्थ नमक और यात्रा के प्रकरण में घोड़ा होता है।) (७) (लिङ्ग का उदाहरण —) 'अक्ताः=मिली हुयी शर्कराओं=कंकणों का उपधान करता है' इत्यादि में 'घृत तेज (को बढ़ाने वाला होता है)'—इस घृत के प्रशंसारूप लिङ्ग से 'अक्ताः' यह पद घृतरूप साधनवाले अञ्जन=लेप का बोधक होता है। (अर्थात् घृत से मिले हुये कंकणों का उपधान करे, यह अर्थ होता है।

(८) (अन्य पद के सन्निधान का उदाहरण —) 'रामः जामदग्न्यः (जमदग्नि-पुत्र राम) इसमें जामदग्न्य पद के सन्निधान से राम=परशुराम (माना जाता है)।

(९) सामर्थ्य का उदाहरण—'अभिरूप=सुन्दर रूपवाले को कन्या देनी चाहिये' आदि में सामर्थ्य के कारण अभिरूपतर=सुन्दरतर को (देनी चाहिये)—यह अर्थ होता है (चूँकि कन्या सुन्दर वर को ही दी जाती है अतः उसी का पुनः कथन सुन्दर-तर अर्थ का बोधक हो जाता है।)

(१०) (औचिती=योग्यता का उदाहरण—) जो नीम को फरसे से (काटता है।), और जो इस नीम को मधु एवं घृत से (सींचता है।) और जो इस नीम को गन्ध माला आदि से (पूजता है)—(इन) सभी के लिये यह (नीम) कड़ुवा ही रहता है।

इस में औचिती=योग्यता के कारण 'परशुना' इसका छेदन अर्थ होता है (भाव यह है कि इस श्लोक के पदों में करण में तृतीया हुयी है। करण कारक है। क्रिया के साथ अन्वय होना है। तत्तत् पदार्थों की योग्यता के अनुरूप क्रियाओं की प्रतीति होती है। इसलिये अनेक क्रियाओं का अर्थ प्रतीत होता है।) 'मधुसर्पिषा' इसका सेचन अर्थ होता है और 'गन्धमाल्याद्यैः' इसका पूजन अर्थ होता है (क्योंकि योग्यता के कारण इन्हीं क्रियाओं के साथ करण का अन्वय संगत होता है।

(११) (देश=स्थान का उदाहरण—) 'यहाँ (राजधानी में) परमेश्वर शोभित होता है' इत्यादि में राजधानीरूप स्थान के कारण 'परमेश्वर' पद राजा का बोधक होता है। (परब्रह्म का बोधक नहीं है।)

(१२) (काल का उदाहरण—) 'चित्रभानु चमकता है'—यहाँ (चित्रभानु शब्द) रात्रि में अग्नि अर्थ में और दिन में सूर्य अर्थ में (प्रयुक्त है)।

(१३) (व्यक्ति=पुँल्लिङ्ग आदि का उदाहरण—) 'मित्रो भाति', 'मित्रं भाति' इत्यादि में प्रथम में (पुँल्लिङ्ग के कारण) सूर्य अर्थ और अन्तिम में (नपुंसक लिङ्ग के कारण) सुहृद अर्थ है।

(१४) (स्वर का उदाहरण—) स्थूलपृषती-(मनड्वाहीमालभेत)—इत्यादि में स्वर से तत्पुरुष या बहुव्रीहि के अर्थ का निर्णय होता है। (यदि स्थूलपृषती शब्द अन्तोदात्त है तो तत्पुरुष—स्थूला चासौ पृषती च, और मत्वर्थ में लक्षणा है। और

यदि पूर्वपद का प्रकृतिस्वर है अर्थात् स्थूलशब्द अन्तोदात्त है तो बहुव्रीहि है—स्थूलानि पृषन्ति यस्याः सा—यह विग्रह है।)

विमर्श—भर्तृहरि ने उक्त कारिकाओं में चौदह नियामकों का स्पष्ट उल्लेख करते हुये भी 'आदि' पद का प्रयोग किया है—स्वरादयः। इससे अन्य सभी नियामकों एवं निर्णायकों का संग्रह हो जाता है। षत्व होने और णत्व होने से भी अर्थ परिवर्तित हो जाते हैं, जैसे—सुसिक्तम्—यहाँ 'सु' कर्मप्रवचनीय है। अतः प्रशंसा अर्थ प्रतीत होता है और उससे भिन्न स्थल पर उपसर्ग मानकर षत्व होने पर सुषिक्तम् इसमें निन्दा प्रतीत होती है। इसी प्रकार 'प्रणायकः' 'प्र' उपसर्ग का नीधातु के साथ सम्बन्ध होने से णत्व होता है--प्रणयनक्रिया का कर्ता यह अर्थ होता है और णत्व न होने पर 'प्रनायकः' इससे प्रगतनायकवाले देश का बोध होता है। कहीं-कहीं वक्ता एवं श्रोता आदि की प्रतिभा से भी अन्य अर्थ की प्रतीति होने लगती है।

॥ इस प्रकार शक्तिविवेचन समाप्त हुआ ॥

[अथ लक्षणानिरूपणम्]

ननु लक्षणा कः पदार्थः ? इति चेत्,

अत्र तार्किकाः—

स्वशक्यसम्बन्धो लक्षणा। सा च द्विधा—गौणी शुद्धा च। स्वनिरूपितसादृश्याधिकरणत्वसम्बन्धेन शक्यसम्बन्ध्यर्थप्रतिपादिका गौणी। तदतिरिक्तसम्बन्धेन शक्यसम्बन्ध्यर्थप्रतिपादिका शुद्धा। प्रकारान्तरेणापि सा द्विविधा—अजहत्स्वार्था जहत्स्वार्था च। स्वार्थसंवलितपरार्थाभिधायिकाऽजहत्स्वार्था। तेन छत्रिणो यान्ति, कुन्तान् प्रवेशय, यष्टीः प्रवेशय, काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामित्यादौ छत्रिसहितसेना-कुन्तास्त्रसहितपुरुष-यष्टिसहितपुरुष-काकसहितसर्वदध्युपघातकबोधः।

स्वार्थपरित्यागेनेतरार्थाभिधायिकाऽन्त्या। तत्परित्यागश्च शक्यार्थस्य लक्ष्यार्थान्वयिनाऽनन्वयित्वम्। तेन गां वाहीकं पाठयेत्यादौ गोसदृशलक्षणायामपि न गोस्तदन्वयिपाठनक्रियान्वयित्वम्।

शाब्दिकसम्मतां शक्तिं तद्भेदान् अर्थनिर्णयहेतूंश्च निरूप्य वृत्तेर्द्वितीयभेदं लक्षणां निरूपयति—नन्विति। अत्र 'तार्किका' इत्यस्य दूरस्थेन "आहुरि"त्यनेन सम्बन्धः। नैयायिकाभिमतं लक्षणास्वरूपमाह—स्वेति। अत्र 'शक्यसम्बन्धो लक्षणा' इति तत्स्वरूपम्। लाक्षणिकत्वेनाभिमतं पदं 'स्व' शब्देन ग्राह्यम्; एवञ्च स्वस्य=लाक्षणिकस्यार्थस्य, शक्येन=शक्त्योपस्थितार्थेन सह, सम्बन्धः=सामीप्यादिः, स लक्षणा।

यदा 'शक्यसम्बन्ध' इत्येवोच्यते तदा शक्यस्य=शक्त्योपस्थितस्यार्थस्य, सम्बन्धः=सामीप्यादिः लाक्षणिकेन सहेति बोध्यम्। समन्वयश्च–गङ्गायां घोष इत्यत्र गङ्गापदस्य प्रवाहविशेषरूपे शक्यार्थे घोषस्यान्वयानुपपत्तिस्तात्पर्यानुपपत्तिर्वा यत्र प्रतिसन्धीयते तत्र लक्षणया तटरूपस्यार्थस्य बोधः। विस्तरस्त्वन्यत्रानुसन्धेयः। सा=लक्षणा। स्वम्=शक्यम्, तन्निरूपितं यत् सादृश्यम्, तस्य अधिकरणत्वसम्बन्धेन शक्यसम्बद्धस्यार्थस्य प्रतिपादिका गौणी। सादृश्यसम्बन्धेन योऽर्थः शक्यसम्बद्धस्तस्य लक्ष्यार्थस्य प्रतिपादिका गौणीत्यर्थः। सादृश्यातिरिक्तसम्बन्धेन सामीप्यादिरूपेण शक्यसम्बद्धो यो लक्ष्यार्थस्तत्प्रतिपादिका शुद्धेति भेदद्वयवती लक्षणा सम्पद्यते। प्रकारान्तरेणापीति। अपिः पूर्वसमुच्चये। सा=गौणी शुद्धा च द्विविधा=द्विविधापि लक्षणा प्रत्येकं पुनर्भेदद्वयवतीति बोध्यम्। (१) जहत्स्वार्था=जहति (=परित्यजन्ति) स्वानि (=पदानि) यम् (अर्थम्) स जहत्स्वः (अर्थः), जहत्स्वोऽर्थो यस्यां (लक्षणायां) सा जहत्स्वार्था, (२) जहत्स्वार्था न भवतीति—अजहत्स्वार्था। एवं च शक्तपदानामर्थस्यागात्यागाभ्यां द्वैविध्यम्। तत्राद्यामाह–-स्वार्थेति। स्वम्=शक्यम्, तस्यार्थेन संवलितो विशिष्टो यः परार्थः=लक्ष्यार्थः, तस्याभिधायिका=प्रतिपादिकाऽजहत्स्वार्था। शक्त्यार्थापरित्यागेनान्यार्थलक्षणमजहत्स्वार्था। शक्यार्थस्यापरित्यागश्च—शक्यार्थस्य येन केनापि रूपेण लक्ष्यार्थान्वयिनाऽन्वयित्वम्। तेन=शक्यलक्ष्योभयसाधारणरूपेण लक्ष्यार्थान्वयिना शक्यार्थान्वयित्वस्यैव 'स्वार्थसंवलित' पदार्थत्वेन (=अत्यागपदार्थत्वेन)। छत्रिणो यान्तीत्यत्र एकसार्थवाहित्वेन रूपेण यथा लक्ष्याणामच्छत्रिणां—गमनेऽन्वयो भवति तथैव शक्यानां छत्रिणामपि। एवञ्च स्वार्थसंवलितपरार्थस्य बोधेनाजहत्स्वार्थात्वमुपपद्यते। कुन्तान् प्रवेशयेत्यादौ कुन्तधारिणि पुरुषे संयोगेन कुन्तो विशेषणम्, एवञ्च प्रवेशक्रियायां यथा लक्ष्याणां कुन्तधारिणामन्वयस्तथैव कुन्तानामपि कुन्तवद्विशेषणतयान्वयो भवति। एवमेव यष्टीः प्रवेशयेत्यादावपि यष्टिवद्विशेषणतया यष्टीनामपि अन्वयः सूपपाद्यः। काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामित्यादावपि काकपदस्य दध्युपघातकत्वावच्छिन्ने लक्षणया लक्ष्यतावच्छेदक-दध्युपघातकत्वरूपेण विडालादीनामिव काकस्यापि अन्वयादेषु सर्वेषु अजहत्स्वार्थैवेति बोध्यम्। अत्र सर्वत्र स्व (=शक्य -)—अर्थ-सम्वलित-पर-(लक्ष्य)- अर्थाभिधायिकत्वेनाजहत्स्वार्थैवेति सिद्धमिति भावः।

जहत्स्वार्थामाह—स्वार्थेति। स्वार्थः=शक्यार्थः, शक्यार्थपरित्यागपूर्वकं लक्ष्यार्थाभिधायिकत्वं जहत्स्वार्थात्वम्। तत्परित्यागश्च=शक्यार्थस्य परित्यागश्च। लक्ष्यार्थान्वयिना=यस्मिन् क्रियादौ लक्ष्यार्थस्यान्वयो भवति तेन, अनन्वयित्वम्=अन्वयाभावः। तेन=उक्तार्थस्वीकारेण, तदन्वयिपाठनक्रियान्वयित्वम्=लक्ष्यार्थगोसदृशान्वयिनी पाठनक्रिया, तस्यामन्वयित्वम्।

लक्षणा का विवेचन—

लक्षणा कौन पदार्थ है ? (लक्षणा किसे कहते हैं ?) यदि ऐसा (प्रश्न करते हो) तो इस (प्रश्न के उत्तर) में नैयायिक कहते हैं—

स्व के शक्य का सम्बन्ध लक्षणा है ।

विमर्श—लाक्षणिक रूप से जो अभिप्रेत है उस शक्त का ग्रहण 'स्व' शब्द से करना चाहिये । जैसे—'गङ्गायां घोषः' यहाँ लाक्षणिकरूप से अभिप्रेत गङ्गा पद है, इसका अर्थ=शक्य है जलप्रवाहविशेष, उसके साथ तट का जो सामीप्य सम्बन्ध है, वही लक्षणा है । और लक्षणावृत्ति के द्वारा गङ्गापद तट अर्थ का बोध करवाता है ।

अनु०—और वह लक्षणा दो प्रकार की होती है—(१) गौणी और (२) शुद्धा । स्व=शक्यार्थ से निरूपित सादृश्य के अधिकरणत्व-सम्बन्ध से शक्यसम्बन्धी अर्थ का प्रतिपादन (बोधन) कराने वाली गौणी है । (अर्थात् शक्यार्थं का सादृश्य मानकर उस सादृश्यसम्बन्ध से जो शक्यार्थं से सम्बद्ध है उसका प्रतिपादन करने वाली गौणी लक्षणा कही जाती है ।) इस (सादृश्य) से भिन्न सम्बन्ध से शक्यसम्बन्धी अर्थ का प्रतिपादन करने वाली शुद्धा है । वह (लक्षणा) अन्य प्रकार से भी दो तरह की होती है—(१) अजहत्स्वार्था और (२) जहत्स्वार्था । स्व=शक्य के अर्थं से संवलित= विशिष्ट परार्थं=लक्ष्यार्थं का अभिधान=बोधन कराने वाली अजहत्स्वार्था है ।

विमर्श—शक्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ इन दोनों का क्रिया आदि में अन्वय होने पर अजहत्स्वार्था भेद माना जाता है । जहति स्वानि (=पदानि) यम् (=अर्थम्) सः जहत्स्वः, जहत्स्वः (पदकर्तृकत्यागकर्मीभूतः) अर्थो यस्यां (लक्षणायां) सा—जहत्स्वार्था । पद जिस अर्थ को छोड़ देते हैं वह अर्थ जहत्स्वः है, ऐसा अर्थ जिस लक्षणा में होता है वह जहत्स्वार्था लक्षणा है । और जहत्स्वार्था न भवति-इति—अजहत्स्वार्था । इन अर्थों के आधार पर ही उदाहरणों का समन्वय करना चाहिये ।

अनु०—ऐसा मानने से (१) 'छतरीवाले जाते हैं,' (२) 'भालों को प्रवेश कराओ' (३) 'यष्टिओं=छड़ियों को प्रवेश कराओ' (४) 'कौओं से दही की रक्षा करो'—इत्यादि में (१) छतरीवालों के सहित सेना, (२) कुन्त=भाला अस्त्र के सहित पुरुष, (३) यष्टियों=छड़ियों के सहित पुरुष, (४) कौओं के सहित सभी दधिविनाशकों (खाने वालों) का बोध (होता है) । (इन चारों उदाहरणों में छतरीवाले, कुन्त= भाला, यष्टि=छड़ी और कौआ—इन शक्य अर्थों के साथ (विशिष्ट) लक्ष्य अर्थ—छतरीरहित, कुन्तवाले, यष्टीवाले और बिल्ली आदि का अभिधान होता है । लाक्षणिक पद अपने शक्यार्थों का बोध कराते हुये ही लक्ष्यार्थं का भी बोध कराते हैं इसलिये अजहत्स्वार्था है ।)

स्व=(लाक्षणिकत्वेन अभिमत शक्त) के अर्थ के परित्याग के साथ इतरार्थ= लक्ष्यार्थ का प्रतिपादन करनेवाली अन्त्य=जहत्स्वार्था (होती) है। और शक्यार्थ का परित्याग (का अर्थ है)—लक्ष्यार्थ के अन्वयी के साथ अन्वयी न होना। (अर्थात् जिस क्रिया आदि में लक्ष्यार्थ का अन्वय हो रहा है। उसी में शक्यार्थ का अन्वय न होने पर अर्थ का परित्याग हो जाने से जहत्स्वार्था है।) इससे 'गो बाहीक को पढ़ाओ' इत्यादि में गोसदृश में लक्षणा में भी गो (शक्यार्थ) का उस (लक्ष्यार्थ पुरुष) की अन्वयिनी पाठन क्रिया में अन्वय नहीं होता है। (अर्थात् बैल को नहीं पढ़ाया जाता है, बैल के सदृश बाहीक देश में होने वाले पुरुष को ही पढ़ाया जाता है।)

सा च लक्षणा तात्स्थ्यादिनिमित्तिका। तदाह—

तात्स्थ्यात्तथैव ताद्धर्म्यात्तत्सामीप्यात्तथैव च।

तत्साहचर्यात्तादर्थ्याज् ज्ञेया वै लक्षणा बुधैः॥ इति।

तात्स्थ्यान्मञ्चा हसन्ति, ग्रामः पलायितः। ताद्धर्म्यात्सिंहो माणवकः, गौर्वाहीकः। तत्सामीप्याद् गङ्गायां घोषः। तत्साहचर्याद्यष्टीः प्रवेशय। तादर्थ्यादिन्द्रार्था स्थूणा इन्द्रः।

लक्षणाया निमित्तानि निरूपयति—सा चेति। पूर्वोक्ता लक्षणा चेति भावः। तात्स्थ्यादिनिमित्तिका=तत्स्थितत्वादिकमाश्रित्य प्रवर्तते इति भावः। तत्=तात्स्थ्यादिनिमित्तिकत्वम्। तात्स्थ्यात्=तस्मिन् तिष्ठतीति तत्स्थः, तस्य भावस्तात्स्थ्यम्, तस्मात्, मञ्चा हसन्ति—इत्यत्र मञ्चे हासक्रिया बाधिता,अचेतनत्वात्। एवञ्च मञ्चेषु स्थितत्वात् पुरुषा लक्ष्यन्ते इति लक्षणया मञ्चस्थाः पुरुषा हसन्तीति बोधः। ग्रामः पलायित इत्यत्राप्यचेतनत्वेन ग्रामस्य धावनक्रियायामन्वयो बाधितः; ग्रामे स्थितत्वात् पुरुषाः लक्ष्यन्ते। एवञ्च ग्रामस्थाः पुरुषाः पलायिताइति बोधः। तस्य=सिंहस्य, धर्माः—शूरत्वक्रूरत्वादयः, तद्वत् धर्मा यस्य सस्तद्धर्मस्तस्यभावस्ताद्धर्म्यं तस्मात्। सिंहो माणवकः अत्रोभयोरभेदेनान्वयो बाधितः—यः सिंहः सो न माणवकः, यो माणवकः सो न सिंहः। एवञ्च सिंहे विद्यमानान् क्रूरत्व-शूरत्वादिधर्मान् माणवकेऽपि दृष्ट्वा लक्षणया सिंहसदृशो माणवक इति बोधः। एवमेव गौर्वाहीक इत्यत्राप्यभेदेनान्वयस्य बाधितत्वेन गोवृत्ति-जाड्यमान्द्यादिधर्मान् बाहीकदेशोद्भवे पुरुषे दृष्ट्वा लक्षणया गोसदृशो बाहीक इति बोधः। गङ्गायां घोषः इत्यत्र शक्यार्थस्य जलप्रवाहविशेषस्य आभीरपल्लीरूपे घोषपदार्थे आधेयतयान्वयो बाधित इति तस्य (जलप्रवाहविशेषस्य) सामीप्यात् गङ्गाशब्दो लक्षणया तीरं बोधयति। गङ्गातीरे घोष इति बोधः। यष्टीः प्रवेशयेत्यत्राचेतनतया यष्टीनां प्रवेशनक्रियायामन्वयो बाधित इति सहचरणमाश्रित्य लक्षणया यष्टिधारिणः पुरुषान्

प्रवेशयेति बोधः। तस्मै इदं तदर्थम्, तस्य भावस्तादर्थ्यम्। स्थूणा=यज्ञीयस्तम्भः, 'स्थूणा इन्द्रः' इत्यत्रोभयोरभेदान्वयो बाधितः। इन्द्रोद्देश्यकयागीयपशुबन्धनस्योपकारकतया इन्द्रोपकारकत्वे पर्यवसानात् लक्षणया इन्द्रोपकारकत्वमर्थः। एवञ्च 'इन्द्रोपकारिका स्थूणा' इति बोधः। अत्र कारिकायां तत्पदेन शक्यार्थस्यैव ग्रहणमिति बोध्यम्।

लक्षणा के अनेक निमित्त—

और वह लक्षणा तात्स्थ्य (उस पर स्थित होना) आदि निमित्तों वाली (होती है)। जैसा कि कहा गया है—

(१) तात्स्थ्य=उस पर स्थित होना, (२) उसके समान धर्मवाला होना इसी प्रकार (३) उसके समीप होना, (४) उसका साहचर्य=साथ होना और (५) तादर्थ्य=उसके लिये होना—इन (५ निमित्तों) से विद्वानों को लक्षणा समझनी चाहिये।

(क्रमशः उदाहरण—)

(१) उस पर स्थित होने से (लक्षणा का उदाहरण है)—'मचान हँस रहे हैं' (यहाँ मञ्च=मचान की मञ्चस्थित पुरुषों में लक्षणा की जाती है। इसी प्रकार) 'गाँव भाग गया' (यहाँ ग्राम की लक्षणा ग्राम में रहने वाले पुरुषों में होती है। इसलिये गाँव में रहने वाले पुरुष भाग गये—यह बोध लक्षणा से होता है।)

(२) उस (शक्य) के समान धर्म=विशेषताओं वाला होने से (लक्षणा का उदाहरण है)—'माणवक सिंह (है'। यहाँ सिंह में रहने वाले पराक्रम शक्ति आदि धर्मों के समान धर्म माणवक=ब्रह्मचारी में भी है। अतः लक्षणा द्वारा सिंह पद सिंहसदृश का बोध कराता है— सिंहसदृश माणवक। इसी प्रकार) बाहीक देशवाला गो=बैल है। (यहाँ भी बैल में रहने वाले सरलता मूर्खता आदि धर्मों के समान धर्म बाहीकदेशोत्पन्न व्यक्ति में भी हैं। अतः गोशब्द लक्षणा द्वारा गोसदृश पुरुष का बोध कराता है। संस्कृत में गो शब्द गाय तथा बैल दोनों के लिये प्रयुक्त होता है। अतः यहाँ पुँल्लिङ्ग बैलवाचक है।)

(३) उस (शक्य) के समीप होने से (लक्षणा का उदाहरण है)—'गङ्गा में घोष=अहीरों की बस्ती'। (गङ्गा पद का अर्थ है जल-प्रवाह-विशेष, उसके समीप तट है। अतः गङ्गापद लक्षणा द्वारा गङ्गातट का बोध कराता है।)

(४) उस (शक्य) के साहचर्य=साथ में होने से (होने वाली लक्षणा का उदाहरण है)—'यष्टियों को प्रवेश कराओ'। यहाँ यष्टियाँ पुरुषों के हाथ में रहती हैं। अतः यष्टी पद लक्षणा द्वारा यष्टीसहित पुरुषों का बोध कराता है।)

(५) उस (शक्य) के लिये होने से (लक्षणा का उदाहरण है)—

'इन्द्र के लिये स्थूणा=यज्ञीयस्तम्भविशेष, इन्द्र है'। (यहाँ इन्द्र के लिये होने से

स्थूणा को भी इन्द्र कहा जाता है। इसलिये इन्द्रपद इन्द्रोपकारक का बोध कराता है।)

अन्वयाद्यनुपपत्तिप्रतिसन्धानञ्च लक्षणाबीजम्।

वस्तुतस्तु तात्पर्यानुपपत्तिप्रतिसन्धानमेव तद्बीजम्। अन्यथा गङ्गायां घोष इत्यादौ घोषादिपदे एव मकरादिलक्षणापत्तिस्तावताऽप्यन्वयानुपपत्ति-परिहारात्। गङ्गायां पापी गच्छतीत्यादौ गङ्गापदस्य नरके लक्षणापत्तेश्च। अस्माकं तु भूतपूर्वपापावच्छिन्नलक्षकत्वे तात्पर्यान्न दोषः। 'नक्षत्रं दृष्ट्वा वाचं विसृजेद्' इत्यत्रान्वयसम्भवेऽपि तात्पर्यानुपपत्त्यैव लक्षणास्वीकारात्। एकानुगमकस्वीकारेण निर्वाहेऽनेकानुगमकस्वीकारे गौरवाच्च।

लक्षणाया बीजमाह—अन्वयेति। अन्वयस्य तात्पर्यस्य चानुपपत्तिप्रतिसन्धानं लक्षणाप्रवृत्तौ कारणम्। यथा 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र गङ्गापदात् भगीरथ-रथखातावच्छिन्नो जलप्रवाहविशेषरूपोऽर्थ उपस्थितः, तत्र घोषपदात् उपस्थितस्याभीर-पल्लीरूपार्थस्यान्वयोऽनुपपन्नः, अर्थात् घोषनिष्ठाधेयता-निरूपिताधारता गङ्गायां न सम्भवतीति तत्रान्वयानुपपत्तिं दृष्ट्वा लक्षणाश्रीयते। तया च शक्यार्थसम्बन्धिनस्तट-स्योपस्थितौ तटत्वावच्छिन्नविषयको बोधो जायते। एवञ्च 'तटवृत्तिघोष' इति बोधः फलति।

ननु गङ्गापदस्य प्रवाहविशेषरूपमर्थमुपस्थाप्य निवृत्तौ प्रवाहसम्बन्धेन तटरूपार्थो-पस्थितावपि तत्र गङ्गापदस्य वृत्तिर्न स्यादिति चेत्, सत्यम्, 'एकसम्बन्धि-ज्ञानमपर-सम्बन्धिनः स्मारकमि'तिरीत्या साक्षात् सम्बन्धिनो बाधात् सम्बन्धिसम्बन्धिनोऽपि ग्रहणमिति भावः।

स्वाभिमतमाह—वस्तुतस्त्विति। तात्पर्यस्यानुपपत्तेः प्रतिसन्धानं, तद्बीजम्= लक्षणाबीजमित्यर्थः। एव शब्दोऽप्यर्थः। तात्पर्यानुपपत्तिरपि लक्षणाबीजमिति भावः। अन्यथा वेदस्यापौरुषेयत्वमते "यजमानः प्रस्तरः" "आयुर्वै घृतम्" इत्यादौ तात्पर्यानु-पपत्तेरप्यसम्भवेनानिर्वाहात्। एवञ्च तात्पर्यान्वयान्यतरानुपपत्तिर्लक्षणाबीजमिति बोध्यम्। तदेवाह—अन्यथेति। तात्पर्यानुपपत्तेर्लक्षणाहेतुत्वास्वीकारे। मकरादिलक्षणा-पत्तिरिति। एवञ्च गङ्गायां मकरादिरिति बोधेनापि अन्वयानुपपत्तिपरिहारसम्भवात्। एवञ्च गङ्गागतशैत्यपावनत्वादिप्रतीतिरूपफलस्यानुपपत्तिरिति भावः। लक्षणापत्ते-श्चेति। पापविशिष्टस्य पुरुषस्य गङ्गाधिकरणकगमनेऽन्वयबाधात् गङ्गापदस्य नरके लक्षणां कृत्वाऽन्वयानुपपत्तिपरिहारः कर्तव्य इति भावः। वैयाकरणानां मते तु पूर्व-कालिकपापविशिष्टे लक्षणया पापीपदं भूतपूर्वपापावच्छिन्नस्य लक्षकमिति तात्पर्या-नुरोधेन पापपरिहाराय गङ्गास्नानार्थं गच्छतीति बोधो जायते। नक्षत्रं दृष्ट्वेति। इदं वाक्यं मौनव्रतप्रकरणे पठितम्। अत्र दर्शनक्रियायामन्वयसम्भवेऽपि तात्पर्यस्योप-

पपत्तिर्न भवतीति लक्षणया नक्षत्रदर्शनयोग्यकालविशेषो बोध्यते। तेन रात्री मौनं धारणीयमिति बोधो जायते। गौरवाच्चेति। तात्पर्यानुपपत्तिरूपस्यैकस्यानुगमकस्य स्वीकारेण यदा निर्वाहः सम्भवति तदा उभयानुपपत्तिरूपानेकानुगमकस्वीकारे गौरवं स्पष्टम्। अत्रत्यं तत्त्वं तु पूर्वमेव साधितम्। तेनान्यतरानुपपत्तिस्वीकारो ऽनिवार्यः।

लक्षणा की प्रवृत्ति में हेतु

और (पदार्थों के) अन्वय (सम्बन्ध) आदि की अनुपपत्ति का प्रतिसन्धान = निर्णय लक्षणा का बीज = हेतु है। (जहाँ पर दो पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध उपपन्न नहीं हो पाता है वहाँ लक्षणा की जाती है।)

वास्तव में तो तात्पर्य की अनुपपत्ति का प्रतिसंधान ही उस (लक्षणा) का बीज = प्रवृत्ति का हेतु है। अन्यथा (तात्पर्य की अनुपपत्ति को लक्षणा का बीज न मानने पर और अन्वय की अनुपपत्ति को ही लक्षणा का बीज मानने पर) 'गङ्गायां घोषः' इत्यादि में घोष आदि पद में ही मकर आदि की लक्षणा करने का प्रसङ्ग उपस्थित होने लगेगा; क्योंकि ऐसा कर देने पर भी अन्वय की अनुपपत्ति का परिहार होना सम्भव है। और 'गङ्गा में पापी जाता है' आदि में गङ्गा पद की नरक में लक्षणा होने लगेगी। (क्योंकि ऐसा कर देने पर भी अन्वयानुपपत्ति दूर होकर अन्वय बन जाता है।) परन्तु (तात्पर्यानुपपत्ति को लक्षणा का बीज मानने वाले) हम लोगों का तो (पापी पद के) भूतपूर्व पाप से अवच्छिन्न (युक्त) का लक्षक होने में तात्पर्य होने से (कोई) दोष नहीं है। (अर्थात् पहले किये गये पापों को दूर करने के लिये स्नान करने के लिये गङ्गा में जाता है, यह तात्पर्य है। अतः 'पापी' पद की ही 'पूर्व जन्म आदि में किये गये पापोंवाला पुरुष' इस अर्थ में लक्षणा होती है न कि गङ्गा पद की नरक में; क्योंकि वैसा तात्पर्य नहीं है।) "नक्षत्र को देख कर वाणी का परित्याग करे = बोलना बन्द करे" इत्यादि (मौन-व्रत में पठित वाक्यों) में (पदार्थों का परस्पर) अन्वय सम्भव होने पर भी तात्पर्य की अनुपपत्ति के कारण ही लक्षणा (की जाती है)। (सन्ध्या के बाद रात्रि में बोलने का निषेध करना तात्पर्य है। अतः नक्षत्र पद की नक्षत्रदर्शनयोग्यकाल अर्थात् रात्रि में लक्षणा की जाती है।) और एक (तात्पर्यानुपपत्तिरूप) अनुगमक से निर्वाह हो जाने पर अनेक अनुगमकों (साधनों) को स्वीकार करने में गौरव है। (अर्थात् केवल तात्पर्यानुपपत्ति को कारण मान लेने पर निर्वाह हो जाता है तो अन्वयानुपपत्ति को भी अतिरिक्त कारण मानने में गौरव स्पष्ट है।)

विशिष्टार्थबोधकशब्दस्य पदार्थैकदेशे लक्षणायां जहदजहल्लक्षणेति व्यवहरन्ति वृद्धाः। वाक्यार्थे किञ्चिदंशत्यागः किञ्चिदंशपरिग्रहश्च। अत्र ग्रामैकदेशे पटैकदेशे च दग्धे 'ग्रामो दग्धः' 'पटो दग्ध' इति व्यवहारः। 'तत्त्वमसि' इत्यत्र सर्वज्ञत्वाल्पज्ञत्वयोस्त्यागः शुद्धचैतन्ययोरभेदान्वयः।

यदा किञ्चित् पदं विशिष्टार्थस्य बोधकं भवति तस्य पदार्थैकदेशे लक्षणा क्रियते तदा सा जहदजहल्लक्षणेत्युच्यते । अत्र शक्यतावच्छेदकांशस्य परित्यागेन विशेष्यांशमात्रस्य बोधो भवति । यथा 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यत्र तत्पदेन तद्देश-तत्कालविशिष्टस्य बोधः, इदंशब्देनैतद्देशैतत्कालविशिष्टस्य बोधः । अनयोर्विरोधेन देवदत्तेऽन्वयानुपपत्तिः । अतो विशेषणांशं परित्यज्य शुद्धदेवदत्तस्य बोधो जहदजहल्लक्षणया स्वीक्रियते । एवमेव 'तत्त्वमसि' इत्यत्रापि अल्पज्ञत्व-सर्वज्ञत्वादिविशेषणांशं परित्यज्य शुद्धचैतन्यमात्रस्य बोधो जहदजहल्लक्षणयेति वेदान्तिनः स्वीकुर्वन्ति । अत्र वाक्यार्थे=विशिष्टार्थे, किञ्चिदंशपरित्यागः=विरोध्यंशस्य परित्यागः, किञ्चिदंशपरिग्रहश्च=अविरोध्यंशपरिग्रहश्चेत्यर्थः । अत्र=जहदजहल्लक्षणास्वीकारे । व्यवहार इति । अयं भावः—गृहादिसमुदायो ग्रामः, तन्तुसमुदायः पटः । यदि कानिचिद् गृहाणि दग्धानि तदापि 'ग्रामो दग्ध' इति व्यवहारः । अवयवदाहेऽपि समुदायदाहव्यवहारस्तु अनयैव लक्षणया बोध्यः । तत्त्वमसीत्यादौ सर्वज्ञत्वाल्पज्ञत्वरूपविरोध्यंशपरित्यागः, शुद्धचैतन्यांशयोरभेदेनान्वयो भवति । अत्रत्यं तत्त्वन्तु वेदान्तग्रन्थेषु द्रष्टव्यम् ।

परे तु—'ग्रामो दग्धः', 'पुष्पितं वनम्' इत्यादौ दग्धादिपदानि अर्शआद्यजन्तानि (दग्धगृहविशिष्टग्रामबोधकानि, पुष्पित-वृक्षविशिष्ट-वनबोधकानि) इति 'अर्थवत्०'—(पा. सू. १।२।४५) इति सूत्रभाष्योक्तेस्तत्र लक्षणैव नेति बोध्यम् ।

जहदजहल्लक्षणा—

विशिष्ट (=विशेषण-विशिष्ट) अर्थ के बोधक शब्द के पदार्थैकदेश (विशेषणांश) में लक्षणा (करने) में जहदजहल्लक्षणा (होती है)—ऐसा व्यवहार वृद्ध लोग करते हैं । (वेदान्ती लोग ऐसा मानते हैं ।) वाक्यार्थ में कुछ अंश का परित्याग और कुछ अंश को स्वीकार (किया जाता है) । इस (लक्षणा) में गाँव के एकदेश=अवयव=गृह और पट के एकदेश=अवयव तन्तुओं के जल जाने पर 'गाँव जल गया' 'पट जल गया' यह व्यवहार होता है । (गाँव का अर्थ है अनेक घर, वृक्ष, खेत आदि का समुदाय । किन्तु कुछ घर ही जल जाने पर 'गाँव जल गया' इसी प्रकार 'गाँव लुट गया' आदि व्यवहार होता है । इसी प्रकार तन्तुसमुदाय पट है । कुछ तन्तुओं के जल जाने पर 'पट जल गया' यह व्यवहार होता है । इसमें 'गृह-समुदाय ग्राम' में 'गृह' पदार्थैकदेश है उसी में 'ग्राम' की लक्षणा होती है । 'तत् त्वमसि' (वह चैतन्य तुम हो)—यहाँ सर्वज्ञत्व तथा अल्पज्ञत्व का परित्याग होता है और शुद्ध चैतन्यों का अभेदान्वय होता है ।

विमर्श—जहदजहल्लक्षणा वहाँ होती है जहाँ कोई पद विशिष्ट अर्थ का बोधक रहता है । उसके विशेषणांशों में से कुछ का परित्याग कर दिया जाता है । जैसे—किसी व्यक्ति ने पहले कभी कहीं देवदत्त को देखा था । कालान्तर में पुनः उसी देवदत्त

को देखने पर उसे स्मरण हो जाता है—'सोऽयं देवदत्तः '(यह वही देवदत्त है)। यहाँ तद् पद से प्रतीत होने वाले परोक्षत्वरूप तत्तांश (पूर्वानुभूततांश) का और इदं पद से प्रतीत होने वाले सन्निकृष्टत्वरूप प्रत्यक्षत्वांश का परस्पर विरोध है। अतः दोनों का अन्वय देवदत्त में नहीं हो सकता। इस कारण तत् और इदम् इन विशिष्ट अर्थवाचकों के विशेषणांश—तत्ता और इदन्ता का परित्याग करके केवल शुद्ध देवदत्त [विशेष्यांश] का बोध जहदजल्लक्षणा से हो जाता है।

'तत् त्वम् असि' इस उपनिषद् वाक्य में तत्पद सर्वज्ञत्व-विशिष्ट चैतन्य का और त्वम् पद अल्पज्ञत्व-विशिष्ट चैतन्य का वाचक है। इन दोनों विशेषणांशों—सर्वज्ञत्व और अल्पज्ञत्व का ऐक्य सम्भव नहीं है। अतः ये पद इनका परित्याग करके केवल शुद्ध चैतन्यांश का ही बोध कराते हैं। इस प्रकार विशेषणांश का परित्याग और विशेष्यांश का अपरित्याग = ग्रहण होने से जहदजहल्लक्षणा होती है।

गृहसमुदाय ग्राम है। तन्तुसमुदाय पट है। इनमें गृह और तन्तु विशेषण हैं। उनके जलने पर विशेष्य ग्राम एवं पट का जलना कहा जाता है। इस प्रकार यहाँ भी विशेषणांश गृह एवं तन्तु का परित्याग और विशेष्यांश समुदायरूप ग्राम तथा पट का बोध इसी लक्षणा से होता है।

वास्तव में ग्रामो दग्धः, पुष्पितं वनम् आदि में दग्धादिपद में 'अर्श आदिभ्योऽच्' (पा० सू० ५।२।१२७) से मतुबर्थीय अच् प्रत्यय है। इसलिये दग्ध का अर्थ है—दग्ध (गृह)-विशिष्ट और पुष्पित का अर्थ है—पुष्पित (वृक्ष)-विशिष्ट। अतः इसके लिये जहदजल्लक्षणा आवश्यक नहीं है।

स्वबोध्यसम्बन्धो लक्षणेति केचित्—'गभीरायां नद्यां घोष' इत्याद्यनुरोधात्। तथाहि—न तावद् गभीरपदं तीरलक्षकं, नद्यामित्यनन्वयापत्तेः। नहि तीरं नदी। अत एव न नदीपदेऽपि। गभीरपदार्थानन्वयात्। न हि तीरं गभीरम्। न च प्रत्येकं पदद्वये सा, विशिष्टनदीबोधानापत्तेः। तस्मात् समुदायबोध्यगभीरत्वविशिष्टनदीपदार्थः, तत्सम्बन्धो लक्षणेति।

द्विरेफपदस्य स्वलक्ष्यभ्रमरशब्दवाच्यार्थे लक्षणायां लक्षितलक्षणेति व्यवहारः। स्वबोध्यपदवाच्यत्वं सम्बन्धः।

शक्यसम्बन्धो लक्षणेति स्वीकारे वाक्ये लक्षणा न सम्भवति, नैयायिकमते तत्र शक्तेरभावान्मीमांसकाभिमतां लक्षणामाह—स्व-बोध्येति। स्वम्=वाक्यादिः, तेन बोध्यो योऽर्थस्तत्सम्बन्धो लक्षणा। वाक्यार्थोऽपि वाक्यबोध्यो भवति अतस्तत्रापि लक्षणा सिध्यतीति भावः। उपपत्तिमाह—तथाहीति। अनन्वयापत्तेरिति। अयं भावः—गभीरायां नद्यां घोषः इत्यत्र सप्तम्यन्तपदार्थयोरभेदान्वयः। तत्र यदि गभीरपदं तीरस्य लक्षकं

स्वीक्रियते तदा तीराभिन्ना नदीति बोधापत्तिः, सा च न सङ्गच्छते, तीर-नद्योर-भेदस्य बाधाद्। इदमेवाह—न हि तीरं नदीति। अत एव=अन्वयबाधरूपदोषादेव। न नदीपदेपीति। नदीपदे लक्षणास्वीकारे गभीराभिन्नं तीरमिति बोधापत्तिः, साऽप्य-सङ्गता, गाम्भीर्यस्य नदीधर्मतया तीरे बाधात्। अतएवानन्वयापत्तिः। ननु पदद्वयेऽपि लक्षणाऽस्तु—गभीरपदस्य गभीरतीरे, नदीपदस्य नदीतीरे। एवञ्च गभीराभिन्न-नदीतीरे घोष इति बोधः स्यादित्यत आह—पदद्वये सेति। विशिष्टनदीबोधानापत्तेः। अयं भावः—अत्र पक्षे-गभीराभिन्ना या नदी, तत्तीरे घोषः इति बोधो न स्यात्, नामार्थयोरभेदान्वय एवेति नियमेन—गभीरतीराभिन्नं यन्नदीतीरं तत्र घोष इत्येव बोधः स्यात्। न च नदीपदेन गभीरनदीतीरं लक्ष्यते, गभीरपदं तात्पर्यग्राहकमिति वाच्यम्, विनिगमनाविरहात्, कस्य लक्षकत्वं कस्य तात्पर्यग्राहकत्वमिति वक्तुमशक्य-त्वाच्च। तस्मात्=एतादृशस्थलेषु तत्तत्पदेषु लक्षणायाः कथमप्यसम्भवात् समुदायरूपे वाक्येऽङ्गीकार्येत्यत आह—समुदायेति। समुदायेन='गभीरायां नद्यामि'तिपदसमुदायेन बोध्यो योऽर्थः—गभीरत्वावच्छिन्ननदीपदार्थः, तस्य सम्बन्धो लक्षणा। एवञ्च गभीराभिन्न-नदीति बोधोत्तरं समुदायस्य लक्षणया गभीराभिन्नदीतीरे घोष इति बोधो जायते। समुदाये लक्षणास्वीकारादेव 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवते'त्याद्यर्थवादवाक्यानां प्राशस्त्ये लक्षणा सिध्यति।

नैयायिकाभिमतां लक्षितलक्षणामाह—द्विरेफेति। अयं भावः—द्विरेफपदघटकस्य रेफपदस्य रेफद्वयविशिष्टे भ्रमरपदे लक्षणा। लक्षितञ्च भ्रमरपदं लक्षणया भ्रमररूप-मर्थं बोधयति। लक्षितस्य लक्षणेति वाच्यार्थः। सम्बन्धमाह--स्वबोध्येति। स्वम्= द्विरेफपदम्, तद्बोध्यं भ्रमरपदम्, तद्वाच्यत्वं भ्रमररूपेऽर्थेऽस्तीति लक्षणोपपत्तिः।

वस्तुतस्तु द्विरेफपदं रूढिशक्त्यैव भ्रमरबोधकम्। अत्र अवयवार्थस्य प्रतीतिस्तु तथैव न भवति यथा रथन्तरादौ। यद्वा पदनिष्ठरेफद्वयस्यार्थे आरोपात्तत्-सम्ब-न्धित्वेनैव भ्रमरबोधः। अत एव कोषेषु भ्रमरपर्यायेषु द्विरेफपदस्य पाठः। बाधप्रति-सन्धानं विनैव द्विरेफपदाद् भ्रमरबोधोऽनुभूयते इति लक्षणाश्रयणमयुक्तमिति बोध्यम्। विस्तरस्तु लघुमञ्जूषादौ द्रष्टव्यः।

वाक्य में लक्षणा—मीमांसकादिमत

'गभीरायां नद्यां घोषः' (गभीर नदी में अहीरों की बस्ती है) इत्यादि (लक्ष्यों) के कारण कुछ लोग (मीमांसकादि)—स्वबोध्य का सम्बन्ध लक्षणा—ऐसा (कहते हैं)। यह इस प्रकार है--(इस वाक्य में) 'गभीर' पद तट का लक्षक नहीं (हो सकता), क्योंकि 'नद्याम्' इसके साथ अन्वय नहीं हो सकेगा, क्योंकि तट तो नदी नहीं है। और इसी (अन्वयानुपपत्ति) के कारण ही 'नदी' पद में भी (लक्षणा) नहीं (हो सकती), अर्थात् नदी पद भी तट का लक्षक नहीं हो सकता) क्योंकि गभीर-

पदार्थ के साथ अन्वय नहीं (हो सकता) क्योंकि तट=गभीर नहीं (होता है)। ('गभीरायां तथा नद्याम्' इन) दोनों पदों में प्रत्येक में लक्षणा हो, यह भी नहीं (कहा जा सकता), क्योंकि (गभीरत्व-) विशिष्ट नदी का बोध नहीं हो सकेगा। (क्योंकि गभीर-तट से अभिन्न जो नदी-तट यही बोध होगा। जब कि अभीष्ट बोध है--गभीराभिन्न जो नदी उसके तट पर घोष)। इस स्थिति में (गभीरायां नद्याम्) समुदाय से बोध्य गभीरत्वविशिष्ट नदी पदार्थ है, (तट के साथ) उसका सम्बन्ध—लक्षणा है।

विमर्श--सामान्यतया नैयायिकादि केवल पद में ही लक्षणा मानते हैं। क्योंकि इनके अनुसार वाक्य में शक्ति नहीं होती है। अतः 'स्वशक्य-सम्बन्धो लक्षणा' यह लक्षण वाक्य में नहीं सम्भव है। परन्तु केवल पद में लक्षणा मानने पर 'गभीरायां नद्यां घोषः' इस लक्ष्य का उपपादन कठिन है। इसके लिये पदसमुदाय=वाक्य में लक्षणा माननी आवश्यक ही है। इसे इस प्रकार का समझना चाहिये--

यहाँ पद में लक्षणावादी तीन तर्क दे सकता है--(१) केवल गभीर पद की लक्षणा (२) केवल नदी पद की और (३) दोनों पदों की लक्षणा। किन्तु इन सभी पक्षों में दोष प्राप्त होते हैं--क्योंकि यदि गभीर पद की तट में लक्षणा की जाय तो 'नद्याम्' इसके साथ अन्वय नहीं हो सकेगा। क्योंकि यहाँ 'गभीरायां नद्याम्' में परस्पर अभेदान्वय है। वह लक्षणा करने पर नहीं होगा क्योंकि तट तो नदी नहीं है, नदी से भिन्न है--तीराभिन्ना-नदी यह बोध बाधित है। अब दूसरे पद 'नद्याम्' की तट में लक्षणा करें तो भी अनन्वय का प्रसङ्ग है क्योंकि यहाँ भी अभेदान्वय ही करना होगा--गभीराभिन्न तट—यही बोध होगा जो सम्भव नहीं है क्योंकि तट में गभीरता बाधित है। अब तीसरा पक्ष लें। दोनों में प्रत्येक की लक्षणा करें गभीरपद की गभीरतट में और नदीपद की नदीतट में। इस स्थिति में--गभीरतटाभिन्न जो नदीतट, उसपर घोष--यही बोध होगा न कि--गभीराभिन्न जो नदी उसके तट पर घोष।

एक पक्ष यह भी हो सकता है कि नदीपद की गभीरनदीतट में लक्षणा करें और गभीरपद को तात्पर्यग्राहक मान लें। किन्तु इस पक्ष में इसके विपरीत भी कहा जा सकता है अर्थात् गभीरपद की लक्षणा और नदीपद तात्पर्यग्राहक हो, यह भी कहना सम्भव है। अतः यह पक्ष भी तर्कसंगत नहीं है।

उपर्युक्त अनुपपत्तियों को ध्यान में रखकर ही वाक्य में लक्षणा मानने के लिये--स्वबोध्यसम्बन्धो लक्षणा--कहा गया है। स्व=पद या वाक्य उससे बोध्य अर्थ का सम्बन्ध लक्षणा है। प्रस्तुत स्थल में 'गभीरायां नद्याम्' इस पदसमुदाय से बोध्य है--'गभीरत्वविशिष्टनदी' इसका सम्बन्ध तट के साथ है, यही लक्षणा है।

लक्षित-लक्षणा—नैयायिक-मत

अनु०—द्विरेफ पद की स्व (द्विरेफ) के लक्ष्य = भ्रमर शब्द के वाच्य अर्थ (भौंरे) में लक्षणा (करने) में लक्षितलक्षणा—यह व्यवहार (होता है। यहाँ) स्व = द्विरेफ से बोध्य (भ्रमर) का वाच्यत्व (वाच्य होना) सम्बन्ध है। (अतः लक्षणा है)।

विमर्श—नैयायिकों आदि का यह कहना है कि द्विरेफपदघटक उत्तरपद रेफ की रेफद्वयसम्बन्धी भ्रमरपद में लक्षणा होती है। और लक्षित भ्रमर पद की भ्रमर (= भौंरा) अर्थ में लक्षणा होती है। इस प्रकार लक्षितस्य लक्षणा—लक्षितलक्षणा यह भेद उपपन्न होता है।

वास्तव में यहाँ लक्षणा की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि अनुपपत्ति प्रतिसन्धानादि के बिना ही इससे बोध हो जाता है। इसीलिये कोशों में भ्रमर के पर्यायों के साथ द्विरेफ शब्द का भी पाठ है।

प्रकारान्तरेण सा पुनर्लक्षणा द्विविधा। तथा हि—

प्रयोजनवती रूढा लक्षणा द्विविधा मता। इति।

असति प्रयोजने शक्यसम्बन्धो निरूढलक्षणा। त्वचा ज्ञातमित्यादौ यथा त्वचस्त्वगिन्द्रिये। इयं तु शक्त्यपरपर्यायैवेति बोध्यम्। गङ्गायां घोष इत्यत्र तीरे गङ्गागतशैत्यपावनत्वादिप्रतीतिः प्रयोजनम्। गौर्बाहीक इत्यत्र सादृश्यं लक्ष्यतावच्छेदकं गवाभेदप्रत्ययः प्रयोजनम्। कुन्ताः प्रविशन्तीति भीतिपलायमानवाक्ये कुन्तविशिष्टपुरुषे कुन्तगततैक्ष्ण्यप्रतीतिः प्रयोजनमित्याहुः।

साहित्यशास्त्रादौ प्रसिद्धां लक्षणामाह—प्रकारान्तरेणेति। कविसम्प्रदायानुसारेणेत्यर्थः। निरूढलक्षणेति। प्रयोजनाभावे शक्यार्थबाधप्रति-सन्धानपूर्वकं शक्यार्थसम्बन्ध्यपरार्थबोधे निरूढलक्षणा। यथा 'त्वचा ज्ञातम्' इत्यत्र त्वचः त्वगिन्द्रिये लक्षणा। वस्तुतस्तु इयं शक्तिरेव बोध्या। इत्यत्रेति=लक्षणास्वीकारे। गौर्बाहीक इति। अत्र गोसदृशः लक्ष्यः, गोसादृश्यं लक्ष्यतावच्छेदकम्, गवा सह बाहीकस्याभेदप्रत्यायनं फलं बोध्यम्। प्रविशन्तीति। कुन्तविशिष्टपुरुषे कुन्तानामिव तीक्ष्णताप्रतीतिः प्रयोजनं बोध्यम्। एषु प्रयोजनवती लक्षणेति भावः।

लक्षणा के अन्य भेद

अन्य प्रकार से पुनः उस लक्षणा के दो भेद (हो जाते हैं)—जैसाकि—

"लक्षणा दो प्रकार की मानी गयी है—प्रयोजनवती और रूढा।"

(कोई विशेष) प्रयोजन न रहने पर शक्य का सम्बन्ध निरूढलक्षणा (होती है। अर्थात् प्रयोजन के न होने पर भी शक्यार्थबाधज्ञानपूर्वक शक्यार्थसम्बन्धी अन्य

अर्थ का बोध होने पर निरूढा लक्षणा मानी जाती है)। त्वक् से ज्ञान किया— इत्यादि में त्वक् की त्वगिन्द्रिय में लक्षणा (होती है। चूंकि इन्द्रिय ही ज्ञान कराती है अतः त्वक् की त्वगिन्द्रिय में लक्षणा आवश्यक है।) यह (निरूढलक्षणा) तो शक्ति की दूसरी पर्याय है। (अर्थात् शक्ति ही है)। 'गङ्गायां घोषः' इत्यादि में तट में गङ्गा की शीतलता पावनता आदि की प्रतीति (कराना) प्रयोजन है। (अतः इसमें प्रयोजनवती शुद्धा लक्षणा है)। 'गौर्वाहीकः' (बाहीक देशवाला पुरुष बैल है)। इसमें सादृश्य लक्ष्यतावच्छेदक है, गो=बैल के साथ अभेदज्ञान कराना प्रयोजन है। 'कुन्त= भाले प्रवेश कर रहे हैं, इसमें (पराजय के) भय से पलायमान (अर्थ के प्रतिपादक) वाक्य में भालों से युक्त पुरुषों में भालों की तीक्ष्णता की प्रतीति (कराना) प्रयोजन है।

विमर्श—कुन्तधारी पुरुषों को देखकर भय से भागने वाले व्यक्ति इस वाक्य का प्रयोग करते हैं। इसमें 'कुन्तवन्तः प्रविशन्ति' कहने पर उतनी तीक्ष्णता क्रूरता का ज्ञान नहीं होता है जितनी 'कुन्ताः प्रविशन्ति' यह कहने पर। इस तीक्ष्णता की प्रतीति कराना ही लक्षणा का प्रयोजन है।

तन्न। सति तात्पर्ये 'सर्वे सर्वार्थवाचका' इति भाष्याल्लक्षणाया अभावात्। वृत्तिद्वयावच्छेदकद्वयकल्पने गौरवात्। जघन्यवृत्तिकल्पनाया अन्याय्यत्वाच्च। कथं तर्हि गङ्गादिपदात्तीरप्रत्ययः? भ्रान्तोऽसि, 'सति तात्पर्ये सर्वे सर्वार्थवाचका' इति भाष्यमेव गृहाण।

"अत्र तार्किका"—इत्यारभ्य "इत्याहुरि"त्यन्तेनोक्तं तार्किकादिमतं निराकरोति—तन्नेत्यादिना। 'सर्वे शब्दास्तात्पर्यानुसारं सर्वमर्थमभिधत्ते' इति भाष्यकथनेन लक्षणा नास्त्येव। भाष्यानुसारं गङ्गापदं यथा जलप्रवाहविशेषे शक्तं तथैव तीरेऽपि। एवञ्चातिरिक्तवृत्तिस्वीकारप्रयुक्तं न गौरवमिति भावः। न चैवं स्वीकारे गङ्गापदेन घटादेरप्युपस्थित्यापत्तिरिति वाच्यम्, तात्पर्यस्य शक्तिनियामकत्वेन तथा तात्पर्याभावेन च न तद्बोधापत्तिरिति वक्तुं शक्यत्वात्। गौरवादिति। अयं भावः—लक्षणास्वीकारे शाब्दबोधं प्रति शक्तिजन्योपस्थितेः लक्षणाजन्योपस्थितेश्च कारणत्वं वाच्यम्, इति कार्यकारणभावद्वयकल्पने गौरवम्। शक्तिमात्राङ्गीकर्तृवैयाकरणमते शक्तिजन्योपस्थितित्वेनैव हेतुतेति लाघवं स्पष्टम्। किञ्च, लक्षणावृत्तिस्वीकारे कार्यकारणभावस्य प्रत्येकं व्यभिचारः, शक्तिजन्योपस्थितिं विनापि लक्षणाजन्योपस्थितितः शाब्दबोधात्। न चाव्यहितोत्तरत्वसम्बन्धेन शक्तिज्ञानजन्योपस्थितिविशिष्टशाब्दबुद्धित्वम्, लक्षणाज्ञानजन्योपस्थितिविशिष्टशाब्दबुद्धित्वं कार्यतावच्छेदकम्, शक्तिज्ञानजन्योपस्थितित्वं लक्षणाज्ञानजन्योपस्थितित्वञ्च कारणतावच्छेदकमिति वाच्यम्, अनन्तकार्यकारणभावप्रसङ्गात्। नित्यानन्दपर्वतीयपादास्तु—प्रवाहादि-

सम्बन्धित्वेनोपस्थिततीरादौ गङ्गापदादेः 'सर्वे सर्वार्थवाचका' इति भाष्यात् सामान्यतः पूर्वमेव ज्ञातः शक्तिरूपः सम्बन्ध एव कल्पनीयो न तु शक्यसम्बन्धरूपः। तथा सति तयोरुभयोः शाब्दबोधजनकपदार्थोपस्थितिजनकपदपदार्थसम्बन्धत्वरूपं शाब्दबोध-जनकपदपदार्थसम्बन्धत्वरूपं वा वृत्तित्वं कल्पनीयम्, शाब्दबोधकारणतावच्छेदकत्वम् उपस्थितिकारणतावच्छेदकत्वञ्च शक्तत्व-शक्यसम्बन्धयोरुभयोः कल्पनीयमिति गौरवम्। शक्तिकल्पनापक्षे तु तस्या एव वृत्तित्वकल्पनम्, तत्वस्यैव च तत्तदवच्छेद-कत्वकल्पनमिति लाघवम्। तन्मते अन्यदपि गौरवं भूषणादौ स्पष्टं प्रतिपादितं तत एवावगन्तव्यम्। व्यवहारादिना गङ्गापदादौ तीरादिशक्तेः पूर्वं विशेषरूपेणाग्रहेणा-प्रसिद्धत्वात् लक्षणापदेन व्यवहार इति बोध्यमित्याहुः। अन्याय्यत्वाच्चेति। शक्ति-मात्रेण निर्वाहसम्भवे लक्षणावृत्ति-प्रयुक्तकार्यकारणादिस्वीकारेऽतिरिक्तगौरवस्य दुरुद्धरत्वादिति भावः। गौरवञ्च पूर्वमेव निरूपितम्। अधिकं वैयाकरणभूषणादौ विवेचितं तत एवावधेयमिति दिक्।

लक्षणा-वृत्ति का खण्डन

(ऊपर नैयायिकादिसम्मत लक्षणा के स्वरूप एवं भेदों आदि का प्रदर्शन किया गया है उसका खण्डन करने के लिये मञ्जूषाकार लिखते हैं—) वह (उपर्युक्त कथन ठीक) नहीं (है), क्योंकि "तात्पर्य रहने पर सभी शब्द सभी अर्थों के वाचक (होते हैं)," इस भाष्य (-कथन) से लक्षणा का अभाव है। (शक्ति एवं लक्षणा) दो वृत्तियों के दो अवच्छेदकों की कल्पना करने में गौरव है और जघन्य वृत्ति (लक्षणा) की कल्पना उचित नहीं है। (लक्षणा नहीं मानी जायगी तो) गङ्गा पद से तट की प्रतीति कैसे (होगी)? (यदि ऐसा कहते हो तो) भ्रम में पड़े हो, "तात्पर्य रहने पर सभी शब्द सभी अर्थों के वाचक (हो जाते हैं)" इस भाष्य को ही (प्रमाण) ले लो। (इस लिये लक्षणा को अतिरिक्त वृत्ति मानना ठीक नहीं है)।

विमर्श— वैयाकरणों का आशय यह है कि लक्षणा को भी शाब्दबोध का कारण मानने पर शाब्दबोधरूप कार्य के प्रति शक्तिजन्य उपस्थिति और लक्षणाजन्य उपस्थिति दो कारण मानने होंगे। इसलिये दो कार्य-कारण-भावों की कल्पना करनी पड़ेगी। शक्ति को कारण मानने वाले को केवल एक ही कार्य-कारणभाव की कल्पना करने में लाघव है। जहाँ शक्तिज्ञानजन्य उपस्थिति से बोध होता है वहाँ लक्षणा-ज्ञान-जन्य उपस्थितिरूप कारण नहीं है और जहाँ लक्षणा-ज्ञान-जन्य उपस्थिति से बोध होता है वहाँ शक्तिज्ञानजन्य उपस्थिति नहीं है। इसलिये कार्यकारणभाव में व्यभिचार है। इसको दूर करने के लिये यदि अव्यवहितोत्तरत्व आदि का निवेश करते हैं अर्थात् शक्तिज्ञान के बाद होने वाले बोध के प्रति शक्तिज्ञान कारण है और लक्षणाज्ञान

के बाद होने वाले बोध के प्रति लक्षणाज्ञान कारण है—ऐसा मान लें तो उक्त दोष दूर हो सकता है परन्तु अनेक कार्यकारणभावों की कल्पना करना अत्यन्त गौरव होगा।

लक्षणा को अतिरिक्त वृत्ति मानने पर होने वाले गौरवों और दोषों का विशेष विवेचन वैयाकरण-भूषण-सारादि में 'शक्तिनिरूपण' में देखा जा सकता है।

तथाहि—शक्तिर्द्विविधा-प्रसिद्धाऽप्रसिद्धा च। आमन्दबुद्धिवेद्यात्वं प्रसिद्धात्वम्। सहृदयहृदयमात्रवेद्यात्वमप्रसिद्धात्वम्। तत्र गङ्गादिपदानां प्रवाहादौ प्रसिद्धा शक्तिः, तीरादौ चाप्रसिद्धेति किमनुपपन्नम्?

ननु 'सर्वे सर्वार्थवाचका' इति चेद् ब्रूषे तर्हि घटपदात्पटप्रत्ययः किन्न स्यादिति चेन्न; 'सति तात्पर्ये' इत्युक्तत्वात्तात्पर्याभावादिति गृहाण। तात्पर्यं चात्र ऐश्वरं देवतामहर्षिलोकवृद्धपरम्परातोऽस्मदादिभिर्लब्धमिति सर्वं सुरूढम्।

द्विविधेति। वैयाकरणां मते शक्तेर्भेदद्वयम्। यां शक्ति सर्वेपि साधारणजनाः जानन्ति सा प्रसिद्धा शक्तिः। यां सहृदया रसिकाः भावुकाश्च जानन्ति साऽप्रसिद्धा शक्तिः। गङ्गायां घोष इत्यादौ प्रवाहे गङ्गादिपदानां प्रसिद्धा शक्तिः, तीरादौ चाप्रसिद्धा। यतो हि सामान्यजना एतद्रहस्यं नावगच्छन्ति, प्रसिद्धमेवार्थमवगच्छन्ति। तात्पर्याद्यनुपपत्तिप्रतिसन्धानपूर्वकमर्थबोधन्तु सहृदया एव कुर्वन्ति। तात्पर्यं बोधनिर्णायकमिति सर्वजनानुभवसिद्धमेव। अतएव तत्र-तत्र 'ममेदं तात्पर्यम्, ममेदं तात्पर्यमि'ति व्यवहरन्तो जना दृश्यन्ते। एवञ्चातिरिक्तवृत्तिरूपेण लक्षणा नाङ्गीकार्येति बोध्यम्।

लघुमञ्जूषायां नागेशेन लक्षणाया शब्दतोऽखण्डनं कृत्वा आरोपितशक्यतावच्छेदकरूपेण शक्यस्यैव तत्पदवाच्यत्वेन प्रसिद्धान्यव्यक्तिबोधे व्यक्तिविशेषबोधे वा लक्षणेति व्यवहार इत्युक्तमिति तत एवावगन्तव्यम्।

॥ इति लक्षणानिरूपणम् ॥

—o—

शक्तिद्वारा ही लक्षणा का कार्य

(शक्ति से ही लक्षणा का कार्य चल सकता है—) यह इस प्रकार (समझना) चाहिये—शक्ति दो प्रकार की है—प्रसिद्धा शक्ति और अप्रसिद्धा शक्ति। मन्द बुद्धि वालों तक के द्वारा समझने योग्य होना—प्रसिद्धा (शक्ति) होना है। (और) केवल सहृदयों के हृदय द्वारा समझने योग्य होना अप्रसिद्धा (शक्ति) होना है। इन (दोनों) में गङ्गादि पदों की प्रवाहादि (अर्थ) में प्रसिद्धा शक्ति है और तट आदि (अर्थ) में अप्रसिद्धा (शक्ति है)। (अब) क्या अनुपपन्न है? (अर्थात् कुछ भी अनुपपन्न नहीं है।)

सभी (शब्द) सभी अर्थों के वाचक (होते हैं)—यदि ऐसा (तुम वैयाकरण) कहते हो तो घट पद से पट का ज्ञान क्यों नहीं हो जाता है ? ऐसा यदि (कहो तो) नहीं, क्योंकि 'तात्पर्य रहने पर (ही सभी शब्द सभी अर्थों के वाचक होते हैं)'—यह कहा जा चुका है, यहाँ (उक्त) तात्पर्य नहीं है (अतः घट पद से पट का ज्ञान नहीं होता है)। और तात्पर्य यहाँ ईश्वर का है जो देवता, महर्षि, लोक एवं वृद्ध-परम्परा से हम लोगों को प्राप्त होता है। इस प्रकार सब ठीक है।

विमर्श—उपर्युक्त विवेचन का यही निष्कर्ष है कि जहाँ अन्य शास्त्रकार लक्षणा से कार्य-निर्वाह करते हैं वहाँ वैयाकरण अप्रसिद्धा शक्ति से निर्वाह करते हैं। इसलिये लक्षणावृत्ति प्रयुक्त कार्यकारणभावों की कल्पना का गौरव नहीं आता है।

नागेश ने लघुमञ्जूषा में अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—

"परे तु—आरोपितशक्यतावच्छेदकरूपेण शक्त्यैव तत्पदवाच्यत्वेन प्रसिद्धान्य-व्यक्तिबोधे, व्यक्तिविशेषबोधे वा लक्षणेति व्यवहारः।"

इस लिये अप्रसिद्धा शक्ति की कल्पना भी अनावश्यक ही प्रतीत होती है।

॥ इस प्रकार लक्षणा-निरूपण समाप्त हुआ ॥

—०—

[अथ व्यञ्जनानिरूपणम्]

ननु व्यञ्जना कः पदार्थः ? उच्यते—मुख्यार्थबाधनिरपेक्षबोधजनको मुख्यार्थसम्बद्धासम्बद्धसाधारणः प्रसिद्धाप्रसिद्धार्थविषयको वक्त्रादिवैशिष्ट्यज्ञानप्रतिभाद्युद्बुद्धः संस्कारविशेषो व्यञ्जना।

लक्षणयैव व्यञ्जना गतार्थेति नैयायिकमतं निराकर्तुं शाब्दिकैरपि अवश्यं स्वीकर्तुं च तृतीयां व्यञ्जनाख्यां वृत्तिं निरूपयति—नन्वित्यादिना। मुख्यार्थस्य=शक्यार्थस्य, बाधः=परस्परसम्बन्धनिरूपकाणां पदार्थानां तात्पर्यविषयीभूतसम्बन्धेन एकपदार्थेऽपरपदार्था-भावः, तन्निरपेक्षो यो बोधस्तस्य जनकः, (सर्वेषां संस्कारविशेष इत्यत्रान्वयः) "निश्शेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरः" इत्यादौ मुख्यार्थबाधाभावेऽपि अधमपदार्थपर्यालोचनया व्यङ्ग्यार्थप्रतीतिदर्शनात्, मुख्यार्थेन सम्बद्धोऽसम्बद्धश्च एतदुभयसाधारणः, मुख्यार्थेन सम्बद्धोपि भवत्यसम्बद्धोऽपीति बोध्यम्, क्वचित् मुख्यार्थ-सम्बन्धासम्बन्धसाधारण इति पाठो दृश्यते सो लघुमञ्जूषादिविरुद्धोऽसङ्गतश्च, संस्कारविशेष इत्यनेनानन्वयादिति बोध्यम्; प्रसिद्धोऽप्रसिद्धश्च यावर्थौ—प्रसिद्धा-प्रसिद्धार्थौ तौ विषयो यस्य सः, प्रसिद्धार्थविषयकोऽप्रसिद्धार्थविषयकश्च। वक्त्रादीति। अत्रादिपदेन काव्यप्रकाशोक्ता ग्राह्याः—

वक्तृ-बोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः ।
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम् ।।
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ।।
(का. प्र. स. ३ कारि० २१–२२)

एवञ्च वक्त्रादेर्वैशिष्ट्यम्=वैलक्षण्यम्, तस्य यज्ज्ञानम्, तच्च प्रतिभा च, ते आदिनी यस्य समुदायस्य, तेनोद्बुद्धो यः संस्कारविशेष स एव व्यञ्जनेत्युच्यते । अत्र स्वरूप-घटकानि चत्वारि तत्त्वानि सन्ति । तेषु प्रथमद्वितीयाभ्यां लक्षणातो भेद उच्यते, लक्षणाया मुख्यार्थबाधग्रहाधीनत्वात् मुख्यार्थसम्बद्धत्वाच्च । तृतीयेन च शक्तितो भेदः, शक्तेः प्रसिद्धार्थमात्रविषयकत्वात् । किञ्च, शक्तिरेतज्जन्मगृहीतैव बोधजनिका, व्यञ्जना तु जन्मान्तरगृहीतापीति बोध्यम् । चतुर्थेन वक्त्रादिना सहकारिकारणानि प्रदर्शितानि ।

व्यञ्जना का विवेचन

व्यञ्जना क्या पदार्थ है ? (व्यञ्जना का स्वरूप क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में) कहा जाता है (१) मुख्य (शक्य) अर्थ के बाध की अपेक्षा के विना बोध कराने वाला, (२) मुख्य (शक्य) अर्थ से सम्बद्ध एवम् असम्बद्ध—उभय साधारण, (३) प्रसिद्ध तथा अप्रसिद्ध दोनों प्रकार के अर्थों को विषय बनाने वाला, (४)वक्ता (एवं श्रोता) आदि के वैशिष्ट्यज्ञान तथा प्रतिभा आदि से उद्बुद्ध (एक) संस्कारविशेष व्यञ्जना (है) ।

विमर्श—मञ्जूषाकार के अनुसार व्यञ्जना एक संस्कार-विशेष है । ऊपर जो स्वरूप प्रस्तुत किया गया है उससे लक्षणा एवं शक्ति से व्यञ्जना का भेद स्पष्ट हो जाता है और सहकारी कारणों का भी ज्ञान हो जाता है । लक्षणा से व्यञ्जना का भेद इस प्रकार है—लक्षणा में मुख्यार्थ=शक्यार्थ का बाध होना अनिवार्य है व्यञ्जना में ऐसी आवश्यकता नहीं है । लक्षणा में मुख्यार्थ का सम्बन्ध रहता है व्यञ्जना में शक्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ का सम्बन्ध आवश्यक नहीं रहता है । शक्ति से व्यञ्जना का भेद करने के लिये लिखा है कि शक्ति प्रसिद्ध अर्थविषयिणी ही रहती है व्यञ्जना अप्रसिद्ध अर्थ को भी विषय बनाती है । शक्ति केवल इस जन्म में गृहीत होने वाली ही बोधजनक होती है । व्यञ्जना तो जन्मान्तरगृहीत भी बोधजनक होती है । अन्तिम अंश से सहकारी कारणों का संकेत है; वक्ता, श्रोता एवं उनके वैशिष्ट्यज्ञान आदि सहकारी कारण हैं । इस प्रकार व्यञ्जना अतिरिक्त सिद्ध हो जाती है ।

अत एव निपातानां द्योतकत्वं स्फोटस्य व्यङ्ग्यता च हर्यादिभिरुक्ता । द्योतकत्वं च—स्वसमभिव्याहृतपदनिष्ठशक्तिव्यञ्जकत्वमिति वैयाकरणाना-मप्येतत्स्वीकार आवश्यकः । एषा च शब्दतदर्थ-पदपदैकदेशवर्णरचनाचेष्टादिषु

सर्वत्र, तथैवानुभवात्। वक्त्रादि-वैशिष्ट्यज्ञानं च व्यङ्ग्यविशेषबोधे सहकारीति न सर्वत्र तदपेक्षेत्यन्यत्र विस्तरः।

वैयाकरणैरपि स्वीकार्येत्यत आह—अतएव=व्यञ्जनास्वीकारादेव। स्वम्=निपातादिपदम्, तत्समभिव्याहृतं यत् पदम्, तन्निष्ठशक्तिव्यञ्जकत्वमेव द्योतकत्वम्। निपातशब्दानां स्वातन्त्र्येण प्रयोगाभावात् मुख्यार्थाभावेन लक्षणाया असम्भवात् द्योतकतैवेति बोध्यम्। व्यञ्जनाऽस्वीकारे निपातानां द्योतकत्वस्योपपादनासम्भवात्। सर्वत्रेति। अभिधालक्षणे तु पदवाक्यमात्राश्रिते इयं तु सर्वत्र। अस्याः भेदद्वयम्—

(१) नियन्त्रितार्थविषयकधी-जनकत्वं शब्दव्यञ्जनात्वम्।

(२) वक्त्रादिवैलक्षण्यहेतुका प्रतिभाशालिनां याऽन्यार्थधीस्तद्धेतुव्यापारत्वमर्थ-व्यञ्जनात्वम्। वक्त्रादिति। काव्यप्रकाशोक्तवैशिष्ट्यस्य ज्ञानेन विशेषो विशेषो व्यङ्ग्यार्थबोधो जायतेऽत इदं सहकारिकारणत्वेन स्वीक्रियते इत्यर्थः। अन्यत्रेति। गुरुमञ्जूषादावित्यर्थः।

वैयाकरणों के लिये भी व्यञ्जना आवश्यक

(वैयाकरण भी व्यञ्जना स्वीकार करते हैं) इसीलिये भर्तृहरि आदि ने निपातों की द्योतकता और स्फोट की व्यङ्ग्यता कही है। (अर्थात् वैखरी ध्वनि से व्यङ्ग्य स्फोट माना है)। और द्योतकता—स्व (अपने)-समभिव्याहृत पद में रहने वाली शक्ति का व्यञ्जक होना (है)। इसलिये वैयाकरणों को भी इस व्यञ्जना को मानना आवश्यक है। और यह (व्यञ्जना)—शब्द, शब्दार्थ, पद, पदैकदेश, वर्ण, रचना एवं चेष्टा आदि में सर्वत्र रहती है, क्योंकि इसी प्रकार का अनुभव (होता है)। वक्ता आदि का वैशिष्ट्यज्ञान व्यङ्ग्यविशेष के बोध में सहकारी (कारण) है, इस लिये सभी स्थलों पर इन (वक्त्रादि-वैशिष्ट्य-ज्ञान) की अपेक्षा नहीं (होती है), इसका अन्यत्र (गुरुमञ्जूषादि ग्रन्थों में) विस्तृत वर्णन है।

यत्तु तार्किकाः—लक्षणयैव गतार्था व्यञ्जनेति न सा स्वीकार्येत्याहुः।

तन्न। लक्षणाया मुख्यार्थबाधपूर्वकलक्ष्यार्थबोधकत्वात्, मुख्यार्थसम्बद्धार्थस्यैव लक्षणाया बोधकत्वात्, व्यञ्जनाया अतथात्वेन तदनन्तर्भावाच्चेति दिक्।

[इति वृत्तिविचारः।]

—०—

लक्षणानुमानादिना व्यङ्ग्यार्थं साधयतां व्यञ्जनावृत्तिमस्वीकुर्वतां तार्किकाणां मतं प्रस्तौति—यत्त्विति। तेषामयमभिप्रायो यल्लक्षणयैव निर्वाहेऽतिरिक्तायाः स्वीकारे मानाभावः। तत्खण्डयति—तन्नेति। अयं भावः—यत्र पूर्वं मुख्यार्थस्य बाधो भवति तत्रैव लक्ष्यार्थबोधाय लक्षणा प्रवर्ततेऽत्र तु मुख्यार्थबाधाभावेऽपि विशेषार्थबोधो

दृश्यते तदर्थं व्यञ्जनाऽऽवश्यिकी । अपि च, शक्यार्थसम्बन्धो लक्षणेत्यनुसारं मुख्यार्थेन सम्बद्धस्यार्थस्यैव बोधो लक्षणया, व्यञ्जनया तु सर्वथाऽसम्बद्धोऽप्यर्थो बोध्यते इति लक्षणया व्यञ्जनाया न गतार्थत्वमिति बोध्यम् ।

अर्थनिष्ठापि व्यञ्जनेति प्रामाणिकाः । तथाहि—

रतिकाले विलोक्य श्रीर्नाभिपत्रे पितामहम् ।
रत्याकुलाच्छादयते दक्षिणं नयनं हरेः ॥ (का. प्र उदा० १३७)

इत्यादौ हरिपदेन दक्षिणनेत्रस्य सूर्यात्मकत्वं तत्सङ्कोचेन सूर्यास्तेन पद्मसङ्कोचस्तेन पितामहस्य स्थगनं तेनाप्रतिषिद्धं रतिविलसितमिति क्रमेण व्यङ्ग्येषु प्रतीयमानेषु तत्तदर्थानां प्रतीतेरनन्तरमेव व्यङ्ग्यार्थप्रतीतेरर्थस्यापि व्यञ्जकत्वस्यावश्यकत्वात् ।

पश्यात्र नलिनीपत्रे बलाका दृश्यतेऽचला ।
रम्ये मारकते पात्रे शुक्तिकेव च निर्मला ॥ (गाथा सप्तशती)

इत्यत्रापि वक्तृतात्पर्यविषयीभूतस्य वाच्यार्थस्य बाधाभावेऽपि तज्ज्ञानाभावेऽपि शुक्त्युपमया चात्रास्तत्वम्, तेन तस्य निर्जनत्वम्, तेन तदेवावयोः सङ्केतस्थानमित्यादिक्रमेण तत्तदर्थव्यङ्ग्यप्रतीतेः, मुख्यार्थबाधज्ञानसत्त्वे तदप्रतीतेश्च । पदस्य च स्वार्थबोधने उपरतत्वात्, पुनः पुनरनुसन्धाने गौरवम्, तदननुभवात् ।

किञ्च 'गतोऽस्तमर्क' इत्यादौ शिष्येण सन्ध्यावन्दनादेः कर्तव्यत्वाशयेन गुरुं प्रति प्रयुक्ताद् वक्तृतात्पर्याभावेऽपि प्रतिवेश्यादीनामभिसरणोपक्रमादिबोधस्य वाच्यार्थधीपूर्वकस्य वाच्यार्थबाधज्ञानेऽजायमानस्य लक्षणयोपपादयितुमशक्यत्वाच्च ।

ननु 'गतोऽस्तमर्क' इत्यादावेकसम्बन्धिदर्शनादपरसम्बन्धिस्मरणमितिवदुपपत्तिसम्भवान्नैतदर्थं व्यञ्जनावश्यिकीति चेन्न, 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यादिश्रवणोत्तरं सन्ध्यावन्दनकर्तव्यत्वं मया स्मृतमित्यनुव्यवसायाभावात् तत्तानुलेखात् । इदं पदमेतदर्थस्य न वाचकं नापि लक्षकं नापि स्मारकमपितु व्यञ्जनया बोधकमिति प्रामाणिकव्यवहारेणाप्यतिरिक्तत्सिद्धेः । असम्बद्धस्याप्यर्थस्य व्यङ्ग्यत्वाच्च लक्षणयाऽगतार्थत्वम् । व्यङ्ग्योऽर्थोनुमेय इत्यस्य त्वयुक्तता काव्यप्रकाशादौ निरूपिता, विरुद्धानैकान्तिकादिभ्यः व्याप्तिपक्षधर्मतादिनिर्णयाभावेऽपि व्यङ्ग्यार्थप्रतीतिरधोलिखितपद्ये प्रतिपादिता च ।

भ्रम धार्मिक ! विश्रब्धः स शुनकोद्य मारितस्तेन ।
गोदावरीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन ॥ (गाथा० २।७५)

एवञ्चातिरिक्तव्यञ्जनावृत्त्यनङ्गीकारे न निर्वाह इति दिक् ।

॥ इति व्यञ्जनानिरूपणम् ॥

॥ इति आचार्य-जयशङ्करलाल-त्रिपाठिकृतायां-भावप्रकाशिका-व्याख्यायां वृत्तिविचारः ॥

—o—

व्यञ्जना-विरोधी नैयायिकमत का खण्डन

लक्षणा से ही व्यञ्जना गतार्थ है इसलिये उसे नहीं मानना चाहिये—ऐसा जो नैयायिकों ने कहा है, वह (ठीक) नहीं है, क्योंकि लक्षणा मुख्यार्थ-बाध-पूर्वक लक्ष्यार्थ की बोधक होती है और यह (लक्षणा) मुख्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ का ही बोध कराती है (किन्तु) व्यञ्जना ऐसी नहीं है (अर्थात् लक्षणा से भिन्न स्थितियों वाली है) इसलिये उस (लक्षणा) में (व्यञ्जना का) अन्तर्भाव नहीं हो सकता है।

विमर्श—व्यञ्जना के लिये न तो मुख्यार्थबाध की आवश्यकता है और न मुख्यार्थसम्बन्धत्व की। जब कि लक्षणा के लिये इन दोनों की अनिवार्यता है।

नैयायिक लोग अनुमान द्वारा भी व्यञ्जना के कार्य का निर्वाह करने का तर्क देते हैं। परन्तु इसके खण्डन के लिये ध्वन्यालोक एवं काव्यप्रकाशादि में अनेक तर्क और प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं। उदाहरणार्थ निम्न पद्य देखा जा सकता है।

> भ्रम धार्मिक ! विश्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।
> गोदावरीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन ।। (गाथा सप्तशती २।७५)

इसमें नैयायिक लोग अनुमान द्वारा गोदावरीतट पर धार्मिकभ्रमणाभाव सिद्ध करते हैं। उनका तर्क है कि बस्ती में कुत्ते को भी देखकर डर कर भाग जाने वाला साधु गोदावरी के कछार में कुत्ते को मार डालने वाले सिंह की बात सुनकर वहाँ नहीं जा सकता है। इसलिये सिंहोपलब्धिरूप हेतु से साधुभ्रमणाभाव सिद्ध हो जाता है। इसके लिये व्यञ्जना की आवश्यकता नहीं है। अनुमानवाक्य इस प्रकार है—

१. प्रतिज्ञा या साध्य— गोदावरीतीरं भीरुभ्रमणायोग्यम्;
२. हेतु या साधन—भयकारणसिंहोपलब्धेः;
३. उदाहरण—यद् यत् भीरुभ्रमणयोग्यं तत्तत् भयकारणाभाववत् यथा गृहम्;
४. उपनय—न चेदं तीरं तथा भयकारणाभाववत्, सिंहोपलब्धेः;
५. निगमन—तस्मात् भीरुभ्रमणायोग्यम्;

इसका खण्डन करते हुये मम्मटाचार्य का यह कथन है कि यहाँ 'भीरुभ्रमणायोग्यत्व' को सिद्ध करने के लिये 'सिंहोपलब्धि' को हेतुरूप में प्रस्तुत किया गया है; किन्तु यह हेतु नहीं, अनैकान्तिक हेत्वाभास है। जहाँ-जहाँ भीरुभ्रमण होता है वहाँ वहाँ भय के कारण का अभाव होता है—ऐसी व्याप्ति नहीं है। क्योंकि भय के कारणों को जानते हुये भी युद्धादि में राजा की आज्ञा से अथवा कहीं प्रिया के अनुराग से लोगों का जाना देखा जाता है।

यहाँ हेतु का गोदावरीतीररूप पक्ष में रहना निश्चित भी नहीं है क्योंकि वहाँ सिंह की सत्ता बताने वाली पुंश्चली नायिका है, कोई आप्त व्यक्ति नहीं है। अतः स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास भी है।

कुत्ते के अस्पृश्य होने से डरने पर भी वीर होने के कारण सिंह से नहीं डरता है। इसलिए विरुद्ध हेत्वाभास भी है। अतः व्यञ्जना को माने बिना अनुमान से साधु-भ्रमणाभाव सिद्ध करना कठिन है।

इस विषय में ध्वन्यालोक एवं काव्यप्रकाशादि ग्रन्थों के पञ्चम उल्लास में विस्तृत विवेचन किया गया है। वहीं देखना चाहिये।

। व्यञ्जना-विवेचन समाप्त।

।। इस प्रकार आचार्य जयशङ्कर लाल त्रिपाठिविरचित बालबोधिनी
हिन्दी व्याख्या में वृत्तिविचार समाप्त हुआ ।।

—०—

[अथ स्फोटनिरूपणम्]

ननु कोऽयं वृत्याश्रयः शब्दः? वर्णाः प्रत्येकमिति चेद्, न; द्वितीयादि-वर्णोच्चारणवैयर्थ्यापत्तेः। नापि वर्णसङ्घातः। उच्चरितप्रध्वंसित्वेन यौगपद्या-सम्भवात्। अभिव्यक्तेरुत्पत्तेर्वा क्षणस्थायित्वात्क्षणात्मककालस्य प्रत्यक्षायोग्य-त्वेन तदवच्छिन्नवर्णस्याप्यप्रत्यक्षत्वात्। उच्चारणाधिकरणकालोत्तरकाल-वृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वमुच्चरितप्रध्वंसित्वम्। 'इको यणचि' (पा० सू० ६।१।७७) इत्यादौ 'तस्मिन्' (पा० सू० १।१।६६) इतिपरिभाषोपस्कृत-वाक्यार्थेऽयं पूर्वोऽयं पर इति नष्टस्य प्रत्यक्षविषयेदंशब्देन पौर्वापर्यव्यवहारा-योगाच्च।

शाब्दबोधकारणीभूतां वृत्तिं तद्भेदांश्च निरूप्य तद्वृत्तेराश्रयविषयिणीमाकाङ्क्षा-मुपशमयितुं विचारमारभते—नन्वित्यादिना। अत्रेदं बोध्यम्—नैयायिकादयो वैखरी-वाचमेव वाचकत्वेनाश्रित्यानित्यतां शब्दस्य प्रतिपादयन्ति। मीमांसकास्तु शब्दस्य नित्यत्वमङ्गीकुर्वन्तोऽपि न तस्य स्फोटरूपत्वं स्वीकुर्वन्ति। वैयाकरणास्तु वैखरी-ध्वनिभिर्व्यज्यमानमखण्डं विभु नित्यं स्फोटरूपमेव शब्दं प्रतिपादयन्ति। अत एवात्र स्फोटप्रकरणे नैयायिकादीनां मतमुपस्थाप्य निराकरोति ग्रन्थकारः। प्रत्येकमिति। अस्य पर्याप्तिसम्बन्धेन वृत्याश्रय इति शेषः। अयं भावः—वर्णाः वृत्याश्रयाः=वाचका इति यदि स्वीक्रियते तदा प्रथमेनान्येन वैकेनैव वर्णेन बोधसम्भवेऽन्येषामुच्चारणवैयर्थ्यं स्पष्टमेव। किञ्चैवं धनं वनमित्यादावर्थवत्त्वेन प्रातिपदिकत्वान्नलोपाद्यापत्तेः। प्रतिवर्ण-मर्थस्मरणस्यानुभवविरुद्धत्वाद् गुरुत्वाच्च। नापि संहता इति। अयमाशयः—तार्किकमते योग्यविभुविशेषगुणानां स्वोत्तरयोग्यविभुविशेषगुणनाश्यत्वम्। एवञ्च वर्णानां यौगपद्यास-म्भवेन समुदायासम्भवः। वर्णविषये उत्पत्तिपक्षोऽभिव्यक्तिपक्षश्च। उभयपक्षेऽपि

क्षणात्मककालावच्छिन्न एव वर्णः, तदात्मककालस्य यथा प्रत्यक्षत्वासम्भवस्तथैं तत्कालावच्छिन्नवर्णस्यापीति बोध्यम्। उच्चारणस्याधिकरणं यः कालस्तदुत्तरकाल-वृत्तिर्योध्वंसस्तत्प्रतियोगित्वमुच्चरितप्रध्वंसित्वम्। एवञ्च एककालावच्छेदेन वर्णानां समुदायस्य कथमप्यसम्भवेन समुदायस्य वृत्त्याश्रयत्वं=वाचकताशक्त्याश्रयत्वं न सम्भवतीति बोध्यम्। इकोयणचीति। अयं भावः—"इको यणचि" (पा० सू० ६।१।७७) इति सूत्रस्यार्थबोधाय व्यवस्थार्थं "तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य" (पा० सू० १।१।६६) इति परिभाषासूत्रमुपस्थितं भवति। तेन च पूर्वत्वस्य अव्यवहितत्वस्य चोपस्थिति-र्भवति। अत्र च 'अयं (इगित्यर्थः) पूर्वः, अयम् (अजित्यर्थः) पर' इति इदंशब्द-घटितेन अभिलापेनाभिलप्यमानं पौर्वापर्यज्ञानमसम्भवम्—नष्टस्य वर्णस्य प्रत्यक्षविषय-केण इदंशब्देन परामर्शासम्भवात्। एवं च एतज्ज्ञानाभावे सूत्राद्यप्रवृत्तिरिति बोध्यम्।

स्फोट-विवेचन

विमर्श—ग्रन्थ के प्रारम्भ में यह उल्लेख किया जा चुका है कि स्फोट शब्द ही वास्तव में वाचक है। कानों से सुनी जाने वाली वैखरी ध्वनि को वाचक मानना असम्भव है। कारण यह है कि यदि प्रत्येक वर्ण को वाचक मानते हैं तो प्रथम वर्ण से ही वाचकत्व सिद्ध हो जाने पर द्वितीय एवं तृतीय आदि वर्णों का उच्चारण व्यर्थ होने लगेगा। यदि यह कहें कि प्रत्येक वर्ण नहीं अपितु वर्णों का समुदाय वाचक है, तो यह नहीं कह सकते हैं क्योंकि वर्ण तो उच्चारणकाल के बाद नष्ट होने वाले हैं। कभी भी दो या अधिक वर्णों का एक साथ मिल सकना कठिन है। वर्णों की उप-लब्धि के विषय में दो पक्ष हैं (१) उत्पत्तिपक्ष और (२) अभिव्यक्ति पक्ष। दोनों पक्षों में वर्ण क्षणस्थायी ही हैं। क्षणात्मक काल का प्रत्यक्ष सम्भव न होने से तत्कालावच्छिन्न वर्ण का भी प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है। इसलिए वर्णसमुदाय कभी नहीं मिल सकता। उसकी वाचकता कठिन है।

वर्णसमुदाय और उसमें वाचकता का उपपादन करने के लिए नैयायिक लोग तीन मार्गों का आश्रय लेते हैं—

१—जो जो वर्ण सुना जाता है उस उसका संस्कार बनता जाता है। इस संस्कार के कारण उत्तरोत्तर वर्णों में अव्यवहितोत्तरत्व सम्बन्ध से पूर्व-पूर्व-वर्णवत्ता का ज्ञान होता रहता है। अर्थात् द्वितीय वर्ण में प्रथम वर्ण का और तृतीय वर्ण में प्रथमवर्णविशिष्ट द्वितीयवर्णवत्ता का ज्ञान हो जाता है। यह क्रम सम्पूर्ण पद की प्रत्यक्षता तक चलता रहता है। इस प्रकार पदप्रत्यक्ष हो जाता है।

२—जैसे एक तरङ्ग स्वसमान ही दूसरी तरङ्ग को उत्पन्न करती रहती है उसी प्रकार प्रत्येक शब्द [वर्ण] भी स्वसमानाकार दूसरे शब्द को उत्पन्न करता रहता है। यह उत्पत्ति-प्रक्रिया अन्तिम वर्ण के प्रत्यक्ष होने तक चलती रहती है। अतः

अन्तिम वर्ण प्रत्यक्षकाल में सभी पूर्व वर्णों की सत्ता एवं प्रत्यक्षता रहती है। अतः वर्णसमुदाय पदादि का प्रत्यक्ष होना सम्भव है।

३—जो जो वर्ण सुने जाते हैं उनका अनुभवात्मक ज्ञान होता है। उस अनुभव से संस्कार उत्पन्न होता है। इस प्रकार पूर्व वर्णों का अनुभवजन्य संस्कार और अन्तिम वर्ण का प्रत्यक्षात्मक अनुभव रहता है। अतः पूर्व-पूर्व वर्णों के अनुभव से जन्य संस्कार-सहचरित अन्तिम वर्ण के अनुभव से पद का प्रत्यक्ष होता है और उससे बोध होता है।

किन्तु मञ्जूषाकार ने उपर्युक्त तीनों मतों का खण्डन किया है। नैयायिकों के प्रथम पक्ष में पूर्व वर्ण विनष्ट रहता है और उत्तर (अन्तिम) वर्ण विद्यमान रहता है। अर्थात् एक नष्ट और दूसरा विद्यमान है। इन नष्ट और विद्यमान का अव्यवहितोत्तरत्व सम्बन्ध ही नहीं माना जा सकता। और एक साथ स्थित न होने से—यह पूर्व है, यह पर है—ऐसा व्यवहार जो व्याकरण शास्त्र के सूत्रों की प्रवृत्ति के लिये आवश्यक है, नहीं उपपन्न हो सकता।

द्वितीय पक्ष के अनुसार पद का प्रत्यक्ष तो किसी प्रकार हो सकता है, किन्तु वह वाचकता-शक्ति का आश्रय नहीं माना जा सकता, क्योंकि नैयायिकों के अनुसार शब्द अनित्य, विनाशी है। नष्ट वस्तु किसी का आश्रय नहीं बन सकती है। यदि नष्ट शब्द को भी वाचकता-शक्ति का आश्रय मानने का दुराग्रह करेंगे तो 'नष्टो घटो जलवान्' आदि भी व्यवहारों की आपत्ति होगी।

तृतीय पक्ष में यह दोष है कि जिस क्रम से अनुभव होता है उसी क्रम से उसका संस्कार रहता हो, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। इसलिये 'सरो रसः' आदि में विपरीत क्रम से भी संस्कार और स्मरण हो सकता है।

इस उपर्युक्त विवेचन के अनुसार नैयायिकों के मत में पद बनना और उसको वाचकता-शक्ति का आश्रय बनाना कठिन है। इस स्थिति में स्फोटरूप शब्द को ही वाचकताशक्त्याश्रय = वाचक मानना उचित है। क्योंकि वह स्फोट नित्य, विभु एवम् अखण्ड है। इसी का विवेचन प्रारम्भ किया जा रहा है—

अनु०—(शाब्दबोध की कारणभूत) वृत्ति का आश्रय शब्द कौन है? (किस प्रकार के शब्द में वाचकता शक्तिरूपा वृत्ति रहती? वाचक कौन है?) प्रत्येक वर्ण (शक्त्याश्रय है); ऐसा यदि (कहो) तो नहीं, क्योंकि द्वितीय (तृतीय) आदि वर्णों का उच्चारण व्यर्थ होने लगेगा। (अर्थात् प्रथम वर्ण के ही शक्त्याश्रय होने पर उसी से बोधरूप कार्य उपपन्न हो जाने पर द्वितीय या तृतीय आदि वर्णों के उच्चारण की आवश्यकता नहीं है, उनका उच्चारण व्यर्थ होने लगेगा।) और न

वर्णसमुदाय (ही शक्ति का आश्रय = वाचक माना जा सकता है); क्योंकि उच्चरित-प्रध्वंसी होने से (वर्णों का) एक साथ होना (समुदाय बनना) सम्भव नहीं है। अभिव्यक्ति अथवा उत्पत्ति के क्षणस्थायी होने से क्षणात्मक काल के प्रत्यक्ष योग्य न होने से उस (क्षणात्मक) काल से अवच्छिन्न वर्ण का भी प्रत्यक्ष नहीं होता है। उच्चारण काल के अधिकरण काल से उत्तरवर्ती काल में होने वाले ध्वंस का प्रतियोगी होना—उच्चरितप्रध्वंसी होना है। (प्रथम क्षण में 'घ' का उच्चारण होता है, यह इसके उच्चारण का अधिकरण काल है। इसके बाद उसका ध्वंस= विनाश होता है। इस ध्वंस = अभाव का प्रतियोगी 'घ' है। इसी प्रकार अन्य वर्ण भी उच्चरितप्रध्वंसी हो जाते हैं। अतः एक साथ एक काल में वर्ण नहीं मिल सकते हैं। इनका समुदाय नहीं बन सकता है।) और "इको यणचि" (पा० सू० ६।१।७७) इत्यादि में "तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य" (पा० सू० १।१।६६) इस परिभाषा सूत्र द्वारा उपस्कृत = बोधित वाक्यार्थ में—यह (इक्) पूर्व है यह (अच्) पर है—ऐसा–नष्ट वर्ण का प्रत्यक्षविषयक = प्रत्यक्षबोधक इदम् शब्द से पौर्वापर्य व्यवहार नहीं हो सकता है।

विमर्श—"इको यणचि (पा० सू० ६।१।७७) यह विधि सूत्र है। इसके असन्दिग्ध अर्थ का निर्णय करने के लिये "तस्मिन्निति निर्दिष्टे" (पा० सू० १।१।६६) इस परिभाषा सूत्र की उपयोगिता है। यह सूत्र उक्त विधि सूत्र में अव्यवहितत्व और पूर्वत्व अंशों की उपस्थिति कराता है। इसमें 'यह पूर्व है यह पर है—अयं पूर्वः अयं परः—यह इदं शब्दघटित व्यवहार होता है। इदं शब्द सन्निकृष्ट प्रत्यक्ष पदार्थ का परामर्श करता है, विनष्ट पदार्थ का नहीं।

यत्तु तार्किकाः—वर्णानामनित्यत्वेऽपि उत्तरोत्तरवर्णे पूर्वपूर्ववर्णवत्त्वमव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्धेन संस्कारवशाद् गृह्यत इति पदस्य प्रत्यक्षत्वाच्छाब्दबोधः।

यद्वा पूर्वपूर्ववर्णजाः शब्दाः शब्दजशब्दन्यायेन चरमवर्णप्रत्यक्षपर्यन्तं जायमाना एव सन्तीति न पदप्रत्यक्षानुपपत्तिः।

यद्वा पूर्वपूर्ववर्णानुभवजन्यसंस्कारसध्रीचीनचरमवर्णानुभवतः शाब्दबोध इत्याहुः।

तार्किकाभिमतपदप्रत्यक्षत्वस्य खण्डनाय तन्मतमनुवदति—यत्त्विति। अयं भावः-पूर्वं यो वर्णः श्रुतः, तस्य अनुभवजन्यः संस्कारो जातः, द्वितीयवर्णश्रवणकाले प्रथमवर्णस्य नाशे सत्यपि तस्य संस्कारस्य विद्यमानता, एवमेव तृतीयवर्णानुभवकाले द्वितीयवर्णस्यापि नाशे सत्यपि तस्यापि संस्कारो विद्यते। अयं क्रमः पदप्रत्यक्षपर्यन्तं चलति। एवञ्च द्वितीयवर्णश्रवणकाले संस्कारवशादव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्धेन प्रथम-

वर्णवत्त्वं स्मर्यते तृतीयवर्णप्रत्यक्षकाले च उपस्थितो यः स्वाव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्धेन वर्णविशिष्टो वर्णः' तद्विशिष्टत्वं तेनैव सम्बन्धेन तृतीयादिवर्णेषु गृह्यते। एवं रीत्या पदज्ञानं सुलभम्। तेन च शाब्दबोधः। एवञ्च पूर्वपूर्ववर्णानुभवजन्यसंस्कारविशिष्टचरमवर्णानुभव एव वर्णगोचरां स्मृतिं जनयतीति बोध्यम्। नैयायिकानां द्वितीयोऽयं पक्षो यत् यथोत्पन्ना वीचिः वीच्यन्तरमुत्पादयन्ती तडागान्तं याति एवमेवोत्पन्नः एकः शब्दोऽपि स्वसमानाकारमेव शब्दमुत्पादयन् पदप्रत्यक्षपर्यन्तं तिष्ठति। एवञ्च सर्वेऽपि वर्णाः पदप्रत्यक्षपर्यन्तं जायमानाः सन्तः पदप्रत्यक्षं जनयन्ति। तत्र वीचिर्वीच्यन्तरमुत्पाद्य नश्यति वर्णस्तु तिष्ठत्येवेति उभयोर्भेद इति बोध्यम्।

आनुपूर्वीज्ञानविषयको नैयायिकानां तृतीयोऽयं पक्षो यत् पूर्वपूर्ववर्णानामनुभवेन तेषां संस्कारो जायते तत्संस्कारसहचरितचरमवर्णस्यानुभवादेव शाब्दबोधो जायते।

नैयायिक मत

अनु०—नैयायिक लोग जो यह कहते हैं :—

(१) वर्णों के अनित्य होने पर भी (पूर्व-पूर्व वर्ण के) संस्कार के कारण उत्तरोत्तर वर्ण में अव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्ध से पूर्व-पूर्ववर्णवत्ता गृहीत (ज्ञात) होती है; इस प्रकार पद के प्रत्यक्ष होने से शाब्दबोध (होता है)।

(२) अथवा शब्दजशब्दन्याय से पूर्व-पूर्व वर्ण से होने वाले शब्द अन्तिम वर्ण के प्रत्यक्ष तक उत्पन्न होते ही रहते हैं इस प्रकार पदप्रत्यक्ष की अनुपपत्ति नहीं है।

(३) अथवा पूर्व-पूर्व वर्णों के अनुभव से होने वाले संस्कार से सहचरित अन्तिम वर्ण के अनुभव से शाब्दबोध (होता है)।

विमर्श—जैसे पानी की तरंगे स्वसमान आकार वाली अन्य तरंगों को उत्पन्न कराती रहती हैं उसी प्रकार एक शब्द स्वसमानाकार दूसरे शब्दों को उत्पन्न कराता रहता है और यह प्रक्रिया अन्त तक चलती है। इससे पद का प्रत्यक्ष हो जाता है। इसे शब्दजशब्दन्याय कहा जाता है।

तन्न। आद्येऽयं पूर्वोऽयं पर इत्यभिलापासम्भवेन अव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्धायोगात्। नष्टविद्यमानयोरव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्धस्य वक्तुमशक्यत्वाच्च। द्वितीये शब्दजशब्दन्यायेन पदप्रत्यक्षोपपादनेऽपि पदस्याविद्यमानत्वेन तत्र शक्त्याश्रयत्वस्य ग्रहानुपपत्तेः। अविद्यमाने आश्रयत्वाङ्गीकारे नष्टो घटो जलवानित्याद्यापत्तेश्च। तृतीये येन क्रमेणानुभवस्तेनैव क्रमेण तत्संस्कारस्थितिरित्यत्र विनिगमकाभावात् सरो रसो नदी दीन इत्यादौ विपरीतसंस्कारोद्बोधेन प्रत्येकमन्यार्थप्रत्ययापत्तेः। उत्पत्तिविनाशवद्वर्णसमुदायरूपपदस्य मनुष्यादिवद्भेदे 'एक इन्द्रशब्दः क्रतुशते प्रादुर्भूतो युगपत्सर्वयागे-

ष्वङ्गं भवति' [म०भा० १।२।६४] इति भाष्यविरोधापत्तेश्च। प्रादुर्भूतोऽभिव्यक्तः।

पूर्वोक्तानि मतानि निराकरोति–तन्नेति। प्रथमपक्षे नष्टविद्यमानेषु वर्णेषु प्रत्यक्षविषयकेण इदंशब्देन 'अयं पूर्वोऽयं पर' इति अभिलापासम्भवेन अव्यवहितोत्तरत्व-सम्बन्धस्य वक्तुमशक्यत्वात्। इदमेव द्रढयति–नष्टेति। पूर्वस्य नष्टस्य परस्य विद्यमानस्य च अव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्धस्यैव वक्तुमशक्यत्वात्। द्वितीयपक्षे दोषमुद्भावयति—द्वितीये त्विति। शब्दजशब्दन्यायपक्षे यद्यपि पदप्रत्यक्षोपपादनं सम्भवति तथापि तत्पदं न विद्यमानम्। एवञ्च तस्मिन् शक्त्याश्रयताया ज्ञानस्यानुपपत्तिः स्पष्टैव। यदि अविद्यमानेऽपि पदे वृत्त्याश्रयता स्वीक्रियते तदा नष्टो घटो जलवानित्याकारज्ञानस्यापि प्रमात्वापत्तिः। अनुभवानुसारं संस्कारेऽपि क्रम इति नानुभवसिद्धम्, दृश्यते च प्रपूर्वेद्युरनुभूतमस्मृत्वा पूर्वेद्युरनुभूतस्य स्मरणम्। एवञ्च विनिगमकाभावात् सरो रसः, दीनः, नदी इत्यादौ विपरीतसंस्कारोद्बोधनस्यापि सम्भवेन प्रत्येकं शब्दात् अन्यस्याप्यर्थबोधापत्तिरिति भावः। किञ्च वर्णानामुत्पत्तिस्वीकारे तत्र भेदस्यापि अनिवार्यतया यथोत्पत्तिमत्सु मनुष्येषु भेदो दृश्यते तथैवोत्पत्तिविनाशवतां वर्णानां समुदायरूपस्य पदस्यापि भेदापत्तिः। एवञ्च "एक इन्द्रशब्दः क्रतुशते प्रादुर्भूत०" इत्यादि भाष्याद् विरोधः स्पष्ट एव। अनेन भाष्येण एकत्वस्योक्तत्वात्, नैयायिकरीत्याऽनेकत्वस्य निराकर्तुमशक्यत्वात्।

नैयायिकादिसिद्धान्ते प्रसक्तानां दोषाणां विस्तरेणोल्लेखो लघुमञ्जूषायां कृतस्तत एव जिज्ञासुभिर्बोध्यम्।

एवञ्च नैयायिकादिमते पदवाक्ययोरभावेन पदपदार्थ-सम्बन्धस्यैव विनाशः। तदुक्तं भर्तृहरिणा—

अशब्दो यदि वाक्यार्थः पदार्थोऽपि तथा भवेत्। (वा० प० २।१६)

पदसमुदायात्मकवाक्यस्येव वर्णसमुदायरूपपदस्याप्यभावात्, उभयोरप्यनयोरर्थसम्बन्धात् सम्बन्धहानिरपरिहार्या। सा च न स्वीकार्या—शब्दार्थसम्बन्धानां नित्यत्वस्वीकारादिति भावः।

नैयायिकमत का खण्डन

अनु०—वह (उपर्युक्त नैयायिकमत ठीक नहीं (है), क्योंकि प्रथमपक्ष में 'यह पूर्व है, यह पर है' ऐसा व्यवहार सम्भव न होने के कारण अव्यवहितोत्तरत्व-सम्बन्ध नहीं बन सकता है। और नष्ट तथा विद्यमान (सम्बन्धी वर्णों) का अव्यवहितोत्तरत्व-सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता।

विमर्श—'यह पूर्व है यह पर है' ऐसा व्यवहार एक स्थान या एक काल में विद्यमान दो वस्तुओं को मान कर ही होता है। किन्तु नैयायिक मतानुसार अनित्य

होने के कारण एक काल में अनेक वर्णों का उक्त व्यवहार नहीं बन सकता है। इस लिये पौर्वापर्य का ज्ञान नहीं हो सकता है। अव्यवहितोत्तरत्व का ज्ञान न होने पर पदज्ञान भी सम्भव नहीं है।

अनु०—द्वितीय (पक्ष) में–शब्दजशब्दन्याय से पदप्रत्यक्ष का उपपादन होने पर भी (नैयायिकमत में वर्णों के अनित्य होने से) पद के विद्यमान न होने के कारण उसमें शक्त्याश्रयत्व (शक्ति के आश्रय = वाचक होने) का ज्ञान नहीं हो सकता है। अविद्यमान (भी) वर्णों में (वाचकता शक्ति की) आश्रयता मानने पर 'नष्ट घट जलवाला है' आदि (व्यवहार) भी होने लगेगा।

तृतीय (पक्ष) में – जिस क्रम से (वर्णों का) अनुभव होता है उसी क्रम से उनका संस्कार (भी) रहता है––इसमें किसी प्रमाण के न होने के कारण 'सरः रसः, नदी दीनः' इत्यादि में विपरीत संस्कार के उद्‌बोध से (इनमें) प्रत्येक से दूसरे के अर्थ का ज्ञान होने लगेगा। और उत्पत्तिविनाशशाली वर्णों के समुदायरूप पद का (उत्पत्तिविनाशवाले—जन्ममरणवाले) मनुष्यादि के समान भेद होने पर "एक इन्द्र शब्द सैकड़ों यज्ञों में प्रादुर्भूत=अभिव्यक्त होता हुआ एक साथ सभी यज्ञों में अङ्ग बनता है" इस भाष्य से विरोध होने लगेगा। (भाष्य में) प्रादुर्भूत=अभिव्यक्त (यह अर्थ है)।

विमर्श––अनुभव के समान ही संस्कार होता है इसमें कोई प्रमाण नहीं है, विपरीत भी संस्कार हो सकता है। ऐसी स्थिति में सर से रस और रस से सर का संस्कार और स्मरण होने पर एक से दूसरे के अर्थ का ज्ञान होने लगेगा। वर्णों की उत्पत्ति और विनाश मानने पर उनमें भेद होना अनिवार्य है क्योंकि ऐसा ही देखा जाता है। इस स्थिति में 'एक इन्द्र शब्द एक साथ सभी यज्ञों का अङ्ग होता है' इस भाष्य से विरोध होना स्पष्ट है।

ननु कस्तर्हि वृत्त्याश्रयश्शब्दः ? स स्फोटात्मक इति गृहाण।

ननु कोऽयं स्फोटः ? उच्यते। चतुर्विधा हि वागस्ति—परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरी च। तत्र मूलाधारस्थपवनसंस्कारीभूता मूलाधारस्था शब्द-ब्रह्मरूपा स्पन्दशून्या बिन्दुरूपिणी परा वागुच्यते। नाभिपर्यन्तमागच्छता तेन वायुनाऽभिव्यक्ता मनोगोचरीभूता पश्यन्ती वागुच्यते। एतद्‌द्वयं वाग्ब्रह्म योगिनां समाधौ निर्विकल्पकसविकल्पकज्ञानविषय इत्युच्यते। ततो हृदयपर्यन्तमागच्छता तेन वायुनाऽभिव्यक्ता तत्तदर्थवाचकस्फोटशब्दरूपा श्रोत्रग्रहणायोग्यत्वेन सूक्ष्मा जपादौ बुद्धिनिर्ग्राह्या मध्यमा वागुच्यते। तत आस्यपर्यन्तमागच्छता तेन वायुनोर्ध्वमाक्रामता च मूर्धानमाहत्य परावृत्य च तत्तत्स्थानेष्वभिव्यक्ता परश्रोत्रेणापि ग्राह्या वैखरी वागुच्यते।

तदाह—

परा वाङ् मूलचक्रस्था पश्यन्ती नाभिसंस्थिता ।
हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया वैखरी कण्ठदेशगा ।। इति ।
वैखर्या हि कृतो नादः परश्रवणगोचरः ।
मध्यमया कृतो नादः स्फोटव्यञ्जक उच्यते ।।

इति च ।

पूर्वोक्तरीत्या पदस्यासिद्धया तस्य वृत्याश्रयत्वासम्भवे स्फोटरूपशब्दस्य वृत्याश्रयतां निरूपयितुं प्रश्नमुखेनाह—ननु क इति । सः=वृत्याश्रयः, वाचक इति यावत् । स्फोटरूपः शब्द एव वृत्याश्रयः न तु वैखरीरूपा ध्वनय इति भावः । तत्र=चतुर्विधासु वाक्षु, मूलाधारः=षण्णवत्यङ्गुलो देहायामः, तत्राङ्गुलार्धसहितं सप्तचत्वारिंशदङ्गुलात्मकमधः उपरि च परित्यज्यैकाङ्गुलपरिमितेन मध्ये 'मूलाधार' इत्युच्यते । तदुक्तम्

पाय्वङ्गाद्द्व्यङ्गुलादूर्ध्वं लिङ्गाच्च द्व्यङ्गुलादधः ।
मध्यमेकाङ्गुलं यच्च देहमध्यं प्रचक्षते ॥

एवञ्च मूलाधारे=कुण्डलिन्यां स्थितो यो पवनस्तत् संस्कारीभूता, तेन संस्कृता, तेनाभिव्यञ्जिता, यद्यपि परा वाक् शब्दब्रह्मरूपा, सर्वगताऽस्ति तथापि प्राणिनां मूलाधारे कुण्डलिन्यां संस्कृतपवनचलनेनाभिव्यज्यते, "ज्ञातमर्थं विवक्षोः पुंस इच्छया जातेन प्रयत्नेन योगे एव मूलाधारस्थ पवनसंस्कारः, तेन संस्कारेण अभिव्यञ्जितेत्यर्थः। तदुक्तं "मूलाधारादुत्थितः पवनो नाडीद्वारा कार्याणि करोति" इति पातञ्जले भाष्ये ।" मूलाधार एव पवनोऽप्युत्पद्यते । तदुक्तं प्रपञ्चसारे—

देहेऽपि मूलाधारे तु समुदेति समीरणः ।। (प्रपञ्च सा० तं० पट० १ श्लोक ९१) स्पन्दशून्या=क्रियाशून्या, (पश्यन्त्यां स्पन्दसामान्यं, मध्यमायां तु स्पन्दविशेष इति बोध्यम्), बिन्दुरूपिणी=बिन्दुरूपा परा वाक्=शब्दब्रह्मेत्यर्थः । तदुक्तं भर्तृहरिणा—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ।। (वा० प० १।१)

तेन=संस्कृतेन, मनोगोचरीभूता=मनोमात्रविषया नत्विन्द्रियविषयेत्यर्थः, एतद्द्वयम्=परारूपं पश्यन्तीरूपं च शब्दब्रह्म समाधौ, समाधिस्तु सूतसंहितायाम्—

सोऽहं ब्रह्म न संसारी, न मत्तोऽन्यत् कदाचन ।
इति विद्यात्स्वमात्मानं स समाधिः प्रकीर्तितः ।।
समाधिस्तु समाधानं जीवात्मपरमात्मनोः ।
ब्रह्मण्येव स्थितिर्या सा समाधिः प्रत्यगात्मनः ।।

इत्यादि लक्षणायाम् । निर्विकल्पकं=चिन्मात्रविषयकम् निर्गतो विकल्पो=विशेष्य-

विशेषणभावो यस्मात् तत् निर्विकल्पकम्, 'अयं घट' इत्याकारकं ज्ञानं समवायेन घटत्वविशिष्टं ज्ञानं व्यवसायात्मकं सविकल्पं जायते। तेन=संस्कृतपवनेन, अभिव्यक्तेति हृदयदेशे इति शेषः। श्रोत्रग्रहणायोग्यत्वेन=परश्रोत्रग्रहणायोग्यत्वेनेत्यर्थः (स्वयं तु कर्णपिधाने सूक्ष्मतरवाय्वभिघातेन उपांशुशब्दप्रयोगे च श्रूयमाणा) सूक्ष्मा जपादौ=उपांशूच्चारणे इत्यर्थः, उपांशुशब्दश्च यथा जले निमग्नस्य। मूलचक्रस्था=कुण्डलिन्यां स्थिता, एषा च पूर्वमेव प्रतिपादिता। मध्यमावैखरीभ्यामुभाभ्यामपि नादः क्रियते, तत्र मध्यमानादः स्फोटरूपशब्दस्य व्यञ्जकः, वैखरीनादः सर्वेषां श्रावणप्रत्यक्षविषयो भवतीति बोध्यम्।

स्फोटरूपी शब्द वृत्त्याश्रय

अनु०—(उपर्युक्त स्थिति में) फिर कौन-सा शब्द वृत्ति का आश्रय है? (यदि ऐसा प्रश्न करो तो उत्तर है) वह (शब्द) स्फोटात्मक है, ऐसा समझ लो।

स्फोटस्वरूप का प्रतिपादन

यह स्फोट क्या है? (इस प्रश्न के उत्तर में) कहा जाता है—चार प्रकार की वाक्=वाणी है—(१) परा (२) पश्यन्ती (३) मध्यमा (४) वैखरी। इन (चारों) में मूलाधार में स्थित पवन की संस्कारीभूत (मूलाधारस्थ पवन संस्कार से अभिव्यक्त होने वाली), मूलाधार में स्थित, शब्दब्रह्मरूपिणी, स्पन्दशून्या=चेष्टाशून्य, बिन्दुरूपिणी परावाक् कही जाती है। नाभिपर्यन्त आने वाले उस (संस्कृत) वायु से अभिव्यक्त होने वाली, मनोगोचरीभूता (केवल मन का विषय बनने वाली) पश्यन्ती वाक् कही जाती है। ये (परा एवं पश्यन्ती) दोनों वाग्ब्रह्म योगियों की समाधि में (क्रमशः) निर्विकल्पक एवं सविकल्पक ज्ञान के विषय हैं—ऐसा कहा जाता है। उस (नाभि) से हृदय तक आने वाली उस संस्कृत वायु से अभिव्यक्त, उन-उन अर्थों के वाचक शब्दस्फोट रूप, (दूसरे के) श्रोत्र द्वारा ग्रहण के योग्य न होने से सूक्ष्मा, (किन्तु) जपादि में बुद्धि से गृहीत होने वाली मध्यमावाक् कही जाती है। उस (हृदय) से मुख तक आने वाली और ऊपर (मूर्धा) की ओर जाने वाली उस (संस्कृत) वायु द्वारा मूर्धा का आघात करके (अर्थात् आगे निकलने का स्थान न पाकर मूर्धा से टकराकर) और (नीचे वापस लौटकर (मुख में कण्ठ तालु आदि) उन-उन उच्चारण स्थानों में अभिव्यक्त होने वाली, दूसरे के कानों से भी ग्रहण करने योग्य वैखरीवाक् कही जाती है। जैसा कि कहा है—

परावाक् मूलचक्र में स्थित रहने वाली है। पश्यन्ती नाभि में स्थित रहने वाली है। मध्यमा हृदय में स्थित रहने वाली और वैखरी को कण्ठ में रहने वाली समझना चाहिए।

और, वैखरी द्वारा किया गया नाद दूसरों के श्रवणगोचर (सुनने योग्य) होता है। मध्यमा द्वारा किया गया नाद स्फोट का व्यञ्जक कहा जाता है।

युगपदेव मध्यमावैखरीभ्यां नाद उत्पद्यते । तत्र मध्यमानादोऽर्थवाचकस्फोटात्मकशब्दव्यञ्जकः । वैखरी नादो ध्वनिः सकलजनश्रोत्रमात्रग्राह्यो भेर्यादिनादवन्निरर्थकः । मध्यमानादश्च सूक्ष्मतरः कर्णपिधाने जपादौ च सूक्ष्मतरवायुव्यङ्ग्यः शब्दब्रह्मरूपस्फोटव्यञ्जकश्च । तादृशमध्यमानादव्यङ्ग्यः शब्दः स्फोटात्मको ब्रह्मरूपो नित्यश्च ।

तदाह हरिः—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।

विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ।। वा०प०१।१ इति ।

आशयं वर्णयति—युगपदेवेत्यादिना । भेर्यादीति=यथा भेर्यादीनां शब्दश्रवणेन कस्याप्यर्थस्य बोधो न जायते एवमेव वैखरीनादोऽपि निरर्थक एव । एतस्योपयोगस्तु मध्यमानादाभिव्यक्तस्य स्फोटस्य परश्रवणप्रत्यक्षविषयतासम्पादने । तत्=ब्रह्मरूपत्वम् । हरिणा=भर्तृहरिणा । अनादिनिधनम् = आद्यन्तरहितम् शब्दोपग्राह्यतया शब्दतत्त्वं स्थितिप्रवृत्तिप्रविभागादिशब्देनोच्यते, तच्चाक्षरनिमित्तत्वाद् 'अक्षरम्' इत्युच्यते, प्रत्यक्चैतन्ये निवेशितस्य परबोधार्थमभिव्यक्तेरर्थभावेन विवर्तते, विवर्तश्च रज्जूरगवदतात्त्विकोऽन्यथाभावः । तत्त्वादप्रच्युतं (अपरित्यक्तपूर्वरूपम्) भेदानुकारेणासत्यानेकरूपतां प्राप्नोति । अभिधाशक्तिप्रवृत्तिमात्रं शब्दात्मकं ब्रह्मैव तत्तत्पदार्थरूपेण विवर्तते इति भावः । विवर्तते इति । अनेनारम्भवादपरिणामवादौ निरस्तौ किन्तु विवर्तवादः स्वीकृतः । यथा रज्जुः स्वयमविकृतैव मायया सर्पाकारेण विवर्तते तथैवात्र बोध्यम् । कारणस्वरूपाविरोधे च कार्यप्रतिभास इत्यर्थः । अतो ब्रह्मणो निर्विकारत्वान्न नित्यत्वविरोधः ।

मध्यमा नाद स्फोट का व्यञ्जक

मध्यमा और वैखरी से एक साथ ही नाद उत्पन्न होता है । इनमें मध्यमा नाद अर्थवाचक स्फोटात्मक शब्द का व्यञ्जक है । वैखरी का नाद—ध्वनि, सभी के केवल श्रोत्र से ग्रहणयोग्य, भेरी आदि (वाद्यों के) नाद के समान निरर्थक हैं । और मध्यमानाद सूक्ष्मतर, कान बन्द कर लेने पर और जपादि में सूक्ष्मतर वायु से व्यक्त होने वाला तथा शब्दब्रह्मरूप स्फोट का व्यञ्जक है । उस प्रकार के मध्यमानाद से व्यक्त होने वाला शब्द—स्फोटात्मक ब्रह्मरूप और नित्य है । जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है—

अनादिनिधन=आद्यन्तरहित, अक्षर=व्यापक (अविनाशी अर्थ अनादिनिधन से ही प्रतीत हो जाता है), शब्दतत्त्व ब्रह्म है । जिस (शब्द ब्रह्म) से जगत् की प्रक्रिया अर्थभावेन=अर्थरूप से विवृत होती है । (जलबुद्बुद के समान रूपान्तर को प्राप्त करती है । इसमें शब्द को ब्रह्म कहा है ।)

स च यद्यप्येकोऽखण्डश्च, तथाऽपि पदं वाक्यं; जपाकुसुमादिलौहित्यपीतत्वादिव्यञ्जकोपरागवशाद् लोहितः पीतः स्फटिक इति भानवद् वर्णादिव्यङ्ग्यः वर्णरूपः पदरूपो वाक्यरूपश्च, यथा च मुखे मणिकृपाणदर्पणव्यञ्जकोपाधिवशाद्दैर्घ्यवर्तुलत्वादिभानं तद्वत्। तदुक्तम्—

पदे न वर्णा विद्यन्ते वाक्येष्ववयवा न च।
वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन॥

वा० प० १।७३। इति।

ननु वाचकत्वेनाभिमतं स्फोटरूपं शब्दब्रह्म एकमखण्डं विभु चेति स्वीकारे तस्य पूर्वोक्ताष्टाभेदानुपपत्तिरत आह--स चेति। स्फोटश्चेत्यर्थः। पदं वाक्यम्—इत्यत्र कश्चनांशस्त्रुटितः प्रतीयतेऽनन्वयात्। अतोऽत्र 'अभिधीयते' इत्यादिकं संयोज्य व्याख्येयमिति बोध्यम्। अस्यान्वयश्च दूरस्थेन 'तद्वत्' इति पदेन कार्यः, 'तद्वत्' पदं वाक्यम्' इत्यभिधीयते इति भावः। अयं भावः---यथा स्फटिकमणिरत्यन्तस्वच्छो रक्तादिवर्णरहित एव भवति किन्तु यदा जपाकुसुमादीनां सन्निधानं भवति तदा रक्तादिवर्णानां प्रतीतिरनुभूयते। इयञ्च प्रतीतिर्न वास्तविकी अपितु व्यञ्जकगतैव। यथा वा मुखं स्वरूपे तिष्ठदपि मणि-कृपाण-दर्पणादिव्यञ्जकानां सम्पर्केण तत्तदाकारं धारयति। अत्र सर्वत्र विम्बेऽत्यन्ताभावेऽपि तत्तदुपाधिवशात् वैचित्र्यं प्रतीयते तथैव वस्तुतः स्फोट एकोऽखण्ड एवास्ति किन्तु अभिव्यञ्जकवर्णादि-उपाधिवशात् पदरूपो वाक्यरूप-इत्येवमष्टविधो भासते। एवञ्च व्यञ्जकरूपप्रतिविम्बनात् तद्रूपरूषितैव स्फोटाभिव्यक्तिरित्येकोऽपि नानात्वमिवापन्नः प्रतीयते।

कारिकाभिप्रायः—यथा खलु एकारैकारादिषु सन्ध्यक्षरेषु अवयवानां प्रतीतिरवास्तविकी, तानि अक्षराणि भिन्नान्येव, एवमेव पदेषु वर्णानां प्रतीतिः वाक्येषु च पदानां प्रतीतिरप्यवास्तविक्येव। पृथग्-पृथग् ज्ञानन्तु उपाधिवशादेवेति बोध्यम्। प्रविवेकः=भेद इत्यर्थः।

उपाधिविशिष्ट स्फोट की प्रतीति

और वह स्फोट यद्यपि एक तथा अखण्ड है तथापि पद, वाक्य (व्यवहार)—जपापुष्प आदि के लौहित्य एवं पीतत्व (लाल रंग एवं पीले रंग) आदि के व्यञ्जक उपराग (छाया) के कारण 'लाल स्फटिक, पीला स्फटिक' इस प्रतीति के समान वर्णादिव्यङ्ग्य (अर्थात् वर्ण, पद एवं वाक्यरूपी व्यञ्जकों से व्यङ्ग्य स्फोट) वर्णरूप, पदरूप और वाक्यरूप (होता है।) और जैसे—मणि (गोलरूपवाली), कृपाण (लम्बी रूपवाली) तथा दर्पण (चौकोर रूपवाली इन) व्यञ्जक उपाधियों से (व्यङ्ग्य = प्रतीयमान) मुख में दीर्घता=लम्बाई, वर्तुलता=गोलाई आदि का भान (होता है) उसी प्रकार (स्फोट में भी भेद प्रतीत होते हैं)। जैसा कि कहा है—

पद में वर्ण नहीं होते हैं। वाक्यों में अवयव (पद) नहीं होते हैं। वाक्य से पदों का अत्यन्त भेद (अन्तर) नहीं होता है।

विमर्श—जिस प्रकार मुख का प्रतिबिम्ब यदि मणि में देखा जाय तो गोलाकार, तलवार में लम्बा और पतला तथा शीशा में चौकोर दिखाई देता है। यह ऐसी प्रतीति अभिव्यञ्जक दर्पणादि के कारण ही है मुख (बिम्ब) में कोई अन्तर नहीं होता है। उसी प्रकार यहाँ भी वर्ण (प्रकृति प्रत्यय) आदि अभिव्यञ्जक उपाधियाँ हैं इनके कारण अभिव्यङ्ग्य स्फोट में कोई भेद या अन्तर नहीं होता है। कहीं भी व्यञ्जकगत विकारों से व्यङ्ग्य में कोई विकार नहीं होता है।

किञ्च व्यञ्जकध्वनिगतं कत्वगत्वादिकं स्फोटे भासते। बिम्बगतधर्मवैशिष्ट्यं नैव प्रतिबिम्बस्य लोके अवधारणाद्। व्यञ्जकरूषितस्यैव स्फटिकादेर्भानाच्च। यथा चैकस्याकाशस्य घटाकाशो महाकाश इत्यौपाधिको भेद; यथा चैकस्यैकचेतनस्यौपाधिको जीवेश्वरभेदो; जीवानां च परस्परं भेदः; एवं स्फोटे व्यञ्जकध्वनिगतकत्वादिभानात्ककारो बुद्ध इत्यौपाधिको भेदव्यवहारः।

औपाधिको भेद इत्यत्रोपाधिः घटकत्वादिर्भिन्न उपाधेयस्तु आकाशस्फोटादिरेक एवेति तात्पर्यम्। पदवाक्ययोस्सखण्डत्वपक्षे त्वन्तिमवर्णव्यङ्ग्यः स्फोट एक एव। पूर्वपूर्ववर्णस्तु तात्पर्यग्राहकः। न्यायनये चित्रगुरित्यादौ चित्रादिपदवत्।

व्यञ्जकगतधर्माणामन्यत्रैव स्फोटेऽपि प्रतीतिरित्येव साधयति-किञ्चेत्यादिना। स्फोटेऽवभासमानं कत्वादिकं व्यञ्जकध्वनिनिष्ठमेव न तु स्फोटनिष्ठम्, तस्यैकत्वात्। उपाधिभेदेनौपाधिकभेदान् प्रदर्शयति—यथा चेति। व्यञ्जकध्वनीति। व्यञ्जकध्वनिरूपोपाधिगतकत्वादिभानादित्यर्थः।

औपाधिको भेद इत्यस्याशयं वर्णयति—औपाधिक इति। अयमाशयः—आकाशस्तु एकोऽखण्डपदार्थः तत्र घटादिरूपोधिभेदेन घटाकाशः मठाकाशः इति या प्रतीतिर्भवति तत्र घटरूपोपाधिः मठरूपोपाधिः भिन्नो भिन्नो भवति किन्तु उपधेयः=उपाधिबोध्यः आकाश एक एव, तस्य न भेदाः। एवमेवात्रापि कत्वं गत्वमितिरूपेणानेके उपाधयः भिन्ना-भिन्ना भवन्ति। किन्तु एतेषां भेदेन उपपधेयस्य स्फोटस्य भेदो न भवतीति बोध्यम्, स च स्फोट एक एव अखण्डस्तिष्ठतीति भावः। यद्यप्यखण्डत्वपक्षे स स्फोट एकोऽखण्ड एकैकवर्णेनाभिव्यज्यते तथाप्यन्त्यवर्णाभिव्यक्तः स्फोटो बोधहेतुः। सखण्डत्वपक्षे का गतिरत आह—सखण्डपक्षे इति। अस्मिन्नपि पक्षेऽन्तिमवर्णव्यङ्ग्यस्फोट एक एवेति बोध्यम्। नन्वन्तिमवर्णस्यैव व्यञ्जकत्वे पूर्वपूर्ववर्णानामानर्थक्यमिति चेदत आह—पूर्वपूर्वेति। स्वोक्तौ समर्थनायाह—न्यायनये इति। अय-

माशयः :—नैयायिकादयः समासे विशिष्टशक्ति नाङ्गीकुर्वन्ति । तेषां मते चित्रगवादौ गोशब्द एव लक्षणया चित्रगोस्वामिरूपमर्थं बोधयति तत्र चित्रपदं तात्पर्यग्राहकमिति न तस्य वैयर्थ्यम् । एवमेवात्रापि अन्तिमवर्णस्य व्यञ्जकत्वेऽपि पूर्वपूर्ववर्णानां तात्पर्यग्राहकत्वमिति न कस्यापि वैयर्थ्यं न वा व्यञ्जकाभावे व्यङ्ग्यत्वमिति बोध्यम् ।

व्यञ्जकगत धर्मों की प्रतीति

अनु—और भी, [स्फोट की] व्यञ्जक ध्वनियों में रहने वाले कत्व, गत्व आदि [धर्म] स्फोट में भासित होते हैं । क्योंकि बिम्ब में रहने वाले वैशिष्ट्य के साथ ही प्रतिबिम्ब का लोक में अवधारण [निश्चय किया जाता है ।] और व्यञ्जक से रूषित [व्याप्त, मिलित] ही स्फोट आदि का मान [होता है] । और जैसे एक आकाश का ही घटाकाश मठाकाश—यह औपाधिक [घट मठ आदि उपाधिमूलक] भेद [होता है], तथा एक ही चेतन [आत्मा] का जीव और ईश्वर यह औपाधिक भेद [होता है] और जीवों का परस्पर [औपाधिक, तत्तद्देहादिरूपोपाधिमूलक] भेद रहता है उसी प्रकार स्फोट में व्यञ्जक ध्वनियों में रहने वाले कत्व आदि के भान के कारण—ककार समझा-ऐसे औपाधिक भेद का व्यवहार [होता है] ।

औपाधिक भेद—इसमें उपाधि घट और कत्व आदि भिन्न-भिन्न हैं किन्तु उपाधेय [उपाधि से प्रतिपादित] आकाश और स्फोट एक ही [रहता है] यह तात्पर्य है । पद एवं वाक्य के सखण्डत्व [खण्ड वाले होते हैं—इस] पक्ष में तो अन्तिम वर्ण से व्यङ्ग्य स्फोट एक ही [रहता है], पूर्वपूर्ववर्ती वर्ण तात्पर्यग्राहक होते हैं न्यायशास्त्र में जिस प्रकार चित्रगुः इत्यादि में चित्रा आदि पद [तात्पर्यग्राहक होते हैं] ।

विमर्श—नैयायिक लोग व्यपेक्षावादी हैं, वृत्ति में विशिष्टशक्ति नहीं स्वीकार करते हैं । समास में अभीष्टबोध का उपपादन करने के लिए लक्षणा का आश्रयण लेते हैं । बहुव्रीहि समास चित्रगुः आदि में उत्तर पद 'गो' की ही चित्राभिन्नगवादिस्वामी अर्थ में लक्षणा करते हैं और पूर्वपद 'चित्रा' को तात्पर्यग्राहक मानते हैं । इसी प्रकार अखण्ड वाक्य को न मान कर सखण्ड मानते हैं अवयवों की सत्ता स्वीकार करते हैं तो अन्तिम वर्ण से अभिव्यक्त स्फोट एक है और वही वाचक है, पूर्वपूर्व वर्ण उसी में तात्पर्यग्राहक हो जाते हैं ।

ध्वनिस्तु द्विविधः प्राकृतो वैकृतश्च । प्रकृत्याऽर्थबोधनेच्छया स्वभावेन वा जातः स्फोटव्यञ्जकः प्रथमः प्राकृतः । तस्मात्प्राकृताज्जातो विकृतिविशिष्टश्चिरस्थायी निर्वर्तको वैकृतिकः ।

हरिरप्याह—

स्फोटस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते ।

शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदे तु वैकृताः ।
ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते ॥
(वा० प० १।७७) इति ।

शब्दस्याभिव्यक्तेरूर्ध्वं वैकृता ध्वनयो जायन्ते इति शेषः । वृत्तिभेद इति ।

अभ्यासार्थे द्रुता वृत्तिर्मध्या वै चिन्तने स्मृता ।
शिष्याणामुपदेशार्थं वृत्तिरिष्टा विलम्बिता ॥ इति ।

तिसृषु वृत्तिषु समुपोहन्ते=कारणानि भवन्ति स्फोटस्तु तैर्न भिद्यत इति तदर्थः ।

ध्वनिरूपोपाधिवशादेव स्फोटस्य नानात्वमिवापन्नत्वमुक्तम् । ध्वनिगत्वं कत्वादेरेव भानं स्फोटे प्रतिपादितम् । तत्र ध्वनेर्भेदान्निरूप्य तस्योपयोगमाह—ध्वनिस्त्विति । ध्वनिः द्विविधः (१) प्राकृतः (२) वैकृतश्च । प्राकृतस्य स्वरूपमाह—प्रकृत्या=अर्थबोधनस्येच्छया अथवा स्वभावेन जातः, स्फोटस्य व्यञ्जकः प्रथमो ध्वनिः प्राकृतः । वैकृतः =विकृतिविशिष्टः, वैकृतत्वञ्च-आलस्यादिकृतत्वम् । निवर्तकः अन्यवैकृतध्वनीनामिति भावः ।

हरिः=भर्तृहरिः । स्फोटस्य ग्रहणे—अभिव्यक्तौ प्राकृतो ध्वनिः हेतुरिष्यते । उत्तरार्धन्तु—

स्थितिभेदे निमित्तत्वं वैकृतः प्रतिपद्यते ॥ [वा० प० १।७७]

स्थितिभेदे=चिराचिरोपलब्धिविशेषे । शब्दस्य=स्फोटात्मकस्य, अभिव्यक्तेः=प्रकाशाद, ऊर्ध्वम्=अनन्तरम् 'वैकृता ध्वनयो जायन्ते–इति शेषः, इत्यंशं संयोज्यार्थः करणीय इति भावः । ते तु वैकृता ध्वनयः वृत्तिभेदे=द्रुतमध्यमविलम्बिताख्यवृत्तित्रयभेदे समुपोहन्ते=कारणानि भवन्ति, किन्तु तैः=वैकृतध्वनिभिः, स्फोटः=शब्दो न भिद्यते=भिन्नतां प्राप्नोति, वैकृतध्वनिना वृत्तिभेदा एव क्रियन्ते न तु स्फोटभेदा इति भावः । वृत्तिभेदान् निरूपयति-अभ्यासार्थे=ग्रन्थादीनां पौनःपुन्येनाध्ययने द्रुता=शीघ्रोच्चारणानुकूला, वृत्तिः=व्यापारः, चिन्तने=शब्दानुशीलने, मध्या=न द्रुता न विलम्बिता, शिष्याणाम्=छात्राणाम्, उपदेशार्थम्=अध्यापनार्थं, विलम्बिता=विलम्बितोच्चारणानुकूला वृत्तिः, इष्टा=स्वीकृता । अध्यापनकाले द्रुताश्रयणे छात्राणां ज्ञानजनकत्वाभावः, एवमेव मध्यायामपि बोध्यम् ।

अत्रेदं तात्पर्यम्—ध्वनिर्द्विविधः प्राकृतो वैकृतश्च । तत्र स्फोटस्याभिव्यक्त्यर्थं प्राकृतध्वनिर्नितरामपेक्षते प्राकृतध्वनिमन्तरा स्फोटस्य कथमप्यभानात् । अयं प्राकृतो

ध्वनिरेव ह्रस्वदीर्घप्लुतादिभेदव्यवहारस्य हेतुरिति प्राकृतध्वनिगतकालभेदस्य प्राकृत-ध्वन्यभिन्नतया प्रतीते स्फोटे प्रतीतौ बाधकाभावः। वैकृतध्वनिस्तु प्राकृतध्वनिप्रतीतं स्फोटं 'स एवायमिति' रूपेण चिरकालपर्यन्तमुपलम्भयति। एवञ्च वैकृतध्वनिः स्फोटात्मकशब्दाभिव्यक्त्युत्तरं जायते इति तद्गतभेदाः स्फोटे नारोप्यन्ते इति तद्भेदेन न स्फोटभेदः। तदुक्तं 'तपरस्तत्कालस्य' [पा० सू० १।१।७०] इति सूत्रे भाष्यकृता —वृत्त्यन्तरे ऐसोऽनापत्तिः, तत्तद्वृत्तिजनकप्रयत्नभेदेन वर्णानां तत्तत्कालत्वस्यैवौचित्या-दित्याशङ्क्य "एवं तर्हि स्फोटः शब्दः, ध्वनिः शब्दगुणः। कथम् ? यथा भेर्य्याहन्ता भेरीमाहत्य कश्चित् विंशतिपदानि गच्छति, कश्चित् त्रिंशत् कश्चिच्चत्वारिंशत्, स्फोटस्तावानेव, ध्वनिकृता वृद्धिः।

ध्वनिः स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते।
अल्पो महांश्च केषाञ्चिदुभयं तत्स्वभावतः॥

[म० भा० १।१।७०]

अत्र भाष्ये ध्वनिः=वैकृतध्वनिः, शब्दगुणः=शब्दस्य चिराचिरोपलब्धिकरत्वाद् गुणः=उपकारकः। ध्वनिकृता=वैकृतध्वनिकृता। वैकृतध्वनिस्तु केषाञ्चिदल्पः= अल्पकालमुपलब्धिजनकः, केषाञ्चिन्महान्=बहुकालमुपलब्धिजनको लक्ष्यते।

ध्वनि के भेद और उपयोगिता

अनु०—ध्वनि तो दो प्रकार की होती है—(१) प्राकृत और (२) वैकृत। प्रकृत्या=अर्थबोध कराने की इच्छा से अथवा स्वभाव से उत्पन्न, स्फोट की व्यञ्जक प्रथम प्राकृत [ध्वनि है। इस प्राकृत ध्वनि से ही स्फोट की अभिव्यक्ति होती है।] इस प्राकृत ध्वनि से होने वाली, विकारविशिष्ट, चिरकाल स्थायी, [दूसरी ध्वनि की] निवर्तक वैकृत [ध्वनि उत्पन्न होती है।]

भर्तृहरि ने भी कहा है—

स्फोट के ग्रहण [ज्ञान या अभिव्यक्ति] में प्राकृत ध्वनि कारण मानी जाती है। [स्फोट] शब्द की [प्राकृत ध्वनि से होने वाली] अभिव्यक्ति के बाद वैकृत ध्वनियाँ [उत्पन्न होती हैं जो द्रुता, मध्या और विलम्बिता—इन] वृत्तियों के भेद में कारण बनती हैं किन्तु इन [वैकृत ध्वनियों] से स्फोटरूप शब्द का भेद नहीं होता है। [वह स्फोट भिन्न-भिन्न नहीं होता है।]

स्फोटरूप शब्द की अभिव्यक्ति के बाद वैकृत ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं—यह शेष है। [इतना अंश और मिलाकर कारिका का अर्थ करना चाहिये।]

वृत्तिभेद में—यह—

[द्रुता, मध्या और विलम्बिता इन तीन वृत्तियों में ग्रन्थ के] (१) अभ्यास

[पुनः पुनः आवृत्ति = रटना] के लिये द्रुता वृत्ति, (२) [किसी विषय के] चिन्तन के लिये मध्या [वृत्ति] मानी गई है। (३) शिष्यों के उपदेश [अध्यापन] के लिए विलम्बिता वृत्ति स्वीकार की गई है।

[वैकृत ध्वनियाँ द्रुता, मध्या एवं विलम्बिता इन] तीनों वृत्तियों में समुपोहन्ते= कारण बनती हैं। किन्तु इन [वैकृत ध्वनियों से] स्फोट शब्द का भेद नहीं होता है। इन कारिकाओं का यह अर्थ है।

अत्रेदं बोध्यम्—केनचित् घटमानयेति वैखरीनादः प्रयुक्तः, स केनचिच्छ्रोत्रेन्द्रियेण गृहीतः, स नाद इन्द्रियद्वारा बुद्धिहृद्गतस्सन्नर्थबोधकं शब्दं स्वनिष्ठकत्वादिना व्यञ्जयति तस्मादर्थबोधः। स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति व्युत्पत्त्या स्फोटः। उच्चारयितुस्तु युगपदेव मध्यमावैखरीभ्यां नाद उत्पद्यते, तत्र वैखरीनादो वह्न्यादेः फूत्कारादिवन्मध्यमानादोत्साहकः, मध्यमानादः स्फोटं व्यञ्जयतीति शीघ्रमेव ततोऽर्थबोधः; परस्य विलम्बेनानुभवसिद्धत्वात्। अतएव "श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्द इत्याकरग्रन्थस्सङ्गच्छते। कत्वादिना श्रोत्रोपलब्धित्वं स्फोटात्मकपदादिरूपेण तु बुद्धिनिर्ग्राह्यत्वम्, स च प्रयोगेण वैखरीरूपेणाभिज्वलितः स्वरूपरूषितः कृत इति तदर्थः। तत्रापि शक्यत्वस्यैव शक्ततावच्छेदिकाया वर्णपदवाक्यनिष्ठजातेर्वाचकत्वम्। तदुक्तम्—

अनेकव्यक्त्यभिव्यङ्ग्या जातिः स्फोट इति स्मृता।

[वा. प. १।९३ इति।]

वक्तृश्रोतृमध्ये कथं बोधकत्वमिति प्रदर्शयति—अत्रेदमिति। केनचित् = वक्त्रा। वैखरीनादः = वैखरीध्वनिरूपः, प्रयुक्तः = उच्चारितः, सः = वैखरीनादः, केनचित् = श्रोत्रा, गृहीतः, श्रावणप्रत्यक्षविषयीकृतः, सः = वैखरीनादः, इन्द्रियद्वारा = श्रोत्रेन्द्रियमाध्यमेन, बुद्धिहृद्गतः = अन्तःकरणस्य निश्चयात्मिका वृत्तिः = बुद्धिः, स्मरणात्मिका वृत्तिः = चित्तम्, तदेव हृत् = एतदुभयंगतः, बुद्धिविषयीभूतः सन् हृत्प्रदेशे गतः, अर्थबोधकम् = अर्थप्रत्यायकम्, शब्दम् = मध्यमानादव्यङ्ग्यम्, स्वम् = वैखरीनादः, तन्निष्ठं यत् कत्वादि तेन, अत्रावच्छिन्नत्वं तृतीयार्थः, तेन कत्वाद्यवच्छिन्नं, कत्वादिरूपरूषितमिति यावत्, व्यञ्जयति = अभिव्यक्तीकरोति, तस्मात् = वैखरीनादव्यक्तात् शब्दात् अर्थबोधः। स्फुटति = अभिव्यक्तीभवति अर्थो अस्मादिति स्फोटः। वक्तृश्रोतृविषयिणीं प्रक्रियां प्रतिपाद्य केवलोच्चारणकर्तृविषये आह—उच्चारयितुस्त्विति। युगपदेव = समकालमेव। उत्साहक इति। यथाऽप्रज्वलितस्याग्नेः प्रज्ज्वालनार्थं फूत्कारोऽपेक्षते, सति फूत्कारेऽग्निः प्रज्ज्वलति एवमेवात्र वैखरीनादः मध्यमानादस्य प्रेरको वर्तते,

वैखरीनादेनोत्साहितो मध्यमानादः स्फोटं व्यञ्जयति=प्रकाशयति, इति=एवं प्रकारेण, ततः=स्फोटात्, परस्य=श्रोतुस्तु विलम्बेन=अत्वरितत्वेन वक्तुरपेक्षयेति शेषः। अत्रेदं बोध्यम्--वक्तुरेककालमेव नादद्वयमुत्पद्यतेऽतोऽर्थबोधोऽपि त्वरितमेव। किन्तु श्रोतुः क्रमिकं ज्ञानम्। अतो विलम्बेनार्थबोध इति विशेषः। अतएव=पूर्वोक्तप्रक्रियास्वीकारादेवेत्यर्थः। श्रोत्रोपलब्धिः=श्रोत्रे उपलब्धिर्यस्य स इत्यर्थः, अतएव तस्याकाशदेशत्वं सूचितमिति भावः, बुद्धिनिर्ग्राह्यः=पूर्वपूर्वध्वन्युत्पादिताभिव्यक्तिजनितसंस्कारपरम्पराप्राप्तपरिपाकान्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्यः, प्रयोगेण=प्रयुज्यते इति प्रयोगो वर्णः, यद्वा प्रयोगः=उच्चारणम्, तेनाभिव्यक्तः=प्रकाशितः, आकाशदेशः-आकाशः देशः=स्थानं यस्य सः, शब्दस्याकाशगुणत्वात् गुणगुणिनोश्च समवायात्। आकरग्रन्थः=अइउण् सूत्रस्थं महाभाष्यम्। आकाशप्रदेशविशेषस्य श्रोत्रत्वादिन्द्रियाणामसम्बद्धविषयाग्रहणाच्छ्रोत्रस्य च निष्क्रियत्वाद् गमनाभावादाकाशदेशत्वं शब्दस्यावश्यमभ्युपेयमिति कैयटः। कत्वेति—ध्वनिनिष्ठकत्वखत्वादिधर्मावच्छिन्नरूपेण श्रोत्रे उपलब्धिर्भवति किन्तु पदरूपेण ज्ञानं तु बुद्ध्यैव भवति न तु श्रवणेनेति भावः। सः=स्फोटात्मकः शब्दः, अभिज्वलितः=छुरित इत्यर्थः, इत्यस्यैव व्याख्यानम्—स्वरूपरूषितः कृत इति। तत्रापि=वर्णपदस्फोटादिस्वीकारेपीत्यर्थः। वाचकत्वमिति। अयमाशयः--यथा व्यक्तेः पदार्थत्वस्वीकारे आनन्त्यव्यभिचारादयो दोषाः प्रसक्तास्तदर्थं तत्र जातौ शक्यत्वं स्वीक्रियते। एवमेवात्रापि वर्ण-पद-वाक्येषु विद्यमानायाः शक्ततावच्छेदिकाया जातेरेव वाचकत्वं स्वीकार्यम्, लाघवात्। एवञ्च यथा भ्रमणत्वजातिश्चरमव्यक्तिव्यङ्ग्या, एवमेव एषा पदादिवृत्तिजातिरपि चरमवर्णाभिव्यङ्ग्या एव कार्यसाधिका। एवञ्च जातेरेव वाचकत्वमभ्युपेयमिति भावः। तत्=जातिस्फोटस्य वाचकत्वम्, भर्तृहरिणेति शेषः। अनेकव्यक्त्यभिव्यङ्ग्या=अनेकवर्णादिरूपव्यक्तिभिरभिव्यक्ता जातिः स्फोटः=वाचिकेति भावः। यद्वा शक्यतावच्छेदके यथा निरूपकतासम्बन्धेन शक्तिस्तथा शक्ततावच्छेदके आनुपूर्वीरूपे वाचकत्वशक्तिस्तस्या एव स्फोटत्वव्यवहार इति बोध्यम्। विस्तरस्तु भूषणमञ्जूषादौ द्रष्टव्यः।

स्फोटाभिव्यक्ति और अर्थबोध

यहाँ (इस प्रसङ्ग में) यह समझना चाहिये—किसी ने 'घटमानय' (घड़ा लाओ) इस वैखरीनाद का प्रयोग किया। किसी (अन्य व्यक्ति) ने श्रोत्रेन्द्रिय से इसका ज्ञान किया (श्रावणप्रत्यक्ष किया)। वह नाद (श्रोता की) श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा बुद्धि और हृदय में जाने वाला होता हुआ (अर्थात् पहले बुद्धि का विषय और बाद में हृदय का विषय बनता हुआ) अर्थबोधक (स्फोटरूप) शब्द को स्वनिष्ठ (वैखरीध्वनिनिष्ठ) कत्वादि से अवच्छिन्न रूप से अभिव्यक्त करता है (अर्थात् कत्वादि रूपरूषित ही स्फोट को अभिव्यक्त करता है।) उस (अभिव्यक्त स्फोट)

से अर्थबोध होता है। स्फुटति=ज्ञात होता है अर्थ इससे—इस व्युत्पत्ति से स्फोट (कहा जाता है)। किन्तु उच्चारण करने वाले व्यक्ति का तो एक साथ ही मध्यमा और वैखरी से नाद उत्पन्न होता है। इन (दोनों) में वैखरी नाद अग्नि के फूत्कार (फूँकना) आदि के समान मध्यमानाद को उत्साहित (प्रवृद्ध) करने वाला है। (अर्थात् जैसे फूँकने से अग्नि प्रज्वलिततर होने लगती है उसी प्रकार वैखरीनाद से मध्यमानाद बढ़ने वाला हो जाता है) और मध्यमानाद स्फोट को अभिव्यक्त करता है इसलिए इससे शीघ्र ही अर्थज्ञान होने लगता है। क्योंकि (उच्चारयिता से) भिन्न (श्रोता) का (अर्थज्ञान) विलम्ब से होना अनुभवसिद्ध है। (यह प्रक्रिया है) इसीलिये "श्रोत्र में उपलब्ध होने वाला, बुद्धि से गृहीत होने वाला, प्रयोग=उच्चारण से अभिज्वलित=प्रकाशित होने वाला, आकाशदेश (में रहने) वाला शब्द है—यह (अइउण् सूत्र का महाभाष्य) ग्रन्थ संगत होता है। कत्वादि रूप से श्रोत्र में उपलब्ध होना किन्तु स्फोटात्मक पदादि रूप से बुद्धि में गृहीत होना। और वह (स्फोट) प्रयोग से=वैखरी रूप से अभिज्वलित=स्वरूप से रूषित किया गया—यह उस भाष्य का अर्थ है। उसमें भी, शक्यता के समान शक्ततावच्छेदिका जाति जो वर्ण पद एवं वाक्य में रहती है; वाचक है। जैसा कि कहा है—

अनेक (वर्ण, पद एवं वाक्य) व्यक्तियों से अभिव्यक्त होने वाली जाति स्फोट मानी गयी हैं।

विमर्श—जिस प्रकार पदार्थ क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में जाति को ही पदार्थ माना जाता है। क्योंकि व्यक्ति को पदार्थ मानने पर आनन्त्य और व्यभिचार दोष होते हैं इसलिए उस व्यक्ति को वाच्य=शक्य नहीं माना जाता है। इसी प्रकार वाचकता के विषय में भी जाति को ही महत्त्व दिया जाता है। इसलिए घटपदत्वादि जातियाँ ही शक्तता की अवच्छेदक हैं।

तस्मादष्टविधस्फोटात्मकश्शब्दो वृत्त्याश्रयः। वस्तुतस्तु वाक्यस्फोटो वाक्यजातिस्फोट एव वा वृत्त्याश्रयः। तत एव लोकेऽर्थबोध इत्याद्युक्तत्वादिति सर्वं सुस्थम्।

॥ इति स्फोटनिरूपणम् ॥

तस्मात्=पूर्वोक्ताद्धेतोरित्यर्थः, अष्टविधः स्फोटात्मकः=स्फोटरूपः शब्द एव वृत्त्याश्रयः। अष्टविधत्वञ्चैवम्—(१) वर्णव्यक्तिस्फोटः (२) पदव्यक्तिस्फोटः (३) वाक्यव्यक्तिस्फोटः, (४) वर्णजातिस्फोटः, (५) पदजातिस्फोटः, (६) वाक्यजातिस्फोटः (७) अखण्डपदस्फोटः, (८) अखण्डवाक्यस्फोट इति। निष्कर्षमाह—

वस्तुतस्त्विति—लोके वाक्यादेवार्थबोधः सर्वानुभवसिद्ध इत्यादि पूर्वमेवोक्तम् तेन अनयोरेकतरस्यैव वृत्त्याश्रयत्वम् = वाचकताशक्त्याश्रयत्वं बोध्यमिति भावः ।

॥ इति आचार्य-जयशंकरलाल-त्रिपाठिकृतायां भावप्रकाशिका-
व्याख्यायां स्फोटनिरूपणम् ॥

अनु—इस (उपर्युक्त विवेचन) से आठ प्रकार का स्फोटात्मक शब्द (ही) वृत्ति (वाचकता शक्ति) का आश्रय है। वास्तव में, वाक्यस्फोट या वाक्यजातिस्फोट ही वृत्ति का आश्रय है, क्योंकि लोक में उस (वाक्यस्फोट) से ही अर्थबोध होता है, यह कहा जा चुका है। इस प्रकार सब सुस्थिर हो गया है।

विमर्श—वैखरीनाद ध्वनिरूप है। तत्तत् ध्वनियों के रूप से व्याप्त होता हुआ ही स्फोट मध्यमानाद से व्यक्त होता है। इस स्फोट के आठ भेद कल्पित हैं—

(१) वर्णव्यक्तिस्फोट (२) वर्णजातिस्फोट
(३) पदव्यक्तिस्फोट (४) पदजातिस्फोट
(५) वाक्यव्यक्तिस्फोट (६) वाक्यजातिस्फोट
(७) अखण्डपदस्फोट (८) अखण्डवाक्यस्फोट

व्यक्ति की वाच्यता = शक्यतापक्ष में अनेक दोष देखकर जाति को वाच्य माना जाता है। इसी प्रकार वाचकता के विषय में भी वर्ण पद एवं वाक्य को वाचक मानने में गौरव है। अतः इन वर्णादि में रहने वाली जाति को ही वाचक मानना उचित है। जातिस्फोट के तीन भेद होते हैं। इनमें भी सखण्डत्व पक्ष में दोष होते हैं अतः पद एवं वाक्य को अखण्ड मानना उचित है। इस प्रकार ३ व्यक्तिस्फोट + ३ जातिस्फोट + २ अखण्ड-पद-वाक्यस्फोट = ८ स्फोट भेदों की कल्पना की गई है।

वैयाकरणभूषणादि ग्रन्थों में इन आठ भेदों की चर्चा की गई है। किन्तु नागेश ने इसे विशेष महत्त्व नहीं दिया है। सम्भवतः पिष्टपेषणभय ही प्रमुख कारण है। नागेश के अनुसार भी वाक्यस्फोट या वाक्य-जाति-स्फोट ही प्रधान है, अर्थबोधक है। अन्य सभी भेद इसी के ज्ञान में सहायक, उपाय हैं।

॥ स्फोटनिरूपण समाप्त ॥

— ० —

[शाब्दबोधसहकारिकारणनिरूपणम्]

अथ शाब्दबोधसहकारिकारणानि आकाङ्क्षा-योग्यता-आसत्ति-तात्पर्याणि। वाक्यसमयग्राहिकाऽऽकाङ्क्षा। सा चैकपदार्थज्ञाने तदर्थान्वययोग्यार्थस्य

यज्ज्ञानं तद्विषयेच्छा 'अस्यान्वय्यर्थः कः' इत्येवंरूपा पुरुषनिष्ठैव, तथापि तस्याः स्वविषयेऽर्थे आरोपः। अयमर्थोऽर्थान्तरमाकाङ्क्षतीति व्यवहारात्। इदमेवाभिधानापर्यवसानमित्युच्यते। पदे तु नारोपः, अर्थबोधोत्तरमेवाकाङ्क्षोदयात्। पदं साकाङ्क्षमिति तु साकाङ्क्षार्थबोधकमित्यर्थकम्। तदुक्तं समर्थ [म० भा० २।१।१] सूत्रे भाष्ये—'परस्परव्यपेक्षां सामर्थ्यमेके। का पुनश्शब्दयोर्व्यपेक्षा? न ब्रूमश्शब्दयोरिति। किं तर्हि? अर्थयोरिति''।

ईदृशजिज्ञासोत्थापकं चैकपदार्थेऽपरपदार्थव्यतिरेकप्रयुक्तस्यान्वयबोधाजनकत्वस्य ज्ञानमिति तद्विषये तादृशान्वयबोधाजनकत्वेऽप्याकाङ्क्षेति व्यवहारः।

वाक्यस्फोटस्य मुख्यं वाचकत्वं निरूप्य वाक्यार्थबोधे सहकारिकारणत्वेनापेक्षितानि आकाङ्क्षादीनि निरूपयितुमाह—अथेति। शाब्दबोधं प्रति वृत्तिज्ञानस्य कारणत्वनिरूपणानन्तरमिति भावः। सहकारिकारणत्वञ्च—मुख्यकारणजन्यकार्यजनकत्वे सति मुख्यकारणभिन्नत्वम्। सहकारिकारणानां चतुर्विधत्वं निरूपयति—आकाङ्क्षेत्यादिना। आकाङ्क्षां निरूपयति—वाक्येति। वाक्यस्य यः समयः=संकेतस्तद्ग्राहिका तद्विषयकबोधजनिकेति भावः। नन्वाकाङ्क्षा—यत्किञ्चिद्विषयकेच्छारूपैव, तस्याः कथमुक्तसङ्केतग्राहकत्वमत आह—सा चेति। आकाङ्क्षा चेत्यर्थः, तदर्थेति=ज्ञातपदार्थान्वययोग्यस्य, तद्विषयेच्छा=ज्ञानविषयिणीच्छा यथा—घटमिति पदस्य घटकर्मकमानयनमिति पदार्थज्ञाने जाते सति एतदर्थनिरूपित तात्पर्यविषयीभूतसंसर्गेण सम्बन्धरूपयोग्यतावतोऽर्थस्य यज्ज्ञानं भवति, तादृशज्ञानविषयिणी इच्छा—आकाङ्क्षेति भावः। ननु यत्र 'पटमानय' इत्यादौ द्वयोः पदार्थयोर्ज्ञानं जातं तत्रोक्तरूपाया आकाङ्क्षाया अभावाद् शाब्दबोधानापत्तिरिति चेन्न, 'एकपदार्थज्ञाने' इत्यस्य सावधारणत्वेन 'एकपदार्थमात्रज्ञाने' [एकपदार्थमात्रज्ञानानन्तरम्] इत्यर्थत्वात्। एकपदार्थमात्रज्ञाने सति तत्रापि तस्याः सत्त्वेनाक्षतेश्च। आकाङ्क्षायाः स्वरूपं निर्दिशति—अस्य (अर्थस्य) अन्वयी अर्थः कः?' इति। आकाङ्क्षायाः चेतनधर्मत्वं प्रतिपादयति—पुरुषनिष्ठैवेति। अत्र 'यद्यपि' इत्यंशोऽपेक्षितः, अग्रे 'तथापि' इत्यस्योल्लेखात्। अत्र 'एव' शब्देन पदादिनिष्ठत्वं निराकृतमिति बोध्यम्। नैयायिकमतेनात्मधर्मत्वं वेदान्तिमतेऽन्तःकरणधर्मत्वमाकाङ्क्षाया बोध्यम्। नन्वेवमाकाङ्क्षाया आत्मधर्मत्वे 'अयमर्थोऽन्तरमाकाङ्क्षते' इति प्रसिद्धव्यवहारानुपपत्तिरिति चेदत आह—तथापीति। तस्याः=पुरुषनिष्ठाया आकाङ्क्षायाः स्वविषये=आकांक्षायाः विषये अर्थे आरोपः, समवायसम्बन्धेनेति शेषः। अर्थे विषयतासम्बन्धेनाकाङ्क्षायाः सत्त्वेऽपि तत्सम्बन्धस्य वृत्त्यनियामकत्वस्य पूर्वमेवोक्तत्वादत्र समवायेनैवारोपो बोध्य इति भावः। आरोपे मूलमाह—अयमिति। इदमेव=अर्थे आकांक्षाया आरोपितत्वमेव, अभिधानस्य=

अर्थोपस्थितेः, अपर्यवसानम्=अपरिसमाप्तिः, अन्वयबोधजनकत्वेनेच्छाभावाभावः, इच्छेति यावत्; अभिधानापर्यवसानम्=बोधजनकत्वस्यापरिसमाप्तिरित्यन्ये। पदे आरोपं निराकरोति—अर्थबोधेत्यादिना। एकपदार्थस्य ज्ञानानन्तरमेव तदन्वयविषयिणी इच्छारूपाकांक्षा समुदेति। अतः पूर्वं तस्या आरोपोऽसमीचीनः। साकांक्षमित्यस्य साकांक्षार्थबोधके लक्षणेति भावः। आकांक्षायाः पदनिष्ठत्वे भाष्यविरोधं प्रदर्शयति—समर्थसूत्रे इति। परस्परव्यपेक्षाम्=परस्पराकांक्षाम् एके सामर्थ्यमित्याहुः यथा—राज्ञः पुरुष इत्युक्ते राजा पुरुषमपेक्षते 'ममायमिति', पुरुषोऽपि राजानमपेक्षते 'अहमस्येति।' एवञ्च भाष्ये अर्थयोरेव साकांक्षत्वं स्पष्टमुक्तमिति बोध्यम्। ज्ञानविषयेऽप्याकांक्षाव्यवहारमुपपादयति—ईदृशेति। ईदृशजिज्ञासोत्थापकम्=पूर्वोक्ताकांक्षाया उत्थापकमिति भावः, एकपदार्थज्ञाने='घटम्' इत्येतावन्मात्रोच्चारणेन घटकर्मके पदार्थे ज्ञाते सति अपरपदार्थस्य='आनय' आदिपदार्थस्य यो व्यतिरेकः=आनयनपदार्थविषयकज्ञानाभावः, तेन प्रयुक्तस्य अन्वयबोधाजनकत्वस्य=घटपदार्थे विद्यमानस्य शाब्दबोधजनकत्वाभावस्य ज्ञानम्। अतएवाकांक्षाजनकीभूतज्ञानविषये घटपदार्थनिष्ठान्वयबोधजनकत्वाभावरूपेऽपि आकांक्षेति व्यवहारः।

आकाङ्क्षा का विवेचन

अब शाब्दबोध के [चार] सहकारी कारण—आकाङ्क्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्य [हैं]। वाक्य के समय=संकेत की ग्राहिका=बोधिका आकाङ्क्षा है। [अर्थात् जिससे वाक्यीय संकेत का ज्ञान होता है उसे आकाङ्क्षा कहते हैं।] और वह [आकाङ्क्षा]—एक पदार्थ के ज्ञान में उस [ज्ञात] अर्थ के अन्वय योग्य अर्थ का जो ज्ञान तद्विषयिणी इच्छा 'इस [अर्थ] का अन्वयी [दूसरा] अर्थ कौन है' इस रूपवाली पुरुष में रहने वाली ही है [अर्थात् अन्तःकरणवृत्ति धर्म है] तथापि इस [आकाङ्क्षा] का स्वविषय [आकाङ्क्षा के विषय] अर्थ में आरोप होता है, क्योंकि—यह अर्थ अन्य अर्थ की आकाङ्क्षा करता है—ऐसा व्यवहार [होता है]। यह [अर्थ में आकाङ्क्षा का आरोप] ही अभिधान=अर्थोपस्थिति का अपर्यवसान=अपरिसमाप्ति [अपूर्णता अथवा बोधजनकता की अपरिसमाप्ति] ऐसा कहा जाता है। किन्तु [अर्थ के समान] पद में तो [आकाङ्क्षा का] आरोप नहीं [होता है।] क्योंकि अर्थज्ञान के बाद ही आकाङ्क्षा का उदय [होता है]। [अतः अर्थज्ञान के पहले रहने वाले पद में आकङ्क्षा का आरोप सम्भव नहीं है।] 'पद साकाङ्क्ष है' यह तो साकाङ्क्ष अर्थ का बोधक है'—ऐसे अर्थ [तात्पर्य] वाला [व्यवहार होता है]। जैसा कि 'समर्थः पदविधिः' [पा० सू० २।१।१] सूत्र पर महाभाष्य में कहा गया [है] 'परस्परव्यपेक्षा को कुछ लोग सामर्थ्य [कहते हैं]। शब्दों की व्यपेक्षा=आकाङ्क्षा कौन है ?' शब्दों की व्यपेक्षा—ऐसा हम नहीं कहते हैं। तो क्या ? अर्थों की [व्यपेक्षा=आकाङ्क्षा सामर्थ्य है] ऐसा [कह रहे हैं]।

विमर्श—राज्ञः पुरुषः=राजा का पुरुष यह कहने पर राजपदार्थ को पुरुषपदार्थ की अपेक्षा होती है—'यह मेरा है'। इसी प्रकार पुरुष पदार्थ को भी राजपदार्थ की अपेक्षा होती है—'मैं इसका हूँ'। शब्द अपने वाच्यार्थ के प्रति विशेषण होता है। और अर्थज्ञान के बाद ही उक्त जिज्ञासा होती है। इसलिए इसका आरोप अर्थ में ही मानना तर्कसंगत है पद में नहीं।]

अनु०—और इस प्रकार की [अन्वयविषयिणी] जिज्ञासा का उत्थापक—एक पदार्थ में अन्य पदार्थ के अभाव को मानकर होने वाला, अन्वयबोधाजनकता का ज्ञान [है], इसलिए इस ज्ञान के विषय में, उस प्रकार के अन्वयबोध का जनक न होने पर भी, आकाङ्क्षा ऐसा व्यवहार होता है।

विमर्श—'घटम्' इतना कहने पर घटपदार्थ का ज्ञान होता है 'आनय' आदि पदार्थ का ज्ञान नहीं रहता है। इसलिये अन्वयबोध नहीं होता है। यह अन्वयबोध-जनकत्वाभाव का ज्ञान आकांक्षा का उत्थापक है। इसलिए उक्त ज्ञान के विषय में—आकांक्षाजनक ज्ञान के विषय घटपदार्थ की अन्वयबोधजनकता के अभाव में भी—आकांक्षा ऐसा व्यवहार कर लिया जाता है। जब कि आकांक्षा वास्तव में चेतन-वृत्ति ही है।

यद्वा उत्थापकताविषयतान्यतरसम्बन्धेनोभयसम्बन्धेन वाऽर्थान्तरजिज्ञासा आकाङ्क्षा। आद्यम्='पश्य मृगो धावति' इति, अत्र दर्शनार्थस्य कारकधावनाकाङ्क्षोत्थापकत्वं धावनं तु तद्विषय एव। अन्त्यन्तु—'पचति तण्डुलं देवदत्तः' इत्यादौ, क्रियाकारकयोर्द्वयोरपि परस्परं तदुत्थापकत्वात्तद्विषयत्वाच्च।

अत एव घटः कर्मत्वम् आनयनं कृतिरित्यतो घटमानयेतिवन्नान्वयबोधः, आकाङ्क्षाविरहात्। घटमानयेति विभक्त्यन्ताख्यातान्तयोरेव साकाङ्क्षत्वाच्च।

॥ इत्याकांक्षानिरूपणम् ॥

आकाङ्क्षायाः पुरुषनिष्ठत्वे समवायेनार्थे आरोपे च गौरवमत आह—यद्वेति। अन्यार्थविषयिणी जिज्ञासा आकाङ्क्षा। अत्र जिज्ञासायाम् उत्थापकता, विषयता अथवा उभयसम्बन्धो भवति। आद्यम्=उत्थापकता-विषयता-एतदन्यतरसम्बन्धेन अन्यार्थविषयिण्याः जिज्ञासाया उदाहरणम्। अत्र=पश्य मृगो धावतीत्यत्र दर्शनार्थस्य क्रियारूपत्वेन कारकधावनस्य आकाङ्क्षाया उत्थापकत्वम्, तद्विषयः=दर्शन-विषय एवेत्यर्थः। अयं भावः—यदा कश्चित् 'पश्ये' ति उच्चारयति तदाऽस्य दर्शन॰ क्रियार्थत्वेन 'किम्' इति कर्मकारकविषयिणी जिज्ञासा भवति। एवञ्च पश्यपदार्थः कारकधावनस्याकाङ्क्षामुत्थापयति। अतोऽत्र दर्शने कारकधावनस्य उत्थापकता-

सम्बन्धेन वैशिष्टयं सिद्धयति। धावने विषयतासम्बन्धेन दर्शनस्य वैशिष्टयमिति। एवञ्च पश्य इत्यत्र उत्थापकतासम्बन्धेन, धावतीत्यत्र च विषयतासम्बन्धेन अन्यार्थ-विषयिणी जिज्ञासास्तीति बोध्यम्। अन्त्यम्=उभयसम्बन्धेन अर्थान्तर-विषयिण्याः जिज्ञासाया उदाहरणम्–पचति तण्डुलं देवदत्त अत्र पचतीति क्रियास्ति सा कर्मविषयिणी-माकाङ्क्षां समुत्थापयति; देवदत्तः तण्डुलं च कारकद्वयमस्ति, इदं च क्रियाविषयिणी-माकाङ्क्षां समुत्थापयति। एवञ्च क्रियाकारकयोः=पाक-कर्मणोः द्वयोरपि, तदुत्था-पकत्वात्=आकाङ्क्षोत्थापकत्वात्, तद्विषयत्वात्=आकाङ्क्षाविषयत्वात् उभयसम्बन्धेना-र्थान्तरविषयिणी जिज्ञासारूपाकाङ्क्षेति सिद्धम्। अतएव=पूर्वोक्तसम्बन्धेन विद्य-मानाकाङ्क्षायाः शाब्दबोधे हेतुत्वादेवेत्यर्थः। नान्वयबोध इति। अयं भावः—यथा 'घट-मानय' इत्यत्रैकपदार्थज्ञातेऽपरपदार्थान्वयविषयिणीजिज्ञासासत्त्वाद् घटकर्मकानयन-विषयको बोधो भवति तथैव घटः कर्मत्वम् आनयनं कृतिः इत्यनेन बोधो न दृश्यते, आकाङ्क्षाया अभावात्। विभक्त्यन्ताख्यातप्रत्यान्तपदानामेवार्थोपस्थापकत्वम्; तदर्थानामेव परस्परं साकाङ्क्षत्वमिति स्वीकृतत्वाच्च अन्वयबोधाजनकत्वज्ञानं वक्ष्य-माणसमभिव्याहारकारणताज्ञानमूलकमिति तत्तत्समभिव्याहारनिष्ठबोधकारणतापि आकाङ्क्षा। अतएव यस्य यादृशसमभिव्याहारे यादृशान्वयबोधजनकताग्रहस्तस्य तादृशसमभिव्याहारात्तादृशान्वयबोधोऽनुभवसिद्धः।

॥ इत्याकाङ्क्षानिरूपणम् ॥

अनु०—[पुरुषनिष्ठ आकांक्षा का समवाय सम्बन्ध से अर्थ में आरोप मानने पर गौरव प्रतीत होता है। अतः अब दूसरा पक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है—] अथवा (१) उत्थापकता या (२) विषयता किसी एक सम्बन्ध से अथवा इन दोनों सम्बन्धों से अन्य अर्थ की जिज्ञासा आकांक्षा है।

विमर्श—भाव यह है कि कहीं उत्थापक होते हुए अन्य अर्थ की जिज्ञासा होती है और कहीं विषय बनते हुए तथा कहीं उत्थापक एवं विषय दोनों बनते हुए अन्य अर्थ की जो जिज्ञासा होती है वही आकाङ्क्षा है। ऐसा मानना इसलिए आवश्यक है क्योंकि—यह अर्थ साकाङ्क्ष है। इसमें समवायेन आकाङ्क्षा का वैशिष्टय नहीं रहता है। यदि एक स्थल पर समवायेन आकाङ्क्षा का वैशिष्टय मान लेंगे तो अन्यत्र उस प्रकार का व्यवहार नहीं हो सकेगा। इसीलिए ऊपर आकाङ्क्षा का दूसरा रूप प्रस्तुत करना पड़ा।

अनु०—प्रथम [अर्थात् अन्यतर सम्बन्ध से अर्थान्तर की जिज्ञासा आकाङ्क्षा है–इसके उदाहरण]—पश्य, मृगो धावति [देखो, मृग दौड़ रहा है] इसमें दर्शन अर्थ [कर्म] कारक धावन की आकाङ्क्षा का उत्थापक है और धावन अर्थ तो उस [दर्शन] का विषय ही है।

विमर्श—'देखो' ऐसा कहने पर 'किसको' यह कर्म की जिज्ञासा होती है। 'पश्य, मृगो धावति' इस वाक्य में मृगकर्तृक धावन ही कर्मकारक रूप से उपस्थित होता है। इस प्रकार उत्थापकता सम्बन्ध से अन्य अर्थ की जिज्ञासा है। तथा धावन उस दर्शन का विषय ही है। इसलिए विषयतासम्बन्ध से अर्थान्तर की जिज्ञासा होती है। इस प्रकार एक में एक ही सम्बन्ध से जिज्ञासा की आवश्यकता है।

अनु०—अन्त्य [उभय सम्बन्ध से अर्थान्तर की जिज्ञासा] तो—पचति तण्डुलं देवदत्तः [देवदत्त चावल पकाता है] इत्यादि में है, क्योंकि [पाक] क्रिया और [तण्डुलरूप] कारक दोनों परस्पर आकांक्षा के उत्थापक हैं और उस [आकांक्षा] के विषय हैं। [अर्थात् क्रिया को कर्म कारक की आकांक्षा होने से उसकी उत्थापक है और कारक कर्म को पाकादि क्रिया की आकांक्षा होने से उसका उत्थापक है। तथा क्रिया और कारक दोनों ही आकांक्षा के विषय भी हैं।]

[उपर्युक्त आकांक्षा शाब्दबोध के प्रति हेतु होती है] इसीलिये 'घटः कर्मत्वम्, आनयनं कृतिः' इससे 'घटम् आनय' इसके समान अन्वयबोध नहीं होता है क्योंकि आकांक्षा नहीं है। और 'घटम् आनय' इस विभक्त्यन्त तथा आख्यातप्रत्ययान्त [से प्रतिपाद्य अर्थ] ही साकांक्ष होते हैं। [अर्थात् घटकर्मक आनयनविषयक बोध में 'घटम्' इस सुबन्त से और 'आनय' इस तिङन्त से उपस्थाप्य अर्थों की ही परस्पर आकांक्षा रहती है और अपरिनिष्ठित पदों से अर्थों की उपस्थिति नहीं होती है। अतः आकांक्षा के न होने से अन्वयबोध नहीं होता है।]

॥ आकांक्षानिरूपण समाप्त ॥

— ० —

[योग्यतानिरूपणम्]

योग्यता च—परस्परान्वयप्रयोजकधर्मवत्त्वम्। तेन 'पयसा सिञ्चति' इति वाक्यं योग्यम्। अस्ति च सेकान्वयप्रयोजकद्रवद्रव्यत्वं योग्यता जले, करणत्वेन जलान्वयप्रयोजकार्द्रीकरणत्वं योग्यता सेकक्रियायाम्।

अत एव 'वह्निना सिञ्चति' इति वाक्यमयोग्यम्, वह्नेः सेकान्वयप्रयोजकद्रवद्रव्यत्वाभावात्।

एतादृशस्थलेषु नान्वयबोधः, किन्तु प्रत्येकं पदार्थबोधमात्रमिति नैयायिकाः। तन्न। बौद्धार्थस्यैव सर्वत्र बोधविषयत्वेन बाधस्याभावात्॥

हरिरप्याह—

"अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति च"।

(वा० प०) इति।

अतो बन्ध्यासुतादिशब्दानां प्रातिपदिकत्वम् ।

वह्निना सिञ्चतीत्यतो बोधाभावे तद्वाक्यप्रयोक्तारं प्रति 'अद्रवेण वह्निना कथं सेकं ब्रवीषि' इत्युपहासानापत्तेश्च । वाक्यार्थबोधे जाते बुद्धार्थविषये प्रवृत्तिस्तु न भवति, बुद्धार्थेऽप्रामाण्यग्रहादित्यन्यत्र विस्तरः ।

॥ इति योग्यतानिरूपणम् ॥

स्वसिद्धान्तं प्रदर्शयति—योग्यतेति । परस्परं योऽन्वयः=शाब्दबोधस्तस्य प्रयोजको यो धर्मः,तद्वत्त्वं योग्यता । तेन =उक्तरूपयोग्यतास्वीकारेण, **योग्यम्=योग्यता-विशिष्टम्** । अयं भावः सेकक्रिया तेनैव वस्तुना सम्भवति यद् द्रवद्रव्यं स्यात्, सेकस्य धारारूपत्वात् जले च तद् विद्यते इति जले सेकान्वयप्रयोजकद्रवद्रव्यत्वं योग्यताऽस्ति । सिञ्चतीति क्रिया, अस्यां करणत्वेन जलान्वयप्रयोजकार्द्रीकरणत्वं योग्यताऽस्ति । एवञ्च जलेन सिञ्चतीति वाक्यं योग्यम्,अतएव=एतादृशयोग्यतास्वीकारादेव । अयोग्य-मिति । वह्निः सेकान्वयप्रयोजकं यद् द्रवद्रव्यत्वं तद्वान् नास्ति इति अन्वयप्रयोजक-धर्मवत्त्वाभावान्नैतद्वाक्यं योग्यमिति बोध्यम् । नैयायिकमतं निराकर्तुं प्रस्तौति एतादृशेति । नैयायिका इदं प्रतिपादयन्ति यत् यत्र बाधादिकारणसत्त्वाद् योग्यता= एकपदार्थेऽपरपदार्थसम्बन्धरूपा नास्ति तत्र परस्परमन्वयबोधाभावात् शाब्दबोधो न भवति केवलं प्रत्येकं पदार्थबोधमात्रं भवतीति, तन्न, बौद्धः=बुद्धिदेशस्थः पदार्थ एव सर्वत्र बोधस्य विषयो भवति, एवञ्च क्वापि बाधस्याभावात् । हरिः=भर्तृहरिः, वाक्यपदीयकारः । अर्थे इति 'बाह्येइति शेषः' । अयं भावः--यस्य पदार्थस्य बाह्ये जगति सर्वथाऽभावो विद्यते तद्विषयेऽपि प्रयुक्तः शब्दस्तद्विषयकं ज्ञानं जनयत्येव । एवञ्च शाब्दबोधं प्रति बाधज्ञानं न प्रतिबन्धकमिति सिद्धम् । अतः=बाधज्ञानस्य बोधाप्रति-बन्धकत्वादित्यर्थः । बन्ध्येति । बौद्धार्थस्वीकाराभावे बन्ध्यासुतादिपदार्थानां सर्वथाऽ-भावात् अर्थवत्त्वाभावात् प्रादिपदिकत्वानापत्तिः । भ्रमविषयत्वन्तु पूर्वमेव निराकृतम् । उपहासानापत्तेश्चेति । अयं भावः—यदा केनचित् प्रयुक्तं 'वह्निना सिञ्चतीति वाक्य-मन्यो जनः शृणोति सः तस्योपहासम्—अद्रवेण वह्निना कथं सेकं ब्रवीषि इत्याकारं तदैव कर्तुं शक्नोति यदा एतस्य वाक्यस्यार्थबोधं करोति । यदि एतादृशवाक्यं नार्थबोधक-मित्युच्यते तदार्थबोधाभावादुपहासासम्भव इति बोध्यम् । नन्वेवं बाधादिस्थलेऽपि शाब्दबोधाङ्गीकारे तत्रापि बन्ध्यासुतादिपदार्थानामानयनापत्तिरत आह—वाक्यार्थ-बोधे इति । अयं भावः---बाधस्थलेऽपि बोधस्तु जायते एव किन्तु ज्ञातेऽर्थे प्रामाण्यग्रहो न भवति, प्रत्युताप्रामाण्यग्रह एव जायते । अप्रमाण्यज्ञानं तु न प्रवृत्तिप्रयोजकम् । तेनैतादृशस्थलेषु न प्रवृत्तिरिति बोध्यम् । इत्यन्यत्रेति । लघुमञ्जूषादावित्यर्थः । तत्र हि 'अर्थनिष्ठयोग्यतापि शाब्दबोधे कारणम् । सा च तात्पर्यविषयीभूतसंसर्गवृत्तिधर्मे संसर्गतावच्छेदकताख्ये सम्बन्धिनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वाभावः ।

तेन विशिष्टाभावादिकमादाय न दोषः। तज्ज्ञानं कारणम्, संसर्गज्ञानं तु तात्पर्यविषयतया, आकाङ्क्षाज्ञानविषयतया वा सुलभम्। यद्वा—प्रतियोगिताऽवच्छेदकत्वरूपायोग्यतानिश्चयो बोधप्रतिबन्धक इत्यादि नैयायिकमतं निरस्य—वस्तुतो बाधज्ञानं न क्वापि ज्ञाने प्रतिबन्धकम्, तत्कालेऽपि हि सत्यां सामग्र्यां जायत एव ज्ञानम्। तत्र स्वस्वसामग्रीवशाद् द्वयोरपि ज्ञानयोः जातयोः यत्र ज्ञाने सदोषसामग्रीजन्यत्वग्रहस्तत्राप्रामाण्यग्रह इत्येव मर्यादा ज्यायसी, यथा द्वाभ्यां प्रयुक्ते 'गेहे घटोऽस्ति' 'गेहे घटो नास्ति' इति परस्परविरुद्धे—इत्यादिकथनेन बाधज्ञानस्याप्रामाण्यजनकत्वमुपपाद्य—परेतु—अन्वयप्रयोजकसमभिव्याहृतकार्यशक्तिमत्वं योग्यता। सा च शब्दबोधे भासते। अतएव 'घटेन जलमाहर' इत्यादौ सच्छिद्रेतरस्यैव जलाहरणशक्तिमत्त्वेन सच्छिद्रेतरत्वप्रकारको बोधः। अतएव प्रतिनिधेः श्रौतत्वोपपत्तिरिति प्रतिपादितम्।

॥ इति योग्यतानिरूपणम् ॥

योग्यता-निरूपण

[शाब्दबोध का दूसरा सहकारी कारण योग्यता है। इसके विषय में प्रतिपादन किया जा रहा है--] और योग्यता [पदार्थों का] परस्पर अन्वयप्रयोजक धर्म से युक्त होना है। [जहाँ-जहाँ पदार्थों में होने वाले अन्वय का प्रयोजकधर्म रहता है वहीं योग्यता रहती है और वहीं शाब्दबोध होता है।] इससे 'जल से सींचता है' यह वाक्य योग्य [=योग्यताविशिष्ट है]। [क्योंकि] सींचना क्रिया के अन्वय का प्रयोजक [धर्म] द्रवद्रव्यत्व [तरल पदार्थ होना] रूपी योग्यता जल में है और करणत्वरूप से जल के अन्वय का प्रयोजक आर्द्रीकरणत्व [गीला करने वाला होना] रूपी योग्यता सेचनक्रिया में है।

विमर्श--सींचना क्रिया के साथ अन्वय=सम्बन्ध उसी पदार्थ का हो सकता है जो तरल हो। यह तरलता=द्रवद्रव्यता ही जल में रहने वाली योग्यता है। और करण होते हुए जल के अन्वय का प्रयोजक धर्म=आर्द्रीकरणत्व=गीला करने वाला होना ही योग्यता है, जो सींचना क्रिया में है। इसलिये इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध होकर शाब्दबोध होता है।

अनु०—[उक्त योग्यता शाब्दबोध की कारण मानी जाती है] इसीलिए 'वह्निना सिञ्चति' [आग से सींचता है] यह वाक्य अयोग्य [योग्यतारहित] है। है। क्योंकि आग सेक=सींचना के अन्वय के प्रयोजक द्रवद्रव्यवाला नहीं है। [अतः यहाँ अन्वयबोध और शाब्दबोध नहीं होता है।]

इस प्रकार के [अर्थात् योग्यतारहित, बाधादिविशिष्ट] स्थलों पर अन्वयबोध नहीं होता है किन्तु केवल प्रत्येक पद के अर्थ का ज्ञान होता है—ऐसा नैयायिक

लोग [कहते हैं], वह [ठीक] नहीं, क्योंकि बुद्धिप्रदेशस्थ अर्थ ही सर्वत्र बोध का विषय होता है, अतः [अन्वयबोध का] बाध ही नहीं है। भर्तृहरि ने भी कहा है—

[बाह्य] अर्थ के अत्यन्त अभाव में भी शब्द ज्ञान कराता ही है।

[बौद्ध अर्थ माना जाता है] इसीलिये वन्ध्यासुत [बाँझ का लड़का] आदि शब्दों की प्रातिपदिक संज्ञा होती है। [बौद्धार्थ न मानने पर अर्थवत्ता के अभाव में इनकी प्रतिपदिक संज्ञा होना कठिन है।]

विमर्श—कुछ नैयायिकों ने बाधाभाव को योग्यता माना है। आग द्वारा सींचना क्रिया बाधित है। इसलिए 'अग्निना सिञ्चति' आदि वाक्यों से शाब्दबोध नहीं होता है। प्रत्येक पद से केवल अर्थ की उपस्थिति ही होती है, उसका अलग-अलग बोध होता है, अन्वयबोध नहीं होता है। परन्तु नैयायिकों का उपर्युक्त कथन तर्क एवम् अनुभव के विपरीत है। क्योंकि बाधस्थल में शाब्दबोध होने का समर्थन वाक्यपदीय-कार आदि ने स्पष्ट शब्दों में किया है। अत्र अनुभव के आधार पर नैयायिक कथन का खण्डन किया जा रहा है—]

अनु०—वह्निना सिञ्चति [आग से सींचता है] इस [वाक्य] से शाब्दबोध न होने पर इस वाक्य के प्रयोक्ता के प्रति 'अद्रव = अतरल पदार्थ आग से सींचना कह रहे हो' ऐसा उपहास नहीं हो सकेगा। [जब कि ऐसा उपहास अनुभवसिद्ध है। यदि बाधस्थल में भी बोध मानते हैं तो प्रवृत्ति भी होनी चाहिए—इस शङ्का का खण्डन करते हैं—] वाक्यार्थबोध होने पर ज्ञात अर्थ [पदार्थ] के विषय में प्रवृत्ति तो नहीं होती है, क्योंकि ज्ञात अर्थ के विषय में अप्रामाण्यज्ञान रहता है, इसका विस्तृत वर्णन अन्यत्र है।

विमर्श—कहीं भी प्रवृत्ति के लिए वस्तु का केवल ज्ञान ही कारण नहीं है अपितु उसकी वास्तविक सत्ता का बाधज्ञान रहने पर उसके लिए प्रवृत्ति नहीं होती है, यह अनुभवसिद्ध है।

लघुमञ्जूषा में योग्यता के विषय में नागेश का यह कथन है—शाब्दबोध की प्रयोजिका जो समभिव्याहृत पदों से बोध्य कार्यनिरूपित शक्ति है, वैसी शक्ति [वाली होना]—योग्यता है। और यह योग्यता शाब्दबोध में भासित भी होती है। इसीलिए 'घटेन जलमाहर' इत्यादि में—सच्छिद्र घट से भिन्न घट के ही जलाहरण शक्ति-वाला होने से सच्छिद्रेतरत्वप्रकारक शाब्दबोध होता है। इसीलिए 'खादिरे बध्नाति' आदि में प्रतिनिधि द्रव्य का भी श्रौतत्व उपपन्न हो जाता है।

॥ योग्यतानिरूपण समाप्त ॥

— ० —

[अथासत्तिनिरूपणम्]

प्रकृतान्वयबोधाननुकूलपदाव्यवधानम्—आसत्तिः। गिरिरग्निमानित्यासन्नम्। अनासन्नं च–'गिरिर्भुक्तमग्निमान् देवदत्तेन' इति। आसत्तिरपि मन्दबुद्धेरविलम्बेन शाब्दबोधे कारणम्। अमन्दबुद्धेस्त्वासत्त्यभावेऽपि पदार्थोपस्थितावाकाङ्क्षादितोऽविलम्बेनैव बोधो भवतीति न बोधे तस्याः कारणत्वम्। ध्वनितं चेदं 'न पदान्त' (पा० सू० १।१।५८)सूत्रभाष्ये।

स्थाल्यामोदनं पचतीत्यादौ स्थाल्यामित्यस्यौदनपदेन व्यवधाने सत्यपि प्रकृतान्वयबोधानुकूलत्वादासन्नत्वाक्षतिः।

॥ इत्यासत्तिनिरूपणम् ॥

तृतीयसहकारिकारणत्वेनाभिमतामासत्तिमाह—प्रकृतेति। प्रकृतः = प्रस्तुतो यः अन्वयबोधः तस्य अननुकूलानाम् = अजनकानाम् पदानाम् अव्यवधानम् = व्यवधानाभावः—आसत्तिरिति। ययोः येषां वा पदानां परस्परमन्वयबोधजनकत्वे तात्पर्यं तयोस्तेषां वा पदयोः पदानां वा योऽन्वयबोधः प्रस्तुतस्तस्याजनकानि यानि पदानि तेषां व्यवधानाभावः आसत्तिरित्यर्थः। इयं च ज्ञातैव बोधहेतुर्नतु स्वरूपसतीति बोध्यम्। आसन्नम् = आसत्तिमत्, अतएव विशेष्यविशेषणभावेनान्वयबोधः। अनासन्नम् = आसत्तिरहितम्। गिरिर्भुक्तमग्निमान् देवदत्तेन—इत्यत्र गिरि—अग्निमत्पदयोर्मध्ये विद्यमानं 'भुक्तम्' इति पदं प्रकृतान्वयबोधाननुकूलम्। एवमेव 'भुक्त-देवदत्तपदयोर्मध्ये विद्यमानम्—'अग्निमान्' इति पदं प्रकृतान्वयबोधाननुकूलम्। एवञ्चात्र बोधे विलम्बोऽनुभवसिद्धः। मन्दबुद्धेरिति। यत्र प्रकृतान्वयबोधानुकूलपदानामासत्तिर्भवति तत्र मन्दा अपि शीघ्रमेव बोधं कुर्वन्ति। एवञ्च तेषामविलम्बेन शाब्दबोधे अस्याः कारणत्वं बोध्यम्। अमन्दबुद्धेः = व्युत्पन्नस्य। अमन्दबुद्धेरित्यस्य 'बोधे' इत्यत्रान्वयः। तस्याः = आसत्तेरित्यर्थः। स्वोक्तौ प्रामाण्यमाह–ध्वनितमिति। "न पदान्त०" [पा० सू० १।१।५८] इति सूत्रे भाष्ये—"प्रतिषेधे स्वरदीर्घयलोपेषु लोपाजादेशो न स्थानिवदिति वक्तव्यम्—चिकीर्षकः, प्रतिदीव्ना, ब्राह्मणकण्डूतिः—इत्यादौ स्थानिवद्भावाभावात् स्वरादयो भवन्ति; पञ्चारत्न्यः, किर्योः, वाय्वोः—इत्यादौ स्थानिवद्भावात् स्वर-दीर्घ-यलोपादयो न भवन्ति—'इत्युक्त्वा' तत् तर्हि वक्तव्यम्। न वक्तव्यम्। इह हि लोपोऽपि प्रकृतः, आदेशोऽपि। विधिग्रहणमपि प्रकृतमनुवर्तते, दीर्घादयोऽपि निर्दिश्यन्ते। केवलं तत्राभिसम्बन्धमात्रं कर्तव्यम्—स्वर-दीर्घ-यलोपविधिषु लोपाजादेशो न स्थानिवदिति। आनुपूर्व्येण सन्निविष्टानां यथेष्टमभिसम्बन्धः शक्यते कर्तुम्। न चैतान्यानुपूर्व्येण सन्निविष्टानि। अनानुपूर्व्येणापि सन्निविष्टानां यथेष्टमभिसम्बन्धो भवति। तद्यथा—अनड्वाहमुदहारि या त्वं हरसि शिरसा कुम्भं

भगिनि साचीनमभिधावन्तमद्राक्षीरिति । तस्य यथेष्टमभिसम्बधो भवति—उदहारि-भगिनि ? या त्वं कुम्भं हरसि शिरसा अनड्वाहं साचीनमभिधावन्तमद्राक्षीरिति ।'' अत्र भाष्यकारस्याशयमाशयो यत् स्वरदीर्घयलोपानामानुपूर्व्येण=पदान्तरेणाव्यवधान-रूपासत्त्या पाठाभावेऽपि अनुवृत्तानां लोपादीनां द्विर्वचने लोपादेशस्यासम्भवात्, सवर्णादिविधौ तु तस्यैव सम्भवान्न तेषां लोपो विशेषणम् । पदान्ते तु यद्यपि सम्भवव्यभिचारौ स्तः, 'पदान्त' इति योगविभागात्तद्विधौ लोपो न विशेषणम्, इति पारिशेष्यात् स्वरदीर्घयलोपेषु लोपाजादेशो न स्थानिवदिति विज्ञायते । स्मृतिशास्त्रत्वाच्चास्य—एतावन्तोऽर्थाः सन्निहिता इत्येतावत् प्रतीयते । ग्रहणकवाक्यात्तु लक्ष्यसंस्कारकं प्रक्रियावाक्यमुपप्लवते इति सिद्धमिष्टमिति—कैयटेनोक्तम् । प्रकृतान्वयबोधाननुकूलेति विशेषणस्य प्रयोजनं प्रदर्शयति—स्थाल्यामिति । अयं भाव: 'स्थाल्याम् ओदनं पचति' इत्यत्र अधिकरणक्रिया-वाचकपदयोर्मध्ये यद्यपि ओदनपदस्य व्यवधानमस्ति, पदान्तर-व्यवधानाभावो नास्ति किन्तु तद्व्यवधानं तु प्रकृतान्वयबोधस्य अनुकूलस्यैव पदस्यास्तीति आसत्तेरबाधान्न बोधे प्रतिबन्धः ॥

॥ इत्यासत्तिनिरूपणम् ॥

आसत्ति का विवेचन

प्रकृत [प्रस्तुत] अन्वयबोध के अजनक पदों का व्यवधान न होना–आसत्ति [है] । [जो पद प्रस्तुत अन्वयबोध को नहीं कराने वाले हैं उनका बीच में न होना अर्थात् अन्वयबोध के जनक पदों का समभिव्याहार आसत्ति है ।] 'गिरिः अग्निमान् [पर्वत आगवाला]––यह आसन्न=आसत्ति से युक्त [है अतः इनसे शाब्दबोध होता है ।] और अनासन्न [आसत्ति से रहित]––गिरिः भुक्तम् अग्निमान् देवदत्तेन यह [है ।] [क्योंकि गिरि और अग्निमान् इन दोनों के मध्य में 'भुक्तम्' यह प्रकृतान्वय का अप्रयोजक पद है । इसी प्रकार 'भुक्तम् देवदत्तेन' इनके मध्य में 'अग्निमान्' यह प्रकृतान्वय का अप्रयोजक पद है । अतः यहाँ आसत्ति नहीं है ।] मन्दबुद्धि को शीघ्र बोध कराने में आसत्ति भी कारण होती है । अमन्दबुद्धि [अर्थात् प्रतिभासम्पन्न] का तो आसत्ति के अभाव में भी, पदार्थों की उपस्थिति में आकांक्षादि से शीघ्र ही शाब्दबोध हो जाता है । इसलिए [उस प्रतिभाशाली के] बोध में वह [आसत्ति] कारण नहीं [होती है] । "न पदान्तद्विर्वचन०" [पा० सू० १।१।५८] इस सूत्र भाष्य में यह ध्वनित है । [इसे संस्कृत व्याख्या में देखें]

'स्थाल्याम् ओदनं पचति' इत्यादि में 'स्थाल्याम्' इसका 'ओदनम्' पद से व्यवधान होने पर भी प्रस्तुत अन्वयबोध के अनुकूल होने से आसन्नता=आसत्ति की हानि नहीं [है, आसत्ति बनी ही रहती है] ।

॥ आसत्तिविवेचन समाप्त ॥

[अथ तात्पर्यनिरूपणम्]

एतद्वाक्यं पदं वा एतदर्थबोधायोच्चारणीयमितीश्वरेच्छा–तात्पर्यम् । अत एव सति तात्पर्ये 'सर्वे सर्वार्थवाचकाः' इति शाब्दिकनये घटशब्दात्पट-प्रत्ययो नेत्याद्युक्तम् । नानार्थस्थले लोके तात्पर्यन्तु––एतत्पदं वाक्यं वा एत-दर्थप्रत्ययाय मयोच्चार्यते इति प्रयोक्तुरिच्छारूपम् । तात्पर्यनियामकं च लोके प्रकरणादिकमेव । अतो भोजनप्रकरणे सैन्धवमानयेत्युक्ते सैन्धवपदेन लवणप्रत्ययः, युद्धावसरेऽश्वप्रत्ययः । वेदवाक्ये चैश्वरतात्पर्यादर्थबोधः ।

ननु प्रकरणादीनां शक्तिनियामकत्वे शक्त्यैव निर्वाहे किन्तात्पर्येणेति चेन्न । अस्माच्छब्दादर्थद्वयविशेष्यको बोधो जायते, अर्थद्वये शक्तिसत्त्वात्; तात्पर्यं तु क्वेति न जानीम इत्यनुभवविरोधात् । अत एव च पय आनये-त्युक्तेऽप्रकरणज्ञस्य दुग्धं जलं वा आनेयमिति प्रश्नः सङ्गच्छते ।

॥ इति तात्पर्यनिरूपणम् ॥

शाब्दबोधे चतुर्थं सहकारिकारणं तात्पर्यं प्रतिपादयति—एतदिति । ईश्वरेच्छेति । अत्रेश्वरपदं शिष्टप्रयोक्तृमात्रस्य उपलक्षणं बोध्यम्, अन्यथा टि-घु-भादि-पाणिनि-सङ्केतितपदेष्वीश्वरेच्छाया अभावेन तेभ्यो बोधो न स्यात्, । एवमेव तत्र तत्र शास्त्र-कारोच्चारितपदेभ्योऽपि बोधो न स्यात् । अत एव=शाब्दबोधं प्रति वक्तृतात्पर्यनिश्च-यस्य हेतुत्वादेव । पटप्रत्ययो नेति । घटशब्दस्य कम्बुग्रीवादिमत्पदार्थस्यैव बोधायो-च्चारितत्वादिति भावः । नानार्थेति । नानार्थकेषु शब्देषु प्रयोक्तुर्यदर्थविषयिणीच्छा भवति सैव तात्पर्यं बोध्यम् । अतो नानेकार्थबोधापत्तिः । प्रकरणादिकमेवेति । भर्तृहरि-प्रतिपादितकारिकाबोधिताः संयोगविप्रयोगादयो ग्राह्याः, अतः = प्रकरणादीनां तात्पर्यनियामकत्वादेव ।

अत्र तार्किकाः––तत्र तत्र वाक्ये 'घटमानय' इत्यादौ घटकर्मकानयनबोधेच्छ-योच्चारितत्वाभावज्ञाने, अन्यबोधेच्छयोच्चारितत्वज्ञाने वा तथा बोधानुदयेन तयोः प्रतिबन्धकत्वकल्पने गौरवेण लाघवात्तथाबोधे—इदं वाक्यमेतदर्थप्रतीतीच्छया वक्त्रोच्चारितम्—इत्याकारकस्तात्पर्यग्रहो हेतुः । नानार्थस्थले पदविषयोऽपि स तथा । तात्पर्यग्राहकाश्च प्रकरणादयः । अत एव प्रकरणादिज्ञानाभावे 'इदं पदम् एतदर्थकम्, एतदर्थकं वेति' सन्दिह्यते । मौनिलिखितवाक्यस्थलेऽपि तस्य सूक्ष्ममुच्चारणमस्त्येवेति वदन्ति ।

शाब्दिकास्तु पूर्वोक्तं तात्पर्यज्ञानं बोधे कारणं नाङ्गीकुर्वन्ति । शुकादिवाक्याद्देवता-प्रसादेन, पूर्वजन्मसंस्कारेण वा मूर्खबालककृतोत्तमकाव्याद् वक्तृतात्पर्यव्यतिरेक-निश्चयेऽपि बोधोदयेन तस्य बोधे हेतुत्वं न सम्भवति । तद्व्यतिरेकनिश्चयस्तु, वक्तुस्ततस्तदर्थाबोधादेव भवति । ऐश्वरतात्पर्यस्य कारणत्वकल्पनं तु अगतिकगति ।

अस्मादर्थद्वयविषयको बोधो जायते, तात्पर्यं तु क्वेति न जानीमः इति सर्वजनानुभव-विरोधादपि तस्य हेतुत्वं न समीचीनम् । तात्पर्यनिर्णयस्योपयोगस्तु तज्ज्ञाने प्रामाण्य-निश्चयद्वारा प्रवृत्तौ, क्वचिदनेकपदार्थस्यान्वययोग्यत्वे कस्याध्याहारः इत्यत्र चेति बोध्य-मित्यन्यत्र विस्तरः ।

शक्त्यैव तात्पर्यस्यागतार्थतां निरूपयति—नन्वित्यादीति । अयं भावः—पूर्वं (संयोगो विप्रयोगश्च) इति हरिकारिकायां संयोगादीनां शक्तिनियामकत्वमुक्तम्, अत्र तात्पर्यनियामकत्वमपि तेषामेवोक्तम् । एवञ्च शक्त्यैव निर्वाहः सम्भवति, तात्पर्यस्य न काप्यावश्यकतेति पूर्वपक्षस्याशयः । समाधानन्तु इदं यत् अर्थद्वये शक्तिसत्त्वात् अस्मात् शब्दात् अर्थद्वयविषयको बोधो भवति किन्तु अस्य तात्पर्यं कस्मिन्नर्थेऽस्तीति सर्वजनानामनुभवात् तात्पर्यस्योपयोगित्वं बोध्यम् । अत एव=तात्पर्यस्य हेतुत्वादेवेत्यर्थः ।

॥ इति तात्पर्यनिरूपणम् ॥

॥ इति आचार्य-जयशङ्करलाल-त्रिपाठिकृतायां भावप्रकाशिका-
व्याख्यायामाकाङ्क्षादिनिरूपणम् ॥

तात्पर्य का विवेचन

यह वाक्य या पद इस अर्थ का बोध कराने के लिये उच्चारण करना चाहिये—इस प्रकार की ईश्वरेच्छा तात्पर्य है । [वक्ता का तात्पर्य शाब्दबोध के प्रति कारण होता है] इसीलिए तात्पर्य रहने पर 'सभी शब्द सभी अर्थों के वाचक [होते हैं]' इस वैयाकरणों के सिद्धान्त में घट शब्द से पट का ज्ञान नहीं [होता है ।]—इत्यादि [लक्षणाविवेचन में] कहा जा चुका है ।

नाना अर्थवाले स्थल पर लोक में तात्पर्य तो—यह पद या यह वाक्य इस अर्थ का ज्ञान कराने के लिए मेरे द्वारा उच्चारित किया जाता है—यह प्रयोक्ता का इच्छारूप [है]। और लोक में तात्पर्य के नियामक प्रकरण आदि ही [होते हैं ।] इसीलिए भोजन के प्रकरण में 'सैन्धव को लाओ' ऐसा कहने पर सैन्धव पद से नमक का ज्ञान होता है और युद्ध के प्रकरण में अश्व का ज्ञान होता है । तथा वेदवाक्यों में ईश्वरीय तात्पर्य से अर्थबोध होता है ।

तात्पर्यज्ञान की उपयोगिता

प्रकरण आदि के शक्तिनियामक होने पर शक्ति से ही निर्वाह होने पर तात्पर्य से क्या [लाभ है]----ऐसा यदि [कहो तो], नहीं [कह सकते], क्योंकि 'इस शब्द से अर्थद्वयविषयक [दो अर्थों का] बोध होता है, क्योंकि दोनों अर्थों में शक्ति है किन्तु तात्पर्य किस अर्थ में है—यह नहीं जानते हैं', इस अनुभव से विरोध होता है । [वक्ता का तात्पर्य शाब्दबोध में कारण होता है] इसीलिए 'पय आनय' [पय

लाओ]—ऐसा कहने पर प्रकरण न जानने वाले व्यक्ति का 'दूध लाऊँ अथवा जल ?' ऐसा प्रश्न संगत होता है। [पय शब्द के दोनों अर्थ हैं अतः वक्ता किसके तात्पर्य से बोल रहा है यह समझे विना ठीक से बोध नहीं होता है।]

विमर्श— वैयाकरण सामान्यतया तात्पर्यज्ञान को शाब्दबोध का कारण नहीं मानते हैं। नागेश का कथन है कि शाब्दबोध में प्रामाण्य का निश्चय कराकर प्रवृत्ति कराने में तात्पर्यज्ञान को कारण मानना चाहिये। शाब्दबोधमात्र के प्रति तात्पर्यज्ञान को कारण मानने में गौरव है। इसका विस्तृत विवेचन लघुमञ्जूषादि में देखा जा सकता है।

॥ तात्पर्यनिरूपण समाप्त ॥

॥ इस प्रकार आचार्य जयशंकरलालत्रिपाठिविरचित बालबोधिनी व्याख्या में आकाङ्क्षादिविचार समाप्त हुआ ॥

—०—

[अथ धात्वर्थनिरूपणम्]

अथ सकलशब्दमूलभूतत्वाद्धात्वर्थो निरूप्यते। तत्र फलानुकूलो यत्नसहितो व्यापारो धात्वर्थः। फलत्वं च तद्धात्वर्थजन्यत्वे सति कर्तृप्रत्ययसमभिव्याहारे तद्धात्वर्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारतावत्त्वम्। विभागजन्यसंयोगादिरूपे पतत्यादिधात्वर्थे विभागसंयोगयोः फलत्वकारणयोरुभयम्। कर्मप्रत्ययसमभिव्याहारे तु फलस्य विशेष्यता। व्यापारत्वं च-धात्वर्थफलजनकत्वे सति धातुवाच्यत्वम्। अनुकूलत्वं संसर्गः। अनुकूलत्वं च-फलनिष्ठजन्यतानिरूपितजनकत्वम्।

'भावप्रधानमाख्यातं सत्त्वप्रधानानि नामानि' [निरु० १]

इति निरुक्तोक्तेर्व्यापारमुख्यविशेष्यको बोधः। तत्र तिङ्वाच्यं संख्याविशिष्टं कारकम्, कालश्च व्यापारविशेषणम्।

यद्यपि पूर्वमखण्डवाक्यस्फोटस्यैव वाचकत्वं प्रतिपादितं तथापि शास्त्रीयप्रक्रियानिवर्हार्थं तत्र पदादिकल्पना पदादिषु च प्रकृतिप्रत्ययादिकल्पना शास्त्रकाराणामिति प्रकृतिप्रत्यययोर्मध्ये कस्य प्राधान्यम् ? "उणादयो बहुलम्" (पा० सू० ३।३।१) इति सूत्रे--नाम च धातुजमाह निरुक्ते=नाम खल्वपि धातुजमेवाह नैरुक्ताः। 'व्याकरणे शकटस्य च तोकम्=अपत्यम्, वैयाकरणानां शाकटायन आह--धातुजं नामेति' भाष्यादिप्रामाण्यात् प्रकृतिषु धातोः प्राधान्यादादौ धातोरेवार्थं प्रतिपादयति--अथेति।

उणादयो व्युत्पन्नानि, इति पक्षे इदमिति बोध्यम् । तत्र=निरूपणविषयीभूते । यत्नः= आन्तरिक-सङ्कल्परूपचेष्टाविशेषः । फले व्यापारे च खण्डशः शक्तिः, अनुकूलत्वम्= जनकत्वम् आकाङ्क्षाभास्यः संसर्गः । यत्नसहित इति कथनेन—यत्नः=कृतिः आख्यातार्थ इति नैयायिकमतम्, भावना=यत्नः आख्यातार्थ इति मीमांसकमतं च निराकृतम् । किञ्च—एतेन यत्नातिरिक्तः फलानुकूलो व्यापारो धात्वर्थः, यत्न आख्यातार्थः, स च लिङ्येव नान्यत्र, अप्रतीतेः, धात्वर्थे कारकान्वयः, काष्ठैः पाक इति त्विष्टमेवेति "समन्वय" [ब्र. सू. १।१।४]—सूत्रे वाचस्पत्युक्तं गुरुमतमप्यपास्तमिति लघुमञ्जूषायामुक्तम् । व्यापारः=करचरणादिचेष्टाविशेषः । अत एव 'कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्'' [पा. सू. १।४।३२] इति सूत्रभाष्ये 'जानाति इच्छति करोति यतते' इति प्रक्रियया नान्तरीयकतया क्रियायाः यत्नपूर्वकत्वादेव पचतीत्यादौ यत्नस्यापि प्रतीतिः सम्भवति तथा मनोव्यापाररूपयत्नस्यापि व्यापारे एवान्तर्भावेण व्यापारपदेनैव बोधसिद्धिः सम्भवति; तथापि पृथगुक्तिः मतान्तरनिरासायैवेति बोध्यम् । ननु "स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले" [पा. सू. १।३।७२] इति सूत्रे यदर्थमुद्दिश्य धात्वर्थक्रियायां प्रवृत्तिस्तत्फलम् । यथा स्वर्गमुद्दिश्य यागो विधीयते इति स्वर्गप्राप्तिस्तत्क्रियायाः फलत्वेनोच्यते । हरिणाप्येवमेवोक्तम्—

यस्यार्थस्य प्रसिद्ध्यर्थमारभन्ते पचादयः ।
तत्प्रधानं फलं तेषां न लाभादिप्रयोजनम् ॥ [वा.प. ३।१२।१८]

इति । एवञ्चैतादृशफलस्येह ग्रहणे सकर्मकाकर्मकत्वव्यवस्थाया उच्छेदापत्तिरिति चेदत आह—फलत्वमिति । पारिभाषिकमेव फलमत्र ग्राह्यं न तु लोकप्रसिद्धमिति भावः । तत्पदेन प्रकृतो धातुः ग्राह्यः । कर्तृप्रत्ययसमभिव्याहारे फलत्वं निर्दिशति । अयं भावः—प्रकृतधात्वर्थव्यापारजन्यत्वे सति प्रकृतधात्वर्थव्यापारनिष्ठा या विशेष्यता तन्निरूपिता या प्रकारता, तद्वत्त्वं फलत्वं कर्तृप्रत्ययसमभिव्याहारे बोध्यम् । अत्र फललक्षणेंऽशद्वयम्; तयोरुपयोगित्वमाह—विभागेति । विभागजन्यसंयोगः पतधात्वर्थः । अत्र विभागः फलं न स्यादेतदर्थम्—तद्धात्वर्थजन्यत्वे सतीति—विशेषणदलम् । विभागश्च न पतधात्वर्थजन्यः । एतन्निवेशाभावे तु विभागस्यापि फलत्वापत्त्या तदाश्रयस्य वृक्षादेरपि कर्मत्वापत्त्या अपादानत्वानापत्त्या 'वृक्षात् पतितः' इति प्रयोगानापत्तिः । एवमेव संयोगस्य फलत्ववारणाय विशेष्यदलम् । अन्यथा पतधात्वर्थविभागजन्यत्वात् संयोगस्य फलत्वापत्त्या तदाश्रयस्य भूम्यादेः कर्मत्वापत्तिः । एवञ्च 'भूमौ पतित' इत्यादि प्रयोगासम्भवः । भूमिं पतित इत्याद्यनुरोधात् पत् धातोः विभागजन्य-संयोगानुकूलव्यापारवाचित्वमपि स्वीकार्यम् । अत्रकेचित्—धातुनिष्ठवृत्तिविशिष्टत्वं फलत्वम् । वैशिष्ट्यञ्च—स्वज्ञानजन्योपस्थितिविषयत्व - स्वज्ञानजन्योपस्थितिविषयव्यापारविशिष्टत्वैतदुभयसम्बन्धेन । व्यापारवैशिष्ट्यञ्च—स्वजन्यत्वनिष्ठ - प्रकारतानिरूपित-प्रतीति-

विषयता-स्वप्रयोज्यताप्रकारकप्रतीतिविषयत्वैतदुभयसम्बन्धेन; एवञ्च सत्तारूपफले, वारि-धात्वर्थे संयोगानुकूलव्यापाराभावरूपफले च नाव्याप्तिः, तत्र जन्यत्वाभावेऽपि स्वरूप-सम्बन्धत्वरूपप्रयोज्यत्वस्य सत्त्वेन दोषाभावात्। गमादिधात्वर्थव्यापारजन्य-विभागा-दावतिव्याप्तिवारणाय आद्यः सम्बन्धः। एवं गम्धात्वर्थव्यापारेऽतिव्याप्तिवारणाय द्वितीयः सम्बन्धः; विस्तरस्त्वन्यत्र द्रष्टव्यः। कर्मप्रत्ययेति। यत्र कर्मार्थकप्रत्ययस्य समभिव्याहारो भवति तत्र धात्वर्थफलमेव विशेष्यम्, व्यापारस्तु विशेषणमिति बोध्यम्। तेन तत्र फलविशेष्यको बोधः। पारिभाषिकं व्यापारत्वमाह—व्यापारेति। अत्रापि अंशद्वयम्, तत्र धातुवाच्यत्वस्य फलेऽपि सत्त्वात्तत्रातिव्याप्तिवारणाय विशेषणदलम्—धात्वर्थफलजनकत्वे सतीति स्वस्य स्वजनकत्वाभावान्न दोषः। काष्ठ-वह्न्यादि करणाना-मपि व्यापारस्य फलजनकत्वात् तत्रातिव्याप्तिवारणाय धातुवाच्यत्वमिति विशेष्यदलम्। तेषां धातुवाच्यत्वाभावान्न दोषः। यदि काष्ठादिव्यापाराणां धात्वर्थत्वविवक्षा तदा तेषामपि व्यापारत्वमिष्टमेव। अत एव काष्ठानि पचन्ति, वह्निः पचतीत्यादयः प्रयोगाः सङ्गच्छन्ते। फलव्यापारयोः संसर्गत्वजिज्ञासायामाह—अनुकूलेति। फलव्यापारा-वन्तरङ्गत्वात् परस्पर-विशेषणतामनुभूयैवार्थान्तरान्वयिनौ। अत एव 'गमनं न व्यापार' इति प्रयोगो न भवति। तत्र फलांश उत्सर्गतो व्यापारविशेषणम्। जन्यजनकभावः संसर्गः; एतदेवाह—अनुकूलत्वञ्चेति।

ननु व्यापारस्य धात्वर्थत्वेन धातोश्च प्रकृतित्वेन 'प्रकृति-प्रत्ययार्थयोः प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यमि'ति न्यायेन प्रकृतिभूतधात्वर्थव्यापारस्य शाब्दबोधे विशेष्यत्वं न सङ्गतमिति चेदत आह—भावप्रधानमिति। भावः प्रधानं यस्मिन् तत् भावप्रधानम्। अत्र निरुक्ते आख्यातमुद्देश्यम्, भावप्रधानत्वं विधेयमित्यतः—आख्यातं भावप्रधानमिति योजना कार्या। आख्यातम्=तिङन्तम्, न तु प्रत्ययमात्रम्। एवञ्च तिङर्थनिष्ठ-प्रकारतानिरूपितधात्वर्थनिष्ठविशेष्यताक-बोधजनकमिति निरुक्तवाक्यार्थः। भावः=क्रिया, सा च क्रियतेऽनयेति करणव्युत्पत्त्या व्यापारम्, क्रियते यत्तदिति कर्मव्युत्पत्त्या फलं च प्रतिपादयति। एवञ्च भावशब्देन फलव्यापारोभयोर्ग्रहणेन कर्मतिङि फलस्य प्राधान्य-मिति मतेऽपि न दोषः। नामानि सत्त्वप्रधानानि, सत्त्वं=द्रव्यम्, नामानि=सुबन्तानि। एवञ्च सत्त्वं=द्रव्यं प्रधानं यस्मिन् तत्, तानि सत्त्वप्रधानानि सुबन्तानि। एतन्निरुक्ता-नुसारं तिङन्तस्थले धात्वर्थव्यापारस्य मुख्यविशेष्यतया भानमिति बोध्यमिति शाब्दिकाः। भूषणे उक्तम् 'तिङर्थः कर्तृकर्मसंख्याकालाः। तत्र कर्तृकर्मणी फलव्यापारयोर्विशेषणे। संख्या कर्तृप्रत्यये कर्तरि, कर्मप्रत्यये कर्मणि, समानप्रत्ययोपात्तत्वात्।' एतदेवाह—तत्रेति। धात्वर्थ-तिङर्थमध्ये इत्यर्थः। संख्या=एकत्वादिविशिष्टं कारकम्=कर्तृ-कर्मणी। तथा च—आख्यातार्थसङ्ख्याप्रकारकबोधं प्रति आख्यातजन्यकर्तृ-कर्मोपस्थितिर्हेतुरिति कार्यकारणभावः फलितः।

अत्र दीक्षितादिमतं परिष्कुर्वन्तः केचनाहुः—

फलव्यापारयोर्धातुराश्रये तु तिङः स्मृतः।
फले प्रधानं व्यापारस्तिङर्थस्तु विशेषणम् ॥ वै. भू. १

इत्यत्र फलव्यापारयोरिति द्विवचनेन फलनिरूपिता व्यापारनिरूपिता च धातोः पृथक्शक्तिः, एकवृन्तगतफलद्वयन्यायेन पृथगुपस्थितिप्रयोजिका खण्डश एकैव शक्तिरिति वा सूचितम्। स्तोकं पचतीत्यादौ स्तोकादिरूपकर्मणोऽभेदेन ग्रामं गच्छतीत्यादौ ग्रामादिकर्मणश्च भेदसम्बन्धेनान्वयः। ननु फलविशिष्टव्यापारे एव धातोः शक्तिरस्तु इति चेन्न, फलस्यैकदेशत्वेन तत्र 'पदार्थः पदार्थेनान्वेति न तु पदार्थैकदेशेन' इति न्यायविरोधात् स्तोकादिकर्मान्वयानुपपत्तेः। एतन्न्यायास्वीकारे 'नित्यो घटः' इत्याद्यापत्तेः। एतन्न्यायस्य प्रायिकत्वस्यापि अगतिकगतित्वाच्च। न च विभिन्नपदजन्योपस्थितयोरेवाकाङ्क्षाभास्यसम्बन्धेनान्वयात् फल-व्यापारयोः परस्परमनन्वयापत्तिरिति वाच्यम्, तादृशनियमासिद्धेः। किञ्च न्यायमते लिङ्पदोपस्थितयोः कृतीष्टसाधनत्वयोः तिङ्पदोपस्थितकृति-वर्तमानत्वयोश्च परस्परान्वयदर्शनेन सङ्कोचस्यावश्यकत्वेन धातुतिङादिभिन्नं यदेकपदं तदुपस्थितयोरेव परस्परमनन्वयस्य तद्व्युत्पत्तिविषयत्वात्। न च संयोगरूपे फले भेदान्वयाभिप्रायेण 'गमनं न स्पन्दः,' इति वाक्यस्य प्रामाण्यापत्तिरिति वाच्यम्, अन्तरङ्गत्वाद् 'युगपदुपस्थितयोः फलव्यापारयोः परस्परान्वयानन्तरमेव तत्र पदार्थान्तरस्यान्वययोग्यतया "गुणानाञ्च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात् स्यादि" ति न्यायविरोधेन फले भेदेनान्वयानौचित्यात्। न चैवं फले स्तोकादीनां कर्मादीनाञ्चान्वयानुपपत्तिरिति वाच्यम्, 'क्रियाविशेषणानां कर्मत्वम्' इत्याद्यभियुक्तोक्तेः, फलाश्रयस्य कर्मसंज्ञाविधानाच्च तेषामन्वये बाधकाभावादित्याहुः।

धात्वर्थ का विवेचन

विमर्श—धातु के अर्थ के विषय में शास्त्रकारों के भिन्न-भिन्न मत दृष्टिगोचर होते हैं। इनका संक्षिप्तस्वरूप निम्न है—

१. मीमांसक-मत—धातु का अर्थ केवल फल है। व्यापार अर्थ तो आख्यातप्रत्यय का है। शाब्दबोध में आख्यातार्थ व्यापार प्रधान रहता है।

२. प्राचीननैयायिक-मत—धातु का अर्थ केवल व्यापार है। फल की प्रतीति द्वितीयादि से होती है। शाब्दबोध में प्रथमान्तार्थ विशेष्य रहता है।

३. नव्यनैयायिक-मत—फल एवं व्यापार दोनों धातु के अर्थ हैं। किन्तु शाब्दबोध प्रथमान्तार्थ-प्रधान ही होता है।

४. प्राचीनवैयाकरण-मत—धातु के अर्थ फल और व्यापार हैं। खण्डशः शक्ति है। शाब्दबोध सर्वदा व्यापार-मुख्य-विशेष्यक ही होता है।

५. नागेशभट्ट का मत–फल एवं व्यापार दोनों धातु के ही अर्थ हैं। विशिष्ट शक्ति है अर्थात् कर्तृप्रत्ययस्थल में फलविशिष्टव्यापार-विशेष्यक और कर्मप्रत्यय-स्थल में व्यापारविशिष्टफल-विशेष्यक शाब्दबोध होता है।

भट्टोजिदीक्षित आदि का मत

अनु०–अब समस्त शब्दों के मूलभूत होने से धातु के अर्थ का निरूपण किया जा रहा है। इस (धात्वर्थ) के विषय में—फलानुकूल [फल का जनक], यत्नसहित व्यापार धातु का अर्थ [होता है]। [यत्न=मानसिक सङ्कल्परूप क्रिया है और व्यापार करचरणादिकी बाह्य चेष्टारूप है। इन दोनों का समावेश करके 'आख्यातार्थ कृति है'–इस नैयायिकादिमत का निराकरण किया जाता है।] और उस [प्रकृत] धात्वर्थ [व्यापार] से जन्य होते हुए, कर्तृप्रत्यय के समभिव्याहार में उस [प्रकृत] धातु के अर्थ [व्यापार] में रहने वाली विशेष्यता से निरूपित प्रकारतावाला होना—फल होता [है]। पत आदि धातु के विभागजन्य संयोगादिरूप अर्थ में विभाग एवं संयोग दोनों फल न होने लगें इसका वारण करने के लिए उभय [अर्थात् विशेषणदल और विशेष्यदल दोनों का उल्लेख किया गया है।] [कर्तृप्रत्यय में व्यापार ही विशेष्य रहता है] किन्तु कर्मप्रत्यय के समभिव्याहार में फल विशेष्य होता है। [नागेश ही फल की भी विशेष्यता मानते हैं।]

विमर्श—फल के उक्त स्वरूप में तीन बातें ध्यान देने योग्य हैं (१) यह लक्षण कर्तृप्रत्ययस्थल के लिए ही है कर्मप्रत्ययस्थल के लिए नहीं। (२) प्रकृत धात्वर्थ [व्यापार] से जन्य होना चाहिये। (३) प्रकृत धात्वर्थ [व्यापार] में जो विशेष्यता है उसी की प्रकारता रहनी चाहिए। इस लक्षण में एक विशेषणदल है—तद्धात्वर्थजन्यत्वे सति। और दूसरा विशेष्यदल है—तद्धात्वर्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपित-प्रकारतावत्त्वम्। इन दोनों की उपयोगिता है। कारण यह है कि पत धातु का अर्थ है—विभागजन्य संयोग। इसमें विभाग फल नहीं होता है क्योंकि वह धात्वर्थ से जन्य नहीं है। इसीलिए विभाग के आश्रय वृक्षादि की कर्मसंज्ञा नहीं होती है। इसी प्रकार संयोग भी फल नहीं है क्योंकि संयोग में तो पत् धात्वर्थनिष्ठ-विशेष्यता ही है तन्निरूपिता प्रकारता नहीं। इसीलिए संयोगाश्रय भूमि आदि की कर्मसंज्ञा नहीं होती है अधिकरण संज्ञा ही होती है—वृक्षात् पर्णं भूमौ पतति।

अनु०–और—धात्वर्थ फल का जनक होते हुए धातु का वाच्य होना—व्यापार होता है। [फल एवं व्यापार दोनों में परस्पर] अनुकूलत्व=जनकत्व संसर्ग है। और फल में रहनेवाली जन्यता से निरूपित जनकतावाला होना—अनुकूल होना है।

विमर्श—फल जन्य है और व्यापार जनक है—यही अनुकूलत्वसंसर्ग से प्रतीत होता है। फल भी यद्यपि धातु का वाच्य है किन्तु वह धात्वर्थ फल का जनक नहीं

होता है, क्योंकि स्व स्व का जनक नहीं होता है। अतः फल में व्यापारत्व अतिप्रसक्त नहीं होता है।

व्यापारमुख्यविशेष्यता का समर्थन

अनु०—'आख्यात [तिङन्त] भावप्रधान=क्रियार्थप्रधान [होता है], नाम=सुबन्त प्रातिपदिक सत्त्वप्रधान=द्रव्यप्रधान [होता है]—इस' निरुक्त के कथन से व्यापार [—मुख्य—] विशेष्यक [ही] [शाब्द] बोध [माना जाता है]। यहाँ तिङ् के वाच्य—संख्याविशिष्ट कारक [कर्ता तथा कर्म] और काल ये सभी व्यापार में विशेषण [होते हैं]।

विमर्श—दीक्षितादि फल एवं व्यापार—ये दोनों अर्थ धातु के मानते हैं। तिङ् के चार अर्थ हैं—संख्या, कर्ता, कर्म और काल। इनमें कर्तृप्रत्यय-स्थल में संख्या का अन्वय कर्ता में और कर्म-प्रत्ययस्थल में संख्या का अन्वय कर्म में होता है। इस प्रकार संख्या से विशिष्ट ही कर्ता तथा कर्म का अन्वय धात्वर्थ व्यापार में होता है। इसके अतिरिक्त काल का भी अन्वय धात्वर्थ व्यापार में ही होता है। देवदत्तः तण्डुलं पचति—इस वाक्य से यह शाब्दबोध होता है—एकत्वविशिष्ट-देवदत्तकर्तृक-तण्डुलकर्मक—वर्तमानकालिक—पाकानुकूल—व्यापारः।

परे तु—फलव्यापारयोर्धातोः पृथक्शक्तावुद्देश्यविधेयभावेनान्वयापत्तिस्तयोः स्यात्। पृथगुपस्थितयोस्तथा अन्वयस्यौत्सर्गिकत्वात्। किञ्चैकपदे व्युत्पत्तिद्वयकल्पनेऽतिगौरवम्।

तथाहि—फलविशेषणकव्यापारबोधे कर्तृप्रत्ययसमभिव्याहृतधातुजन्योपस्थितिः कारणम्, व्यापारविशेषणकफलबोधे कर्मप्रत्ययसमभिव्याहृतधातुजन्योपस्थितिः कारणमिति कार्यकारणभावद्वयकल्पनम्, धातोरर्थद्वये शक्तिद्वयकल्पनम्, धातोर्बोधजनकत्वसम्बन्धद्वयकल्पनं चातिगौरवम्। तस्मात्फलावच्छिन्ने व्यापारे; व्यापारावच्छिन्ने फले च धातूनां शक्तिः; कर्तृकर्मार्थकतत्तत्प्रत्ययसमभिव्याहारश्च तत्तद्बोधे नियामक इत्याहुः।

भूषणकारादिमतं प्रदर्श्य साम्प्रतं स्वमतमाह—परे त्वित्यादिना। नागेशभट्टास्त्वित्यर्थः। तयोः=फलव्यापारयोरित्यर्थः। स्यादिति। व्यापारोद्देश्यकफलविधेयकबोधस्य, फलोद्देश्यकव्यापारविधेयकबोधस्य चापत्तिः स्यादिति भावः। तथाऽन्वयस्य=उद्देश्यविधेयभावेनान्वयस्य। ननु उद्देश्यविधेयभावेनान्वयनियामकव्युत्पत्तौ धातुभिन्नत्वं विशेषणं देयं तेन न दोषः। किञ्च तथाविधान्वयस्यौत्सर्गिकत्वे प्रमाणाभावः। एवञ्च न पूर्वोक्तदोष इति चेदत आह—किञ्चेति। गौरवमेव प्रदर्शयति—तथाहीत्यादिना। शाब्दबोधद्वयस्य परस्परं भेदप्रतिपादनाय कार्यकारणभावद्वयं कल्पनीयमिति भावः। यदा फलं विशेषणं व्यापारश्च विशेष्यः, अनुकूलत्वं (जनकत्वं)

च संसर्गः तदा—(१) अनुकूलत्वसम्बन्धावच्छिन्न—फलनिष्ठप्रकारतानिरूपित-विशेष्यता-सम्बन्धेन शाब्दबोधं प्रति कर्तृप्रत्यय - समभिव्याहृत - धातुजन्य - व्यापारोपस्थितिः कारणम्, एवमेव (२) जन्यत्वसम्बन्धावच्छिन्न—व्यापारनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यता-सम्बन्धेन शाब्दबोधं प्रति कर्मप्रत्ययसमभिव्याहृत—धातुजन्य-फलोपस्थितिः कारणम्—इति कार्यकारणभावद्वयं प्राचीनमते कल्पनीयं स्यादिति। अर्थद्वये इति। फले व्यापारे चेत्यर्थः। अतिगौरवमिति। अयं भावः—विषयासम्बन्धे बोधजनकत्वस्यानुपपत्त्या तत्तत्प्रत्ययसमभिव्याहारविशिष्टधातौ विशिष्टार्थनिरूपित-वाच्यवाचकभावात्मक-सम्बन्धद्वयकल्पनमावश्यकमिति बोध्यम्। अन्यथा शक्तेर्वैफल्यम्। एवमेवान्यत्रापि पृथक्शक्तिकल्पना निरसनीयेति दिक्। तस्मात्=पूर्वोक्तदोषग्रस्तत्वादित्यर्थः। अनुकूलत्वसम्बन्धेन फलविशिष्टव्यापारे एवमेव जन्यत्वसम्बन्धेन व्यापारविशिष्टे फले च धातोः शक्तिः स्वीकार्या। ननु विशिष्टशक्तिस्वीकारे विनिगमनाविरहात् सर्वत्रोभय-विशेष्यकबोधापत्तिरिति चेदत आह—कर्तृकर्मार्थेति। फलविशिष्टव्यापारविशेष्यक-बोधे कर्तृ-भाव-प्रत्ययसमभिव्याहारः, व्यापारविशिष्टफलविशेष्यकबोधे च कर्म-प्रत्यय-समभिव्याहारो नियामकस्तेन न क्वापि दोषः।

ननु विशिष्टशक्तिद्वये शक्तिज्ञानद्वयस्य धातुजन्यविशिष्टविषयोपस्थितिद्वयस्य च शाब्दबोधं प्रति हेतुत्वं कल्पनीयमिति गौरवमिति चेन्न, प्रामाणिकगौरवस्यादोषत्वात्। एवमेव विशिष्टे शक्तौ गुरुभूतशक्यतावच्छेदकत्वकल्पनेऽप्यदोषादिति दिक्।

नागेश का धात्वर्थ-विषयक मत

अन्य लोग [नागेश] तो यह कहते हैं—फल एव व्यापार अर्थों में धातु की पृथक्-पृथक् शक्ति मानने पर [इन दोनों में परस्पर] उद्देश्यविधेयभाव से अन्वय प्रसक्त होने लगेगा क्योंकि पृथक्-पृथक् उपस्थित दो पदार्थों में वैसा [उद्देश्यविधेयभाव से] अन्वय होना स्वाभाविक है।

विमर्श—फल तथा व्यापार ये दोनों जब अलग-अलग धात्वर्थ माने जाते हैं तो व्यापारोद्देश्यक फलविधेयक और फलोद्देश्यक व्यापारविधेयक अन्वय रोकना कठिन है क्योंकि जो दो पदार्थ अलग-अलग उपस्थित होते हैं उनमें उक्त प्रकार से अन्वय होना स्वाभाविक स्थिति है। यदि विशिष्ट शक्ति अर्थात् फलविशिष्टव्यापार और व्यापार-विशिष्ट फल अर्थ मानें तो उक्त दोष की आपत्ति नहीं है।

[यदि यह कहा जाय कि उद्देश्यविधेयभाव से अन्वय के लिये पृथक्-पृथक् पदों से ही अर्थोपस्थिति होनी चाहिये। यहाँ एक ही से दोनों अर्थों की उपस्थिति होती है अतः उक्त दोष की आशङ्का नहीं करनी चाहिए; तो अब दूसरा दोष प्रस्तुत किया जा रहा है—]

अनु०—और भी, एक पद में दो व्युत्पत्तियों की कल्पना में गौरव है। [यह गौरव] इस प्रकार [समझना चाहिए]–(१) फलविशेषणकव्यापार [-विशेष्यक-] बोध में कर्तृ प्रत्यय से समभिव्याहृत धातु से जन्य [अर्थ की] उपस्थिति कारण है और व्यापार-विशेषणक फलविशेष्यकबोध में कर्मप्रत्यय से समभिव्याहृतधातु से जन्य [अर्थ की] उपस्थिति कारण है–इन दो कार्यकारणभावों की कल्पना करना; (२) धातु की दो अर्थों में दो शक्तियों की कल्पना करना और (३) धातु के दो बोधजनकत्व-सम्बन्धों की कल्पना करना—अत्यन्त गौरव है।

विमर्श—ऊपर तीन गौरवों का उल्लेख किया गया है उन्हें इस प्रकार समझना चाहिए—

(१) फल एवं व्यापार इन दोनों अर्थों का परस्पर विशेष्यविशेषणभाव करके दो प्रकार के बोध होते हैं। उन दोनों के लिए अलग-अलग उपस्थितियों को कारण मानना होगा अर्थात् फलविशेषणकव्यापारविशेष्यक बोध करने के लिए कर्तृ प्रत्यय से समभिव्याहृतधातु से जन्य अर्थोपस्थिति कारण है–यह एक कार्यकारणभाव तथा व्यापार-विशेषणकफलविशेष्यक बोध करने के लिए कर्मप्रत्यय से समभिव्याहृत धातु से जन्य अर्थोपस्थिति कारण है—यह दूसरा कार्यकारणभाव मानना पड़ेगा।

(२) दोनों अर्थों में धातु की शक्ति की कल्पना करनी पड़ेगी। इसलिये हरि आदि नानार्थक शब्दों के समान धातु की भी नानार्थता प्रसक्त होगी।

(३) फलनिरूपित एवं व्यापारनिरूपित जो स्व-स्व [अर्थात् फल एव व्यापार]–विषयकबोधजनकत्वरूप सम्बन्ध, उन दो सम्बन्धों की कल्पना करनी पड़ेगी क्योंकि विषय का सम्बन्ध न होने पर बोधजनकता उपपन्न नहीं हो सकती। इन्हीं दोषों को ध्यान में रखकर नागेश ने खण्डशःशक्ति का निराकरण करते हुए विशिष्टशक्ति मानी है। यही आगे प्रतिपादित कर रहे हैं—

अनु०—इसलिए [अर्थात् उपर्युक्त दोष एवं गौरव प्रसक्त होते हैं उनसे बचने के लिए] फलावच्छिन्न व्यापार और व्यापारावच्छिन्न फल में धातुओं की शक्ति [माननी चाहिए] और कर्ता तथा कर्म अर्थवाले प्रत्ययों का समभिव्याहार उन-उन बोधों में नियामक है। [अर्थात् जहाँ कर्त्रर्थक प्रत्यय का समभिव्याहार है वहाँ फल-विशिष्ट व्यापार का बोध होता है किन्तु जहाँ व्यापारविशिष्ट फल का बोध करना है वहाँ कर्मार्थक प्रत्यय का समभिव्याहार रहना चाहिये। इसलिए कोई अव्यवस्था नहीं होती है।]

यत्तु मीमांसकाः—फलं धात्वर्थो, व्यापारः प्रत्ययार्थ इति वदन्ति; तन्न। "लः कर्मणि" [पा. सू. ३।४।६९] इत्यादिसूत्रविरोधापत्तेः। नहि तेन व्यापारस्य प्रत्ययार्थता लभ्यते।

किञ्च, पचति, पक्ष्यति, पक्ववानित्यादौ फूत्कारादिप्रतीतये तत्रानेकप्रत्ययानां शक्तिकल्पनापेक्षयैकस्य धातोरेव शक्तिकल्पनोचिता ।

किञ्च, फूत्कारादेः प्रत्ययार्थत्वे गच्छतीत्यादौ तत्प्रतीतिवारणाय तद्‌बोधे पचिसमभिव्याहारस्यापि कारणत्वकल्पनेऽतिगौरवम् ।

किञ्च सकर्मकाकर्मकव्यवहारोच्छेदापत्तिः । न च प्रत्ययार्थव्यापारव्यधिकरणफलवाचकत्वं सकर्मकत्वम्, [तन्मते] तत्समानाधिकरणफलवाचकत्वमकर्मकत्वं च । प्रत्ययार्थव्यापाराश्रयत्वं कर्तृत्वम् । घटं भावयतीत्यादौ णिजर्थव्यापारव्यधिकरणफलाश्रयत्वेन घटादेः कर्मत्वमिति वाच्यम्; अभिधानानभिधानव्यवस्थोच्छेदापत्तेः । न च व्यापारेणाश्रयाक्षेपात्कर्तुरभिधानम्, कर्माख्याते च प्रधानेन फलेन स्वाश्रयाक्षेपात्कर्मणोऽभिधानमिति वाच्यम्; जातिशक्तिवादे जात्याक्षिप्तव्यक्तेरिवाश्रयप्राधान्यापत्तौ "क्रियाप्रधानमाख्यातम्" (निरु० १।१) इति यास्कवचोविरोधापत्तेः ।

निराकर्तु मीमांसकमतं प्रदर्शयति—यत्त्विति । मीमासका इत्यर्थः । पचादीनां धातूनां केवलं विक्लित्त्यादिरूपं फलमर्थः । फलानुकूलव्यापारस्तु आख्यातप्रत्ययार्थः । कर्त्रादिरूपाश्रयस्य प्रतीतिर्लक्षणया, आक्षेपात् प्रथमान्तपदाद्वा सम्भवति । एवञ्च 'अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः' इतिन्यायेन फलमेव धात्वर्थ इति सिध्यति । तच्च आख्यातार्थव्यापारं प्रति विशेषणम् । लडाद्यर्थ-वर्तमानत्वादीनां आख्यातार्थ-व्यापार एवान्वयः, समानपदोपात्तत्वादिति । तत् खण्डयति—तन्नेति । लभ्यत इति । "लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः" [पा० सू० ३।४।६९] इति सूत्रे "कर्तरि कृत्" [पा०सू० ३।४।६८] इति सूत्रात् 'कर्तरी'तिपदमनुकृष्यते । एवञ्च सकर्मकधातुभ्यः कर्तरि कर्मणि चार्थे अकर्मकधातुभ्यश्च कर्तरि भावे चार्थे लकाराः स्युरिति सूत्रार्थः । बोधकतारूपां तिबादिशक्ति तत्स्थानित्वेन कल्पिते लकारे प्रकल्प्य कर्तरि कर्मणि च लकाराणां विधानम् । तेन कर्तृकर्मणी एव प्रत्ययार्थत्वेन स्वीकार्ये न तु व्यापारः । एवञ्च व्यापारार्थस्वीकारे सूत्रविरोधः स्पष्ट एव । ननु सूत्रे भावप्रधाननिर्देशेन कर्तृपदं कर्तृत्वपरं कर्मपदं कर्मत्वपरम् । तथा च कर्तृत्वम्=कृतिरेव, कर्मत्वम्=फलमेवेति न विरोध इति चेदत आह—किञ्चेति । तत्र=फूत्कारादौ, अनेकप्रत्ययानाम्=लट्-लृट्-लङादीनामित्यर्थः । अयं भावः—यदि फूत्कारादिव्यापारः प्रत्ययार्थत्वेन स्वीक्रियते तदा सर्वत्र तत्प्रतीतये अनेकप्रत्ययानां व्यापारोर्थः वक्तव्य इति गौरवम् । एतदपेक्षया सर्वत्र प्रतीतस्यैकस्य धातोरेव व्यापारोर्थ इति स्वीकारे लाघवमिति बोध्यम् । न च शाब्दिकमतेऽपि व्यापारविशेषार्थप्रतीतये तत्र तत्रानेकधातूनां शक्तिकल्पनावश्यिकीति उभयमते तुल्यमेव गौरवम् । किञ्च प्रत्ययापेक्षया धातूनामाधिक्याद् शाब्दिकमते एव गौरवतरमापतीति । अत आह—किञ्चेति । अयं भावः—फूत्कारादिव्यापारस्य

आख्यातप्रत्ययार्थत्वे गच्छतीत्यादावपि प्रत्ययस्य समानरूपत्वेन फूत्कारादिविषयकबोध-वारणाय—आख्याता र्थफूत्कारत्वावच्छिन्नविषयकशाब्दबोधं प्रति पच्धातुसमभिव्याहृत-तिङ्पदजन्योपस्थितिः कारणम्—इत्यनेककार्यकारणभावकल्पने गौरवं स्पष्टम्। फूत्कार-त्वाधिश्रयणत्वादिविशेषधर्मपुरस्कारेणैव बोधस्यानुभवसिद्धत्वात् पचतीत्यादौ प्रत्ययेन तथा बोधस्येष्टत्वे शक्ततावच्छेदकस्यैक्यात् गच्छतीत्यादावपि तादृशविशेषरूपप्रतीत्यापत्ति-स्तद्वारणाय तत्तद्विशेषबोधवारणाय तत्तद्धातुविशेषसमभिव्याहारस्य नियामकत्व-कल्पने गौरवमपरिहार्यमिति भावः। ननु सामान्यतया धातोर्व्यापारवाचकत्वमतेऽपि धातुत्वावच्छिन्नस्य व्यापारत्वावच्छिन्ने शक्तिरिति ज्ञानमात्रेण तादृशानुभवसिद्ध-विशेषधर्म-प्रकारकबोधस्याशक्यतया तत्तद्विशेषधर्मप्रकारकबोधे तत्तद्धातुविशेष-समभिव्याहारस्य कारणत्वं कल्पनीयमिति तुल्यमेव गौरवमुभयमते आपततीत्यत आह—किञ्चेति। उच्छेदापत्तिरिति। स्वार्थ-व्यापारव्यधिकरण-फलवाचकत्वं सकर्म-कत्वम्, स्वार्थ-व्यापार-समानाधिकरण-फलवाचकत्वम् अकर्मकत्वम्-इति सकर्मकाकर्म-कत्वव्यवस्था व्यापारस्य धात्वर्थत्वाभावे न सम्भवतीति भावः। व्यापारस्य प्रत्य-यार्थत्वेऽपि सकर्मकाकर्मकत्वव्यवस्थां समुपपादयति—न च प्रत्ययार्थेति। अयं भावः—आख्यातप्रत्ययार्थो यो व्यापारस्तद्व्यधिकरणं यत् फलं तस्य वाचको धातुः सकर्मकः, एवमेव आख्यातप्रत्ययस्यार्थो यो व्यापारस्तत्समानाधिकरणं यत् फलं तस्य वाचको धातुः अकर्मकः इति व्यवस्था सम्भवति। न चैवं धात्वर्थ-व्यापाराश्रयत्वरूपकर्तृत्वा-सिद्धिरिति वाच्यम्; आख्यात-प्रत्ययार्थ-व्यापाराश्रयस्यैव कर्तृत्वस्वीकारात्। ननु आख्यात-प्रत्ययार्थ-व्यापाराश्रयत्वं कर्तृत्वमिति स्वीकारे 'घटं भावयती' त्याद्यसिद्धिः, णिजर्थप्रेषणादि-व्यापारस्याचेतने घटादावसम्भवात् घटादेः कर्तृत्वाभावात् 'गतिबुद्धि प्रत्यवसानार्थ०' [पा०सू० १।४।५२] इति सूत्रेण कर्तुरेव कर्मत्वविधानादत्र कर्मत्वा-सिद्धिरत आह—घटं भावयतीति। अयं भावः—णिच्प्रत्ययार्थो यो व्यापारस्तद्-व्यधिकरणं यत्फलं तदाश्रयस्य प्रयोज्यकर्तुः "कर्तुरीप्सित" [पा० सू० १।४।४९] इति सूत्रेण कर्मत्वं सम्भवतीति बोध्यम्। किञ्च पाचयति देवदत्तो यज्ञदत्तेनेत्यादौ "गतिबुद्धि०" [पा० सू० १।४।५२] इति सूत्रसिद्धनियमाप्राप्त्या "कर्तुरीप्सित०" [पा० सू० १।४।४९] इति कर्मत्वापत्तेः, कर्तरि तृतीयानापत्तेश्चेत्यपि बोध्यम्। अन्यद्दूषणमुद्भावयति—अभिधानानभिधानेति। अयमाशयः 'अनभिहिते' [पा०सू० २।३।१] इत्यधिकृत्य 'कर्मणि द्वितीया' [पा० सू० २।३।२] प्रभृतिभिः सूत्रैः अनभिहिते एव कर्मणि द्वितीया, अनभिहिते एव कर्तरि तृतीया इत्यादि विधीयते। तिङ्प्रत्ययस्य कर्त्रादिरवाचकत्वे व्यापारस्य च वाचकत्वे कर्तृकर्मणोरनभिधानेन व्यापारस्य चाभिधानेन द्वितीयादीनां नियमानुपपत्तिरिति बोध्यम्। शाब्दिकमते तु प्रत्ययेन कर्तृकर्मादीनामभिधानानभिधानं भवतीति न दोषः। न च व्यापारेणेति। अयं भावः—आश्रयं विना भावनायाः स्थित्यनुपपत्त्या आश्रयं कर्तारमाक्षिपतीति तस्याभिधानम्।

एवमेव कर्मप्रत्ययस्थले फलमपि स्वाश्रयं कर्माक्षिपतीति तस्याप्यभिधानमिति बोध्यम्। जातिशक्तीति। अयं भावः—मीमांसकमते जातिः पदार्थः। जातिश्चाश्रयं विनानुपन्ना सती व्यक्तिमाक्षिपति, आक्षिप्ता व्यक्तिरेव प्राधान्यमवगाहते। एवमेवात्रापि आख्यातप्रत्ययार्थव्यापारेणाश्रयान्यथानुपपत्त्याऽऽक्षिप्तस्य कर्त्रादेरेव प्राधान्यापत्तौ 'आख्यातम्=तिङन्तं क्रियाप्रधानं भवतीति'—यास्कवचनविरोधापत्तिः स्पष्टा।

धात्वर्थ-विषयक मीमांसक-मत—और उसका खण्डन

मीमांसक लोग—फल [मात्र] धातु का अर्थ और व्यापार [आख्यात] प्रत्यय का अर्थ [है]—ऐसा जो कहते हैं, वह [ठीक] नहीं है, क्योंकि "लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः" [पा० सू० ३।४।६९] इस सूत्र से विरोध होने लगेगा। क्योंकि इस सूत्र से व्यापार का प्रत्ययार्थ होना नहीं प्राप्त होता है।

विमर्श—"ल कर्मणि च०" [पा०सू० ३।४।६९]। इस सूत्र से पूर्ववर्ती सूत्र है "कर्तृरि कृत्" [पा० सू० ३।४।६८]। इस सूत्र के 'कर्तरि' अंश की अनुवृत्ति 'लः कर्मणि' सूत्र में होती है। इसलिये सकर्मक धातुओं में कर्ता एवं कर्म अर्थ में तथा अकर्मक धातुओं से कर्ता एवं भाव अर्थ में लकारों का विधान होता है। उन्हीं के स्थान पर तिबादि होते हैं, अतः तिबादि के भी ये ही अर्थ होते हैं, व्यापार अर्थ नहीं हो सकता है।

[यदि प्रस्तुत सूत्र में कर्ता एवं कर्म पदों को भावपरक मान लें अर्थात् कर्तृत्व=कृति एवं कर्मत्व=फल का बोधक मान लें, इस प्रकार आख्यात प्रत्यय का कृतिरूप व्यापार अर्थ हो जाता है। इसलिये दूसरा दोष प्रस्तुत करते हैं—]

अनु०—और भी, पचति, पक्ष्यति, पक्ववान् इत्यादि में फूत्कार [फूंकना] आदि [व्यापारों] की प्रतीति के लिए उसमें अनेक [तिप् क्तवतु आदि] प्रत्ययों की शक्ति की कल्पना की अपेक्षा एक धातु की ही [व्यापारार्थ में] शक्तिकल्पना ठीक है।

[यदि यह कहें कि जैसे अनेक प्रत्ययों से व्यापार अर्थ की प्रतीति होती है उसी प्रकार अनेक धातुओं से भी व्यापार अर्थ की प्रतीति होती है। अतः यह दोष समान है। इसलिये अब अन्य दोष प्रस्तुत करते हैं—] और भी, फूत्कार [फूंकना] आदि प्रत्ययों के अर्थ होने पर [समान प्रत्यय होने से] गच्छति आदि में भी उस [फूत्कारादि] की प्रतीति रोकने के लिए उस [फूत्कार] के बोध में पच् [धातु] के समभिव्याहार की भी कारणता मानने में अत्यन्त गौरव है।

विमर्श—फूत्कारादि यदि प्रत्यय का अर्थ माना जाता है तो पचति के समान गच्छति आदि में भी तिप् प्रत्यय होने से यहाँ भी फूत्कारादि की प्रतीति प्रसक्त होगी उसे रोकने के लिए एक कार्यकारणभाव की कल्पना करनी होगी—आख्यातार्थ फूत्कार-विषयक शाब्दबोध के प्रति पच्धातु-समभिव्याहृत-तिङ्पदजन्य उपस्थिति

कारण होती है। इस प्रकार अनेक कार्यकारणभावों की कल्पना करनी पड़ेगी। इसलिये केवल धातु की शक्ति मानने में लाघव है।

[सामान्यरूप से व्यापार अर्थ में धातु की शक्ति मानने पर निर्वाह सम्भव नहीं है। इसलिए व्यापारविशेष के बोध के प्रति धातुविशेष का समभिव्याहार कारण मानना पड़ेगा। इस स्थिति में मीमांसक एवं वैयाकरण दोनों के मत में समान ही गौरव है। इसलिए अगला दोष प्रस्तुत करते हैं—]

अनु०—और भी, सकर्मक एवम् अकर्मक-व्यवहार का उच्छेद होने लगेगा। [भाव यह है कि धातु-वाच्य व्यापार के अधिकरण से भिन्न अधिकरण में रहने वाले फल का वाचक होना—सकर्मक होना है और इससे भिन्न अकर्मक होना है। व्यापार को प्रत्यय का अर्थ मानने पर उक्त व्यवस्था सम्भव नहीं है।] प्रत्ययार्थ व्यापार के व्यधिकरण [भिन्न अधिकरण वाले] फल का वाचक होना—सकर्मक होना है। और [इस मत में] व्यापार-समानाधिकरण फल का वाचक होना—अकर्मक होना है, प्रत्ययार्थव्यापार का आश्रय होना—कर्ता होना है। 'घटं भावयति' [घड़ा को बनाता है] इत्यादि में णिच्-प्रत्ययार्थ व्यापार के व्यधिकरण [भिन्न अधिकरण वाले] फल का आश्रय होने से घटादि कर्म होता है; [इसलिये कोई अव्यवस्था नहीं है]—ऐसा नहीं कहना चाहिए; क्योंकि अभिधान एवम् अनभिधान की व्यवस्था का उच्छेद हो जायेगा।

विमर्श—'कर्मणि द्वितीया' [पा०सू० २।३।२] 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' [पा०सू० २।३।१८] आदि विभक्ति-विधायक सूत्र 'अनभिहिते' [पा० सू० २।३।१] इस अधिकार सूत्र के अन्तर्गत हैं। अतः इनमें 'अनभिहिते' की अनुवृत्ति होती है। अतः जहाँ कर्ता और कर्मादि अनभिहित=अनुक्त रहते हैं वहीं तृतीया एवं द्वितीयादि विभक्तियाँ होती हैं। यदि तिङ् प्रत्यय इन अर्थों के वाचक नहीं माने जायेंगे और व्यापारादि के वाचक माने जायेंगे तो इन प्रत्ययों से व्यापारादि का ही अभिधान होगा कर्ता आदि का नहीं। इस प्रकार कारकों के अभिधानानभिधान की व्यवस्था उपपन्न नहीं होती है। इस व्यवस्था का उपपादन करने के लिए आगे पूर्वपक्ष प्रस्तुत है और उसका खण्डन भी किया गया है।

अनु०—[आख्यातार्थ] व्यापारद्वारा [अपने] आश्रय के आक्षेप से कर्ता का अभिधान [हो जायेगा], और कर्म [अर्थवाले] आख्यात में प्रधानभूत फल के द्वारा अपने आश्रय के आक्षेप से कर्म का अभिधान [हो जायेगा। अतः अभिधान एवम् अनभिधान की व्यवस्था बन जाती है]—ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि [मीमांसकाभिमत] जातिशक्तिवाद में जातिद्वारा आक्षिप्त व्यक्ति के समान [व्यापार से

आक्षिप्त] आश्रय [कर्ता] के प्राधान्य की आपत्ति आने पर 'आख्यात=तिङन्त क्रियाप्रधान (होता है)—' इस यास्कीय वचन का विरोध होने लगेगा।

विमर्श—पद का अर्थ व्यक्ति है या जाति? इस प्रश्न के उत्तर में मीमांसक लोग जाति का ही समर्थन करते हैं, क्योंकि व्यक्ति अर्थ मानने पर दो दोष प्रसक्त होते हैं—आनन्त्य और व्यभिचार। इस भय से व्यक्ति अर्थ स्वीकार नहीं करते हैं। किन्तु जाति व्यक्ति को आश्रय बनाकर ही रहती है। अतः आश्रयान्यथानुपपत्त्या जाति से व्यक्ति का आक्षेप कर लिया जाता है। किन्तु यह आक्षिप्त भी व्यक्ति प्रधान=विशेष्य माना जाता है। ठीक इसी प्रकार प्रस्तुत स्थल में भी भावना (व्यापार) आश्रयान्यथानुपपत्त्या कर्त्ता का आक्षेप से बोध करा सकती है परन्तु आक्षिप्त कर्ता ही प्रधान होने लगेगा। मीमांसक लोग कर्ता का प्राधान्य स्वीकार नहीं कर सकते हैं क्योंकि ये भावना=व्यापार-मुख्यविशेष्यक बोध के ही सिद्धान्त को मानते हैं।

यदि यहाँ यह तर्क दिया जाय कि गौरव के भय से जाति में शक्ति मानने पर भी आक्षिप्त व्यक्ति को प्रधान मान लिया जाता है परन्तु प्रस्तुत स्थल पर आक्षिप्त कर्ता को प्रधान मानने में क्या प्रमाण? प्रत्युत यास्कवचनानुरोध से उस कर्ता की गौणता और भावना=क्रिया की प्रधानता ही सिद्ध होती है। इसलिये अन्य दोष एवं गौरव प्रस्तुत करते हैं—

किञ्च, फलस्य धातुना तदाश्रयस्य चाक्षेपणैव लाभसम्भवेन 'लः कर्मणि' [पा. सू. ३।४।६९] इत्यस्य वैयर्थ्यापत्तेः। कर्मकर्तृकृतां कारकभावनोभय-वाचकत्वे गौरवाच्च।

किञ्च, भावविहितघञादीनां व्यापारावाचकत्वे ग्रामो गमनवानित्याद्या-पत्तिः। तद्वाचकत्वे [तु] तेनापि स्वाश्रयाक्षेपे कर्तुरभिधानापत्तिः।

किञ्च 'गुरुः शिष्याभ्यां पाचयति' इत्यादौ "हेतुमति च" [पा.सू. ३।१। २६] इतिसूत्रबलात् प्रयोजकव्यापारस्य णिजर्थत्वे स्थिते प्रयोज्यव्यापार आख्यातार्थो वाच्यः। एवञ्च सङ्ख्यायाः स्ववाचकाख्यातार्थव्यापारेऽन्वयि-न्येवाऽन्वयाच्छिष्याभ्यामिति द्विवचनानापत्तिः। पाचयतीत्येकवचनानाप-त्तिश्च। गुरोरनभिधानेन तत्र प्रथमाया अनापत्तेश्च। शिष्यशब्दात्तदा-पत्तेश्चेत्यन्यत्र विस्तरः।

ननु जातिशक्तिवादे 'घटो नष्ट' इत्यादिव्यवहारबलेन आक्षिप्ताश्रयरूपव्यक्तेः प्राधान्येऽपि प्रकृते तस्य प्राधान्ये मानाभावः, प्रत्युत यास्कीयवचनानुरोधेन तस्य आक्षिप्तस्य गौणत्वमेव स्यादत आह—किञ्चेति। "लः कर्मणि" [पा० सू० ३।४।६९] इति सूत्रेण कर्मणि लकारविधानं व्यर्थम्, फलस्य धातुना बोधः, फलाश्रयस्य कर्मणश्च

आक्षेपेण बोधः। एवमेव कर्तरि अपि लकारविधानं व्यर्थम्; व्यापारस्य आख्यातेन बोधः, आश्रयस्य कर्तुश्च आक्षेपेण बोधः। एवञ्च कर्मणि कर्तरि च लकारविधानस्य वैयर्थ्यं मीमांसकमते दुर्वारमेव। कर्मकर्तृक्रुतामिति। कर्मणि कृत्प्रत्ययानां कर्तरि च कृत्प्रत्ययानामित्यर्थः। गौरवाच्चेति। मीमांसकमते धातोर्व्यापारावाचकत्वे तत्प्रतीतये पाचक इत्यादौ ण्वुलादीनां कर्तरि व्यापारे च शक्तिकल्पने गौरवं स्पष्टम्। शाब्दिकानां मते केवले आश्रये शक्तिकल्पनमिति लाघवम्। किञ्च मीमांसकमते कृतां कारकभावनोभयवाचकत्वं तिङां च केवलभावनावाचकत्वमिति वैषम्यमपि निर्मूलमिति बोध्यम्। ननु कृतामपि केवलभावनावाचकत्वमेवास्तु, आश्रयस्य चाक्षेपेणैव प्रतीतिरस्तु गौरवादुभयवाचकत्वं नाङ्गीक्रियते का क्षतिरत आह—किञ्चेति। अयमाशयः—मीमांसकमते धातोर्व्यापारवाचकत्वाभावे गम्धातोः संयोगरूपफलवाचकत्वमिव कृतामपि व्यापारावाचकत्वे फलमात्रमेवार्थः। एवञ्च ग्रामादेः संयोगरूपफलाश्रयत्वात् ग्रामः संयोगवानित्यर्थे ग्रामो गमनवानित्याद्यापत्तिः। तद्वाचकत्वे=व्यापारवाचकत्वे, तेनापि=व्यापारेणापि, स्वाश्रयाक्षेपे=व्यापाराश्रयकर्तुराक्षेपे। अभिधानापत्तिरिति। अयं भावः—उक्तापत्तिपरिहाराय ल्युटो व्यापारवाचकत्वे ग्रामस्य व्यापाराश्रयत्वाभावेनोक्तप्रयोगवारणेऽपि व्यापारेण स्वाश्रयकर्तुराक्षेपे उक्तत्वात् 'चैत्रस्य गमनम्' इत्यादौ कर्त्रनभिहितत्व-प्रयुक्तषष्ठ्यनापत्तिः, कर्त्रभिहित्वप्रयुक्तप्रथमापत्तिश्चेति बोध्यम्। धातोः फलमात्रवाचत्वे दूषणानि प्रदर्श्य साम्प्रतं तिङो व्यापारवाचकत्वे दूषणानि प्रदर्शयति—किञ्चेति। पाचयतीत्यादौ व्यापारद्वयं प्रतीयते तत्र एको व्यापारो णिजर्थः, अपरस्तु यो व्यापारः स आख्यातप्रत्ययस्यैवार्थो वक्तव्य इति भावः। स्ववाचकेति। स्वम्=सङ्ख्या, तस्याः वाचक आख्यातप्रत्ययः, तस्यार्थो यो व्यापारस्तस्मिन् अन्वयिनि=प्रयोज्ये एव अन्वयात्, एकप्रत्ययोपात्तत्वप्रत्यासत्त्या संख्या-व्यापारोभयोरेकत्र=प्रयोज्ये एवान्वयादित्यर्थः; शिष्याभ्यामित्यत्र द्विवचनानापत्तिः, आख्यातप्रत्ययेनैकत्वसङ्ख्याया एवाभिधानात् तत्र द्विवचनं न सम्भवतीत बोध्यम्। एकवचनानापत्तिश्चेति। प्रयोज्यकर्तृनिष्ठ-व्यापार-द्वयबोधनाय द्विवचनापत्तिः स्यादिति भावः। अनापत्तेश्चेति। आख्यातार्थव्यापारेण स्वाश्रयापेक्षे प्रयोज्यकर्त्रोरेवाभिधानं गुरोस्त्वनभिधानमेव, तेन कर्तरि गुरौ प्रथमा न स्यात् प्रत्युत तृतीया स्यादिति भावः। तदापत्तेश्च=प्रथमापत्तेश्चेत्यर्थः। तिङर्थव्यापारः प्रयोज्यव्यापारात्मकः, तेन स्वाश्रयाक्षेपे शिष्ययोरेवाभिधानं तेन तत्रैव प्रथमापत्तिः, शिष्ययोरेव तादृशव्यापाराश्रयत्वादित्यर्थः। अत्र केचित्—न चात्र फलं धात्वर्थो व्यापारानुकूल-प्रयोजकव्यापारो ण्यर्थः, तत्र फलस्यानुकूलतयाऽऽद्यव्यापारेऽन्वयः, तिङस्तु—कालसंख्ये प्रयोजकव्यापारश्चार्थः, द्वावित्यादिवन्न बोधावृत्तिः, प्रधानत्वात् 'ल कर्मणि' (पा.सू. ३।४।६९) इत्यादिसौत्रानुवादबलाच्च प्रयोजकव्यापारेणैव धर्मिण आक्षेपः। "अनभिहिते" (पा. सू. २।३।१) इत्यादेश्च शक्त्याक्षेपसाधारणाबोधिते इत्येवार्थ इति न दोष इति वाच्यम्,—'हेतुमति च'

(पा.सू. ३।१।२६) इति सूत्रेण तथाऽलाभात् । अस्मद्रीत्याऽक्लेशेनैव सकलसामञ्जस्ये क्लिष्टकल्पनानुपयोगादुक्तदोषग्रासाच्चेति दिक् । तदाह—इत्यन्यत्रेति । गुरुमञ्जूषायामित्यर्थः इति कलाटीकाकारः ।

अनु०—और भी, फल का धातु से तथा उसके आश्रय का आक्षेप से ही लाभ सम्भव होने से "लः कर्मणि" (पा०सू० ३।४।६९) सूत्र व्यर्थ होने लगेगा । [क्योंकि यह सूत्र कर्ता एवं कर्म अर्थों में लकार का विधान करने वाला है । परन्तु अब इन अर्थों की प्रतीति यों ही हो जाती है ।] तथा कर्म एवं कर्ता अर्थ में (विहित) कृत् (प्रत्ययों) के कारक तथा भावना—इन दोनों के वाचक होने पर गौरव [होता है । क्योंकि धातु को व्यापार का वाचक न मानने पर उसकी प्रतीति कराने के लिए पाचक: आदि में ण्वुल् प्रत्यय को कर्ता एवं भावना दोनों का वाचक मानने में गौरव स्पष्ट है ।]

[यदि उक्त गौरव के कारण ही कृत् प्रत्ययों को दोनों अर्थों का वाचक नहीं माना जाता है—ऐसा कहें तो अगला दोष देते हैं—] और भी, भाव (अर्थ) में विहित घञ् आदि (प्रत्ययों) के व्यापारवाचक न होने पर (ग्रामः संयोगवान् के समान) 'ग्रामः गमनवान्' इत्यादि (अनिष्ट प्रयोग) होने लगेंगे । [अर्थात् धातु का अर्थ केवल संयोगादिरूप फल ही होता है, भावार्थक ल्युट् में भी यही स्थिति रहेगी । अतः जैसे ग्रामः संयोगवान् होता है उसी प्रकार ग्रामः गमनवान् भी होगा । दोनों में अन्तर करना कठिन है ।] और उस (व्यापार) का वाचक होने पर तो (उक्त अनिष्ट प्रयोग के दूर होने पर भी) उस (व्यापार) के द्वारा भी अपने आश्रय के आक्षेप में (व्यापाराश्रय) कर्ता का अभिधान होने लगेगा । (इसके फलस्वरूप कर्ता में तृतीया न होकर प्रथमा होने लगेगी ।)

(अभी तक धातु को फलमात्र का वाचक मानने पर आपतित होनेवाले दोषों को प्रस्तुत किया गया । अब आख्यात प्रत्यय का अर्थ कर्ता है—इस सिद्धान्त में भी दोष दिये जा रहे हैं—)

और भी, 'गुरुः शिष्याभ्यां पाचयति' (गुरु दो शिष्यों से पकवाता है) इत्यादि में "हेतुमति च" (पा०सू० ३।१।२६) इस सूत्र के बल से प्रयोजक (कर्ता) का व्यापार णिज् प्रत्यय का अर्थ स्थित हो जाता है; उस दशा में प्रयोज्य कर्ता का व्यापार आख्यात प्रत्यय का अर्थ कहना होगा । और इस प्रकार (आख्यातार्थ) (एकत्व) संख्या का—स्व= अपने (=संख्या के) वाचक आख्यात के अर्थ व्यापार में अन्वित होने वाले (प्रयोज्य कर्ता) में ही अन्वय होने के कारण 'शिष्याभ्याम्' यह द्विवचन नहीं हो सकेगा । तथा पाचयति यह एकवचन नहीं हो सकेगा और गुरु [के कर्तृत्व] का अभिधान न होने से प्रथमा नहीं हो सकेगी तथा शिष्य शब्द से [अनिष्ट] प्रथमा होने लगेगी । इसका अन्यत्र (लघुमञ्जूषादि में) विस्तार है ।

विमर्श—यहाँ मात्र यह है कि णिजन्त-प्रयोग स्थल में दो व्यापार प्रतीत होते हैं। इनमें एक—प्रयोजक का व्यापार णिच् प्रत्यय का ही अर्थ है क्योंकि 'हेतुमति' (पा०सू० १।३।२६) इससे यही ज्ञात होता है। अब बचा दूसरा व्यापार, वह प्रयोज्य का ही मानना पड़ेगा। मीमांसकों के अनुसार वह व्यापार आख्यात प्रत्यय का अर्थ है। इसी प्रत्यय से एकत्व-संख्या भी प्रतीत होती है। इस संख्या का अन्वय प्रयोज्य शिष्य में ही होगा क्योंकि संख्यावाचक जो आख्यात है उसके अर्थ=व्यापार में प्रयोज्य कर्ता का ही अन्वय होना उचित है। इसके फलस्वरूप 'शिष्य' में द्विवचन न होकर एकवचन होने लगेगा। यदि प्रयोज्य के अनुसार आख्यात से संख्या की प्रतीति करायेंगे तो प्रयोज्य=शिष्य दो हैं अत 'पाचयति' यह एकवचन न होकर द्विवचन का प्रसङ्ग आयेगा। यहाँ आख्यात से शिष्यगत ही कर्तृत्वादि अभिहित होता है गुरुगत नहीं, इसलिए गुरु का कर्तृत्व उक्त न होने से उसमें प्रथमा न होकर तृतीया का प्रसङ्ग आयेगा। इसके विपरीत शिष्यगत कर्तृत्व अभिहित हो जाने से उसी के वाचक शिष्य शब्द से प्रथमा होने लगेगी। अतः आख्यात का अर्थ व्यापार=भावना मानना ठीक नहीं हैं।

सर्वकारकान्वयितावच्छेदकधर्मवती क्रिया। [तदाह—]

यावत्सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेनाभिधीयते।
आश्रितक्रमरूपत्वात्सा क्रियेत्यभिधीयते॥ [वा.पा. ३।८।१]

गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम्।
बुद्ध्या प्रकल्पिताभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते॥

[वा. प. ३।८।४]

इति 'भूवादि' [पा. सू. १।३।२] सूत्रस्थभाष्यार्थप्रतिपादकहरिग्रन्थात्। क्रमजन्मनां व्यापाराणां समूहं प्रति गुणभूतैरवयवैर्युक्तः सङ्कलनात्मिकयैकत्व-बुद्ध्या प्रकल्पिताभेदरूपः समूहः क्रियेति व्यवह्रियत इति द्वितीयकारि-कार्थः। अत्रावयवाश्रयं पौर्वापर्यं समुदायाश्रयमेकत्वम्। क्षणनश्वराणां व्यापाराणां वस्तुभूतसमुदायाभावात् 'बुद्ध्ये'त्युक्तम्। पचति-पक्ष्यतीत्यादाव-सिद्धम्, अपाक्षीदित्यादौ सिद्धं वा साध्यत्वेनाभिधीयमानं क्रिया। आश्रितेति योगप्रदर्शनं कृतम्, अवयवानां क्रमेणोत्पत्त्या। अत एवाश्रितक्रमरूपा क्रियेति आदिमकारिकार्थः। एकैकावयवेऽपि समूहरूपारोपादधिश्रयण-कालेऽपि पचतीति व्यवहारः। तदुक्तम्—

एकदेशे समूहे वा व्यापाराणां पचादयः।
स्वभावतः प्रवर्तन्ते तुल्यरूपं समाश्रिताः॥

[वा० प० ३।७।५८] इति।

प्रसङ्गात् क्रियां निरूपयति—सर्वैति। सर्वेषां कारकाणां धात्वर्थ-क्रियायामेवान्वयो भवति, तेन अन्वयिता क्रियायाम्, अन्वयितावच्छेकत्वं क्रियायाम्, तद्धर्मवती क्रिया। एवञ्च कारकान्वयितावच्छेदकधर्मवत्त्वं क्रियात्वमिति कथनेनैवेष्टसिद्धे 'सर्व' इति विशेषणं स्फुटप्रतिपत्तये इति बोध्यम्। अधिकरणस्यापि स्वाश्रयद्वारा तत्रान्वयोऽस्त्ये-वेति भावः। कारकान्वयित्वञ्च—कारकनिष्ठ-विषयता-निरूपितविषयताश्रयत्वम्। भाष्ये 'करोति=क्रियां निर्वर्तयतीति' व्युत्पत्तिप्रदर्शनात् कारकत्वस्य क्रियाजनकत्व-रूपतया जन्यजनकयोः परस्परसाकाङ्क्षत्वेन कारकक्रिययोः परस्परान्वयस्यैवौचित्यमिति दिक्। अत्र 'तदाह' इति त्वपपाठः, अग्रे 'हरिग्रन्थाद्' इतिवक्ष्यमाणेनानन्वयात, लघु-मञ्जूषायामनुपलम्भाच्चेति बोध्यम्। ननु 'किं करोतीति' प्रश्ने यथा'पचती'त्युत्तरं भवति तथैव अस्तीत्युत्तराभावास्त्यादीनां क्रियावाचकत्वं न स्यादत आह—यावदिति। सिद्धम्=निष्पन्नम्, 'अपाक्षीत्' इत्यादौ भूतकालावच्छिन्नम्, असिद्धम्=अनिष्पन्नम्, पचति पक्ष्यतीत्यादौ भूतकालानवच्छिन्नं वर्तमानकालभविष्यत्कालावच्छिन्नञ्च, यावत्=यत्परिमाणम् साध्यत्वेनाभिधीयते=साध्यम्—इति प्रतीयते, सा=साध्यत्वेना-भिधीयमाना, आश्रितक्रमरूपत्वात्=आश्रितम् अधिश्रयणाद्यवान्तरव्यापाराणां क्रमरूपं= पौर्वापर्यं यया सा—आश्रितक्रमरूपा, तस्या भावस्तस्मात्=गृहीतपौर्वापर्यादिति भावः, 'क्रियेति' अभिधीयते=कथ्यते। न केवलमसिद्धमेव साध्यत्वेन प्रतीयतेऽपितु सिद्धम-सिद्धं वा सर्वमपि साध्यत्वेन प्रतीयते। अपाक्षीदित्यादौ प्रत्यययोगेन सिद्धत्वप्रतीता-वपि धातुतस्तस्याः साध्यत्वेनैव प्रतीतिरिति बोध्यम्। आश्रितक्रमरूपत्वमुपपाद्य तस्या एकत्व-व्यवहारं साधयति—गुणभूतैरिति। गुणभूतैः=स्वसमूहं प्रति गुणत्वमापन्नैः, अवयवैः=समूहारम्भकैः फूत्कारत्वादितत्तद्रूपेण भासमानैरवयवैरित्यर्थः, (उपलक्षितः) क्रमजन्मनाम्=क्रमेण=पौर्वापर्येण उत्पत्तिमतां फूत्कारादिव्यापाराणां समूहः, बुद्ध्या= सङ्कलनात्मैकत्वबुद्ध्या समूहालम्बनात्मिकया वा, प्रकल्पिताभेदः=प्रकल्पितः=प्रतीति-विषयीकृतः अभेदः=एकत्वं यत्र तादृशः समूह एव 'क्रिया' इति व्यपदिश्यते= व्यवह्रियते शास्त्रकारैरिति शेषः। एवञ्च समूहे बुद्धिपरिकल्पितमेकत्वमादाय 'एका क्रिये'ति व्यवहारो भवति। हरिग्रन्थात्=वाक्यपदीयादित्यर्थः। स्वयमेवाशयं प्रतिपादयति—क्रमजन्मनामिति। अत्र=क्रियायामित्यर्थः। वस्तुभूतेति। यथा वर्णानां बौद्धिक एव समूह एवमेव व्यापाराणामपि बुद्धपरिकल्पित एव समूह इति। ननु व्यापारसमुदायस्यैव क्रियात्वे अधिश्रयणाद्येकैकव्यापारकाले पचतीति प्रयोगोऽ-नुपन्नः, अवयवस्य समुदायत्वाभावादत आह—एकैकेति। व्यापाराणाम्=क्रमिको-त्पत्तिमतामवान्तरव्यापाराणामित्यर्थः, एकदेशे=अवयवे, समूहे=समुदाये तुल्यरूपं समाश्रिताः पचादयः स्वभावतः प्रवर्तन्ते इति योजना। एवाञ्चावयवेऽपि पचतीति व्यवहार उपपद्यते।

क्रिया का स्वरूप

सभी कारकों के अन्वयितावच्छेदक धर्मवाली क्रिया होती है। (सभी कारकों का क्रिया में अन्वय होता है, इसलिये अन्वयिता क्रिया में है, अन्वयितावच्छेदक क्रियात्व है। इस प्रकार कारकान्वयितावच्छेदक-धर्मवत्त्व को क्रियात्व समझना चाहिये।) (जैसा कि कहा है)— (वास्तव में 'तदाह' यह अधिक पाठ है क्योंकि आगे 'हरिग्रन्थात्' इस पंक्ति से विरोध होता है।)

सिद्ध अथवा असिद्ध जो भी साध्यत्वरूप से [साध्य है—इस रूप से] कहा जाता है, [अवयवों के] क्रमरूप [पौर्वापर्य] का आश्रयण लेने वाली होने से वह —क्रिया— ऐसा कहा जाता है। [वा. पा. ३।८।१]

[पौर्वापर्य] क्रम से उत्पन्न होने वाले [फूत्कारादि व्यापारों] का समूह [समूहालम्बनात्मक] बुद्धि के द्वारा प्रकल्पित अभेदवाला [होता हुआ], गुणभूत=तत्तद्रूप से भासित होने वाले [समूह के प्रति विशेषण बनने वाले फूत्कारादि] अवयवों से [युक्त] —क्रिया—ऐसा कहा जाता है। [अर्थात् फूत्कारादि व्यापार क्रम से उत्पन्न होते हैं, अनेक हैं किन्तु उनके समुदाय में बुद्धिकल्पित एकत्व मानकर—एका क्रिया—ऐसा व्यवहार होता है।] [वा. प. ३।८।४]

ऐसा "भूवादयो धातवः" [पा० सू० १।३।२] सूत्र पर स्थित भाष्य के अभिप्राय को बताने वाले वाक्यपदीय से [ज्ञात होता है]। क्रम से उत्पन्न होने वाले [फूत्कारादि] व्यापारों के समूह के प्रति गुणभूत अवयवों से युक्त, सङ्कलनात्मक एकत्वबुद्धि से प्रकल्पित अभेदरूप वाला समूह 'क्रिया' ऐसा कहा जाता है। यह दूसरी कारिका का अर्थ है। यहाँ [फूत्कारादि] अवयवों को मानकर पौर्वापर्य तथा समुदाय को मानकर एकत्व है। क्षणनश्वर व्यापारों का वास्तविक समुदाय न होने से—बुद्धि से [परिकल्पित समुदाय]—ऐसा कहा है। 'पचति' 'पक्ष्यति' आदि में असिद्ध अथवा 'अपाक्षीत्' आदि में सिद्ध [भी]—साध्यत्वरूप [साध्य है इस रूप] से कहा जाता हुआ 'क्रिया' है। [अर्थात् पचति और पक्ष्यति आदि में वर्तमानकालिक एवं भविष्यत्कालिक में असिद्ध है तथा अपाक्षीत् आदि भूतकालिक में सिद्ध है, ये दोनों साध्यरूप से कहे जाने वाले होने से क्रिया है।] अवयवों की क्रम से उत्पत्ति होने के कारण—आश्रितक्रमरूपा—इस योग [शक्ति] का प्रदर्शन किया गया। [अर्थात् आश्रितं क्रमरूपं यया सा—इस प्रकार यौगिकार्थ प्रदर्शित किया गया है।] इसलिये—क्रमरूप का आश्रयण लेने वाली क्रिया—यह प्रथम कारिका का अर्थ है। [यदि क्रिया व्यापारसमूहरूप है तो फूत्कारादि किसी एक व्यापार के होने पर 'पचति' ऐसा प्रयोग नहीं हो सकेगा—इस शंका का समाधान यह है कि] एक एक

अवयव में भी समूहरूप के आरोप से केवल अधिश्रयण [बटलोई को चूल्हे पर रखने] के समय में भी 'पचति' ऐसा व्यवहार होता है। जैसा कि [भर्तृहरि ने] कहा है—

[फूत्कार, अधिश्रयण आदि] व्यापारों के एक एक अवयव अथवा समूह में तुल्य-रूप का आश्रयण लेने वाली पचादि धातुयें स्वाभाविकरूप से प्रवृत्त [प्रयुक्त] होती हैं। [अर्थात् किसी एक व्यापार अथवा व्यापारसमुदाय इनमें से किसी भी एक के रहने पर पच आदि धातुओं का प्रयोग होता है, कोई बाधक नहीं हैं।] [वा.प. ३।७।५८]

अत्र केचित्—सिद्धत्वम्—क्रियान्तराकाङ्क्षोत्थापकतावच्छेदकवैजात्यवत्त्वे सति कारकत्वेन क्रियान्वयित्वे सति कारकान्तरान्वयायोग्यत्वम्। साध्यत्वं च—क्रियान्तराकाङ्क्षानुत्थापकतावच्छेदकं सत् कारकान्तरान्वययोग्यताव-च्छेदकरूपवत्त्वम्।

हिरुगाद्यव्ययानां साध्यत्वाभावेऽपि क्रियावाचकत्वव्यवहारस्तु क्रियामात्र-विशेषणत्वात्। तत्र सिद्धत्वं पाक इत्यादौ घञादि-वाच्यम्। साध्यत्वं तु सर्वत्रैव धातुप्रतिपाद्यम्।

ननु 'हरिं नमेच्चेत्सुखं यायात्' इत्यत्र क्रियाया अपि क्रियान्तराकाङ्क्षत्वेन सिद्धत्वमस्तीति चेन्न; चेच्छब्दसमभिव्याहारेणाकाङ्क्षोत्थापनादित्याहुः।

वस्तुतः साध्यत्वम्—निष्पाद्यत्वमेव, तत्तद्रूपेणैव बोधः। स्पष्टं चेदम् "उपपदमतिङ्" [पा० सू० २।२।१९] इत्यादौ भाष्ये।

ननु घटं करोतीत्यादौ द्रव्यस्यापि साध्यत्वेन प्रतीतिरिति चेन्न; करोति-पदादिसमभिव्याहारात् तथा प्रत्ययेऽपि स्वतो घटादिपदाद् द्रव्यस्य सिद्ध-त्वेनैव प्रतीतेः।

अत्र केचित्=भूषणकारादयः। क्रियान्तरम्=अन्यक्रिया, तस्या या आकाङ्क्षा —अस्या अन्वयिनी का क्रिया—इति तस्या उत्थापकताया अवच्छेदकं यद् वैजात्यम्= विजातीयधर्मः, तद्वत्त्वे सति, कारकत्वेन क्रियायाम् अन्वयित्वे च सति—कारका-न्तरम्=अन्यकारकम्, तदन्वयायोग्यत्वम्—सिद्धत्वम्। अयं भावः—यत्र अन्यक्रिया-विषयिणी-जिज्ञासाया उत्थापकत्वं स्यात्, क्रियायामन्वयः स्यात्, अन्यकारस्यान्व-योग्यता च न स्यात् स सिद्धपदेनोच्यते यथा पाकः इत्यादौ क्रियते कृतो वेत्यादि क्रियान्तरजिज्ञासा भवति, तत्रैवान्वयो भवति अन्यकारकान्वययोग्यता चात्र नास्तीति सिद्धत्वमस्ति। अन्या क्रिया=क्रियान्तरं तस्याः—'अस्या अन्वयिनी का क्रिया' इत्याकारिका या आकाङ्क्षा तदनुत्थापकता=तदुत्थापकत्वाभावः, सामानाधिकरण्येन तदवच्छेदकं सत्, अन्यत् कारकम्=कारकान्तरम्, तस्य योऽन्वयः, तस्य या योग्यता

तदवच्छेदकं यद्रूपं तद्वत्त्वम्—साध्यत्वमिति । यत्र अन्यक्रियाविषयिणी आकाङ्क्षा न भवति कारकविषयिणी चाकाङ्क्षा भवति तत्र साध्यत्वमिति भावः ।

ननु हिरुगाद्यर्थस्य क्रियान्तराकाङ्क्षादर्शनेन साध्यत्वाभावे साध्यात्मकक्रियावाचकत्वव्यवहारोऽनुपपन्न इति चेदत आह–हिरुगादीति । यथा क्त्वान्तादि-प्रतिपाद्यार्थाः क्रियाविशेषणानि तथैव हिरुगादि—अव्ययाः अपि क्रियामात्रविशेषणत्वेन क्रियावाचका उच्यन्ते इति भावः । स्वराद्यव्ययानां तु स्वः पतिरित्यादौ नामार्थेऽप्यन्वयः । अत एव हिरुगाद्यर्थे न कारकाणामन्वयः, तेषां क्रियान्तराकाङ्क्षत्वादिति बोध्यम् । सर्वत्रैवेति । तिङन्ते कृदन्ते चेत्यर्थः । अत एव भूषेण उक्तम्—

साध्यत्वेन क्रिया तत्र धातुरूपनिबन्धना ।
सिद्धभावस्तु यस्तस्याः स घञादिनिबन्धनः ॥

[वै. भू. का. १५]

ननु साध्यत्वं यदि क्रियान्तराकाङ्क्षानुत्थापकतावच्छेदकं तर्हि 'पचति भवति' इत्यादि—भाष्योक्तवाक्ये 'भुक्त्वा गच्छती'त्यादौ च भवति-भुक्त्वेत्यादीनां क्रियान्तराकाङ्क्षादर्शनेन कारकान्वयानापत्तिः, धातुत्वानापत्तिश्च । एवमेव 'हरिं नमेत् चेत् सुखं यायादि'त्यादावपि साध्यत्वानापत्तिश्चेत्तदा आह—नन्विति । अत्र 'चेत्' समभिव्याहारादेव क्रियान्तराकाङ्क्षोदेति नतु तदसमभिव्याहारे इति न दोषः ।

भूषणादिमतं प्रदर्श्य स्वमतमाह—वस्तुत इति । निष्पाद्यत्वमेव=उत्पाद्यत्वमेवेत्यर्थः । एवेन भूषणोक्तमतनिरासः । तत्तद्रूपेणैव=निष्पाद्यत्वरूपसाध्यत्वप्रकारक एव बोध इत्यर्थः । इत्यादाविति । आदिना 'सुट्कात्पूर्वः' [पा० सू० ६।१।१३५] इत्यादेः संग्रहः । तत्र 'सुट्कात्पूर्वः' [पा.सू. ६।१।१३५] इति सूत्रभाष्ये—"पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते, पश्चादुपसर्गेण । साधनं हि क्रियां निर्वर्तयति, तामुपसर्गो विशिनष्टीति । अभिनिर्वृत्तस्य चार्थस्योपसर्गेण विशेषः शक्यो वक्तुम् ।" इत्युक्तम् । "कृदभिहितो भावो द्रव्यवद् भवतीति" चोक्तम् । अत्राद्यभाष्ये "साधनं हि क्रियां निर्वर्तयती"त्येन धातुवाच्यक्रियाया निष्पाद्यत्वरूपसाध्यत्वेन भानमिति स्पष्टं भवति । द्वितीयभाष्ये च घञादिवाच्यक्रियायाः सिद्धत्वमिति स्पष्टं भवतीति बोध्यम् ।

ननु उत्पाद्यत्वमेव साध्यत्वं घटादावतिव्याप्तमत आह–नन्विति । द्रव्यस्य=क्रियाभिन्नघटस्यापि, तथा=साध्यत्वेन, स्वतः=करोत्यादिक्रियापदासमभिव्याहारे इत्यर्थः । सिद्धत्वं च सूक्ष्मरूपेण बोध्यम् । यद्यपि क्रियापि सूक्ष्मरूपेण सिद्धा, तथापि शक्तिस्वाभाव्यात् स्थूलरूपेण साध्यत्वेनैव तस्याः प्रतीतिः । द्रव्यस्य तु सूक्ष्मरूपेण सिद्धत्वेनैव प्रतीतिरिति न दोष इति बोध्यम् ।

भूषणकार का साध्यत्वविषयक मत

इस विषय में कुछ लोग [भूषणकार आदि]—अन्य क्रिया की आकाङ्क्षा के उत्थापकतावच्छेदक वैजात्य वाला होते हुए, कारकत्वरूप से क्रियान्वयी होते हुए अन्य कारक के अन्वययोग्य न होना—सिद्ध होना है। [जो ऐसा होता है उसे सिद्ध कहते हैं।] और अन्य क्रिया की आकाङ्क्षा की अनुत्थापकता का अवच्छेदक होता हुआ अन्य कारक की अन्वययोग्यता के अवच्छेदकरूप वाला होना—साध्य होना है।

विमर्श—जो किसी अन्य क्रिया की आकाङ्क्षा को उठानेवाला है, कारक होता हुआ क्रिया में अन्वयवाला है, तथा अन्य कारक के अन्वययोग्य नहीं है, उसे सिद्ध समझना चाहिए। और जो किसी अन्य क्रिया की आकाङ्क्षा को उठानेवाला नहीं है, अन्य कारक के अन्वय-योग्य, है उसे साध्य समझना चाहिए।

अनु०—हिरुक् आदि अव्ययों के साध्य न होने पर भी क्रियावाचकता का व्यवहार तो केवल क्रिया में विशेषण होने के कारण होता है [क्योंकि स्वर् आदि अन्य अव्यय तो स्वः पतिः आदि प्रातिपदिकार्थ में भी विशेषण होते हैं। किन्तु हिरुक् ऐसा नहीं है।] इन [दोनों] में पाकः आदि शब्दों में सिद्धत्व घञादि [प्रत्ययों] का वाच्य है किन्तु साध्यत्व तो सर्वत्र ही [केवल] धातु से प्रातिपदित होने वाला है।

हरिं नमेत् चेत् सुखं यायात् [हरि को यदि नमस्कार करे तो सुख प्राप्त करे]—यहाँ [नमन] क्रिया का भी क्रियान्तर [सुखप्राप्ति] की आकाङ्क्षा होने के कारण सिद्धत्व है—ऐसा यदि [कहें] तो नहीं [कह सकते] क्योंकि चेत् शब्द के समभिव्याहार के कारण आकाङ्क्षा उठती हैं—ऐसा कहते हैं। [अर्थात् यहां क्रिया द्वारा आकाङ्क्षा का उत्थापन नहीं होता है अपितु चेत् शब्द के कारण होता है अतः, साध्यत्व में बाधा नहीं है।]

नागेश का साध्यत्व-विषयक मत

वास्तव में साध्यत्व=निष्पाद्यत्व [निष्पादनयोग्य होना] ही है और इसी रूप से बोध [होता है] यह "उपपदमतिङ्" [पा० सू० २।२।१९] इत्यादि (सूत्रों के) भाष्य में स्पष्ट (किया गया है)।

घटं करोति (घड़ा बनाता है)—इत्यादि में (घटरूप) द्रव्य की भी साध्यत्वरूप से प्रतीति होती है—ऐसा यदि (कहें) तो नहीं (कह सकते), क्योंकि 'करोति' आदि पद के समभिव्याहार से वैसा (साध्यत्वरूप से) ज्ञान होने पर भी स्वतः (अर्थात् करोति आदि क्रिया पद के अभाव में) घट आदि पद से द्रव्य की सिद्धत्वरूप से ही प्रतीति (होती है)।

अस्तिभवतिवर्ततिविद्यतीनामर्थः—सत्ता। सा चानेककालस्थायिनीति कालगतपौर्वापर्य्येण क्रमवतीति तस्याः क्रियात्वम्। सत्तेह—आत्मधारणम्।

सकर्मकत्वञ्च-फलव्यधिकरणव्यापारवाचकत्वम्, फलसमानाधिकरणव्यापारवाचकत्वमकर्मकत्वम्। क्वचित्तु फलांशाभावादकर्मकत्वम्। यथाऽस्त्यादौ केवलं सत्तादिरेवार्थः; फलांशस्य सूक्ष्मदृष्ट्याऽप्यप्रतीतेः। "उत्पन्नस्य सत्त्वस्य स्वरूपधारणरूपां सत्तामाचष्टेऽस्त्यादिः" इति निरुक्तोक्तेश्च।

वस्तुतस्तु शब्दशास्त्रीयकर्मसंज्ञकार्थान्वय्यर्थकत्वं सकर्मकत्वम्। तदनन्वय्यर्थकत्वमकर्मकत्वम्। तेन 'अध्यासिता भूमय' इत्यादिसिद्धिः। अन्वयश्च पृथग्बुद्धेन संसर्गरूपः, अन्वयपदस्य तत्रैव व्युत्पत्तेः। तेन जीवतीत्यादौ न दोषः। तत्र प्राणादिरूपकर्मणो [धारणार्थ] धात्वर्थात् पृथगबोधादिति 'सुप आत्मनः' (पा०सू० ३।१।८) इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्। 'अधिशीङ्स्थासाम्' (पा०सू० १।४।४६) इत्यनेन भूमय इत्याधारस्य कर्मत्वम्।

ननु धातोः फलव्यापारोभयवाचकत्वे 'अस्ति' इत्यादीनां धातुत्वं न स्यात्, तेषां सत्तामात्रार्थत्वेन व्यापाररूपक्रियावाचकत्वाभावादत आह—अस्तीति। अस्, भू, वृतु, विद्—इत्येतेषां धातूनां सत्ता अर्थः। ननु सत्ताऽर्थे क्रमाभावात् आश्रितक्रमरूपक्रियात्वानुपपत्तिरत आह—सा चेति। सत्ता चेत्यर्थः। ननु आत्मधारणानुकूलव्यापाररूपायाः सत्ताया नित्यत्वेन क्रमजन्यसमूहरूपक्रियात्वानुपपत्तिरत आह—कालगतेति। कालगतं यत् पौर्वापर्यं तत् सत्तायामारोप्य तत्र क्रियात्वमुपपादनीयमिति भावः। तदुक्तं वाक्यपदीये—

> आत्मभूतः क्रमोऽप्यस्या यत्रेदं कालदर्शनम्।
> पौर्वापर्यादिरूपेण प्रविभक्तमिव स्थितम्॥
> [वा०प० ३।१।३७]

अत्र हेलाराजः—"अस्याः=क्रियायाः, यत्र=क्रियायाम्, कालदर्शनम्=कालगतपौर्वापर्यस्य तत्रारोप इति।

अत्र भूषणकाराः—क्रियावाचकत्वे सति गणपठितस्यैव धातुत्वे अस्तीत्यादौ क्रियाप्रतीत्यभावादस्त्यादीनां तदवाचकानामधातुत्वप्रसङ्ग इत्यत आह—

> अस्त्यादावपि धर्म्यंशे भाव्येऽस्त्येव हि भावना।
> अन्यत्रांशेषभावात्तु सा तथा न प्रकाशते॥
> (वै० भू० का० १२)

अस्त्यादौ='अस् भुवि' इत्यादौ, धर्म्यंशे=धर्मिभागे (कर्तरीत्यर्थः) भाव्ये=भाव्यत्वेन विवक्षिते, अस्त्येव=प्रतीयत एव। अयमर्थः—'स ततो गतो न वा' इति प्रश्ने, महता यत्नेन 'अस्ति' इति प्रयोगे सत्तारूपफलानुकूला भावना प्रतीयत एव। उत्पत्त्यादिबोधने तु सुतराम्। .... नन्वेवम् 'अस्ती'त्यत्र स्पष्टं कुतो न बुध्यते इत्यत

आह—अन्यत्रेति । अशेषभावात्=भावनायः फलसमानाधिकरणत्वात् । तथा च भावनायाः फलसामानाधिकरण्यं तत्स्पष्टत्वे दोष इति भाव इत्याहुः ।

भूषणकारादिमतेनाह—सकर्मकत्वञ्चेति । फलव्यधिकरणो यो व्यापारस्तद्वाचकत्वं सकर्मकत्वम् । फलव्यधिकरणत्वञ्चात्र फलनिष्ठाधेयतानिरूपिताधिकरणतावन्निरूपिताधेयताऽभाववत्त्वम् । आधेयता च फलतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्ना ग्राह्या । फलतावच्छेदकसम्बन्धनिवेशेन कालिकादिसम्बन्धमादायातिव्याप्तेरनवकाशः । एवञ्च प्रकृत - धात्वर्थ-फलतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नाधेयतानिरूपिताधिकरणतावन्निरूपिताधेयताऽभाववत्त्वं सकर्मकत्वमिति फलति । अकर्मकत्वं निरूपयति—फलसमानेति । फलसमानाधिकरणो यो व्यापारस्तद्वाचकत्वमकर्मकत्वम् । फलसामानाधिकरण्यं च—फलतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नफलनिष्ठाधेयतानिरूपिताधिकरणतावन्निरूपितफलतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नाधेयतावत्त्वम् । अतिव्याप्तिनिरासाय फलवताच्छेदकसम्बन्धनिवेशः । यद्वा—व्यापारव्यधिकरणफलवाचकत्वाभावोऽकर्मकत्वम् । स च क्वचित् सामानाधिकरण्यात् यथा—उत्तिष्ठतीत्यादौ ; क्वचिच्च फलांशाभावात् तत्त्वम् । एवञ्च अस्त्यादौ केवलं सत्ताद्येवार्थः । यद्धातूच्चारणे कर्माकाङ्क्षा नियता स सकर्मक इति तु न युक्तम्, गच्छ—इत्यादिषु तदाकाङ्क्षाऽभावात्, 'क्व' इत्येवाकाङ्क्षायाः दर्शनाच्च । अकर्मकभिन्नत्वं सकर्मकत्वमित्यपि न, सकर्मकाणामर्थान्तरेऽकर्मकत्वेनासम्भवापत्तेः । एतेन—सकर्मकधात्वन्यतमत्वं सकर्मकत्वमि—त्यपास्तमिति दिक् ।

स्वसिद्धान्तमाह—वस्तुतस्त्विति । व्याकरणशास्त्रीयो यो कर्मसंज्ञकार्थः, तदन्वय्यर्थकत्वं सकर्मकत्वम्, तदनन्वय्यर्थकत्वम्=व्याकरणशास्त्रीयकर्मसंज्ञकार्थानन्वय्यर्थकत्वम् अकर्मकत्वमिति बोध्यम् । तेन=पूर्वोक्तव्याख्यानस्वीकारेण । भूमय इति । अध्यासिता भूमयः अत्र 'अधिशीङ्स्थासां कर्म'' [पा०सू० १।४।४६] इति सूत्रेण आधारस्य भूमेः कर्मसंज्ञा विधीयते, एतदर्थेन सह धात्वर्थस्यान्वयो भवति, तेन धातोः सकर्मकत्वात् कर्मणि निष्ठाप्रत्ययो भवतीति भावः । नन्वेवं जीवतीत्यस्य प्राणान् धारयतीत्यर्थेन शब्दशास्त्रीयकर्मसंज्ञकप्राणपदार्थान्वय्यर्थकत्वात् जीवत्यादापि सकर्मकत्वातिव्याप्तिरत आह—अन्वयश्चेति । अयं भावः—पृथक्पदजन्यप्रतीतिविषययोरर्थयोः, य आकाङ्क्षाभास्यः संसर्गः स एवात्रान्वयपदेन ग्राह्यः । तत्र=जीवतीत्यादौ । पृथगबोधादिति । जीवतीत्यादौ प्राणधारणरूपकर्मणो धात्वर्थतावच्छेदकतयैवोपस्थितिः । एवाञ्चान्वयितावच्छेदकरूपेण धारणस्य पृथगुपस्थित्यभावान्नात्र कोऽपि दोषः । 'सुप आत्मनः' [पा०सू० ३।१।८] इति सूत्रे भाष्ये—''अथास्य क्यजन्तस्य कानि साधनानि भवन्ति ? भावः कर्ता च । अथ कर्म ? नास्ति कर्म । न चायमिषिः सकर्मको यस्यायमर्थे क्यच् विधीयते ? अभिहितं तत्कर्मान्तर्भूतं धात्वर्थः सम्पन्नो न चेदानीमन्यत्कर्मास्ति येन सकर्मकः स्यात् । कथं तर्हि अयं सकर्मको भवति—अपुत्रं पुत्रमिवा-

चरति पुत्रीयति माणवकमिति ? अस्त्यत्र विशेषो—द्वे ह्यत्र कर्मणी उपमानकर्मोमेव-कर्म च। उपमानकर्मान्तर्भूतम्। उपमेयेन कर्मणा सकर्मको भवतीत्युक्तम्। एवमेव जीवत्यादावपि बोध्यम्।

क्रियात्व का उपपादन

अस्, भू, वृत् तथा विद्—का अर्थ (है)—सत्ता। और वह सत्ता अनेक काल तक रहने वाली है, इसलिये काल के पौर्वापर्य से क्रम वाली है, इसलिये वह क्रिया होती है। (अर्थात् सत्ता में काल के पौर्वापर्य का आरोप करके क्रियात्व का उपपादन करना चाहिए।) यहाँ सत्ता=आत्मधारण है। (अस्ति, भवति, वर्तति, विद्यति, इन पदों में 'इक् श्तिपौ धातुनिर्देशे' नियम से श्तिप् प्रत्यय है अतः ये सभी धातुरूप के प्रतिपादक हैं।) और फल के व्यधिकरण [भिन्न अधिकरण वाले] व्यापार का वाचक होना—सकर्मक होना है। फल के समानाधिकरण [समान अधिकरणवाले] व्यापार का वाचक होना—अकर्मक होना है। किन्तु कहीं कहीं फलांश के अभाव से अकर्मक होता है। जैसे-अस्ति आदि में केवल सत्ता आदि ही अर्थ है क्योंकि सूक्ष्म दृष्टि से भी फलांश की प्रतीति नहीं [होती है]। और "अस्ति आदि [क्रिया पद] उत्पन्न द्रव्य की स्वरूप-धारणरूप सत्ता को कहते हैं," ऐसा निरुक्त में कहा गया है।

नागेशाभिमत—सकर्मकत्व एवम् अकर्मकत्व

वास्तव में व्याकरणशास्त्र की कर्मसंज्ञावाले अर्थ के साथ अन्वयी अर्थवाला होना—सकर्मक होना है। [और] उस [व्याकरणशास्त्र की कर्मसंज्ञावाले अर्थ] के साथ अन्वयरहित अर्थवाला होना—अकर्मक होना है। [अर्थात् व्याकरणशास्त्र के नियमों से जिन अर्थों की कर्मसंज्ञा होती है उनके साथ जिस धात्वर्थ का अन्वय होता है उसका वाचक धातु सकर्मक होता है और उससे भिन्न धातु अकर्मक होता है।] इससे 'अध्यासिता भूमयः' इत्यादि की सिद्धि है। और अन्वय—पृथक्-पृथक् रूप से ज्ञात पदार्थों का संसर्गरूप [होता है]। क्योंकि अन्वयपद की इसी अर्थ में व्युत्पत्ति है। इससे जीवति आदि में [प्राणान् धारयति अर्थ होने पर भी सकर्मकत्वापत्ति] दोष नहीं है। क्योंकि इसमें प्राणादिरूप कर्म का [धारणरूप] धात्वर्थ से अलग बोध नहीं होता है। यह "सुप आत्मनः क्यच्" [पा.सू. ३।१।८] इस सूत्र पर भाष्य में स्पष्ट है। "भूमयः" इस आधार की कर्मसंज्ञा "अधिशीङ्स्थाऽऽसां कर्म" (पा. सू. १।४।४६) से (होती है)।

शुविम—जो अलग-अलग रूप से उपस्थित होने वाले दो पदार्थ हैं उनका ही संसर्ग अन्वय कहा जाता है। इसलिए 'जीवति' में सकर्मकत्व का लक्षण अतिव्याप्त नहीं होता है, क्योंकि इस धातु से—प्राणान् धारयति—यह समुदित अर्थ प्रतीत होता है,

प्राण इस कर्म का पृथक् रूप से बोध नहीं होता है। अतः अन्वय का प्रसङ्ग नहीं है।

यहाँ का पाठ अधिक है--'धारणार्थधात्वर्थात्' इसमें धारण अनावश्यक है। इसीलिये लघुमञ्जूषा में यह पाठ है--"तत्र प्राणादिरूपकर्मणो धात्वर्थात् पृथगबोधात्।" यदि यह व्याख्या की जाय--धारणार्थश्चासौ धात्वर्थश्च--अर्थात् धारणार्थरूप जो धात्वर्थ उससे पृथक् प्राणादिरूप कर्म का बोध नहीं होता है--तो किसी प्रकार पाठ की संगति सम्भव है।

अध्यासित भूमयः—यहाँ भूमि यद्यपि आधार है परन्तु "अधिशीङ्स्थाऽऽसां कर्म" (पा०सू० १।४।४६) से उसकी कर्मसंज्ञा होती है इसके साथ धात्वर्थ का अन्वय होता है। इसलिये धातु सकर्मक होती है और कर्म में निष्ठा (क्त) प्रत्यय होकर—अध्यसिताः बनता है।

जानातेर्विषयतया ज्ञानं फलम्, आत्ममनः-संयोगो व्यापारः। अतएव मनो जानातीत्युपपद्यते। आत्माऽत्रान्तःकरणम्, मनोऽपि तद्वृत्तिविशेषरूपम्। आत्मा आत्मानं जानातीत्यादौ अन्तःकरणावच्छिन्नः कर्ता, शरीरावच्छिन्नं कर्मेति "कर्मवत्" [पा० सू० ३।१।८७] सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्।

यत्तु–आवरणभङ्गो विषयता वा फलम्, व्यापारस्तु ज्ञानमेवेति। तन्न; कर्मस्थक्रियकत्वापत्तेः। तद्व्यवस्था चेत्थमुक्ता हरिणा—

विशेषदर्शनं यत्र क्रिया तत्र व्यवस्थिता।
क्रियाव्यवस्था त्वन्येषां शब्दैरेव प्रकल्पिता॥

[वा० प० ३।७।३६] इति।

अस्यार्थः—यत्र–कर्मणि कर्तरि वा क्रियाकृतो विशेषः कश्चिद् दृश्यते, तत्र क्रिया व्यवस्थितेत्युच्यते। नन्वेवं पच्यादिकर्तर्यपि श्रमादिरूपविशेषस्य दर्शनादिदमयुक्तम्। किञ्च, चिन्तयति-पश्यतीत्यादीनां कर्तृस्थभावकत्वानुपपत्तिः; कर्तरि क्रियाकृतविशेषाभावात्। अत आह–अन्येषामिति। मते–इति शेषः। यत्र कर्तृकर्मसाधारणरूपं फलं शब्देन प्रतिपाद्यते, स कर्तृस्थभावको यथा–पश्यति घटम्, ग्रामं गच्छति, हसतीत्यादौ। तत्र विषयता-समवायाभ्यां ज्ञानमुभयनिष्ठम्, संयोगश्चोभयनिष्ठः। एवं हासोऽपि। न हि विषयतावरणभङ्गावेवम्। यत्र कर्त्रवृत्तिकर्मस्थफलं सः कर्मस्थभावकः। यथा–भिनत्तीत्यादौ; न हि द्विधाभवनादि कथमपि कर्तृनिष्ठमिति हेलाराजः। तथा चावरणभङ्गस्य विषयतायाश्च कर्ममात्रनिष्ठत्वाज्जानातेरपि कर्मस्थक्रियकत्वापत्तिरित्यलम्।

अग्रे भूषणकारादिमतं निराकर्तुमाह—जानातेरिति। फलतावच्छेदकसम्बन्धमाह—विषयतयेति। तृतीयार्थोऽवच्छिन्नत्वम्। तेन विषयतासम्बन्धावच्छिन्न-ज्ञानानुकूल-व्यापारो ज्ञाधात्वर्थ इति फलति। ननु ज्ञानस्य धात्वर्थरूपफलत्वं दुर्वचम्, तस्य चैतन्यरूपत्वे जन्यत्वप्रकारकप्रतीतिविषयत्वरूपफलत्वस्य तत्रासम्भवादिति चेन्न, अभिव्यक्तिगतजन्यत्वारोपेण तस्य सुलभत्वादिति भावः। अत एव=आत्ममनः संयोगस्य व्यापारत्वादेवेत्यर्थः। मनो जानातीत्यत्र घटादिकर्मणोऽनुषङ्गस्तेन—घटनिष्ठविषयता-निरूपक—ज्ञानानुकूलः एकमनोवृत्तिः वर्तमानकालिको व्यापार इति बोधः। तद्वृत्ति-विशेषरूपम्=अन्तःकरणवृत्तिविशेषरूपमित्यर्थः। तत्रोभयोरपि सावयवत्वादवच्छेद-कांशसम्भवेन संयोग उपपद्यते। मनो निरवयमात्मापि ज्ञानाश्रयो निरवयव इति नयेऽवच्छेदकांशासम्भवेन संयोगानुपपत्तेः। आत्मानं जानातीति। अत्रावच्छेदक-भेदेन कर्तृत्वं कर्मत्वञ्चोपपादनीयम्। कर्मवदिति। तत्र हि भाष्ये—"हन्त्यात्मान-मिति कर्म दृश्यते कर्ता च न दृश्यते। आत्मना हन्यते इति च कर्ता दृश्यते, कर्म न दृश्यते। पदलोपश्चात्र द्रष्टव्यः—हन्त्यात्मानमात्मा,आत्मना हन्यत आत्मेति। कः पुनरात्मानं हन्ति, को वात्मना हन्यते? द्वावात्मानौ—अन्तरात्मा शरीरात्मा च। अन्तरात्मा तत्कर्म करोति येन शरीरात्मा सुखदुःखे अनुभवति, शरीरात्मा तत्कर्म करोति येनान्तरात्मा सुखदुःखे अनुभवति।" इति अवच्छेदकभेदेन कर्तृत्वं कर्मत्वं च स्पष्टमेव प्रतिपादितम्।

भूषणकारादिमतं निराकर्तुं प्रदर्शयति—यत्त्विति। भूषणकारादेरयमाशयः—ज्ञानार्थकधातूनां सकर्मकत्वसिद्धये फलव्यापारोभयार्थकत्वं वक्तव्यम्। तत्र फलम्=आवरणभङ्गरूपं धातुवाच्यम्। घटादिप्रत्यक्षस्थलेऽन्तःकरणं चक्षुरादीन्द्रियमाध्यमेन घटादिविषयदेशं गत्वा तत्तद्विषयाकारेण परिणमति। अयं विषयाकारपरिणाम एव अन्तःकरणस्य वृत्तिरित्युच्यते। तया वृत्त्या चावरणभङ्गो जायते। आवरणं नाम—विषयावच्छिन्न-चैतन्याच्छादकाज्ञाननिष्ठावरकशक्तिः। अस्यावरणस्य पूर्वोक्तया ज्ञानपदव्यवहर्तव्यया वृत्त्या भङ्गो जायते स एव—आवरणभङ्गः फलम्, ज्ञानञ्च व्यापारः।

एतन्मतं निराकरोति—तन्नेति। कर्मस्थक्रियकत्वापत्तेः=ज्ञायते घटः स्वयमेवेत्याद्यापत्तेरिति बोध्यम्। तद्व्यवस्था=कर्मस्थक्रियकत्वव्यवस्था कर्तृस्थ-क्रियकत्वव्यवस्था च। यत्र—इत्यस्यैव विवरणम् कर्मणि कर्तरि वा। तत्र=कर्मणि कर्तरि वा। यत्र कर्मणि धात्वर्थक्रियाकृतो विशेषः=भेदः, प्रभावः, दृश्यते तत्र कर्मस्थ-क्रियकत्वम्। यत्र कर्तरि क्रियाकृतो कश्चिद् विशेषो दृश्यते तत्र कर्तृस्थक्रियकत्वमिति पूर्वार्धस्याशयः। प्रकृते च विषयतादिरूपफलस्य कर्तृकर्मसाधारणत्वाभावात् कर्मस्थ-क्रियकत्वापत्तिरिति बोध्यम्। कर्मस्थक्रियया तुल्या क्रिया फलरूपा फलसमानाधि-

करणव्यापाररूपा वा यत्र तादृशः कर्ता कर्मवद् स्यादित्यर्थकेन "कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः" (पा० सू० ३।१।८७) इति सूत्रेण कर्मवद्भावे कर्मकर्तरि—ज्ञायते घटः स्वयमेवेति प्रयोगापत्तिरिति भावः। एवम्=क्रियाकृतविशेषस्य नियामकत्वस्वीकारे। अयुक्तमिति। एवञ्च कर्मस्थक्रियकत्वाभावात् पच्यते ओदनः इत्यस्यासिद्धिरिति भावः। अन्येषाम्=सिद्धान्तिनां मते इत्यर्थः। शब्देन=धातुरूपशब्देन। 'एव' इत्यनेन कर्तृकर्मवृत्तिविशेषदर्शनस्य व्यवच्छेद इति बोध्यम्। प्रतिपाद्यते=बोध्यते। ज्ञानं विषयतासम्बन्धेन कर्मनिष्ठं समवायसम्बन्धेन च कर्तृनिष्ठमिति ज्ञाधातौ कर्तृस्थभावकत्वम्; एवमेव दर्शनादावपि बोध्यमिति भावः। किन्तु विषयतारूपं फलम्, आवरणभङ्गरूपं वा फलं केवलं कर्मनिष्ठमेव न तु कर्तृनिष्ठमपि। रामः कृष्णं हसतीत्यादौ हासरूपं फलं समवायेन रामे विषयतया च कृष्णे इति कर्तृस्थभावकत्वमेव। हेलाराजः=वाक्यपदीयव्याख्याकारः। तथा च=कर्त्रवृत्तिकर्मस्थफलत्वे कर्मस्थक्रियकत्वस्वीकारे इत्यर्थः। अलमिति। एवञ्च ज्ञायते घटः—इत्याद्यापत्तिपरिहारासम्भवान्न आवरणभङ्गस्य विषयतायाश्च फलत्वमुचितमिति भावः।

ज्ञा-धात्वर्थ

ज्ञा धातु का विषयतया [विषयतासम्बन्ध से] ज्ञान फल [होता है], आत्मा और मन का संयोग व्यापार है। इसीलिए 'मनो जानाति' (मन जानता है) आदि उपपन्न होता है। यहाँ आत्मा अन्तःकरण है। मन भी उसकी वृत्ति विशेषरूप है। 'आत्मा आत्मानं जानाति' (आत्मा आत्मा को जानता है) इत्यादि में अन्तःकरण (मन, बुद्धि, अहङ्कार, चित्त) से अवच्छिन्न (विशिष्ट) आत्मा कर्ता है और शरीर से अवच्छिन्न आत्मा कर्म है। [अर्थात् अवच्छेदक के भेद से एक ही आत्मा में कर्तृत्व और कर्मत्व का उपपादन हो जाता है] यह "कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः" (पा. सू. ३।१।८७) सूत्र पर भाष्य में स्पष्ट है।

भूषणकारादि का खण्डन

(भूषणकारादि) जो यह [कहते हैं कि]—आवरणभङ्ग अथवा विषयता फल है किन्तु व्यापार तो ज्ञान ही है—वह [ठीक] नहीं [है], क्योंकि कर्मस्थक्रियक होने का दोष आता है। इस (कर्मस्थक्रियकत्व एवं कर्तृस्थक्रियकत्व) की व्यवस्था भर्तृहरि ने इस प्रकार कही है—

जहाँ [कर्ता या कर्म में] विशेष दर्शन होता है वहाँ [कर्ता या कर्म में] क्रिया स्थित [मानी जाती है]। अन्य [आचार्यों] से मत में शब्दों से ही क्रियाव्यवस्था प्रकल्पित है।

इस [कारिका] का अर्थ—जहाँ=कर्ता या कर्म में क्रिया द्वारा किया गया कोई

विशेष [=भेद, या विलक्षणता] दिखाई देता है उस (कर्ता या कर्म) में क्रिया व्यवस्थित हैं, ऐसा कहा जाता है।

विमर्श—भाव यह है कि क्रिया द्वारा होने वाला जो भेद या प्रभाव है वह यदि कर्ता में दिखाई देता है तो कर्ता में और यदि कर्म में दिखाई देता है तो कर्म में क्रिया स्थित मानी जाती है।

अनु०—ऐसा मानने पर तो पचादि (क्रिया) के कर्ता में भी श्रमादिविशेषरूप देखा जाने से यह (उक्त निर्धारण) ठीक नहीं है। और भी, चिन्तयति, पश्यति इत्यादि का कर्तृस्थभावकत्व उपपन्न नहीं होता है क्योंकि (इनमें) कर्ता में क्रियाकृत कोई विशेष (भेद, अन्तर) नहीं होता है। इसी लिये कहा है—'अन्यों के' इत्यादि। यहाँ 'मत में' यह शेष है। जहाँ कर्तृ कर्म (उभय) साधारण (अर्थात् कर्ता एवं कर्म दोनों में रहने वाला) फल उसी (धातुरूप) शब्द से प्रतिपादित होता है वह कर्तृस्थ भावक (कर्तृस्थ क्रियावाला) होता है। जैसे 'घटं पश्यति' (घट को देखता है) 'ग्रामं गच्छति' (गाँव को जाता है), 'हसति' (हँसता है) इत्यादि में है। इनमें विषयता तथा समवाय सम्बन्धों से ज्ञान (घट तथा चैत्रादि—इन कर्म तथा कर्ता) दोनों में रहने वाला (है) और संयोग (ग्राम तथा राम) दोनों में रहने वाला (है)। उसी प्रकार हास (रूप फल) भी ऐसा (कर्ता और उपहास्य पदार्थ कर्म दोनों में रहने वाला है)। किन्तु विषयता तथा आवरणभङ्ग इस प्रकार के (अर्थात् कर्तृ कर्म उभय साधारण) नहीं है जहाँ कर्ता में न रहने वाला, कर्म में रहने वाला फल है वह कर्मस्थभावक है। जैसे—भिनत्ति (फाड़ता है,) इत्यादि में द्विधाभवन (दो टुकड़ों में हो जाना) आदि (फल) किसी भी प्रकार कर्तृनिष्ठ (विदारणकर्ता में रहने वाला) नहीं है—ऐसा हेलाराज (कहते हैं)। और इस प्रकार आवरणभङ्ग तथा विषयता के केवल कर्मनिष्ठ (कर्म में रहने वाली) होने के कारण जानाति (ज्ञा धातु) भी कर्मस्थ-क्रियक होने लग जायगी। विस्तार अनावश्यक है।

विमर्श—यहाँ का रहस्य है कि सौकर्यातिशय द्योतित करने के लिए कर्तृ-व्यापार की अविवक्षा करके कर्म की ही स्वतन्त्रत्वरूप से विवक्षा कर दी जाती है उस स्थिति में घटादि कर्म ही कर्तृसंज्ञक हो जाते हैं और "कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः" (पा०सू० ३।१।८७) से उसका कर्मवद्भाव करके जैसे 'पच्यते ओदनः स्वयमेव' आदि होते है उसी प्रकार 'ज्ञायते घटः स्वयमेव' यह अनिष्ट प्रयोग भी होने लगेगा।

इच्छतेरिच्छानुकूलं ज्ञानमर्थः। अतीतानागतयोरपि बुद्ध्युपारोहात् फलशालित्वम्।

पतिर्गमिवत्सकर्मकः, नरकं पतति इत्यादिप्रयोगात्। विभागजन्य-संयोगमात्रपरत्वेऽकर्मक इति।

कृञ उत्पत्तिव्यधिकरणस्तदनुकूलो व्यापारोऽर्थः। फलमात्रार्थकत्वेऽकर्मकत्वापत्तिर्यतिवत्। किञ्च कर्मस्थभावकत्वाभावात् कर्मकर्तरि यगाद्यनापत्तिः। कृतिरित्यादौ धातूनामनेकार्थत्वात् यत्नमात्रे वृत्तिः।

यद्वा यत्नकृतिशब्दयोरपि व्यापारसामान्यवाचितैव। अत एव "स्थालीस्थे यत्ने पचिना कथ्यमाने स्थाली पचतीति" "कारके" [पा० सू० १।४।१३] इति सूत्रे भाष्ये उक्तमित्यलम्।

इष् धात्वर्थं निरूपयति—इच्छतेरिति। अत्र ज्ञानं व्यापाररूपम्। नन्वतीत-पदार्थेषु इच्छाश्रयत्वाभावात्कर्मत्वं न स्यादत आह—अतीतेति। बुद्ध्युपारोहात्=बुद्धिविषयीकरणाद्। अन्येन सम्बन्धेनाश्रयत्वासम्भवे विषयतया तत्स्वीकारे बाधकाभाव इति बोध्यम्।

प्रयोगादिति। विभागजन्योत्तरदेशादिसंयोगानुकूलो व्यापारः पतधात्वर्थः। एवञ्च—विभागजन्याधोदेशानुयोगिक-संयोगानुकूलव्यापाररूप-पत-धात्वर्थप्रयोज्यफलाश्रयत्वेन नरकस्य कर्मसंज्ञया कर्मसंज्ञकार्थान्वय्यर्थकत्वेन पत-धातोः सकर्मकत्वं बोध्यम्। विभागजन्येति। वृक्षमजहत्यपि भूमिं स्पृशति सति पर्णे वृक्षात् पर्णं पततीत्यप्रयोगाद् विभागजन्यत्वस्य निवेश आवश्यकः। विभागजन्यसंयोगमात्रेति। अत्र मात्रपदेन तदनुकूलव्यापारस्य व्यवच्छेदः। एवञ्च संयोग एव व्यापारो बोध्यः।

कृञ् धात्वर्थं निरूपयति—कृञ इति। उत्पत्तेः व्यधिकरणः, उत्पत्त्यनुकूलो व्यापारः कृञ् धातोरर्थः। अत्रायं परिष्कारः नैयायिकादिरीत्यैवेति बोध्यम। फल-मात्रेति। नैयायिकमते कृञ् धातोर्यत्नरूपं फलमेवार्थः न तु तदनुकूलो व्यापारः। एवञ्च यत्नार्थको यत् धातुर्यथाऽकर्मकस्तथैव कृञ् धातुरपि अकर्मकः स्यादिति बोध्यम्, तच्च नेष्टम्। दोषान्तरमाह—किञ्चेति। अयं भावः—कृञ् धातोर्यत्नमर्थः, तच्च केवलचेतनवृत्ति। अचेतने घटादावभावात् कर्तृमात्रवृत्तितया कर्मस्थक्रियकत्वाभावात् कर्मवद्भावाभावेन यगाद्यनापत्तौ कर्मकर्तरि 'क्रियते घटः स्वमेवे'ति प्रयोगो न स्यादिति भावः। नन्वेवं कृतिरित्यादौ केवलयत्नार्थप्रतीतिर्न स्यादत आह—कृतिरिति। अनेकार्थत्वादिति। अत एव 'कुर्द खुर्द गुर्द गुद क्रीडायामेव' इति धात्वर्थपाठे 'एव' शब्द-निवेशः संगच्छते। वृत्तिः=प्रयोगः शक्तिर्वा।

भाष्योक्तरीत्यापि नैयायिकमतं निराकर्तुमाह—यद्वेति। कृतिशब्दो यत्नशब्दश्च व्यापारसामान्यस्य वाचकः। अत एव=व्यापारसामान्यवाचकत्वादेव। यत्ने=व्यापारे इत्यर्थः, स्थाल्या अचेतनत्वात् तत्र यत्नस्यासम्भवात् 'व्यापार' एवार्थोऽत्र

बोध्य इति व्याख्यातारः। एवञ्च कृञ्धातोर्यत्नमात्रार्थकत्वे नैयायिकादीनां दुराग्रहो भाष्यादिविरुद्ध इति बोध्यम्।

इष्-धात्वर्थ

इष् (इच्छति) धातु का अर्थ है—इच्छानुकूल ज्ञान। अतीत एवम् अनागत (भूत एवं भविष्यत् पदार्थ) भी बुद्धि में उपारूढ (अर्थात् विषय) हो सकते हैं, अतः फलशाली (कर्म) हो सकते हैं। (ज्ञान के विषय बन सकते हैं। अतः कोई अनुपपत्ति नहीं है।)

पत्-धात्वर्थ

गम् धातु के समान पत धातु सकर्मक है क्योंकि 'नरकं पतितः' आदि प्रयोग (होते हैं)। विभागजन्य संयोगमात्र अर्थ होने पर अकर्मक है। (अतः वृक्षात् पर्णं भूमौ पतति आदि भी होता है।)

कृञ्-धात्वर्थ

उत्पत्ति का व्यधिकरण (उत्पत्ति के अधिकरण से भिन्न अधिकरण वाला), उत्पत्ति का जनक व्यापार—कृञ् धातु का अर्थ है। केवल (उत्पत्तिरूप) फल का वाचक होने पर (कृञ् धातु भी) यत् के समान अकर्मक होने लगेगी। और भी, कर्मस्थभावकत्व (केवल कर्म में रहने वाली होने) के न होने से कर्मकर्ता में (क्रियते घटः स्वयमेव आदि में) यक् आदि नहीं हो सकेगा।

विमर्श—तात्पर्य यह है कि यदि केवल यत्न अर्थ मानते हैं तो वह मानसिक सङ्कल्परूप होने से केवल चेतन पदार्थों में ही रह सकने वाला होगा अचेतन में नहीं। इस कारण कर्मस्थक्रियक न होने से 'क्रियते घटः स्वयमेव' आदि में कर्मवद्भाव नहीं होगा और यह प्रयोग नहीं हो सकेगा।

अनु०—धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं—इस (नियम) से 'कृति' आदि शब्दों में केवल यत्न अर्थ में प्रयोग है। (यदि धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं तो कृति=यत्न अर्थ ही मुख्य मान लिया जाय और उत्पत्त्यनुकूल व्यापार को गौण मान लिया जाय ? इस प्रश्न के उत्तर में यह लिखते हैं–) अथवा यत्न और कृति शब्द भी व्यापार-सामान्य के वाचक ही हैं। इसीलिए 'स्थाली=बटलोई में स्थित यत्न के पच धातु के द्वारा कहे जाने पर 'स्थाली पचति' (बटलोई पकाती है) यह (होता है) ऐसा "कारके" (पा० सू० १।४।२३) सूत्र पर भाष्य में कहा गया है। अधिक विस्तार अनावश्यक है।

विमर्श—यदि यत्न का अर्थ केवल संकल्परूप ही होता तो चेतन में ही रहने के कारण 'स्थालीस्थे यत्ने' यह भाष्यप्रयोग उपपन्न नहीं हो सकता। अतः यत्न को भी व्यापारसामान्य का पर्याय समझना चाहिये।

यत्तु तार्किकाः—फलव्यापारौ धात्वर्थः। लकाराणां कृतावेव शक्ति-लाघवात्; नतु कर्तरि, कृतिमतः कर्तृत्वेन तत्र शक्तौ गौरवात्। प्रथमान्त-पदेनैव तल्लाभाच्च। आख्यातार्थे धात्वर्थो विशेषणम्, प्रकृत्यर्थप्रत्ययार्थयोः सहार्थत्वे प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यात्; प्रथमान्तार्थे आख्यातार्थो विशेषणम्। अनुकूलत्वमाश्रयत्वञ्च संसर्गः। तथा च चैत्रः पचतीत्यादौ विक्लित्त्यनुकूल-व्यापारानुकूलकृतिमांश्चैत्र इति बोधः। रथो गच्छतीत्यादौ रथस्याचेतन-त्वात् यत्नशून्यत्वेन व्यापारे आश्रयत्वे वा आख्यातस्य लक्षणेत्याहुः।

तन्न। युष्मदस्मदोर्लकारेण सामानाधिकरण्याभावात् पुरुषव्यवस्थाऽना-पत्तेः। पचन्तं चैत्रं पश्य, पचते देवदत्ताय देहीत्यादौ शतृशानजादीनामपि तिबादिवल्लादेशाविशेषण तेभ्यः कृतिमात्रबोधापत्तेश्च। न चेष्टापत्तिः; आश्रयाश्रयिभावेन कर्मणि सम्प्रदाने च कृतेरन्वयादिति वाच्यम्। 'नामार्थ-योरभेदान्वयो व्युत्पन्न' इति व्युत्पत्तिभङ्गापत्तेः।

ननु फलमुखगौरवं न दोषायेति न्यायेन शत्रादीनां कर्तरि शक्तिः, तिबा-दीनां कृतावेव; इति चेत्, न। स्थान्येव वाचको लाघवात्, आदेशानां बहु-त्वेन तेषां वाचकत्वे गौरवादिति हि तव मतम्। एवं च तिबादीनां शत्रा-दीनां च स्थानिस्मारकतया लिपिस्थानीयत्वम्, बोधकस्तु लकार एव। स च शत्राद्यन्ते कर्तरि शक्तस्तिबाद्यन्ते कथं कृतिं बोधयेत्। 'अन्याय्यश्चानेकार्थ-त्वम्' इति न्यायात्।

साम्प्रतं नैयायिकमतं निराकर्तुमनुवदति—यत्तु तार्किका इति। नव्या इति शेषः। प्राचीनास्तु केवलव्यापारमेव धात्वर्थत्वेन स्वीकुर्वन्ति। फलप्रतीतिन्तु द्विती-यादिनोपपादयन्ति। लाघवादिति। अयं भावः—कर्ता=कृतिमान्=कृत्याश्रयः, अस्मिन्नर्थे कृतिः शक्यतावच्छेदिका कर्तृभेदेन भिन्ना-भिन्ना भवतीति शक्यतावच्छेदकधर्माणा-मानन्त्येन उपस्थितिकृतगौरवम्। कृति–अर्थे च नानाकृतिषु अनुगतायाः एकस्याः कृतित्वजातेः शक्यतावच्छेदकत्वे उपस्थितिकृतलाघवमिति। तल्लाभात्=कृतिमतः बोधादितिभावः। एवञ्च 'अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः' इति न्यायेन कृतिरेवाख्यात-प्रत्ययार्थः सिध्यति। आख्यातार्थे=कृतिरूपे, धात्वर्थः=फलव्यापारौ विशेषणं जनकत्व-जन्यत्व-सम्बन्धाभ्यामिति शेषः। एवञ्च—अनुकूलत्व-जन्यत्वान्यतर-सम्बन्धावच्छिन्न-धात्वर्थनिष्ठव्यापारत्वावच्छिन्न–प्रकारतानिरूपित–विशेष्यतासम्बन्धेन शाब्दबोधं प्रति क्रमशः कृतित्व-फलत्वान्यन्तर-धर्मावच्छिन्नविशेष्यतासम्बन्धेन लकारजन्योपस्थितिः कारणमितिकार्यकारणभावः। यत्र कर्तृप्रत्ययस्तत्र अनुकूलत्वसम्बन्धावच्छिन्ना प्रकारता कृतित्वावच्छिन्ना च विशेष्यता। यत्र कर्मप्रत्ययस्तत्र जन्यत्वसम्बन्धावच्छिन्ना प्रकारता फलत्वावच्छिन्ना च विशेष्यतेति भेदो बोध्यः। संसर्ग इति। धात्वर्थाख्यातार्थमध्ये

अनुकूलत्वम्, आख्यातार्थप्रथमान्तार्थमध्ये चाश्रयत्वं संसर्ग इति बोध्यम्। संख्याकालातिरिक्त एवाख्यातार्थो प्रथमान्तार्थे विशेषणं भवतीति ध्येयम्। अत्र च—आश्रयत्वसम्बन्धावच्छिन्न—लकारार्थ—कृति-फल-अन्यतरनिष्ठ-प्रकारतानिरूपित —विशेष्यतासंसर्गेण शब्दबोधं प्रति तिङन्तसमभिव्याहृत-प्रथमान्तसपदजन्योपस्थितिः कारणमिति कार्यकारणभावः कल्पनीयः। नन्वेवं रथो गच्छतीत्यादौ का गतिरत आह—रथ इति। तथा च—उत्तरदेशसंयोगानुकूलव्यापारवान् रथ इति बोधः। आश्रयत्वे इति। गमनानुकूलव्यापाराश्रयतावान् रथ इति बोधः। न चैवं कृतौ शक्तिः, व्यापारादौ च लक्षणा—इति गौरवमिति वाच्यम्, ईदृशगौरवस्य फलमुखत्वेनादोषत्वात्।

साम्प्रतं तार्किकमतं निराकरोति—तन्नेति। पूर्वोक्तं तार्किकमतं न समीचीनमिति भावः। सामानाधिकरण्येति। समानम् अधिकरण (द्रव्यम् अर्थः) यस्य तत्समानाधिकरणम्, समानार्थवाचकमिति यावत् तस्य भावः—सामानाधिकरण्यम्। अत्रायमाशयः—"युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि" [पा० सू० १।४।१०५] इति सूत्रे युष्मदस्तिङ्सामानाधिकरण्यम्=तिङ्वाच्यकारकवाचित्वरूपं स्वीक्रियते। एवञ्च तिङ्वाच्यकारकवाचिनि युष्मदि उपपदे प्रयुज्यमानेऽप्रयुज्यमाने च मध्यमः इति सूत्रार्थः। तार्किकाणां मते लकारस्य कृतिरर्थः, कर्त्रादिर्नार्थः, कृतेश्च युष्मदर्थेन सामानाधिकण्याभावः, तेन तत्र मध्यमपुरुषादिव्यवस्थाऽनापत्तिरिति भावः। लादेशाविशेषेणेति। यथा लकाराणां स्थाने तिबादयो भवन्ति तेषामर्थश्च कृतिरूपो नैयायिकैः प्रतिपाद्यते तथैव "लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे" [पा०सू० ३।२।१२४] इति सूत्रेणापि लकारस्थाने एव शतृशानजादयो विधीयन्ते तेषामपि 'कृति' अर्थः स्यात्। एवञ्च 'पचन्तं चैत्रं पश्य, पचते चैत्राय देहीत्यादौ' केवलकृतेरेव बोधापत्तिः स्यात्। न चेष्टापत्तिरिति। पूर्वस्थलेषु कृतेरर्थत्वेऽपि न क्षतिः, तस्याः कृतेः आश्रयाश्रयिभावसम्बन्धेन कर्मणि चैत्रे, सम्प्रदाने देवदत्ते चान्वयो भवतीति न कापि क्षतिरिति भावः। निराकरणे हेतुमाह—नामार्थेति। अयं भावः—नामार्थयोरभेदेनैवान्वयो भवतीति व्युत्पत्तिस्वीकारः आवश्यकः। अन्यथा राजा पुरुषः, भूतलं घट इत्यादि वाक्येभ्योऽपि स्वत्वसम्बन्धेन राजविशिष्टः पुरुषः एवमेवाधेयत्वसम्बन्धेन भूतलविशिष्टो घट इति बोधापत्तिः स्यात्, न चैतादृशो बोधोऽनुभवसिद्धः; अत एतादृशबोधवारणाय प्रातिपदिकप्रयोज्यायाः अभेदातिरिक्तसम्बन्धावच्छिन्नायाः प्रत्ययनिपातान्यतरपदप्रयोज्यविशेष्यतानिरूपितत्वनियमः अङ्गीकार्यः, एतदर्थमयं कार्यकारणभावः—भेदसम्बन्धावच्छिन्ननिपातातिरिक्त-नामार्थनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यतासम्बन्धेन शब्दबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति विशेष्यतासम्बन्धेन विभक्तिनिपातान्यतरजन्योपस्थितिः कारणम् इति स्वीक्रियते। एतन्मूलिकेयं व्युत्पत्तिः—'नामार्थयोर्भेदेन साक्षादन्वयोऽव्युत्पन्नः।' तत्फलितमेव 'नामार्थयोरभेदान्वयो व्युत्पन्न' इति। एवञ्च पचन्तं चैत्रं पश्य, पचते चैत्राय देहीत्यादौ

चैत्रादेः विभक्तिनिपातान्यतरजन्योपस्थितिविषयता नास्ति, एवञ्च तस्मिन् चैत्रे कृते-राश्रयत्वरूपभेदसम्बन्धेनान्वयो न सम्भवति। घटो न पट इत्यादौ घटत्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताकभेदस्य बोधे व्यभिचारवारणाय कारणतावच्छेदककोटौ निपातपदं देयमिति विस्तरस्तु व्युत्पत्तिवादादौ द्रष्टव्यः।

व्युत्पत्तिविरोधपरिहाराय तार्किकः शङ्कते-नन्विति। लकारादेशभूतानां शत्रादीनां कर्तरि शक्तिः, तदादेशभूतानां तिबादीनां कृतावेव शक्तिरस्तु—इति तु न वक्तुं शक्यम्, नैयायिकाः लाघवं दृष्ट्वा स्थानिनां लकाराणामेव वाचकत्वं प्रतिपादयन्ति-एवञ्च यथा लिपिर्भिन्ना भिन्नापि समानमेव शब्दं स्मारयति तथैव तिबादयः शत्रादयश्च लकारं स्मारयन्ति। एवं लकार एव बोधको भवति। स च लकारः 'कर्तरि कृत्' [पा०सू० ३।४।६७] इति सूत्रेण कर्तरि अर्थे प्रथमं शक्तः, स एव लकारे तिबादिप्रत्ययान्ते कृतिरूपमन्यमर्थं बोधयितुं न समर्थः—एकस्य शब्दस्यानेकार्थता नोचिता' इति न्याय-विरोधात्। एवञ्च तिङन्तस्थले कृतेर्बोधोऽसम्भव इति निष्कर्षः।

नव्यनैयायिकों का धात्वर्थ-विषयक मत

नव्यनैयायिक यह जो कहते हैं—फल एवं व्यापार धातु के अर्थ हैं। लाघव के कारण लकारों की कृति=यत्न अर्थ में ही शक्ति [होती है], न कि कृतिमान्=कर्ता में, क्योंकि कृतिमान् के कर्ता होने के कारण उस (कर्ता) में शक्ति मानने में गौरव (होता है)। और प्रथमा विभक्त्यन्त पद से ही उस [कृतिमान्] का बोध हो [जाता है]।

विमर्श—नैयायिकों का आशय यह है कि कर्ता=कृतिमान् को शक्य [अर्थ] मानने पर कृति शक्यतावच्छेदिका होती है जो प्रत्येक कर्ता में अलग-अलग होती है। शक्य-तावच्छेदक धर्म अनन्त हो जाने के कारण गौरव है किन्तु जब कृति अर्थ मानते हैं तो कृतित्वशक्यतावच्छेदक होता है जो जातिरूप होने से एक है। अतः लाघव है।

अनु०—आख्यातप्रत्ययार्थ कृति में धात्वर्थ विशेषण रहता है। क्योंकि 'प्रकृति तथा प्रत्यय का साथ-साथ अर्थ होने पर प्रत्ययार्थ ही प्रधान रहता है।' प्रथमान्त पदार्थ में आख्यातार्थ [कृति] विशेषण रहता है। [धात्वर्थ तथा आख्यातार्थ के मध्य में] अनुकूलत्व और [आख्यातार्थ तथा प्रथमान्तार्थ के मध्य में] आश्रयत्व संसर्ग [होता] है। और इस प्रकार चैत्रः पचति [चैत्र पकाता है] इत्यादि में—विक्लित्ति-अनुकूल-व्यापारानुकूल-कृतिमान् चैत्रः [विक्लित्ति=चावलों का सीझना, गलना आदि का अनु-कूल=जनक जो व्यापार=चेष्टा उसके अनुकूल जो कृति=संकल्परूप मानसक्रिया, उसका आश्रय चैत्र है] यह [प्रथमान्तार्थ मुख्यविशेष्यक] शाब्दबोध होता है। 'रथो गच्छति' [रथ जाता है] इत्यादि में रथ के अचेतन होने के कारण यत्नरहित होने से व्यापार अथवा आश्रयत्व में आख्यात की लक्षणा [कर लेनी चाहिए]।

विमर्श—कृति मानस-व्यापारविशेष है वह केवल चेतन पदार्थ में ही रह सकती है, रथ आदि अचेतन पदार्थों में नहीं। अतः इनमें आख्यातार्थ कृति का रहना सम्भव नहीं है। इसलिए आख्यात की लक्षणा व्यापार या आश्रयत्व में की जाती है। जिससे रथो गच्छति आदि में—गमनानुकूल-व्यापारवान् रथः और गमनाश्रयः रथः ये बोध मान लेने चाहिये।

नैयायिक-मत का खण्डन

अनु०—वह [उपर्युक्त नैयायिकमत ठीक] नहीं है, क्योंकि युष्मद् तथा अस्मद् का लकार के साथ सामाधिकरण्य न हो सकने से [मध्यम, उत्तमादि] पुरुषव्यवस्था नहीं बन सकती। [लकार का अर्थ जब कर्ता और कर्म होता है तो युष्मद् एवम् अस्मद् के साथ सामानाधिकरण्य=समानार्थता उत्पन्न होती है। और समानाधिकरण युष्मद् के उपपद रहने पर मध्यम पुरुष और अस्मद् के रहने पर उत्तम पुरुष आदि होते हैं। किन्तु कृति अर्थ मानने पर इनका सामानाधिकरण्य सम्भव नहीं है। अतः उत्तमादि पुरुष की व्यवस्था कठिन है।] 'पचन्तं चैत्रं पश्य' [पकाते हुए चैत्र को देखो], 'पचते चैत्राय देहि' [पकाते हुए चैत्र को दो]—इत्यादि में शतृ शानच् आदि भी तिप् आदि के समान लकार के आदेशों से भिन्न न होने से [अर्थात् लकार के स्थान पर ही होने से] इन प्रत्ययों से [भी] केवल कृति का बोध होने लगेगा। यह कल्पना इष्ट है क्योंकि आश्रयाश्रयिभाव से कर्म और सम्प्रदान में कृति का अन्वय हो जाता है [अर्थात् शतृ आदि का अर्थ कृति मान कर उस कृति का आश्रय कर्म तथा सम्प्रदान हैं अतः इनमें आश्रयाश्रयिभाव सम्बन्ध से कृति का अन्वय हो जाने से कार्य निर्वाह हो जायगा]—ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि 'नामार्थ नामार्थ का अभेदान्वय [ही] व्युत्पन्न [व्युत्पत्तिसिद्ध माना जाता है]'—यह व्युत्पत्ति भंग होने लगेगी। [अर्थात् शतृ-प्रत्ययान्त पदार्थ का देवदत्त पदार्थ के साथ अभेदान्वय ही होता है, आश्रयतया अन्वय अव्युत्पन्न है। अतः वहाँ निर्वाह कठिन है।] फलमुख गौरव [फलसिद्ध कराने वाला गौरव] दोष के लिये नहीं होता है'—इस न्याय से शतृ आदि प्रत्ययों की कर्ता [अर्थ] में शक्ति है और तिप् आदि की कृति [अर्थ] में ही है—ऐसा यदि [कहो] तो नहीं कह सकते, क्योंकि लघु=अल्प होने के कारण स्थानी ही वाचक [होता है], क्योंकि आदेशों के बहुत होने के कारण उनके वाचक होने पर गौरव होता है—यह आप [नैयायिकों] का मत है। और इस प्रकार तिप् आदि और शतृ आदि [अपने] स्थानी के स्मारक होने से लिपिस्थानीय हैं, बोधक तो लकार ही हैं। [अर्थात् जैसे भिन्न-भिन्न लिपियां बोधक नहीं हैं अपितु उनसे बोधित शब्दविशेष ही अर्थ का बोध कराते हैं। उसी प्रकार लकार ही बोधक है। आदेशभूत तिप् आदि तथा शतृ आदि उस लकार का ही स्मरण कराते हैं। उस

स्मृत लकार में ही बोधकता है।] और वह लकार शतृ-आदि-प्रत्ययान्त में कर्ता अर्थ में शक्त है तिबादि-प्रत्ययान्त में कृति अर्थ का बोध किस प्रकार करा सकता है? क्योंकि '[शब्द का] अनेक अर्थों वाला होना उचित नहीं है' ऐसा न्याय है। [इसलिए एक ही लकार के दो अर्थ मानना तर्कसङ्गत नहीं है।]

ननु 'लः कर्म्मणि' [पा.सू. ३।४।६९] इति सूत्रे कर्तृकर्मपदे भावप्रधाने, तथा च कर्तृत्वं=कृतिः, कर्म्मत्वं=फलम्, तयोः शक्तौ सूत्रस्वरसः। कर्म्म-प्रत्ययान्ते 'पच्यते ओदनो देवदत्तेने'त्यादौ, देवदत्तनिष्ठकृतिजन्यव्यापारजन्य-विक्लित्तिमान् ओदन इति बोधः। 'कर्तरि कृत्' [पा० सू० ३।४।६७] इति सूत्रे तु कर्तरीति पदस्य धर्मिप्रधानत्वात् कृत्याश्रये शत्रादीनां शक्तिरिति चेत्, न। 'कर्तरि कृत्' [पा० सू० ३।४।६७], इति सूत्रे यत्कर्तृग्रहणं तस्यैव 'लः कर्म्मणि' [पा. सू. ३।४।६९] इति सूत्रे चकारानुकृष्टत्वेन भावप्रधानत्वे सूत्रस्वरसाभावात्। शत्रादीनां 'स्थान्यर्थाभिधानसमर्थस्यैवादेशत्वम्' इति न्यायेन स्थान्यर्थेन निराकाङ्क्षत्वात् 'आकाङ्क्षितविधानं ज्यायः' इति न्यायात् 'कर्तरि कृत्' [पा० सू० ३।४।६७] इत्यनेन शक्तिग्रहाभावात् (च)। अन्यथा 'देवदत्तेन शय्यमाने आस्यमाने च यज्ञदत्तो गत' इत्यादौ भावे शान-जनापत्तेः।

सूत्रद्वयस्वारस्यं प्रतिपादयन् स्वाभिप्रेतमाह—तार्किकः—नन्विति। भावः=विशेषणं तत्प्रधानं ययोस्ते भावप्रधाने=धर्मबोधके इति भावः। कृत्याश्रयभूते कर्तरि कृतिः प्रकारीभूता, एवमेव फलाश्रयभूते कर्मणि फलं प्रकारीभूतम्, 'प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारी-भूतो धर्मो भावशब्देनाभिधीयते' इति व्युत्पत्त्या भावप्रधानत्वे कृतेः फलस्य च बोध इति बोध्यम्। स्वसिद्धान्तानुसारं प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यकं बोधमाह—पच्यते ओदनो देवदत्तेनेति। देवदत्तनिष्ठा या कृतिः, तज्जन्यो यो व्यापारः, तज्जन्या या विक्लित्तिः, तदाश्रय ओदन इति भावः। धर्मिप्रधानत्वात्=कृत्याश्रयरूपधर्मिबोध-कत्वात्। नैयायिकमतं निराकरोति—नेति। चकारेति। अयं भावः—'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' [पा० सू० ३।४।६९] इति सूत्रे द्वौ चकारौ, प्रथमचकारेण "कर्तरि कृत्" [पा० सू० ३।४।६७] इति सूत्रस्थं 'कर्तरी'तिपदमनुकृष्यते, द्वितीयेन सकर्मकाणां समुच्चयः। कर्तरि कृदिति सूत्रे धर्मिप्रधानमेव 'कर्तरि' पदम्। 'न हि सर्पन्ती गोधा अहिर्भवती'ति न्यायेन तदेव पदं प्रथमसूत्रे धर्मिप्रधानमुत्तरसूत्रे धर्म-प्रधानं स्यादिति वैषम्यं वक्तुं न शक्यम्। एवञ्च भावप्रधाननिर्देशस्यायुक्तत्वं स्पष्टमेवेति बोध्यम्। निराकाङ्क्षत्वादिति। तार्किकाणां मते स्थानिनां लकाराणा-मेव शक्तत्वम्। स्थानिनः अर्थस्याभिधाने शक्त एवादेशः कथ्यते। एवञ्च स्थानि-नोऽर्थेनैवादेशस्यापि अर्थबोधो जातः, तदर्थबोधविषयिणी साकाङ्क्षा समाप्तेति भावः।

निराकाङ्क्षितस्य विधानं नोचितमितिरीत्या 'कर्तरि कृत्' [पा० सू० ३।४।६७] इति सूत्रं शक्तिग्रहं न साधयति। अन्यथेति। निराकाङ्क्षितस्यापि विधानेन 'कर्तरिकृत्' [पा० सू० ३।४।६७] इत्यनेन कृत् प्रत्ययानां कर्तरि एव शक्तिग्रहबोधने भावेऽर्थे विहित-लकाराणां स्थाने 'लटः शतृशानचा'—[पा० सू० ३।४।१२४] इति सूत्रेण शानजादेशोऽसम्भवः। तस्मात् 'लः कर्मणि' [पा०सू० ३।४।६९] इत्येनेनैव शक्तिग्रहः। स च तिङन्ते शत्राद्यन्ते च समानरूपेणैव भवति। एवञ्च तिङन्ते कृतिः तस्या आश्रयत्वसम्बन्धेन चैत्रादावन्वय इति वक्तुं न शक्यमिति बोध्यम्।

"लः कर्मणि च" [पा० सू० ३।४।६९] इस सूत्र में कर्ता तथा कर्म पद भाव-प्रधान हैं और इस प्रकार कर्तृत्व=कृति [और] कर्मत्व=फल [है], इन [कृति तथा फल अर्थों] में शक्ति में सूत्र का स्वरस [वास्तविक आशय] है। कर्म-प्रत्ययान्त—पच्यते ओदनो देवदत्तेन—इत्यादि में देवदत्तनिष्ठ-कृतिजन्य-व्यापारजन्य-विक्लित्तिमान् ओदनः—यह (प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यक) बोध [होता है]। किन्तु "कर्तरि कृत्" [पा. सू. ३।४।६७] इस सूत्र में 'कर्तरि' इस पद के धर्मिप्रधान [अर्थात् कर्ता=विशेष्य का वाचक होने से कृत्याश्रय=कर्ता में शतृ आदि की शक्ति हैं—ऐसा यदि [कहो] तो नहीं [कह सकते] क्योंकि "कर्तरि कृत्" [पा० सू० ३।४।६७] इस सूत्र में जिस कर्ता का ग्रहण है वही "लः कर्मणि" [पा० सू० ३।४।६९] इस सूत्र में 'च' से अनुकृष्ट होता है, अतः भावप्रधान होने पर [अर्थात् कर्तृत्व=कृतिपरक होने पर] सूत्रस्वरस नहीं रहता है। कारण यह है कि 'स्थानी के अर्थ के अभिधान में समर्थ ही आदेश होता है' इस न्याय से शतृ आदि [आदेश] स्थानी=लकारों के अर्थों से ही निराकाङ्क्ष हो जाते हैं [अर्थात् इन्हें अलग से अर्थ की आकाङ्क्षा नहीं रहती है] और "आकाङ्क्षित का विधान उचिततर है" इस न्याय से "कर्तरि कृत्" [पा० सू० ३।४।६७] इस से शक्तिग्रह नहीं हो सकता। अन्यथा 'देवदत्तेन शय्यमाने आस्यमाने च यज्ञदत्तो गतः' इत्यादि में भाव अर्थ में शानच् नहीं हो सकेगा।

विमर्श—"लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः" [पा० सू० ३।४।६९] यह सूत्र कर्ता, कर्म तथा भाव इन अर्थों में लकार की शक्ति का बोध कराता है। इन अर्थों को कहने में समर्थ ही आदेश होता है। अतः इन लकारों के स्थान पर होने वाले तिबादि तथा शत्रादि आदेशों को अर्थ की आकाङ्क्षा नहीं होती है। जिसकी आकाङ्क्षा होती है उसी का विधान उचित माना जाता है। अतः "कर्तरि कृत्" [पा.सू. ३।४।६७] यह सूत्र शतृ शानच् आदि में शक्तिग्रह नहीं करा सकता है। यदि निराकाङ्क्षित अर्थ में भी शक्तिग्रह स्वीकार करते हैं तो 'देवदत्तेन शय्यमाने अस्यमाने च यज्ञदत्तो गतः' यहां पर भाव अर्थ में शानच् नहीं हो सकेगा क्योंकि निराकाङ्क्षित का विधान मानने पर कर्ता में ही शानच् का विधान होने लगेगा।

ननु नामार्थयोरभेदान्वयानुरोधात् शतृशानजादीनां कर्त्तरि शक्तिरिति चेत्, न। पचतिकल्पं पचतिरूपं देवदत्त इत्याद्यनुरोधेन तिङ्क्ष्वपि कर्त्तुरेव वाच्यत्वौचित्यात्।

किञ्च, कृतिवाच्यत्वे रथो गच्छतीत्यादौ आश्रये लक्षणास्वीकारे गौरवापत्तिः। अभिहितत्वानभिहितत्वव्यवस्थोच्छेदापत्तिश्च। न च 'अनभिहिते' [पा०सू० २।३।१] इतिसूत्रस्यानभिहितसङ्ख्याके इत्यर्थवर्णनमिति वाच्यम्। कृत्तद्धितसमासैः सङ्ख्याऽभिधानस्याप्रसिद्धत्वात्।

किञ्च, यत्नोऽपि व्यापारसामान्यं [इति] धातुत एव लभ्यते, "स्थालीस्थे यत्ने पचिना कथ्यमाने स्थाली पचतीति "कारके" [पा० सू० १।४।२३] इत्यधिकारसूत्रे भाष्यप्रयोगादनन्यलभ्यस्यैव शब्दार्थत्वात् कृतौ शक्तेरुक्तिसम्भव एव नेत्यलम्।

ननु 'नामार्थयोरभेदातिरिक्तसम्बन्धोऽव्युत्पन्नः' इति व्युत्पत्तिः स्वीक्रियते। अस्या मूलं तु—अभेदसम्बन्धावच्छिन्न-प्रातिपदिकार्थ-निष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यतासम्बन्धेन शाब्दबोधं प्रति प्रातिपदिकपदजन्योपस्थितिः विशेष्यतया कारणम्—इति कार्यकारणभावः। एवञ्चाभेदान्वयानुरोधात् पचन् चैत्र इत्यादौ शत्रादेः कर्तरि शक्तिरस्तु अत आह—नन्विति। वाच्यत्वौचित्यादिति। अयं भावः—यथा पचन् देवदत्त इत्यादौ अभेदान्वयानुरोधात् कर्तृवाचकत्वं तथैव पचतिकल्पम् देवदत्त—इत्यादावपि नामार्थयोरभेदान्वयानुरोधेन कर्तृवाचकत्वं स्वीकार्यम्, वैषम्ये बीजाभावादिति बोध्यम्।

गौरवापत्तिरिति। आख्यातस्य कृतिवाचकत्वे रथो गच्छतीत्यादावचेतने यत्नरूप कृतेरसम्भवात् आश्रये लक्षणा स्वीक्रियते। एवञ्च शक्तिलक्षणारूपवृत्तिद्वयस्वीकारे गौरवं स्पष्टमेव। एवञ्च कर्तरि शक्तिवादिनां शाब्दिकानां मते यथा शक्यतावच्छेदकत्वप्रयुक्तं गौरवं तथैव तार्किकाणां मते लक्ष्यतावच्छेदकत्वप्रयुक्तं गौरवम्। किञ्च लक्ष्यतावच्छेदकत्वस्येव शक्यतावच्छेदकत्वस्यापि गुरुणि स्वीकारे बाधकाभावात्। अन्यूनानतिरिक्त-वृत्तित्वरूपस्यावच्छेदकत्वस्य गुरुण्यपि सत्त्वात्। अवच्छेदकत्वस्यातिरिक्तपदार्थत्वे मानाभावादित्यादिविस्तरस्तु लघुमञ्जूषादौ द्रष्टव्यः। व्यवस्थोच्छेदापत्तेश्चेति। "अनभिहिते" [पा० सू० २।३।१] इति अधिकृत्य "कर्मणि द्वितीया" [पा० सू० २।३।२] "कर्तृकरणयोस्तृतीया" [पा० सू० २।३।१८] इत्यादि सूत्रैः अनभिहिते एव कर्तरि तृतीया, अनभिहिते एव कर्मणि द्वितीया—इत्यादिकं विधीयते। तार्किकाणां मते च आख्यातप्रत्ययेन कृतेरेवाभिहितत्वं न तु कर्तुः कर्मणश्च। एवञ्च चैत्रः ओदनं पचति—इत्यादौ चैत्रपदात्तृतीयापत्तिः, प्रथमानापत्तिश्च। तथा चैत्रेण ओदनः पच्यते—इत्यादौ ओदनपदात् द्वितीयापत्तिः, प्रथमानापत्तिश्चेति भावः। ननु "द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने" [पा० सू० १।४।२२] "अनभिहिते" [पा० सू० २।३।१]

इत्यनयोः सूत्रयोः "कर्मणि द्वितीया" [पा० सू० २।३।२] "कर्तृकरणयोस्तृतीया" [पा० सू० २।३।१८] इति सूत्राभ्यां सहैकवाक्यतयाऽयमर्थः सम्पद्यते—अनभिहितसंख्याके कर्मणि द्वितीया, अनभिहितसंख्याके कर्तरि तृतीया। एवञ्चाभिहितत्वादिव्यवस्था सम्भवतीत्यत आह—न चेति। अप्रसिद्धत्वादिति। केवलं सुप्तिङामेव संख्याबोधकत्वं प्रसिद्धम्। कृत्-तद्धितसमासैः संख्याभिधानं न दृष्टमतस्तैरभिधानस्यासम्भवात् व्यवस्था न सम्भवति। अभिधानञ्च—"तिङ्कृत्तद्धितसमासैः" इति प्रसिद्धम्।

आख्यातस्य कृतिवाच्यत्वमेव निराकरोति—किञ्चेति। भाष्यप्रयोगादिति। यत्नः= कृतिः चेतनवृत्तिधर्मः तस्य अचेतने स्थाल्यादावसम्भवात् भाष्यप्रयोगोऽसङ्गतः स्यात् अतस्तत्र यत्नशब्दो व्यापारसामान्यवाची, स च व्यापारो धातुत एव लभ्यते नाख्यातेनेति भाष्याशयः। एवञ्च धातुनैव व्यापाररूपार्थस्य लाभात् आख्यातेन तस्य शक्तिग्रहोऽसम्भव एवेति दिक्।

'दो नामार्थों के अभेदान्वय के अनुरोध से शतृ तथा शानच् आदि की कर्ता में शक्ति [माननी चाहिए] ऐसा यदि [कहो] तो नहीं [कह सकते], क्योंकि 'पचतिकल्पं पचतिरूपं देवदत्तः' [कुछ कम पकाने वाला, अच्छा पकाने वाला देवदत्त] आदि के अनुरोध से तिङों में भी कर्ता का ही वाच्य होना उचित है। [क्योंकि सामानाधिकरण्य की स्थिति दोनों स्थलों पर एक समान ही है।]

और भी, कृति के वाच्य होने पर 'रथो गच्छति' [रथ जाता है] इत्यादि में आश्रय में लक्षणास्वीकार करने में गौरव आयेगा। क्योंकि रथादि अचेतन पदार्थ में संकल्परूप कृति नहीं रह सकती है।] और अभिहितत्व तथा अनभिहितत्व की व्यवस्था का उच्छेद होने लगेगा। "अनभिहिते" [पा० सू० २।३।१] इसका—अनभिहित संख्यावाले [कर्ता आदि] में—यह अर्थ किया जाय—ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि कृत् तद्धित और समास के द्वारा सङ्ख्या का अभिधान प्रसिद्ध नहीं है। [केवल तिङ् से ही संख्या का अभिधान देखा जाता है।]

विमर्श—भाव यह है कि "अनभिहिते" [पा० सू० २।३।१] इस सूत्र के अधिकार में "कर्मणि द्वितीया" [पा० सू० २।३।८] "कर्तृकरणयोस्तृतीया" [पा० सू० २।३।१८] आदि सूत्र पठित हैं। अतः जहाँ कर्म एवं कर्ता आदि का अभिधान नहीं हुआ रहता है वहीं पर द्वितीया एवं तृतीयादि होती हैं। नैयायिकमतानुसार आख्यात से कृति का ही अभिधान होता है कर्ता आदि का नहीं। अतः उक्त व्यवस्था नहीं बन सकती हैं। फलस्वरूप 'चैत्रः पचति' आदि में प्रथमा न होकर तृतीया होने लगेगी। यदि संख्या के अभिधान एवम् अनभिधान को मानकर उक्तत्व एवम् अनुक्तत्व की व्यवस्था करना चाहें तो वह भी निर्वाहक नहीं हो सकता है क्योंकि केवल तिङ् से ही संख्या का अभिधान होता है कृत् समास और तद्धित के द्वारा संख्या का

अभिधान नहीं होता है। अतः वहाँ के लिए अतिरिक्त व्यवस्था की कल्पना करनी पड़ेगी।

अनु०–और भी, व्यापारसामान्य=यत्न भी धातु से ही ज्ञात हो जाता है क्योंकि "स्थाली=बटलोई में स्थित यत्न के पच द्वारा कहे जाने पर स्थाली पचति=बटलोई पकाती है, ऐसा कारके "कारके" [पा० सू० १।४।२३] इस सूत्र भाष्य में प्रयोग होने से 'अनन्यलभ्य=अन्य के द्वारा प्रतीत न होने वाला ही शब्दार्थ होने से कृति [अर्थ] में आख्यात की शक्ति कहना सम्भव ही नहीं है। इसका विस्तार अनावश्यक है।

विमर्श—'कारके' [पा० सू० १।४।२३] सूत्र-भाष्य में धातु द्वारा ही व्यापार-सामान्य=यत्न की प्रतीति कही गयी है। अतः अन्य आख्यात प्रत्ययादि से यत्न=कृति अर्थ की प्रतीति मानना सम्भव ही नहीं है क्योंकि यह न्याय है—'अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः।'

आख्यातार्थे धात्वर्थो विशेषणमित्यस्य निराकरणमवशिष्यते। तथाहि—प्रकृत्यर्थप्रत्ययार्थयोः सहार्थत्वे प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यमित्युत्सर्गः। पाचक औपगव इत्युदाहरणं, पाकक्रियाश्रयः उपगुसम्बन्ध्यभिन्नापत्यमिति प्रत्ययार्थस्य प्राधान्यं तयोरर्थे। तत्रापि प्रत्ययवाच्यस्यैवार्थस्य प्राधान्यम्। द्योत्यस्य त्वप्राधान्यमेव। यथा अजा इत्यत्र स्त्रीत्वविशिष्टपशुविशेष इति बोधः। तस्योत्सर्गस्य 'भावप्रधानमाख्यातं सत्त्वप्रधानानि नामानि' इति यास्कवचनमपवादः। तेनख्याते=लिङन्ते क्रियाया एव प्राधान्यं शाब्दबोधे, न प्रत्ययार्थस्येति बोध्यम्।

यत्तु आख्यातपदेन तिङमात्रग्रहणाद् भावप्रधानमित्यत्र षष्ठीतत्पुरुषाश्रयणात् प्रत्ययार्थप्राधान्यमेव फलतीति; तन्न। 'आख्यातमाख्यातेन क्रियासातत्ये' इति [गण] सूत्रे आख्यातपदेन तिङन्तस्यैव ग्रहणात्। उत्सर्गेणैव निर्वाहे यास्ककृतापवादवचनवैयर्थ्यापत्तेश्च। तस्मात् 'भावप्रधानम्' इत्यत्र बहुव्रीहिः। आख्यातपदेन तिङन्तस्यैव ग्रहणमित्यलम्।

कृतिः आख्यातप्रत्ययार्थ इति पूर्वोक्त-नैयायिकमतस्य प्रथमांशो निराकृतः। साम्प्रतं द्वितीयांशं निराकर्तुमारमते—आख्यातार्थे इति। आख्यतार्थ-कृति प्रति धात्वर्थ-फलव्यापारौ विशेषणमिति तार्किका वदन्ति। नागेशस्तन्मूलं प्रदर्श्य निराकरोति—तथाहीति। अयम्भावः—प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतस्तत्र प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यमिति नियमः। एवञ्च यत्र प्रकृत्यर्थप्रत्ययार्थयोः सहैव प्रतीतिरिष्टा तत्र प्रकृत्यर्थापेक्षया प्रत्ययार्थएव प्राधान्यं भवति। यथा पच् धातोर्ण्वुलि पाचक इति। अत्र पाकः धात्वर्थः, आश्रयः प्रत्ययार्थः, अस्यैव प्राधान्यम्—पाकक्रियाश्रय इति। एवमेव तद्धिता-

दाऽपि बोध्यम्। इयं व्युत्पत्तिस्तत्रैव प्रवर्तते यत्र प्रत्ययो वाचकस्तदर्थश्च वाच्यो भवति। द्योतकप्रत्ययस्य द्योत्यार्थे तु नेयं प्रवर्तत इति बोध्यम्। अत एव द्योतकस्थले अजा इत्यादौ द्योत्यप्रत्ययार्थस्य विशेषणतया स्त्रीत्वविशिष्टपशुविशेष इति बोध उपपद्यते। द्योत्यार्थस्य प्राधान्ये तु अजेत्यत्र टाप्द्योत्यस्य स्त्रीत्वस्यापि प्राधान्यापत्तौ—पशुविशेषवृत्ति-स्त्रीत्वमित्येव बोधः स्यान्नतु पूर्वोक्तः। तस्य=प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतः तत्र प्रत्ययार्थस्य प्राधान्यम्—इत्यस्य, उत्सर्गस्य=सामान्यनियमस्य, अपवाद इत्यत्रान्वयः। आख्यातम्=तिङन्तं भावप्रधानम्=भावःक्रिया प्रधानं यत्र तादृशम्, नामानि=सुबन्तानि प्रातिपदिकानि सत्त्वप्रधानानि=द्रव्यं प्रधानं यत्र तानि। एवञ्च सामान्य-वचनस्यापवादे स्थिते सति तस्य बाधो भवति। अत आह—तेनेति। अपवादवचने-नेत्यर्थः। आख्याते इत्यस्य विवरणं तिङन्ते इति। क्रियारूपोऽर्थश्च धातुनैव प्रतिपाद्यते। एवञ्च धात्वर्थव्यापारस्यैव प्राधान्यं न तु तस्य आख्यातार्थं प्रति विशेषणत्वमिति सिद्ध्यति।

भावप्रधानमित्यत्र षष्ठीतत्पुरुषं निराकर्तुमाह—यत्त्विति। षष्ठीतत्पुरुषेति। भावस्य=क्रियारूपार्थस्य प्रधानम्, अत्रैकदेशे प्राधान्ये षष्ठ्यन्तार्थस्यान्वयः क्रिया-रूपार्थश्च आख्यातप्रत्ययार्थ इति न यास्कवचनविरोध इति भावः। खण्डयति—तन्नेति। "आख्यातमि" (गणसूत्र) ति सूत्रं समासविधायकम्, तिङ्मात्रस्य क्वाप्य-प्रयोगात् सामर्थ्याभावात् तयोः समासविधानमनुपपन्नम्। एवञ्च आख्यात-पदस्य तिङन्ते शक्तिः सिध्यति। उत्सर्गेणेति। अयं भावः—यदि प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः मध्ये सर्वदा प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यमिष्टं स्यात्तदा 'भावप्रधानमाख्यात' मिति यास्कीयापवाद-वचनस्य वैयर्थ्यं स्पष्टमेव। तस्मात्=पूर्वोक्तहेतोरित्यर्थः। बहुव्रीहिरिति। भावः=क्रिया प्रधानं यत्र तत् भावप्रधानमिति बहुव्रीहिरेवोचितो न तु तत्पुरुषः। अलमिति। अत्रत्यं तत्त्वं लघुमञ्जूषायां द्रष्टव्यम्।

आख्यातार्थ में धात्वर्थ की विशेषणता का खण्डन

[नागेश कहते हैं कि] आख्यातार्थ (कृति) में धात्वर्थ विशेषण (होता है)—इसका निराकरण करना शेष है। वह ऐसे है—प्रकृत्यर्थ एवं प्रत्ययार्थ में, एकसाथ अर्थ होने पर प्रत्ययार्थ प्रधान होता है—यह उत्सर्ग (सामान्य नियम है। अर्थात् परस्पर निरूप्य-निरूपकभावापन्न प्रकृत्यर्थ एवं प्रत्ययार्थ में प्रत्ययार्थ प्रधान रहता है।) पाचकः औपगवः (ये) उदाहरण (हैं)—पाकक्रियाश्रः उपगुसम्बन्ध्यभिन्न-अपत्यम्—यहां इन दोनों के अर्थों में प्रत्यय का अर्थ प्रधान है। इसमें भी, प्रत्यय का वाच्य अर्थ ही प्रधान होता है, द्योत्य तो अप्रधान ही रहता है। जैसे—अजा—इसमें स्त्रीत्वविशिष्ट पशुविशेष यह बोध होता है। (यदि द्योत्य भी प्रत्ययार्थ को प्रकृत्यर्थ की अपेक्षा प्रधान माना जायेगा तो पशुविशेषवृत्ति स्त्रीत्व यही बोध होगा न कि स्त्रीत्वविशिष्ट

पशुविशेष। कारण यह है कि टाप् प्रत्यय है, इसका द्योत्य अर्थ स्त्रीत्व है।) उस उत्सर्ग (प्रकृत्यर्थ प्रत्ययार्थ में प्रत्ययार्थ प्रधान होता है) का 'आख्यात भावप्रधान होता है, नाम सत्त्वप्रधान होता है' यह यास्कीय वचन अपवाद है। इस (यास्कवचन) से आख्यात=तिङन्त में शाब्दबोध में क्रिया ही प्रधान होती है न कि प्रत्यय का अर्थ (प्रधान होता है)—ऐसा समझना चाहिये।

जो यह "(निरुक्त में) आख्यात पद से केवल तिङ् का ग्रहण होने से 'भावप्रधानम्' यहाँ (भावस्य प्रधानम् इस) षष्ठी-तत्पुरुष के आश्रयण से प्रत्यय के अर्थ का प्राधान्य ही फलित होता है। अर्थात् भावस्य=क्रियायाः प्रधानम् यहां पदार्थैकदेश प्राधान्य में षष्ठ्यर्थ का अन्वय होता है। इस प्रकार तिङ् भावप्राधान्यविशिष्ट होता है—ऐसा अर्थ ज्ञात होता है)—ऐसा (कहते हैं) वह (ठीक) नहीं है क्योंकि "आख्यातमाख्यातेन क्रियासातत्ये" (गणसूत्र) इस सूत्र में आख्यात पद से तिङन्त का ही ग्रहण होता है। (क्योंकि केवल तिङ् का प्रयोग नहीं होता है अतः उसके समास का विधान करना व्यर्थ है।) और (प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतस्तत्र प्रत्ययार्थस्य प्राधान्यम् इस) उत्सर्ग से ही निर्वाह सम्भव हो जाने पर यास्ककृत (क्रियाप्रधानमाख्यातम्—) अपवादवचन व्यर्थ होने लगेगा। इस लिए 'भावप्रधानम्' इसमें (भावः=क्रिया प्रधानं यत्र—यह) बहुव्रीहि है। आख्यात पद से तिङन्त का (ग्रहण होता है), अधिक लिखना अनावश्यक है।

प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यको बोधस्तार्किकमते इति—निराकर्तुमवशिष्यते। तथा हि—शाब्दिकमते—पश्य मृगो धावतीत्यादौ—मृगकर्तृकं धावनं दृशिक्रियायाः कर्म, प्रधानं दृशिक्रियैव। तथा च मृगकर्तृकधावनकर्म्मकं प्रेरणाविषयीभूतं त्वत्कर्तृकं दर्शनमिति बोधः। तत्र मृगो धावतीत्यत्र विशेष्यभूतधावनरूपार्थवाचकस्य धावतीत्यस्य प्रातिपदिकत्वाभावान्न द्वितीया। कर्मत्वन्तु संसर्गमर्यादया भासते। एवं पचति भवतीत्यत्र पचिक्रियाकर्तृका सत्तेति बोधः। "पच्यादयः क्रिया भवतिक्रियायाः कर्त्र्यो भवन्ती"ति भूवादिसूत्रस्थभाष्यात्। उक्तञ्च हरिणा—

सुबन्तं हि यथाऽनेकं तिङन्तस्य विशेषणम्।[1]
तथा तिङन्तमप्याहुस्तिङन्तस्य विशेषणम्॥ इति।

तार्किकमते तु—अन्यदेशसंयोगानुकूलधावनानुकूलकृतिमन्मृगकर्मकं प्रेरणाविषयीभूतं यद्दर्शनं तदनुकूलकृतिमांस्त्वमिति बोधः। तत्र विशेष्यभूतार्थवाचकमृगशब्दस्य प्रातिपदिकत्वात् दृशिक्रियाकर्म्मत्वाच्च द्वितीयापत्तौ धावन्तं मृगं पश्येतिवत् पश्य मृगं धावतीत्यापत्तेः। अप्रथमासमानाधिकरणे शतृशानचोर्नित्यत्वादेवं प्रयोगविलयापत्तेश्च।

---

१. मूलं मृग्यम्, वाक्यपदीये नोपलभ्यते।

नैयायिका धात्वर्थमाख्यातार्थं प्रति, आख्यातार्थं च प्रथमान्तार्थं प्रति विशेषणत्वेन स्वीकृत्य प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यकं शाब्दबोधं प्रतिपादयन्ति। साम्प्रतं तार्किकाभिमतां शाब्दबोधीय-मुख्यविशेष्यतामेव निराकर्तुमारभते—प्रथमान्तार्थेति। एतन्मतेन चैत्रस्तण्डुलं पचतीत्यत्र आख्यातप्रत्ययवाच्या कृतिः प्रथमान्तार्थे चैत्रे प्रकारतयान्वेति, कृतौ च धात्वर्थव्यापारोऽनुकूलतासम्बन्धेन प्रकारीभूयान्वेति। एवञ्च तण्डुलकर्मक - विक्लित्त्यनुकूल - वर्तमानकालिकव्यापारानुकूल - कृतिमान् चैत्रः इति बोधः। चैत्रेणे तण्डुलः पच्यते इत्यत्रापि प्रथमान्तपदार्थः तण्डुल एव मुख्यविशेष्यम्—चैत्रवृत्ति-कृतिजन्य-व्यापारजन्य-विक्लित्त्याश्रयस्तण्डुलः इति बोधः। तार्किकमतनिराकरणप्रकारमाह—तथाहीत्यादिना। भाष्यादिति। 'भूवादयो धातवः' (पा० सू० १।१।३) इति सूत्रभाष्ये "का तर्हीयं वाचो युक्तिः? पचति भवति, त्वं पचसि भवति, पक्ष्यति भवति, भवत्यपाक्षीदिति। एषैषा वाचो युक्तिः—पच्यादयः क्रिया भवतिक्रियायाः कर्त्र्यो भवन्ति" इत्युक्तम्। अत्र पचति भवति इत्यस्य पाककर्तृका भवनक्रिया, त्वं पचसि भवति—इत्यस्य त्वदाभिन्नाश्रयनिष्ठपाकाभिन्नाश्रयिका भवनक्रिया; पक्ष्यति भवति—इत्यस्य भविष्यत्कालिकपाकाश्रयिका भवनक्रिया—इति बोधः। नैयायिकसम्मते प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यकबोधे तु भाष्योक्तबोधासिद्धिः। त्वं पचसि भवतीत्यत्र भवसीत्यापत्तिः, युष्मदर्थस्यैव प्राधान्येन भवतिक्रियायाः कर्तृत्वानापत्तेः। शाब्दिकमते तु पाकक्रियाया एव प्राधान्यात् 'भवति' इति प्रथमपुरुषोपपत्तिरिति बोध्यम्। सुबन्तमित्यादिकारिकार्थः सुपष्ट एव। पश्य मृगो धावतीत्यत्रानुपपत्तिं प्रदर्शयितुमाह—तार्किकमते त्विति। विशेष्य-भूतेति। मुख्यविशेष्यभूतेत्यर्थः। अप्रथमेति। 'लटः शतृशानचावप्रथमासामानाधिकरणे' (पा० सू० ३।२।१२४) इति सूत्रेण लटः शत्रादेशे—धावन्तं मृगं पश्येति प्रयोगापत्तिः, प्रकृतवाक्यासिद्धिश्च। न च तत्र 'तम्' इति कर्माध्याहार्यम्, धावनानुकूलकृतिमान् मृगः, इत्येको बोधः, तत्कर्मकदर्शननिरूपिताश्रयतावान् त्वम् इत्यन्यो बोध इतिवाच्यम्, भाष्यसिद्धैकवाक्यताभङ्गात्। उत्कटधावनक्रियाविशेष्यैव दर्शनकर्मतयान्वयस्य प्रतिपिपादयिषितत्वात्, अध्याहारेऽनन्वयापत्तेश्च।

प्रथमान्तार्थ-मुख्यविशेष्यक शाब्दबोध का खण्डन

तार्किकों के मत में—प्रथमान्तार्थ-मुख्यविशेष्यक शाब्दबोध का निराकरण करना अवशिष्ट है। वह इस प्रकार है—वैयाकरण मत में—'पश्य मृगो धावति' आदि में मृगकर्तृक धावन दर्शनक्रिया का कर्म है। (किन्तु) प्रधान तो दर्शन-क्रिया ही है। और इस प्रकार—मृगकर्तृकधावनकर्मक प्रेरणाविषयीभूत त्वत्कर्तृक दर्शन—यह बोध होता है। इसमें मृगो धावति (मृग दौड़ रहा है) यहाँ विशेष्यभूत धावनरूप अर्थ का वाचक 'धावति' यह प्रातिपदिक नहीं है अतः द्वितीया नहीं (होती हैं)। कर्मत्व तो संसर्गमर्यादया (परस्पर आकाङ्क्षा से) प्रतीत हो जाता है। इसी प्रकार 'पचति

भवति' इसमें पचि-क्रियाकर्तृका सत्ता—यह बोध होता है। क्योंकि "भूवादयो धातवः" (पा० सू० १।३।२) सूत्रभाष्य (में यह लिखा है)—"पचि आदि क्रियायें भवति क्रिया की कर्त्री होती है।" और भर्तृहरि ने कहा है—

जिस प्रकार अनेक सुबन्त तिङन्त के विशेषण (होते हैं) उसी प्रकार तिङन्त को भी तिङन्त का विशेषण कहते हैं। (वाक्यपदीय में यह कारिका नहीं है।)

नैयायिकों के मत में तो—अन्य-देशसंयोगानुकूल-धावनानुकूल-कृतिमन्मृगकर्मकं प्रेरणाविषयीभूतं यद्दर्शनं तदनुकूल-कृतिमान् त्वम्—ऐसा बोध (होता है) इसमें विशेष्य-भूत अर्थ के वाचक मृग शब्द के प्रातिपदिक होने के कारण और दर्शन क्रिया का कर्म होने के कारण (मृग शब्द से) द्वितीया की आपत्ति होने पर 'धावन्तं मृगं पश्य' इसके समान 'पश्य मृगं धावति' यह भी होने लगेगा। और अप्रथमासमानाधिकरण में शतृ तथा शानच् के नित्य होने से इस प्रकार के प्रयोगों का विलय होने लगेगा। (अर्थात् धावन्तं मृगं पश्य—ऐसा ही प्रयोग होगा प्रस्तुत भाष्योक्त प्रयोग नहीं हो सकेगा।)

ननु विशिष्टार्थवाचकस्य धावति मृग इति वाक्यस्य कर्म्मत्वेऽपि पृथङ्मृग इत्यस्य प्रातिपदिकस्य कर्म्मत्वाभावान्न द्वितीयेति चेत्, न। 'अनभिहिते' [पा० सू० २।३।१] इत्यधिकारसूत्रप्रघट्टके 'अभिधानञ्च तिङ्कृत्तद्धित-समासैरि'त्येतत्परिगणनप्रत्याख्यानपरभाष्यरीत्या द्वितीयापत्तेः।

तथाहि—कटं भीष्मं कुर्वित्यादौ विशेष्यकटशब्दादुत्पन्नद्वितीयया कर्मत्व-स्योक्तत्वात् विशेषणीभूतभीष्मशब्दात् द्वितीया न स्यादतः परिगणनं भाष्ये कृतम्। तत्प्रत्याख्यानञ्च सर्वकारकाणां साक्षात्स्वाश्रयद्वारा वा अरुणाधि-करणन्यायेन भावनान्वयस्वीकारात्। अत एवोक्तं भाष्ये "कटोऽपि कर्म्म भीष्मादयोऽपी"ति। तत्र कटनिष्ठकर्म्मत्वोक्तावपि भीष्मत्वादिगुणविशिष्ट-कर्म्मत्वानुक्तेरतस्माद् द्वितीयेति तात्पर्यम्। उभयोः पश्चात्परस्परमन्वयस्तु विशेष्य-विशेषणभावेन। अयमेवान्वयः पार्ष्णिक इत्युच्यते। एवमेवान्वयोऽ-रुणाधिकरणे—'अरुणया पिङ्गाक्ष्यैकहायन्या सोमं क्रीणाति' इत्यत्र क्रयण-क्रियायां मीमांसकैस्स्वीकृतः।

तस्माद् धावति मृग इत्यत्र उभयोः कर्म्मत्वे धावतीत्यस्य प्रातिपदिकत्वा-भावाद् विशेषणत्वेनान्यत्र निराकाङ्क्षत्वाच्च द्वितीयोत्पत्त्यभावेऽपि मृग-शब्दाद् द्वितीया दुर्वारैवेत्यधेहि। शाब्दिकमते तु क्रियाविशेषणत्वेनेतरार्थे निराकाङ्क्षत्वाद् मृगशब्दान्न द्वितीया। तार्किकमते तु विशेष्यार्थवाचकात् मृगशब्दात् राज्ञः पुरुषमानयेतिवद् द्वितीया दुर्वारेत्यलमतिविस्तरेण।

॥ इति धात्वर्थनिर्णयः ॥

—::०::—

द्वितीयापत्तिवारणोपायं निराकरोति—नन्विति। विशिष्टार्थेति। उत्तरदेशसंयोगानुकूलोत्कटधावनानुकूलकृत्याश्रयमृग—इति विशिष्टार्थस्येति भावः। अयमभिप्रायः—विशिष्टार्थवाचकं मृगोधावतीति वाक्यं यद्यपि दर्शनक्रियायाः कर्म तथापि "कृत्तद्धितसमासाश्च" (पा० सू० १।२।४६) इति सूत्रस्थसमासग्रहणेन वाक्यस्य प्रातिपदिकत्ववारणात्, केवलमृगस्य प्रातिपदिकत्वसम्भवेऽपि कर्मत्वपर्याप्तार्थवाचकत्वाभावात् "कर्मणि द्वितीया" (पा० सू० २।३।२) इति द्वितीयाया अप्राप्तेः। एवञ्च तार्किकमतेऽपि द्वितीयापत्तिवारणं सुलभमिति बोध्यम्—तत्खण्डयति—नेति। द्वितीयाया आपत्तिमुपपादयति—तथाहीति। न स्यादिति। अनभिहिते एव द्वितीयादिविधानादिति भावः। तत्प्रत्याख्यान=परिगणनप्रत्याख्यानञ्च। स्वाश्रयद्वारेति। इदमधिकरणकारकाभिप्रायेण, तस्य कर्तृकर्मद्वारा क्रियान्वयादिति भावः। अत एव=कारकाणां क्रियायामन्वयादेवेत्यर्थः। कटनिष्ठकर्मत्वोक्तावपीति। कटपदोत्तरद्वितीययेति भावः, तस्मादिति। भीष्मशब्दादित्यर्थः। तात्पर्यमिति। भीष्मत्वावच्छिन्नमपि कर्म, कटत्वावच्छिन्नमपि कर्म। उभयोरपि कृञ्धात्वर्थेऽन्वयः। कटशब्दादुत्पन्नया द्वितीयया कटनिष्ठमेव कर्मत्वमभिहितम्। एवञ्च भीष्मत्वादिगुण-विशिष्टकर्मत्वप्रतिपादनाय तस्मादपि द्वितीया। भीष्मकटयोरुभयोः विशेष्यविशेषणभावेनान्वयस्तु क्रियान्वयादनन्तरं जायते। एवञ्च द्वितीया सुलभेति बोध्यम्। पार्ष्णिक इति। पृष्णिभवः इत्यर्थः। एवमेव=उक्तप्रकारेण पश्चादेव। अन्वयः। विशेष्यविशेषणभावेनेति। अरुणाधिकरण इति। अयं भावः—ज्योतिष्टोमयाग-प्रकरणे इदं श्रूयते—अरुणयैकहायन्या पिङ्गाक्ष्या सोमं क्रीणाति' इत्यत्र—अरुणेति प्रकृतिभागः क्रीधातुश्चाभिधात्री श्रुतिः। क्रीणातीत्यत्राख्यातप्रत्ययो विधात्री श्रुतिः। अरुणयेति तृतीया विभक्तिरूपा विनियोक्त्री श्रुतिः। अरुणाशब्दस्तु आरुण्यगुणवचनो अरुणत्वजातिवचनो वा लाघवात्। न तु तद्विशिष्टद्रव्यवचनः, गौरवात्। तृतीयया च शक्यस्य गुणस्यैव सोमक्रयण-साधनत्वं बोध्यते। तच्चानुपपन्नम्। क्रयणं नाम कंचित् पदार्थं दत्वा कस्यचित् पदार्थस्य ग्रहणम्। दानं ग्रहणं च मूर्तपदार्थस्यैव सम्भवति न त्वमूर्तस्य गुणमात्रस्य; एवञ्चारुण्यमपि स्वाश्रयद्रव्यमाध्यमेन क्रयणक्रियायामन्वेति। एवञ्चात्रेदं स्पष्टमेवोक्तं यत् आरुण्यस्य प्रथमं क्रयणक्रियायामेवान्वयः किन्तु तस्य साक्षात् क्रयणकरणत्वासम्भवेन आश्रयभूतद्रव्यापेक्षायां प्राकरणिकेषु सर्वेषु द्रव्येषु आरुण्यस्य सन्निवेशः प्राप्तः। तत्र च प्रकरणापेक्षया वाक्यस्य बलवत्तरत्वाद् आरुण्यवाचकपदघटितवाक्यघटकैकहायन्यादिपदशक्ये गोरूपद्रव्ये सामानाधिकरण्येनान्वयो भवति। एवञ्चात्र प्रथमं क्रियायां सर्वेषामन्वयः स्पष्टमुक्तः पश्चात् विशेष्यविशेषणभावेनेति बोध्यम्। तस्मात्=महाभाष्यमीमांसादिग्रन्थप्रतिपादितहेतोरित्यर्थः। उभयोः—मृगो धावतीत्यनयोरुभयोः। कर्मत्वे। दर्शनक्रियाया इति शेषः। विशेषणत्वेनेति। तार्किकमतानुसरं प्रथमान्तार्थे विशेषणतयेति भावः। अन्यत्रेति। दर्शनक्रियायामित्यर्थः। स्वमते द्वितीयापत्तिं वारयति—

शाब्दिक इति। क्रियाविशेषणत्वेनेति। मृगकर्तृकधावनकर्मकमित्यत्र धावनक्रियायां मृगस्य विशेषणतया भासमानत्वेनेत्यर्थः। इतरार्थे=दर्शनाद्यर्थे इत्यर्थः। अयं भावः—कर्तृवृत्तिव्यापारप्रयोज्य-फलाश्रयत्वप्रकारकेच्छोद्देश्यत्वाभावात् कर्मसंज्ञाया अभावान्मृग-शब्दान्न द्वितीयापत्तिः। दुर्वारेति। यथा राज्ञः पुरुषमानयेत्यादौ विशेष्यभूतपुरुषपदार्थस्य साक्षात् आनयनक्रियायामन्वयात् कर्मत्वं तथैवात्रापि नैयायिकमतानुसारं विशेष्य-मृगस्य साक्षाद्दर्शनक्रियान्वयित्वेन कर्मत्वाद्द्वितीयावारणमतीवकठिनमिति भावः तदाह—अलमिति। विस्तरस्तु लघुमञ्जूषादौ द्रष्टव्य इति बोध्यम्।

॥ इति आचार्य-जयशङ्करलाल-त्रिपाठिकृतायां
भावप्रकाशिकाव्याख्यायां धात्वर्थनिरूपणम् ॥

—:०:—

विशिष्ट [उत्तरदेशसंयोगानुकूल—उत्कटधावनानुकूलकृत्याश्रयोमृगः] अर्थ के वाचक 'धावति मृगः' इस वाक्य के कर्म होने पर भी अलग से मृग यह प्रातिपदिक कर्म नहीं है अतः द्वितीया नहीं (होगी) ऐसा यदि (कहो) तो नहीं (कह सकते), क्योंकि "अन-भिहिते" (पा० सू० २।३।१) इस अधिकार सूत्र के प्रकरण में "और अभिधान तिङ्, कृत्, तद्धित तथा समास के द्वारा होता है" इस परिगणन का प्रत्याख्यान करनेवाले भाष्य की रीति से द्वितीया की आपत्ति है।

वह इस प्रकार है—'कटं भीष्मं कुरु' (विशाल या मोटी चटाई बनाओ) इत्यादि में विशेष्यभूत कट शब्द से उत्पन्न द्वितीया के द्वारा कर्मत्व का कथन हो जाने पर भी विशेषणीभूत भीष्म शब्द से द्वितीया नहीं होगी। इसलिए भाष्य में परिगणन किया गया है। और सभी कारकों का साक्षात् अथवा अपने आश्रय के द्वारा अरुणाधिकरण न्याय से भावना में अन्वय स्वीकार करके इस (परिगणन) का प्रत्याख्यान (किया गया)। इसीलिए भाष्य में कहा गया—कट=चटाई भी कर्म है, भीष्म भी कर्म है। इन (दोनों) में कटनिष्ठ कर्म के उक्त हो जाने पर भी भीष्मत्वादिगुणविशिष्ट का कर्मत्व उक्त न होने से उस (भीष्म शब्द) से द्वितीया (हो जायगी) ऐसा तात्पर्य है। इन दोनों (कट तथा भीष्म) का बाद में परस्पर अन्वय तो विशेष्यविशेषण-भाव से होता है। यही अन्वय पार्ष्णिक ऐसा कहा जाता है। (मीमांसा के) अरुणाधिकरण में इसी प्रकार का अन्वय—"अरुण वर्णवाली, पिङ्गवर्ण के नेत्रोंवाली; एक वर्षवाली (गाय) से सोम खरीदता है"—यहां क्रयण क्रिया में मीमांसकों ने स्वीकार किया है।

विमर्श—ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में यह मन्त्र पठित है—अरुणया पिङ्गाक्ष्या एकहायन्या सोमं क्रीणाति"। (अर्थात् अरुणवर्णा, पिङ्गनेत्रवाली, एक वर्षवाली गाय

से सोम खरीदे) इसमें अरुण शब्द अरुणत्वगुण का वाचक है। अरुण पदोत्तरवर्ती तृतीया द्वारा अरुणत्वगुण का ही करणत्व कहा जाता है। किन्तु अमूर्तगुण क्रयणक्रिया का साक्षात्करण नहीं बन सकता है अतः अपने आश्रयभूत द्रव्य गो के माध्यम से ही करण बनता है। इस विवेचन से यह ज्ञात होता है कि आरुण्यगुण का अन्वय पहले क्रयण क्रिया में ही होता है किन्तु साक्षात् क्रयणकरणता सम्भव न होने के कारण आश्रय (द्रव्य) की अपेक्षा होती है। उस समय प्रकरणोपात्त सभी द्रव्यों में इसका सन्निवेश प्राप्त होता है किन्तु प्रकरण की अपेक्षा वाक्य बलवान होता है। अतः आरुण्यवाचक पदघटित वाक्य के घटक हायनी आदि पदों के शक्य गोद्रव्य में ही सामानाधिकरण्य के कारण अन्वय होता है। यही स्थिति प्रकृतस्थल में भी है। क्योंकि पहले क्रिया में और बाद में आश्रय द्रव्य में अन्वय होना भाष्यसम्मत है। नैयायिकमत में मृग का पहले दर्शन क्रिया में अन्वय प्रसक्त होता है और द्वितीया की आपत्ति सुस्थिर है।

अनु०—इसीलिये 'मृगो धावति' यहां (मृग और धावति इन) दोनों के (दर्शन क्रिया का) कर्म होने पर 'धावति' यह प्रातिपदिक नहीं है और (नैयायिक मतानुसार प्रथमान्तार्थ के प्रति) विशेषण होने के कारण अन्य के प्रति निराकाङ्क्ष है अतः (धावति से) द्वितीया की उत्पत्ति न होने पर भी मृग शब्द से द्वितीया का वारण करना कठिन ही हैं, ऐसा समझो। वैयाकरणमत में तो (मृग के धावन) क्रिया का विशेषण होने से अन्य अर्थ में (अन्वय के लिये) निराकाङ्क्ष है अतः मृग शब्द से द्वितीया नहीं (होती है)। नैयायिकमत में तो विशेष्य अर्थ का वाचक होने से मृग शब्द से 'राज्ञः पुरुषम् आनय इसके समान द्वितीया का वारण करना कठिन है। अधिक विस्तार अनावश्यक है।

विमर्श—जिस प्रकार 'राज्ञः पुरुषम् आनय' यहां विशेष्यभूत पुरुष पदार्थ का आनयन क्रिया में अन्वय होने पर उससे द्वितीया होती है उसी प्रकार नैयायिक मतानुसार पश्य मृगो धावति—इसमें धावनानुकूलकृतिमान् मृगः इस प्रथमान्तार्थ मुख्य विशेष्यक बोध में मृग विशेष्य है और साक्षात् दर्शनक्रिया का अन्वयी है। अतः द्वितीया का वारण करना कठिन है। इसलिए पश्य मृगं धावति—यही वाक्य होगा जिसका अर्थ होगा धावनानुकूलकृतिमान् मृगकर्मकदर्शनाश्रयः त्वम्। वैयाकरण-मत में दोष नहीं है क्योंकि दर्शन का कर्म धावन ही हैं उसका वाचक धातु है वह प्रातिपदिक नहीं है। इसलिए द्वितीया का प्रसङ्ग ही नहीं आता है। और धावन का दर्शन में कर्मतानिरूपकत्वसम्बन्ध से अन्वय होता है।

इस प्रकार धात्वर्थ-विवेचन समाप्त होता है।

।। इस प्रकार आचार्य जयशङ्करलाल-त्रिपाठिविरचित बालबोधिनी व्याख्या में धात्वर्थ-निरूपण समाप्त हुआ ।।

—::०::—

[अथ निपातार्थनिरूपणम्]

अनुभूयते सुखम्, साक्षात्क्रियते गुरुरित्यादौ निपातानां द्योतकत्वेनानुभवसाक्षात्काररूपफलयोर्धात्वर्थत्वेन सकर्म्मकत्वम् । कर्म्मसंज्ञकार्थान्वय्यर्थकत्वं सकर्म्मकत्वमिति निष्कृष्टमतेऽपि फलाश्रयतया कर्म्मसंज्ञकस्य धात्वर्थफले एवान्वयौचित्येन द्योतकत्वमावश्यकम् । द्योतकत्वञ्च—स्वसमभिव्याहृतपदनिष्ठवृत्त्युद्बोधकत्वम् । क्वचित्तु—क्रियाविशेषाक्षेपकत्वं द्योतकत्वम् । यथा प्रादेशं विलिखतीत्यादौ विमानक्रियाक्षेपकः । प्रादेशं विमाय लिखतीत्यर्थावगमात् । अत एव 'अथ शब्दानुशासनम्' इत्यत्राथशब्दस्य प्रारम्भक्रियाक्षेपकत्वं कैयटाद्युक्तं सङ्गच्छते । क्वचित्तु—सम्बन्धपरिच्छेदकत्वं द्योतकत्वम् । यथाकर्म्मप्रवचनीयानाम् । विशिष्टस्य न धातुत्वम् ; अपाठात् । अडाद्यव्यवस्थापत्तेश्च ।

शाब्दिकानां मते धातव एव वाचका भवन्ति निपाताश्च द्योतका भवन्ति । नैयायिका उपसर्गाणां द्योतकत्वं निपातानां च वाचकत्वं प्रतिपादयन्ति । तन्मतं निराकर्तुमुपसर्गाणां निपातानां च सर्वेषां द्योतकत्वसमर्थनायेदं प्रकरणमारब्धम् । अत्रेदं बोध्यम्—अनुभूयते सुखम्, प्रजपति, साक्षात्क्रियते गुरुः—इत्यादौ प्रतीयमानानुभव-प्रकृष्टजप-साक्षात्काराद्यर्थनिरूपिता शक्तिः (१) उपसर्गे, (२) धातौ, (३) उपसर्गविशिष्टधातौ वेति पक्षत्रयं सम्भवति । तत्र न तावदाद्यः—अनुभवादिरूपार्थस्योपसर्गार्थत्वे तस्याप्रकृत्यर्थत्वेन तत्राख्यातार्थान्वियानापत्तेः, प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वमिति व्युत्पत्तिविरोधात् । अनुगच्छतीत्यादावपि अनुभवादिरूपार्थप्रतीत्यापत्तेश्च । न द्वितीयः—धातुमात्रस्यार्थस्वीकारे उपसर्गरहिते भवतीत्यादावपि अनुभवाद्यर्थस्य प्रतीत्यापत्तेः । एवमेव तृतीयोपि अर्थात् अनुभू-इतिसमुदायस्यार्थः इत्यपि न, विशिष्टानुपूर्व्याः शक्ततावच्छेदकत्वे विनिगमनाविरहादव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्धेन—अनु-विशिष्ट-भू-शब्दस्य अथवाऽव्यवहितपूर्वत्वसम्बन्धेनभू-विशिष्ट-अनु-उपसर्गस्य वाचकत्वकल्पने गौरवाद् । किञ्च विशिष्टस्य प्रकृतिभावेन तदर्थे आख्यातप्रत्ययार्थान्वियानापत्तिरपि दोषो बोद्ध्यः । तस्मात् अनुभवादि-तत्तदर्थनिरूपिता शक्तिर्धाताववेव बोध्या । उपसर्ग-निपातौ च द्योतकावेति भावः । एतदेव निरूपयितुमारभते—अनुभूयते सुखमिति । सकर्मकत्वमिति । अयं भावः—साक्षात्क्रियते गुरुरित्यादौ प्रत्यक्षज्ञानरूपार्थ-प्रतीत्या

गुरोश्च धात्वर्थफलाश्रयतया कर्मत्वं धातोश्च सकर्मकत्वं सिध्यति । निष्कृष्टमतेपीति । कर्मसंज्ञकार्थान्वय्यर्थकत्वं सकर्मकत्वमिति ग्रन्थकृन्मतम् । एवञ्च कर्मसंज्ञक-गुर्वाद्यर्थ-निष्ठविषयतानिरूपितविषयतायाः गुर्वाद्यर्थे सत्त्वेन तन्निरूपितवृत्तित्वं धातोरप्यस्तीति लक्षणसमन्वयः । स्वसमभिव्याहृतेति । स्वम्=द्योकत्वेनाभिमतमुपसर्गनिपातवाचकवाचक-पदम्, तन्निष्ठा वृत्तिः=अनुभवसाक्षात्काराद्यर्थनिरूपिता, तस्या उद्बोधकत्वं द्योकत्व-मिति । एवञ्च भूधातुगतानुभवबोधकत्वशक्तेः अनुरुद्बोधकः, कृधातुगत-साक्षात्कार-बोधकत्वशक्तेः साक्षात्—इतिनिपात उद्बोधकः । इदञ्च द्योतकत्वं प्रायेणेति बोध्यम् । अत एव तत्तत्क्रियाक्षेपकत्वमपि द्योतकत्वमिति अग्रिमग्रन्थः सङ्गच्छते । तदेवाह—क्वचि-दिति । प्रादेशं विलिखतीति । अत्र प्रादेशस्य लेखनकर्मत्वासम्भवेन कर्मकारकविभक्ते-र्लिखतीत्येन योगाभावाद् 'वि'इत्यनेन मानक्रिया आक्षिप्यते । तेन विलिखतीत्यस्य विमाय लिखतीत्यर्थः, प्रादेशस्य च कर्मत्वेनाक्षिप्तक्रियायामन्वयः । विमाय= परिच्छिद्य । वि-प्रादेशपदयोरुपादानेन वक्तुस्तथैव तात्पर्यादिति भावः । अत एव= उक्तविधद्योतकत्वस्वीकारादेवेत्यर्थः । कैयटाद्युक्तमिति । तत्र हि कैयटेनेदमुक्तम्—"अनेक-क्रियाविषयस्यापि शब्दानुशासनस्य प्रारम्यमाणताऽथशब्दसन्निधानेन प्रतीयते । तत्रो-द्द्योतकारः—"एतावतैव द्योतकत्वमिति भावः" । ननु कर्मप्रवचनीयस्थले प्रादिषु निपातेषु उक्तद्विविधस्यापि द्योतकत्वस्याभावात् निपातानां द्योकत्वमनुपपन्नमतस्तृतीयविधं द्योतकत्वमाह—क्वचित्त्विति । कर्मप्रवचनीयानां सम्बन्धविशेषपरिच्छेदकत्वरूपं द्योतकत्वं बोध्यमिति भावः । एतच्च "कर्मप्रवचनीयाः" (पा० सू० १।४।८३) इति सूत्रभाष्ये स्पष्टम्—"कर्म=क्रियां प्रोक्तवन्तः—कर्मप्रवचनीयाः । के पुनस्तथा ? ये सम्प्रति क्रियां नाहुः येऽप्रयुज्यमानस्य क्रियामाहुस्ते कर्मप्रवचनीयाः" इति कर्मप्रवचनी-यस्यान्वर्थसंज्ञात्वमुक्तम् । वाक्यपदीयेऽप्येवमेवोक्तम्—

क्रियाया द्योतको नायं सम्बन्धस्य न वाचकः ।
नापि क्रियापदाक्षेपी सम्बन्धस्य तु भेदकः ॥

(वा० प० २।२०४)

एवञ्च भाष्ये 'क्रियामाहु'रित्यत्र क्रियापदं क्रियासम्बन्धपरमिति बोध्यम् । ननूपसर्गसहितस्य धातुत्वे किं बाधकमत आह—अपाठादिति । धातुगणे विशुद्धानां केवलधातूनामेव पाणिनिना पाठादिति भावः । अन्यं दोषमाह—अडाद्यव्यवस्थेति । उपसर्गविशिष्टस्य धातुत्वस्वीकारे तथाविधादेव लङादेर्विधानेन विशिष्टस्यैवाङ्गसंज्ञायां "लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः" (पा० सू० ६।४।७१) इति सूत्रेणोपसर्गात् पूर्वमेवाडागमापत्तिः । तथा "लिटि धातोरनभ्यासस्य" (पा० सू० ६।१।८) इति सूत्रेण उपसर्गादिविशिष्टधात्व-वयवस्य प्रथमस्यैकाचः क्वचिद् द्वितीयस्यैकाचः द्वित्वापत्तिः स्यात् । तस्मात् केवलस्यैव धातुत्वं बोध्यम् ।

विमर्श—नैयायिक-मत में उपसर्ग एवं निपात के विषय में अलग-अलग सिद्धान्त हैं। इनके अनुसार प्र आदि उपसर्ग द्योतक हैं और च आदि निपात वाचक हैं। परन्तु वैयाकरण-मत में यह वैषम्य नहीं है। इनके अनुसार सभी द्योतक ही हैं। दोनों में अन्तर करना ठीक नहीं है। इसका उपपादन आगे किया जावेगा।

अनु०—अनुभूयते सुखम् [सुख का अनुभव किया जाता है], साक्षात्क्रियते गुरुः [गुरु का साक्षात्कार किया जाता है] इत्यादि में निपातों के द्योतक होने के कारण अनुभव तथा साक्षात्काररूप फल धात्वर्थ हो जाते हैं अतः [धातु] सकर्मक [हो जाते हैं]। [निपात शब्द व्यापक है उपसर्ग भी उसके अन्तर्गत आ जाते हैं। इसी आशय से यहां लिखा गया है।] कर्मसंज्ञक अर्थ में अन्वयी अर्थवाला सकर्मक होता है—इस निष्कृष्ट मत में भी फल का आश्रय होने से कर्मसंज्ञक का धात्वर्थ फल में ही अन्वय उचित होने से द्योतक होना आवश्यक है। और द्योतक होना–अपने समभिव्याहृतपद में रहने वाली शक्ति का उद्बोधक होना है। कहीं पर क्रियाविशेष का आक्षेपक होना द्योतक होना है। जैसे—प्रादेशं विलिखति आदि में 'वि' [उपसर्ग] मान क्रिया का आक्षेप करानेवाला है क्योंकि प्रादेश को नापकर लिखता है [चिह्न लगाता है] —ऐसा अर्थ ज्ञान होता है। [द्योतक होता है] इसीलिए [महाभाष्य के प्रारम्भ में] "अथ शब्दानुशासनम्" इसमें 'अथ' शब्द प्रारम्भ क्रिया का आक्षेप करानेवाला [है—यह] कैयट आदि का कथन सङ्गत होता हैं। कहीं कहीं सम्बन्ध का परिच्छेदक होना द्योतक होना है। जैसा कर्मप्रवचनीयों का [होता है]। (जैसे जपमनु प्रावर्षत् आदि में अनु आदि कर्मप्रवचनीय शब्द क्रिया की विशेषता न बताकर क्रिया के लक्ष्यलक्षणभाव सम्बन्ध का निर्णय कराते हैं।] (अनु आदि उपसर्गों से) विशिष्ट (भू आदि) धातु (नहीं होता है), क्योंकि (विशिष्ट का) पाठ नहीं है (केवल धातु का ही, गणपाठ में उल्लेख है), और अट् आदि की अव्यवस्था होने लगेगी।

विमर्श—प्रजपति, अनुभवति आदि में—प्रकर्षविशिष्ट जप और अनुभव आदि अर्थों की वाचकता शक्ति के विषय में तीन पक्ष हो सकते हैं– (१) केवल धातु में (२) केवल उपसर्ग में और (३) उपसर्गविशिष्ट धातु में। इनमें प्रथम पक्ष संगत नहीं है क्योंकि केवल धातु में शक्ति मानने पर उपसर्ग से रहित जपति, भवति आदि में भी विशिष्ट अर्थ की प्रतीति का प्रसङ्ग आयेगा। द्वितीय पक्ष भी संगत नहीं है क्योंकि यदि यह विशिष्ट अर्थ उपसर्ग का माना जायेगा तो धातुरूप प्रकृति का अर्थ न होने से इसमें आख्यात प्रत्ययार्थ का अन्वय नहीं हो सकेगा क्योंकि 'प्रत्ययार्थ अपने प्रकृत्यर्थ में ही अन्वित हुए स्वार्थ का बोध कराता है' यह नियम है। साथ ही प्रतिष्ठते और अनुगच्छति आदि में भी इन उपसर्गों के होने से इन से इन अर्थों की प्रतीति का प्रसङ्ग आता है तृतीय पक्ष भी तर्कसंगत नहीं है क्योंकि उपसर्गादिविशिष्ट धातु की अनुपूर्वी

को शक्तता का अवच्छेदक मानने पर विनिगमना के अभाव में—अव्यवहितोत्तरत्व-सम्बन्ध से अनुविशिष्टभू शब्द अथवा अव्यवहितपूर्वत्वसम्बन्ध से भूविशिष्ट अनु को वाचक मानने में गौरव स्पष्ट है। और विशिष्ट प्रकृति होती नहीं है, अतः उसमें प्रत्ययार्थ के अन्वय न होने का भी प्रसङ्ग आता है। इन्हीं सब कारणों से 'प्र' आदि को द्योतक मानने का समर्थन किया जाता है। उपसर्ग द्योतक होते हैं—इस अंश में तो नैयायिक और व्याकरणों में मतभेद नहीं है।

यत्तु तार्किकाः—उपसर्गाणां द्योतकत्वं तदितरनिपातानां वाचकत्वम्, 'साक्षात्प्रत्यक्षतुल्ययोः' इति कोशात्। नमः पदेन 'देवाय नमः' इत्यादौ नमस्कारार्थस्य, दानावसरे 'गवे नमः' इत्यत्र पूजार्थस्य प्रसिद्धत्वाच्च। सकर्मकत्वञ्च—स्व-स्वसमभिव्याहृतनिपातान्यतरार्थफलव्यधिकरणव्यापारवाचकत्वम्। कर्म्मत्वञ्च—स्व-स्वसमभिव्याहृतनिपातान्यतरार्थफलशालित्व-मित्याहुः।

तन्न, वैषम्ये बीजाभावात्, अनुभूयते इत्यनेन साक्षात्क्रियत इत्यस्य समत्वात्। नामार्थधात्वर्थयोर्भेदेन साक्षादन्वयाभावात् निपातार्थधात्वर्थयो-रन्वयस्यैवासम्भवात्। निपातार्थफलाश्रयत्वेऽपि धात्वर्थान्वयं विना कर्म्मत्वा-नुपपत्तेश्च।

निपातोपसर्गविषये नैयायिकप्रतिपादितं वैषम्यं निराकर्तुं तन्मतमनुवदति—यत्तु तार्किका इति। तदितरेति। उपसर्गभिन्ननिपातानामित्यर्थः। निपातानां वाच-कत्वे प्रमाणमाह—साक्षादिति। ननु निपातानां वाचकत्वे साक्षात्क्रियते गुरुरित्यत्र कर्मणि लकारानापत्तिः, केवल कृञ्धातोः सकर्मकत्वेऽपि साक्षात्कारार्थे सकर्मकत्वाभावात्; स्वार्थफलव्यधिकरणव्यापारवाचकत्वस्यैव सकर्मकतया साक्षात्कारार्थस्य च धात्वर्थफल-त्वाभावात् सकर्मकत्वलक्षणाप्रवृत्तेरत आह—सकर्मकत्वञ्चेति। स्वपदेन धातोर्ग्रहणम्। स्वम्=धातुः, स्वसमभिव्याहृतः=धातुसमभिव्याहृतो निपातश्च—एतदन्यतरस्य अर्थः यत्फलं, तादृशफलव्यधिकरणव्यापारवाचकत्वं सकर्मकत्वमिति बोध्यम्। एवञ्च प्रकृते साक्षात्काररूपार्थस्य निपातवाच्यत्वेऽपि न धातोः सकर्मकत्वहानिः न वा कर्मणि लकारा-नुपपत्तिरिति भावः। नन्वेवमप्यनतिप्रसङ्गाय धात्वर्थफलाश्रयत्वस्यैव कर्मत्वेनात्र च तदभावात् कर्मत्वमेव तस्य कथमत आह—कर्मत्वञ्चेति। एवञ्च गुरोः कर्मत्वं सुलभमिति भावः। द्योतकत्वविषये विवादाभावात् पूर्वमुपसर्गाणां द्योतकत्वं साधितं किन्तु वाचकत्वं नेष्टमतो नैयायिकस्वीकृतं वैषम्यं खण्डयति—तन्नेति। उप-सर्गाणां द्योतकत्वं तदितरनिपातानां वाचकत्वमित्यादि–नैयायिकोक्तं न समीचीनम्। वैषम्ये इति। उपसर्गनिपातयोर्मध्ये इति शेषः। नामार्थेति। नामार्थधात्वर्थयोर्भेदेन साक्षादन्वयोऽव्युत्पन्नः इति व्युत्पत्त्या साक्षात्काररूपनिपातार्थस्य व्यापाररूपकृञ्धात्वर्थेऽ-

नुकूलत्वरूपभेदसम्बन्धेनान्वयो न भवितुमर्हति । विभक्त्याद्यर्थद्वारा तु भवत्येव । अन्यथा तण्डुलं पचतीत्यर्थे तण्डुलः पचतीति प्रयोगस्यापि कर्मत्वेनान्वये प्रामाण्यापत्तिः । अत एव राज्ञः पुरुष इत्यादौ राजादेः पुरुषादौ न साक्षाद् भेदसम्बन्धेनान्वयः अपितु विभक्तिद्वारैवेति बोध्यम् । एवञ्चात्र साक्षात्काररूपनिपातार्थस्य कृञ्धात्वर्थे अन्वय एव न । अत्र व्युत्पत्तौ निपातेतरत्वेन सङ्कोचे मानाभावादित्यपि बोध्यम् । तार्किकोक्तं कर्मत्वलक्षणं दूषयति—निपातार्थेति । अयमाशयः—प्रयागात्काशीं गच्छति देवदत्ते—उत्तरदेशसंयोगानुकूल-व्यापारप्रयोज्यविभागरूपफलाश्रयत्वात् प्रयागस्यापि कर्मत्वं प्राप्नोति, तद्वारणाय व्यापारप्रयोज्यफलशालित्वं कर्मत्वमित्यत्र फले धात्वर्थविशेषणं देयम्, अर्थात् व्यापारप्रयोज्य-धात्वर्थफलशालित्वं कर्मत्वमिति वक्तव्यम् । एवमेव माषेष्वश्वं बध्नातीत्यत्र दोषवारणार्थं कर्तृग्रहणसामर्थ्यात् प्रकृतधातुवाच्यफलाश्रयत्वं कर्मत्वमिति स्वीक्रियते । प्रकृते च साक्षात्काररूपार्थस्य निपातार्थतया धात्वर्थत्वाभावात् कर्मत्वं नानुपपन्नमिति बोध्यम् ।

निपातानां द्योतकत्वे तु न क्षतिः, साक्षात्कारादिरूपार्थस्य धातुनैव प्रतिपाद्यतया तदाश्रयस्य कर्मत्वादि सूपपन्नमिति बोध्यम् ।

उपसर्ग एवं निपात के अर्थ—नैयायिकमत

नैयायिक जो यह कहते हैं—उपसर्ग द्योतक होते हैं। इन [उपसर्गों] से भिन्न निपात वाचक होते हैं क्योंकि 'प्रत्यक्ष और तुल्य [अर्थ] में साक्षात्' शब्द [प्रयुक्त होता है]' ऐसा शब्दकोश [में लिखा है]। नमः पद से 'देवाय नमः' आदि में नमस्कार अर्थ और दान के समय 'गवे नमः' यहाँ पूजा अर्थ प्रसिद्ध है। और सकर्मक होना—स्व- [धातु]- तथा स्व [धातु] से समभिव्याहृत निपात [इनमें से]—किसी एक के अर्थ फल के व्यधिकरण व्यापार का वाचक होना—है। और स्व [धातु] तथा स्व से समभिव्याहृत निपात किसी एक के अर्थ—फलवाला होना कर्म होना है।

विमर्श—नैयायिकों का मत है कि उपसर्गों के अर्थों का स्वतन्त्ररूप से उल्लेख नहीं किया गया है। परन्तु निपातों के अर्थ शब्दकोशों में भी उल्लिखित हैं। अतः निपातों को वाचक और उपसर्गों को द्योतक मानना चाहिए। 'साक्षात्क्रियते गुरुः' आदि में कर्म अर्थ में लकार नहीं हो सकेगा क्योंकि सकर्मक धातु से ही कर्म में लकार होता है। केवल कृ धातु यद्यपि सकर्मक हैं किन्तु साक्षात्कार अर्थ में सकर्मकत्व कठिन है। क्योंकि स्वार्थ-फलव्यधिकरणव्यापारवाचक ही सकर्मक होता है। यहाँ साक्षात्कार अर्थ तो निपात का है, धातु का नहीं—इस का समाधान करने के लिए सकर्मकत्व का यह लक्षण मान लेना चाहिये—स्व [=धातु] और स्व [धातु] से समभिव्याहृत-निपात—इन दोनों में से किसी भी एक के फल के व्यधिकरण व्यापार

का वाचक होना—सकर्मक होना है और धातु तथा धातुयुक्त निपात किसी एक के अर्थ फलवाला होना कर्म होना है।

नैयायिक-मत का खण्डन

वह [उपर्युक्त नैयायिकमत ठीक] नहीं है, क्योंकि [उपसर्ग तथा निपात के] वैषम्य=भेद में कोई कारण नहीं है और अनुभूयते के साथ साक्षात् क्रियते की समानता है। नामार्थ तथा धात्वर्थ का भेदसम्बन्ध से साक्षाद् अन्वय न होने के कारण [अर्थात् विभक्त्यर्थ आदि के माध्यम से ही इनका अन्वय होने के कारण] निपातार्थ और धात्वर्थ का अन्वय ही सम्भव नहीं है। तथा निपातार्थ फल का आश्रय होने पर भी धात्वर्थ [फल] में अन्वय के बिना कर्मत्व [रूप कारकत्व] की उपपत्ति नहीं हो सकती है।

विमर्श—साक्षात्काररूप फल निपात का अर्थ है कृ धातु का अर्थ केवल कृति है, या व्यापार है। फल का अनुकूलत्वरूप भेदसम्बन्ध से व्यापार में अन्वय होता है। अतः साक्षात्कारानुकूलो व्यापारः—ऐसा बोध नहीं हो सकेगा क्योंकि नामार्थ एवं धात्वर्थ का भेदसम्बन्ध से साक्षात् अन्वय नहीं माना जाता है। यदि यह व्युत्पत्ति नहीं मानी जायगी तो तण्डुलः पचति आदि में भी तण्डुलों का कर्मत्वरूप से धात्वर्थ में अन्वय होने लगेगा क्योंकि यहाँ कर्मत्व संसर्गमर्यादया [आकाङ्क्षा से] प्रतीत हो जाता है। यहाँ कर्मत्व की उपपत्ति भी नहीं हो सकती है क्योंकि धात्वर्थव्यापारप्रयोज्य फल का आश्रय ही कर्म होता है। किन्तु प्रस्तुत स्थल में साक्षात्कार यह अर्थ निपात का है धातु का नहीं। यदि कर्मत्व का उक्त रूप नही मानते हैं तो 'प्रयागात् काशीं गच्छति' आदि में प्रयाग का भी कर्मत्व प्रसक्त होता है। क्योंकि उत्तरदेश-संयोगानुकूल-व्यापार-प्रयोज्य विभागरूप फल का आश्रय प्रयाग है। इसलिए यह मानना आवश्यक है कि धात्वर्थ फल का आश्रय होना चाहिये। इसलिए नैयायिकों का मत तर्कसंगत नहीं है।

यदपि केचिच्छाब्दिकाः—निपातानां वाचकत्वे 'शोभनः समुच्चय' इतिवत् 'शोभनश्च' इत्यापत्तिः। 'घटस्य समुच्चय' इतिवत् 'घटस्य च' इत्यापत्तिश्चेत्याहुः।

तन्न। शब्दशक्तिस्वभावेन निपातैः स्वार्थस्य परविशेषणत्वेनैव बोधनेन विशेषणान्वयाप्रसङ्गात्, षष्ठ्यप्राप्तेश्च।

किञ्च घटं पटञ्च पश्येत्यादौ घटमित्यस्य क्रियायामेवान्वयः। अत एव ततो द्वितीया। घटं समुच्चयवन्तं पटं पश्येति बोधः। समुच्चयस्य प्रतियोग्याकाङ्क्षायां सन्निहितत्वात् घटस्य प्रतियोगित्वम्, पटे तु समुच्चयस्य भेदेनान्वयो, न तु पटस्य समुच्चये इति क्व षष्ठ्यापादनम्। नामार्थयोरभेदान्वयव्युत्पत्तिस्तु निपातातिरिक्तविषया।

निराकर्तुं भूषणकारोक्तमनुवदति—यदपीति। केचित्=भूषणकारादयः निपातार्थनिरूपणे इति शेषः। इत्याहुरिति। शाब्दिकानां मते तु नैव दोषः, तेषां मते चादयोऽनर्थकाः, अतो शोभनादिपदार्थानां तत्रान्वयप्रसङ्गो नेति बोध्यम्। भूषणोक्तिं खण्डयति—तन्नेति। एवेन विशेष्यत्वेन बोधस्य निरासः। ग्रन्थकारस्येदं तात्पर्यं यत् यथैकैव पचिक्रिया पाक इतिपदेन सत्त्वभूता पचतीत्यनेन चासत्त्वभूताऽभिधीयते अत्र च शब्दशक्तिस्वभाव एव हेतुः, एवमेव शब्दशक्तिस्वभावादेव निपातशब्दा अपि अन्यपदार्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारतावन्त एव न तु अन्यपदार्थनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यतावन्तः। एवञ्च सामान्यत एव विशेष्यतासम्बन्धेन यत्किञ्चिदर्थनिष्ठप्रकारताकशाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति निपातविशेषजन्योपस्थितिः कारणम्—इति कार्यकारणभावो निषिध्यते तथा पदार्थान्तरनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यतासम्बन्धेन शाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति नञितरनिपातेतरपदजन्योपस्थितिः विशेष्यतासम्बन्धेन कारणमिति कार्यकारणभावः फलितः। एवञ्च प्रथमकार्यकारणभावनिषेधात् प्रतियोगित्वादिसम्बन्धेन घटादिपदार्थस्य समुच्चयादावन्वयासम्भवेन 'घटस्य च' इत्यादौ षष्ठी वारिता। द्वितीयकार्यकारणभावाच्च घटो नास्तीत्यादौ निपातार्थेऽपि विशेष्यतासम्बन्धेनान्वयाद् शाब्दबोधो भवति। इत्थञ्चान्यत्र निपातार्थे विशेषणतयान्वयासम्भवात् सम्बन्धे एव च षष्ठीविधानात् घटादौ न षष्ठीप्रसक्तिरिति भावः।

प्रकारान्तरेणापि षष्ठीप्रसक्तिं वारयति—किञ्चेति। क्रियायामेवेति। कारकत्वस्य क्रियान्वयितावच्छेदकधर्मत्वादिति भावः। अत एव=क्रियायामन्वयादेवेत्यर्थः। ततः=घटशब्दात्। भेदेन=अनुयोगितानिरूपकत्वसम्बन्धेनेत्यर्थः। समुच्चय इति। अन्वय इतिशेषः। प्रतियोगिवाचकादेव च षष्ठी भाष्यसम्मतेति पटपदे नातिप्रसङ्गः। षष्ठ्यापादनमिति। चार्थसमुच्चयस्य घटे शाब्दान्वयाभावात् पटे शाब्दान्वयेऽपि पटस्य विशेषणत्वाभावात् विशेषणवाचकादुत्पत्तिस्वभावा षष्ठी न प्राप्नोतीति बोध्यम्। ननु चार्थसमुच्चयस्य पटे भेदेनान्वयः कथमुच्यते, नामार्थयोरभेदान्वयनियमादत आह—नामार्थेति। अत्रत्यं तत्त्वं लघुमञ्जूषायामेवं वर्णितम्—वस्तुतोऽव्ययेषु नामत्वमेव नेत्यग्रे वक्ष्यामः। अत एव समुच्चेयानन्तरं चादिप्रयोग इति वृद्धाः। यद्वा समुच्चितश्चार्थः। स्वभावतश्चाद्युपस्थाप्यस्यासत्त्वभूतत्वम्। तदुक्तम्—

समुच्चिताभिधानेऽपि व्यतिरेको न विद्यते॥ वा० प० २।१९५॥

धर्म्यंशे शक्तिकल्पनागौरवं प्रामाणिकत्वान्न दोषाय।

अग्रे च हरिणोक्तम्—

समुच्चिताभिधानेऽपि विशिष्टार्थाभिधायिनाम्।

गुणैः पदानां सम्बन्धः परतन्त्रास्तु चादयः॥ वा० प० २।१९६॥

गुणैः=विशेषणैः, विशिष्टार्थाभिधायिनां पदानां सम्बन्धो भवति, निपातानान्तु शब्दशक्तिस्वाभाव्यात् परतन्त्रत्वमेवेति कारिकार्थः।

भूषणकार का मत और उसका खण्डन

कुछ वैयाकरणों ने [वैयाकरणभूषण में] जो यह कहा है—निपातों के वाचक होने पर 'शोभनः समुच्चयः' के समान 'शोभनः च' यह भी प्रसक्त होगा और 'घटस्य समुच्चयः' के समान 'घटस्य च' यह भी होने लगेगा–[किन्तु] यह [भूषणकार का कथन ठीक] नहीं [है] क्योंकि शक्तिस्वभाववश निपात अपने अर्थ का अन्य के प्रति विशेषणत्वरूप से ही बोध कराते हैं अतः [इनमें अन्य] विशेषण के अन्वय का प्रसङ्ग नहीं है। और षष्ठी की प्राप्ति नहीं है।

विमर्श—भाव यह है कि निपात शब्दों से प्रतीयमान अर्थ सदैव विशेषणतया ही प्रतीत होता है इसमें शब्दशक्तिस्वभाव ही कारण है। अतः 'च' इस निपात के अर्थ में शोभन पदार्थ का विशेषणतया अन्वय नहीं हो सकता। और न घट पदार्थ का ही अन्वय चार्थ में होता है। जब नितातार्थ विशेषण ही रहते हैं तो उनमें अन्य विशेषण का अन्वय सम्भव न होने के कारण षष्ठी की प्राप्ति नहीं होती है। अतः भूषणकारोक्त दोनों आपत्तियां निरस्त हो जाती हैं।

अनु०—और भी, 'घटं पटं च पश्य' [घट और पट को देखो] इत्यादि में भी घटम् इसका [दर्शन] क्रिया में ही अन्वय [होता है]। [क्रियान्वित होता है इसीलिए उस [घट शब्द] से द्वितीया होती है। 'घट-समुच्चय- वाले पट को देखो' यह बोध होता है। समुच्चय को [अपने] प्रतियोगी की आकाङ्क्षा में सन्निहित होने से पट प्रतियोगी होता है। पट में तो समुच्चय का भेद [=अनुयोगिता-निरूपकत्व-सम्बन्ध] से अन्वय होता है, न कि पट का समुच्चय में [अन्वय होता है] अतः षष्ठी की आपत्ति कहाँ है। 'दो नामार्थों का अभेदान्वय [ही व्युत्पन्न है—यह] व्युत्पत्ति तो निपातों से अतिरिक्त विषय [में लागू होने] वाली है।

विमर्श—नागेश के कहने का तात्पर्य यह है कि घटं पटं च पश्य यहां घटम् और पटम् इन दोनों का क्रिया में ही अन्वय होता है। इसीलिए कारक होने के कारण द्वितीया होती है। इसके बाद च पदार्थ=समुच्चयवान् के साथ इनका अन्वय होता है। उसमें सन्निहित होने के कारण प्रतियोगी के रूप से घट का अन्वय होता है। किन्तु इसमें द्वितीया विभक्ति पहले ही आयी रहती है। अतः अब षष्ठी सम्भव नहीं है। अब बचा दूसरा—पट शब्द, इसमें भी षष्ठी की प्राप्ति नहीं है। पट का समुच्चय में अन्वय नहीं होता है अपितु समुच्चय का ही अनुयोगितानिरूपकत्वसम्बन्ध से अन्वय होता है। अर्थात् पट विशेषण नहीं है और षष्ठी विशेषण से ही होती है। अतः दोनों में से किसी से भी षष्ठी नहीं होती है। दो नामार्थों का अभेदान्वय ही होता है किन्तु यहां च-रूपनामार्थ=समुच्चय का पटरूप नामार्थ में अनुयोगितानिरूपकत्वरूप भेद सम्बन्ध से अन्वय करने में इस व्युत्पत्ति का विरोध प्रसक्त होता है अतः यहां

'निपातातिरिक्त नामार्थो का अभेदान्वय होता है निपातार्थ का भेदान्वय भी होता है' ऐसी कल्पना करनी चाहिए।

निपातानामर्थवत्त्वमपि द्योत्यार्थमादायैव, शक्तिलक्षणा-द्योतकताऽन्यतम-सम्बन्धेन बोधकत्वस्यैवार्थवत्त्वात्। नञ् समासे उत्तरपदार्थप्राधान्यं द्योत्यार्थापेक्षयैव। प्रतिष्ठते इत्यत्र तिष्ठतिरेव गतिवाची, धातूनामनेकार्थत्वात्। प्रशब्दस्तु तदर्थगत्यादित्वस्य द्योतकः।

अत एव 'धातुः पूर्वं साधनेन युज्यते पश्चादुपसर्गेणेति' सिद्धान्तितम्। साधनं=कारकम् तत्प्रयुक्तकार्येण, उपसर्गेण=उपसर्गसंज्ञकशब्देन। तत्र हि भाष्ये-'पूर्वं धातुरुपसर्गेण युज्यते, पश्चात्साधनेनेति। नैतत्सारम्, पूर्वं धातुस्साधनेन युज्यते पश्चादुपसर्गेण, साधनं हि क्रियां निर्वर्तयति तामुपसर्गो विशिनष्टीति, सत्यमेवमेतत्। यस्त्वसौ धातूपसर्गयोरभिसम्बन्धस्तमभ्यन्तरं कृत्वा धातुस्साधनेन युज्यते। अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम्, यो ह्येवं मन्यते पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते पश्चादुपसर्गेणेति तस्य 'आस्यते गुरुणा इत्यकर्म्मकः उपास्यते गुरुरिति केन सकर्मकः स्यात्' इति।

ननु शाब्दिकमते चादिनिपातानां द्योतकत्वेनार्थवत्त्वाभावात् प्रातिपदिकत्वानापत्त्या पदत्वाभावस्तेन वा गच्छति, वा भवतीति वाक्ये "तिङ्ङतिङः" [पा० सू० ८।१।२८] इतिसूत्रेण निघातो न स्यादत आह-अर्थवत्त्वमपीति। आदायेति। अत्र भवतीति शेषो बोध्यः अन्यथा उत्तरकालिकक्रियाऽभावाल्ल्यप्प्रयोगासङ्गतिः। ननु शक्तिलक्षणान्यतरवृत्त्यार्थबोधजनकत्वरूपार्थवत्त्वम् 'अर्थवदधातुः' [पा० सू० १।२।४५] इति सूत्रे गृह्यते, तस्य च निपातेष्वभावात् तेषामर्थवत्त्वं कथमत आह—शक्तीति। एवञ्च द्योतकत्वेनापि अर्थवत्त्वं सिध्यति। ननूत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुष-इत्यादिलक्षणासङ्गतिरत आह-नञ्समासे इति। अर्थपदेन वाच्य-लक्ष्यद्योत्य-त्रिविधानामपि ग्रहणात्तत्पुरुषादौ न दोषः। एवञ्च 'अब्राह्मण' इत्यादावारोपितब्राह्मणत्ववानित्यर्थे उत्तरपदार्थस्य प्राधान्यं स्पष्टमेव। अत एव असर्वस्मै इत्यादौ सर्वनामत्वात्तत्प्रयुक्तकार्यसिद्धिः। ननूपसर्गाणां वाचकत्वाभावे गतिनिवृत्तिवाचकात् स्थाधातोः प्रतिष्ठते इत्यादौ कथं गत्यर्थप्रतीतिरत आह-प्रतिष्ठत इति। तदर्थगत्यादित्वस्य=स्थाधात्वर्थगतिनिष्ठादित्वस्येत्यर्थः। एवञ्च प्रतिष्ठते इत्यस्य गन्तुं प्रवर्तते इत्यर्थः। धातूनामनेकार्थत्वञ्च "भूवादयो धातव [पा० सू० १।१।३] इति सूत्रभाष्ये स्पष्टम्-"बह्वर्था अपि धातवो भवन्तीति। तद्यथा —वपिः प्रकिरणे दृष्टः छेदने चापि वर्तते-केशश्मश्रु वपतीति। ....एवमिहापि तिष्ठतिरेव व्रजिक्रियामाह, तिष्ठतिरेव व्रजिक्रियाया निवृत्तिमिति।"

अत एव=उपसर्गनिपातानां द्योतकत्वादेव। सिद्धान्तितमिति। "सुट्कात् पूर्वं" [पा० सू० ६।१।१३५] "उपपदमतिङ्" [पा० सू० २।२।१९] इति सूत्रस्थभाष्ये

इति भावः। पूर्वं साधनेनेति। तेन "प्रत्ययः" [पा० सू० ३।१।१] 'णेरध्ययने' इत्यादिनिर्देशाः सङ्गच्छन्ते'। पूर्वमुपसर्गयोगे तु सवर्णदीर्घे उक्तरूपासिद्धिः। पूर्वं धातुरुपसर्गेणेति। उपास्यते गुरु इत्यादौ उपसर्गयोगात्पूर्वं धातोः कर्मरूपसाधनान्वययोग्यार्थाभावेन सकर्मकत्वाभावात् कर्मरूपसाधनप्रयुक्तलडादिकार्ययोगोऽसम्भवी। तस्मात् साधनयोगात् पूर्वं धातोरुपसर्गयोगो मन्तव्यः तद्योगे जाते तु तेषां वाचकत्वेन तत्समभिव्याहारात् कर्मान्वययोग्योपासनाद्यर्थलाभेन धातोः सकर्मकत्वसिद्धौ पश्चात् साधनप्रयुक्तलडादियोगो भवतीति तद्भाष्यास्याशयः। ननु "विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतावप्रत्यये" [पा० सू० ६।३।९२] इति सूत्रेऽप्रत्ययग्रहणेन तदादिविधेर्ज्ञापितत्वात् धातूपसर्गकार्यस्यान्तरङ्गत्वं कथमत आह—नैतत् सारमिति। एतत्=पूर्वभाष्योक्तं न सारं=तत्त्वम्। किं तर्हि सारमत आह—पूर्वं धातुः साधनेनेति। साधनेनैवेत्यर्थः। अत एव "प्रत्यय" [पा० सू० ३।१।१] 'णेरध्ययनम्' इत्यादिनिर्देशाः सङ्गच्छन्ते। ननु पूर्वभाष्यस्यासारत्वेऽस्य च सारत्वे का युक्तिरत आह-साधनं हीति। साधनम्=कारकप्रयुक्तलडादि। क्रियाम्=साध्यत्वेन क्रियाप्रतीतिमित्यर्थः। निर्वर्तयति=जनयति, साध्यत्ववैशिष्ट्येन बोधयतीत्यर्थः। अतस्तत्प्रयुक्तं कार्यं पूर्वमिति भावः। ताम्=साध्यत्ववैशिष्ट्येन ज्ञातां क्रियाम्। उपसर्गः=उपसर्गसंज्ञकशब्दः। विशिनष्टि-स्वद्योत्यविशेषणवैशिष्ट्येन बोधयतीत्यर्थः। एतत्=पूर्वं साधनयोगः इति। उपसर्गयोगात् पूर्वं साधनयोगः इदमेवसारम्। धातूपसर्गसम्बन्धकृतत्वेनाभिमतो योऽर्थस्तमर्थं धातुरुपसर्गसंज्ञकशब्दस्य योगं विनाप्यभ्यन्तरं कृत्वा=स्वार्थत्वेनाङ्गीकृत्य साधनेन युज्यते। साधनयोगे च क्रियात्वावगतौ उपसर्गशब्दयोगः। न हि केवलं धातुना सोऽर्थः प्रतीयते। लघुमञ्जूषायां तत्त्वं प्रतिपादितम्—"अयं भावः वक्ता धातोरेव विशिष्टमर्थं बुद्धौ कृत्वा साधनसम्बन्धकार्यप्रत्यययोगेन तत्र साध्यत्वावगतौ श्रोतृबोधाय क्रियायोगनिमित्तोपसर्गसंज्ञकशब्दयोगं करोति। अन्यथा केवलधातुतः सर्वत्राप्रतीयमानतया श्रोतुस्तद्वोधो न स्यादिति। तदुक्त "भूवादयो धातवः" [पा० सू० १।१।३] इति सूत्रे कैयटेन "अनेकार्थत्वाद्धातूनां विशिष्टोऽर्थो धातोरेव, उपसर्गस्तु बोद्धारं प्रति तदर्थद्योतक इति। एवञ्च पूर्वमुपसर्गेण योगो नाम तदर्थसम्बन्धः। तत उपसर्गयोगात्पूर्वं साधनकार्ययोगः, तत उपसर्गशब्दयोगः इति परिभाषाद्वयार्थः। एवञ्च न कोऽपि विरोध इति बोध्यम्।

द्योत्यार्थ से ही अर्थवत्ता

निपातों की अर्थवत्ता भी द्योत्य अर्थ को लेकर ही है क्योंकि शक्ति, लक्षणा और द्योतकता—इनमें से किसी भी एक सम्बन्ध से बोध कराने वाला ही अर्थवान् [माना जाता है। [अब्राह्मणः आदि] नञ्-तत्पुरुष में उत्तरपदार्थ की प्रधानता भी [पूर्वपद नञ् के] द्योत्य अर्थ की अपेक्षा ही [समझनी चाहिये।] प्रतिष्ठते इसमें तिष्ठति

[स्था] धातु ही गमनवाचक है क्योंकि धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं। [अतः यहाँ स्था का ही अर्थ है—चलना] प्र उपसर्ग तो उस [स्था] धातु के अर्थ गति के आदित्व का द्योतक है। [इसीलिए इसका अर्थ होता है—गन्तुं प्रवर्तते।]

[उपसर्ग द्योतक ही होते हैं] इसीलिए 'धातु पहले साधन से युक्त होता है बाद में उपसर्ग से' यह सिद्धान्त [भाष्य में] किया गया है। साधन=कारक, उससे प्रयुक्त कार्य के साथ, उपसर्ग के साथ=उपसर्गसंज्ञक शब्द के साथ [अर्थात् धातु का योग पहले कारक को मानकर होने वाले लकार के साथ होता है अथवा उपसर्गसंज्ञक प्रपरा आदि के साथ] वहां भाष्य में 'पहले धातु उपसर्ग से युक्त होता है बाद में धातु से'। [दूसरा कहता है] "यह सार"=वस्तुस्थिति नहीं [है] [ठीक यह है] 'पहले धातु साधन के साथ युक्त होता है बाद में उपसर्ग के साथ। क्योंकि साधन क्रिया का निर्वर्तन करता है [साध्यत्ववैशिष्ट्येन बोध कराता है।] उस [उक्त रूप से ज्ञात क्रिया] को उपसर्ग विशेषित करता है [अर्थात् अपने द्योत्य अर्थ—विशेषण के वैशिष्ट्य से बोधित कराता है। धातु का साधन के साथ पहले योग होता है—यह सत्य ही है। किन्तु धातु एवम् उपसर्ग का जो अभिसम्बन्ध [इनके सम्बन्ध को मानकर होने वाला जो अर्थ] उसे भीतर करके [अपना बोधविषय बना करके] धातु साधन के साथ युक्त होता है। [क्योंकि साधनप्रयुक्त तिबादि प्रत्यय का योग होने पर ही क्रियात्व का ज्ञान होता है। और तभी उपसर्ग का योग सम्भव होता है।] और ऐसा अवश्य समझना चाहिए, क्योंकि जो यह मानता है कि 'धातु का योग पहले साधन के साथ होता है बाद में उपसर्ग के साथ' उसके लिए 'आस्यते गुरुणा' यह अकर्मक [आस्] धातु 'उपास्यते गुरुः' यहां सकर्मक कैसे होगा।"

विमर्श—आशय यह है कि धातु के साथ पहले तिबादि प्रत्यय का ही योग मानते हैं तो 'आस्यते' यह अकर्मक रूप बनाने के बाद ही 'उप' इस उपसर्ग का योग होने पर 'उपास्यते' यह रूप होता है किन्तु अब सकर्मकत्व का उपपादन सम्भव नहीं है क्योंकि कर्ता या भाव अर्थ में लकार के स्थान पर साधन प्रयुक्त कार्य तिबादि हो चुका है, उसका परिवर्तन असम्भव है। इसलिए "उपास्यते गुरुः" इसमें सकर्मकत्व कठिन है। अतः यह मानना चाहिये कि वक्ता विशिष्ट अर्थ को बुद्धि का विषय बनाकर साधन-प्रयुक्त प्रत्यय के योग से उसमें क्रियात्व का ज्ञान करके श्रोता का ज्ञान कराने के लिए उपसर्ग शब्दों का योग करता है। क्योंकि धातु का विशिष्ट अर्थ तो प्रसिद्ध रहता नहीं है अतः उपसर्गयोग के बिना वक्ता के लिए यह विशिष्ट अर्थज्ञान सम्भव नहीं है।

हरिणाऽप्युक्तम्—

धातोस्साधनयोगस्य भाविनः प्रक्रमाद्यथा।
धातत्वं कर्मभावश्च तथाऽन्यदपि दृश्यताम्॥

(वा० प० २।१८४)

बुद्धिस्थादभिसम्बन्धात्तथा धातूपसर्गयोः।
अभ्यन्तरीकृतो भेदः पदकाले प्रकाशते ॥
(वा० प० २।१८६)

अस्यार्थः—यथा भाविसाधनसम्बन्धाश्रयणेन क्रियावाचित्वमाश्रित्य धातुसंज्ञोच्यते, यथा च सन्प्रत्यये चिकीर्षिते भावीषिकर्म्मत्वमाश्रित्योपक्रमे एवेषिकर्म्मत्वमुक्तम्, तथा भाव्युपसर्गसम्बन्धादुपक्रमे एव विशिष्टक्रियावाचकत्वं दृश्यताम्। धातूपसर्गयोस्सम्बन्धं बुद्धिविषयीकृत्योपसर्गार्थकृतो विशेषो धातुनैवाभ्यन्तरीकृतः पदप्रयोगकाले उपसर्गसम्बन्धे सति प्रकाशते श्रोतुरिति शेषः। उपसर्गयोगात्प्रागेव धातुनैवोपसर्गार्थविशिष्टः स्वार्थ उच्यत इति तात्पर्यम्। पूर्वं धातुरुपसर्गेणेति तु तदर्थस्य धात्वर्थान्तर्भावाद् व्यवहारः।

स्वोक्तौ मानमाह—हरिणेति। भाविनः साधनयोगस्य। प्रक्रमात्=आश्रयणात् धातोः यथा धातुत्वं कर्मभावश्च तथाऽन्यदपि दृश्यताम्—इत्यन्वयः। बुद्धिस्थात् अभिसम्बन्धात् धातूपसर्गयोः अभ्यन्तरीकृतो भेदः पदकाले प्रकाशते—इति द्वितीयकारिकान्वयः। स्वयमेवाशयं वर्णयति—अस्यार्थ इति। "भूवादयो धातवः" [पां० सू० १।१।३] इति सूत्रं क्रियावाचिनां भ्वादीनां धातुसंज्ञां विधत्ते। क्रिया च धात्वर्थः तद्वाचित्वम्=तद्बोधजनकत्वम्। स च बोधः प्रयुज्यमानपरिनिष्ठपदादेव जायते। एवञ्च धातुसंज्ञाविधानकाले लटादिप्रत्ययायोगात् क्रियावाचकत्वाभावेऽपि पश्चाद्भाविनं लडादिप्रत्ययसम्बन्धं समालम्ब्य क्रियावाचित्वमादाय धातुसंज्ञा विधीयते, यथा च सन्प्रत्ययविधानकाले इषिकर्मत्वाभावेऽपि भाविनमिच्छाकर्मत्वमादाय सन्प्रत्ययविधानकाले एवेच्छाकर्मत्वमङ्गीक्रियते तथैव भाविनमुपसर्गसम्बन्धं समाश्रित्य उपक्रम एव उपसर्ग-द्योत्यार्थविशिष्टवाचकत्वं ज्ञायतामिति भावः। तदर्थस्य=उपसर्गद्योत्यार्थस्य धात्वर्थान्तर्भावात् पूर्वं धातुरुपसर्गेण युज्यते पश्चात्साधनेनेति व्यवहारो बोध्यः। एवञ्च न कोऽपि दोष इति बोध्यम्।

भर्तृहरि ने भी [यही उपर्युक्त] कहा है—

धातु के भावी साधनयोग के प्रक्रम साधननिमित्तक क्रियावाचित्व के आदि में आश्रयण से जैसे धातुत्व और कर्मत्व हो जाता है उसी प्रकार अन्य [विशिष्ट क्रियावाचकत्वादि] भी देखना=समझना चाहिए। उसी प्रकार धातु एवम् उपसर्ग के बुद्धिस्थ अभिसम्बन्ध से अभ्यन्तरीकृत [सन्निविष्ट] भेद=वैशिष्ट्य पदकाल=पदप्रयोग के समय प्रकाशित=ज्ञात हो जाता है।

[नागेश के द्वारा किया गया] इस [कारिकाद्वय] का अर्थ—जैसे भावी=बाद में होने वाले साधन=साधनप्रयुक्त प्रत्यय के सम्बन्ध के आश्रयण से [धातु की] क्रियावाचकता मानकर धातु संज्ञा कही जाती है। और जैसे—[पठितुम् इच्छति=

पिपठिषति आदि में] सन् प्रत्यय के चिकीर्षित [करने के लिए इष्ट] होने पर भावी इच्छाकर्मत्व को मान कर उपक्रम [आदिकाल] में ही इच्छाकर्मत्व कहा गया है उसी प्रकार भावी उपसर्ग-शब्द-सम्बन्ध से उपक्रम में ही विशिष्ट क्रिया की वाचकता समझ लेनी चाहिए। धातु एवम् उपसर्ग के सम्बन्ध को बुद्धिविषय बनाकर उपसर्गार्थ द्वारा किया गया विशेष [=वैशिष्ट्य] धातु द्वारा ही अभ्यन्तरीकृत=अपने भीतर छिपाया गया पदप्रयोगकाल में उपसर्ग का सम्बन्ध करने पर प्रकाशित होता है। 'श्रोता को' [ज्ञात होता है] यह शेष है। उपसर्ग के योग के पहले ही धातु द्वारा ही उपसर्गार्थ से विशिष्ट स्वार्थ कहा जाता है। यह [कारिका का] तात्पर्य है। पहले धातु उपसर्ग के साथ [युक्त होता]–यह तो 'उपसर्ग का अर्थ धात्वर्थ के अन्तर्गत होने से—व्यवहार (होता है)।

विमर्श—उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि नागेश के अनुसार पहले धातु एवम् उपसर्ग का सम्बन्ध वक्ता की बुद्धि का विषय बन जाता है। परन्तु बाह्यप्रयोग की दृष्टि से पहले साधनप्रयुक्त तिबादि प्रत्ययों का ही योग होता है जिससे साध्यत्व का ज्ञान करके क्रियावाचकता सिद्ध होने पर उपसर्ग का योग किया जाता है। चूंकि विशिष्ट अर्थ प्रसिद्ध नहीं रहता है अतः श्रोता को उपसर्गयोग के बिना उसका ज्ञान सम्भव नहीं रहता है अतः उसके लिए उपसर्ग का योग करना पड़ता है। भाष्य में दोनों पक्षों का विवेचन किया गया है।

चन्द्र इव मुखमित्यादौ चन्द्रपदस्य स्वसदृशेऽप्रसिद्धा शक्तिरेव लक्षणा। 'नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे' इति न्यायात्। इवपदं तात्पर्यग्राहकम्। तात्पर्यग्राहकत्वञ्च — स्वसमभिव्याहृतपदस्यार्थान्तरशक्तिद्योतकत्वमित्यागतम् इवनिपातस्य द्योतकत्वम्।

यत्तु—इवार्थः सादृश्यं तत्र प्रतियोग्यनुयोगिभावेनैव चन्द्रमुखयोरन्वयोपपत्तौ किं लक्षणया। तथा च चन्द्रप्रतियोगिकसादृश्याश्रयो मुखमिति बोध इत्याहुः। तन्न। चन्द्र इव मुखं दृश्यते, चन्द्रमिव मुखं पश्यामीत्यादौ चन्द्रपदस्य मुखरूपकर्म्मसामानाधिकरण्याभावादुक्तानुक्तत्वप्रयुक्तविभक्त्यनापत्तेः, षष्ठ्यापत्तेश्च।

सामान्यतः निपातानां द्योतकत्वं संसाध्य साम्प्रतं निपातविशेषार्थनिरूपणप्रसङ्गे इवार्थ-विचारमारभते—चन्द्र इवेति। स्वसदृशे=चन्द्रसदृशे=चन्द्रनिष्ठप्रतियोगिता-निरूपक-सादृश्यवतीत्यर्थः। नञिति। "नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिः" इति सम्पूर्णं न्यायस्वरूपम्। नञ्युक्तम् इवयुक्तञ्च पदं स्वबोध्यार्थाद् भिन्नस्य स्व-बोध्यार्थेन सदृशस्य च द्योतकम्। अधिकरणम्=अर्थः। तथा=पूर्वोक्ता, अर्थगति=अर्थज्ञानमिति भावः। अर्थान्तरेति। स्वभिन्न-स्वसदृशार्थेति भावः।

नैयायिकादिमतं निराकर्तुमनुवदति—यत्त्विति। तत्र=सादृश्ये। प्रतियोगीति। चन्द्रस्य प्रतियोगितया मुखस्य चानुयोगितया इवार्थसादृश्येऽन्वयो भवति। एवञ्च चन्द्रप्रतियोगिताक-मुखानुयोगिताकसादृश्यमिति बोधः। इदमेव प्रतिपादयति—तथा चेति। अयम्भावः—इवार्थः सादृश्यं तस्मिन् प्रतियोगितानिरूपकत्वसम्बन्धेन चन्द्रपदार्थस्यान्वयः, तस्य चाश्रयतया मुखेऽन्वयः तेन च—चन्द्रनिष्ठप्रतियोगितानिरूपकसादृश्यवन्मुखमिति शाब्दबोधः शक्त्यैवोपपद्यते। एवञ्च लक्षणां परित्यज्य निपातानां वाचकत्वमेवाङ्गीकार्यमिति नैयायिकमतं खण्डयति—तन्नेति। विभक्त्यनापत्तेरिति। चन्द्र इव मुखं दृश्यते इत्यत्र चन्द्रे प्रथमायाः, चन्द्रमिव मुखं पश्यामीत्यत्र चन्द्रे द्वितीयायाश्च नोपपत्तिः। निपातानां वाचकत्वे इव सादृश्यार्थस्य वाचकस्तस्मिन् सादृश्ये च चन्द्रस्य विशेषणतयाऽन्वये कृते मुखे विशेषणतयान्वयोऽसम्भवी, एकत्र विशेषणतयान्वितस्यापरत्रान्वयायोगादिति न्यायात्। एवञ्च मुखेन सामानाधिकरण्याभावात् मुखवृत्तिकर्तृत्वकर्मत्वोक्तावपि चन्द्रवृत्ति-तदनुक्तत्वात् उक्तानुक्तत्वप्रयुक्तविभक्त्यनापत्तिः। भेदार्थंप्रतीत्या च षष्ठ्यापत्तिश्चेति बोध्यम्। द्योतकतामते तु चन्द्रपदस्य चन्द्रसादृश्यवति लक्षणा, तस्य चाभेदेन मुखेऽन्वयः, एवच विशेष्यमुखानुरोधिनी विभक्तिर्विशेषणे चन्द्रेपीति न काप्यनुपपत्तिरिति भावः। विशेणे विभक्त्यादौ मानन्तु अभियुक्तवचनमेव—

> या विशेष्येषु दृश्यन्ते लिङ्गसङ्ख्याविभक्तयः।
> प्रायस्ता एव कर्त्तव्याः समानार्थे विशेषणे॥

[अभी तक सामान्यतया उपसर्गों और निपातों की द्योतकता का प्रतिपादन किया गया। यहां इव, नञ् तथा एव—इन विशेष निपातों के अर्थ पर विचार किया जाता है।]

इव पद का अर्थ

चन्द्र इव मुखम् (चन्द्रमा के समान मुख) आदि में चन्द्र पद की स्वसदृश में अप्रसिद्धा शक्ति ही लक्षणा है, क्योंकि 'नञ् से युक्त और इव से युक्त पद अन्यसदृश अर्थ में (प्रयुक्त होता है)' ऐसा न्याय ही (नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिः—यह न्याय का स्वरूप है। नञ्-युक्त पद और इवयुक्त पद अपने द्वारा बोध्य अर्थ से भिन्न का और अपने बोध्य अर्थ के सदृश का बोधक होता है। इसमें नञ् पद और) इव पद तात्पर्यग्राहक होता है। तथा तात्पर्यग्राहक होना—अपने समभिव्याहृत पद का अर्थान्तर की शक्ति का द्योतक होना है। इस प्रकार इव निपात की द्योतकता आ गयी।

इवार्थ-विषयक-नैयायिक—मत और उसका खण्डन

(नैयायिक लोग) जो यह कहते हैं—इव का अर्थ सादृश्य (है) उस (सादृश्य) में प्रतियोगि-अनुयोगिभाव से ही चन्द्र एवं मुख के अन्वय की उपपत्ति हो जाने पर लक्षणा से क्या लाभ ? और इस प्रकार—चन्द्रप्रतियोगिक-सादृश्य का आश्रय मुख—यह बोध होता है।—वह (नैयायिक-कथन ठीक) नहीं है क्योंकि 'चन्द्र इव मुखं दृश्यते' (चन्द्रमा के समान मुख दिखाई देता है), चन्द्रमिव मुखं पश्यामि' (चन्द्रमा के समान मुख देखता हूँ।)—इत्यादि में चन्द्र पद का मुखरूप कर्म के साथ सामानाधिकरण्य (समानार्थवाचकता) न होने से उक्तता एवम् अनुक्तता मान कर होने वाली विभक्ति नहीं हो सकेगी और षष्ठी होने लगेगी।

विमर्श—भाव यह है कि इव का वाच्यार्थ सादृश्य है। इसमें चन्द्र विशेषणतया अन्वित होता है। अतः 'एक में विशेषण होने से अन्य में विशेषण नहीं बन सकता।' इस न्याय से चन्द्र मुख का विशेषण नहीं हो सकता। इस कारण उसका सामानाधिकरण्य सम्भव नहीं है। जिसके फलस्वरूप 'चन्द्र इव मुखं दृश्यते' यहां उक्त कर्म को मानकर कर्म चन्द्र में प्रथमा नहीं हो सकेगी और 'चन्द्रमिव मुखं पश्यामि' यहां अनुक्त कर्म चन्द्र में द्वितीया नहीं हो सकेगी। अर्थात् सामानाधिकरण्य के अभाव में लकार द्वारा चन्द्र का कर्मत्व उक्त एवम् अनुक्त नहीं हो सकेगा। दूसरा दोष यह है कि जब इव सादृश्य का वाचक है तो मुख में षष्ठी प्रसक्त होने लगेगी। द्योतक मानने पर दोष नहीं है क्योंकि चन्द्रपद की चन्द्रसादृश्यवान् (सदृश) में लक्षणा है उसका अभेदेन मुख में अन्वय होता है, और विशेष्यानुसारिणी विभक्ति चन्द्ररूप विशेषण में भी होती है।

परे तु—इवशब्दस्योपमानताद्योतकत्वम्। उपमानत्वञ्च—उपमानोपमेयोभयनिष्ठसाधारणधर्म्मवत्त्वेनेषदितरपरिच्छेदकत्वम्। तद्धर्म्मवत्तया परिच्छेद्यत्वञ्चोपमेयत्वम्। साधारणधर्मसम्बन्धश्च क्वचिद् विशेष्यतयाऽन्वेति क्वचिद्विशेषणतया। एवञ्च चन्द्र इव आह्लादकं मुखमित्यादौ आह्लादकोपमानभूतचन्द्राभिन्नमाह्लादकं मुखमिति बोधः। चन्द्र इव मुखमाह्लादयतीत्यादौ चोपमानभूतचन्द्रकर्तृकाह्लादाभिन्नो मुखकर्तृकाह्लाद इति बोधः। इदम् 'उपमानानि सामान्यवचनैः' [पा० सू० २।१।५५] इत्यत्र भाष्ये स्पष्टमित्याहुः।

इदानीं स्वमतमाह—परे त्विति। इव शब्द उपमानताद्योतक इति एतन्मतम्। किञ्च तदुपमानत्वमत आह—उपमानत्वञ्चेति। उपमाने उपमेये च उभयत्रनिष्ठः यः साधारणधर्मः, तद्वत्त्वेन ईषद् इतरपरिच्छेदकत्वम्—उपमानत्वम्। वैशिष्ट्यं तृतीयार्थः। सर्वांशे तत्त्वासम्भवादाह—ईषदितरेति। स्वल्पभेदवदित्यर्थः। एवञ्च—उपमानो-

पमेयोभयवृत्तिसाधारणधर्मवत्त्वविशिष्ट–स्वल्पभेदवदितरपरिच्छेदकत्वमुपमानत्व फलति। उपमेयमाह—तद्धर्मेति। उभयवृत्तिसाधारणधर्मवत्तयेत्यर्थः। एवञ्चोभयवृत्तिसाधारणधर्मवत्त्वविशिष्टं परिच्छेद्यमुपमेयभिति भावः। यथा चन्द्र इव मुखमित्यत्र उभयनिष्ठाह्लादकत्वरूपसाधारणधर्मवत्त्वेन स्वल्पभेदवन्-मुखपरिच्छेदकत्वं चन्द्रस्येति तस्योपमानत्वम्। एवमेव आह्लादकत्वरूपसाधारणवधर्मवत्त्वेन परिच्छेद्यत्वं मुखस्येति तस्योपमेयत्वमिति वोध्यम्। साधारणसम्बन्धस्यान्वयमाह—क्वचिदिति। नन्वत्र किं प्रमाणमत आह—इदमिति। उक्तरीत्या उपमानत्वम्, उपमेयत्वम्, इव शब्दस्योपमनाताद्योतकत्वम्, साधारणधर्मस्योपमानोपमेयोभयावगाहिज्ञानञ्चेदं सर्वं "उपमानानि सामान्यवचनैः (पा० सू० ७।१।५५) इतिसूत्रे स्पष्टमिति बोध्यम्। तत्र हि भाष्ये—"उपमानानीत्युच्यते, कानि पुनरुपमानानि? किं यदेवोपमानं तदेवोपमेयम्? आहोस्विदन्यदेवोपमानमन्यदुपमेयम्? किञ्चातः? यदि यदेवोपमानं तदेवोपमेयम्, क इहोपमार्थः—गौरिव गौरिति। अथान्यदेवोपमानमन्यदेवोपमेयं क इहोपमार्थः—गौरिवाश्व इति। एवं तर्हि यत्र किञ्चित्सामान्यं कश्चि विशेषस्तत्रोपमानोपमेये भवतः। मानं हि नाम अनिर्ज्ञातज्ञानार्थमुपादीयते—अनिर्ज्ञातमर्थं ज्ञास्यामीति। तत्समीपे यन्नात्यन्ताय मिमीते तदुपमानं—गौरिव गवय इति। गौर्निर्ज्ञातो गवयोऽनिर्ज्ञातः। (भाष्यस्याभिप्रायस्तु प्रदीपोद्द्योते द्रष्टव्यः।) अस्माद्भाष्यात् उपमानोपमेययोः मञ्जूषाकारोक्तलक्षणम्, इवशब्दस्योपमानताद्योतकत्वञ्च स्पष्टमेवायाति। उभयत्र साधारणधर्मसम्बन्ध-प्रतीतिस्तु अग्रिमभाष्याज्ज्ञायते। किं पुनरिहोदारणम्? शस्त्रीश्यामा। क्व पुनरयं श्यामाशब्दो वर्तते? शस्त्र्यामित्याह। केन तर्हीदानीं देवदत्ताभिधीयते? समासेन। यद्येवं शास्त्रीश्यामा देवदत्ता इति न सिध्यति। 'उपसर्जनस्य' इति ह्रस्वत्वं भविष्यति। यदि तर्ह्युपसर्जनान्यप्येवंजातीयकानि भवन्ति, तित्तिरकल्माषी कुम्भकपाललोहिनी—अनुपसर्जनलक्षण ईकारो न प्राप्नोति। एवं तर्हि शस्त्र्यामेव शस्त्रीशब्दो वर्तते, देवदत्तायां श्यामाशब्दः। एवमपि गुणो न निर्दिष्टः.... । एवमपि समानाधिकरणेन' इति वर्तते। व्यधिकरणत्वात् समासो न प्राप्नोति। किं हि वचनाद् न भवति? यद्यपि तावद्वचनात् समासः स्यात् इह खलु मृगीव चपला मृगचपला समानाधिकरणलक्षणः पुंवद्भावो न प्राप्नोति। एवं तर्हि तस्यामेवोभयं वर्तते। एतच्चात्र युक्तं यत्तस्यामेवोभयं वर्तते इति। इतरथा हि बह्वपेक्ष्यं स्यात्। यदि तावदेवं विग्रहः करिष्यते—शास्त्रीव श्यामादे वदत्तेति।' शस्त्र्यां श्यामेत्येतदपेक्ष्यं स्यात्। अथांप्येवं विग्रहः करिष्यते—यथा शस्त्री श्यामा तद्वदियं देवदत्तेति। एवमपि देवदत्तायां श्यामेत्येतदपेक्ष्यं स्यात्।" अत्र भाष्ये 'तस्यामेव' इत्यस्य उपमेयदेवदत्तायामेवेत्यर्थः। उभयमित्यस्य शस्त्रीश्यामाशब्दौ इत्यर्थः। अत एव कैयटेनोक्तम्—शस्त्रीसादृश्याद्देवदत्ता शस्त्रीशब्देनोच्यते, सादृश्यनिमित्ताभेदोपचारात्, यथा गौर्वाहीक इति। अत्र भाष्ये उपमेये

उपमानतावच्छेदकारोपेण उपमानोपमेययोरभेदान्वयः स्पष्टमेवोक्तः। विस्तरस्तु भाष्ये प्रदीपोद्द्योते लघुमञ्जूषायां च द्रष्टव्य इत्यलम्।

नागेश का मत

दूसरे लोग (नागेश) तो यह कहते हैं—इव शब्द उपमानता का द्योतक होता है। और उपमानत्व (उपमान होना)—उपमान तथा उपमेय दोनों में रहने वाले साधारण-धर्मवत्त्वेन (साधारण धर्मवाला होने के रूप से) ईषद् (थोड़ा) अन्य का परिच्छेदक होना। और उस (उपर्युक्त) धर्मवाला होने के रूप से परिच्छेद्य (भिन्नत्वरूप से ज्ञेय) होना—उपमेय होना है। और साधारण धर्म का सम्बन्ध कहीं विशेष्य होते हुए अन्वित होता है और कहीं विशेषण होते हुए। इस प्रकार 'चन्द्र इव आह्लादकं मुखम्' इत्यादि में—आह्लादक-उपमानभूत-चन्द्र से अभिन्न आह्लादक मुख—यह बोध (होता है। इसमें आह्लादकत्वरूप साधारण धर्म विशेषणतया अन्वित होता है और 'चन्द्र इव मुखम् आह्लादयति' इत्यादि में उपमानभूत-चन्द्र-कर्तृक-आह्लाद से अभिन्न मुख-कर्तृक आह्लाद—यह बोध (होता है। यहां आह्लादकत्वरूप साधारण धर्म विशेष्य-तया अन्वित होता है। तिङन्तस्थल में साधारणधर्म विशेष्य रहता है और केवल सुबन्तप्रयोग में विशेषण—ऐसी सामान्य व्यवस्था समझनी चाहिये।) और "उपमानानि सामान्यवचनैः (पा० सू० २।१।५५) इस सूत्रभाष्य में यह (उक्तरीति से उपमानत्व, उपमेयत्व, इव की उपमानत्वद्योतकता और उपमानोपमेय दोनों में साधारण-धर्म का सम्बन्ध) स्पष्ट है।

विमर्श—उपमान तथा उपमेय दोनों में रहनेवाला धर्म साधारण धर्म कहा जाता है। इस उभयसाधारण धर्म के वैशिष्ट्य से अन्यों की अपेक्षा कुछ भेद बताने वाला जो होता है उसे उपमान कहा जाता है। और उसी उभयसाधारण धर्मवाले के रूप से परिछेद्य अर्थात् पार्थक्येन ज्ञान का विषय जो बनता है, उसे उपमेय कहा जाता है।

नञ् द्विविधः—पर्युदासः प्रसज्यप्रतिषेधश्च। तत्रारोपविषयत्वं नञ्-पर्य्युदासद्योत्यम्। आरोपविषयत्वद्योतकत्वञ्च नञः समभिव्याहृतघटादि-पदानामारोपितप्रवृत्तिनिमित्तबोधकत्वे तात्पर्यग्राहकत्वम्। प्रवृत्तिमित्तं घटत्वब्राह्मणत्वादि। तस्मात् अब्राह्मण इत्यादौ आरोपितब्राह्मणत्वान् क्षत्रि-यादिरिति बोधः। अत एवोत्तरपदार्थप्राधान्यं नञ्-तत्पुरुषस्येति प्रवादस्सङ्ग-च्छते। अत एव च 'अतस्मै ब्राह्मणाय' 'असः शिव' इत्यादौ सर्वनामकार्यम्। अन्यथा गौणत्वान्न स्यात्। प्रवृत्तिनिमित्तारोपस्तु सदृशे एव भवतीति 'पर्युदासः सदृशग्राही' इति प्रवादः। पर्युदासे निषेधस्त्वार्थः। अन्यस्मिन्नन्य-धर्मारोपस्तु आहार्य्यज्ञानरूपः। बाधकालिकमिच्छाजन्यं ज्ञानमेवाहार्य्यमिति

वृद्धाः । सादृश्यादयस्तु प्रयोगोपाधयः, पर्य्युदासे त्वार्थिकार्थाः । तदुक्तं हरिणा—

तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता ।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः ॥ इति ।

तत्सादृश्यं—गर्दभेऽनश्वोऽयमित्यादौ । अभावस्तु प्रसज्यप्रतिषेधे वक्ष्यते । तदन्यत्वम्—अमनुष्यं प्राणिनमानयेत्यादौ, तदल्पत्वम्—अनुदरा कन्या इत्यत्र अर्थात्स्थूलत्वनिषेधेनोदरस्याल्पत्वं गम्यते । अप्राशस्त्यं ब्राह्मणे—अब्राह्मणोऽयमिति प्रयोगे । विरोधः असुरः—अधर्म इति प्रयोगे ।

नञर्थं निरूपयितुमारभते—नञिति । अत्रेदं बोध्यम्—

द्वौ नञौ समनुख्यातौ पर्युदासप्रसज्यकौ ।
पर्युदासः सदृग्ग्राही प्रसज्यस्तु निषेधकृत् ॥
प्राधान्यं तु विधेर्यत्र प्रतिषेधेऽप्रधानता ।
पर्युदासः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ् ॥
अप्राधान्यं विधेर्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता ।
प्रसज्यप्रतिषेधोऽयं क्रियया सह यत्र नञ् ॥

तत्र=द्विविधनञ्मध्ये । आरोपविषयत्वमिति । आरोपमात्रं नञर्थः विषयत्वं तु संसर्ग इति बोध्यम् । आरोपश्च—तदभाववन्निष्ठ-विशेष्यतानिरूपित—तन्निष्ठ प्रकारताकप्रतीतिविषयत्वम् । एवञ्च—अब्राह्मण इत्यादौ पर्युदासस्थले—ब्राह्मणत्वाभाववत् - क्षत्रियादिनिष्ठविशेष्यतानिरूपितब्राह्मणत्वनिष्ठप्रकारताकप्रतीतिविषयीभूताब्राह्मणक्षत्रियादिरिति बोधः । प्रवृत्तिनिमित्तमिति । वाच्यत्वे सति वाच्यवृत्तित्वे सति वाच्योपस्थितीयप्रकारताश्रयत्वं प्रवृत्तिनिमित्तत्वम् । तदेवाह—घटत्वब्राह्मणत्वादीति । एवञ्च यत्र नञ् - समभिव्याहारः तत्पदमारोपितप्रवृत्तिनिमित्तबोधकं भवतीत्यत्र नञ् तात्पर्यग्राहकं भवति । यथा अब्राह्मण इत्यत्र नञ्समभिव्याहृतं ब्राह्मणपदम् आरोपितब्राह्मणत्वबोधकम्, अत्र च नञ् तात्पर्यग्राहकम् । एवञ्च—आरोपितब्राह्मणत्वान्—इति बोधः । अत एव=नञ् निपातस्य आरोपितार्थद्योतकत्वादेव । अत एव च=नञः आरोपितार्थद्योतकत्वेन तत्पुरुषस्योत्तरपदार्थप्राधान्यसत्त्वादेवेत्यर्थः । सर्वनामकार्यम्=सर्वनामसंज्ञाप्रयुक्त-स्मायाद्यादेशरूपमिति भावः । अन्यथा=उत्तरपदार्थस्य प्राधान्याभावे पूर्वपदनञर्थस्य प्राधान्यस्वीकारे उत्तरपदार्थस्य विशेषणत्वे इत्यर्थः । गौणत्वान्न स्यादिति । यदि नञ् शब्दो भिन्नार्थस्य वाचकः स्यात् तदर्थस्य प्राधान्यं च स्यात्तदा अतस्मै ब्राह्मणाय इत्यादौ तत् शब्दस्य सर्वनामत्वं न स्यात्, तेन यथा अतिसर्व इत्यादौ सर्वकर्मकातिक्रमणकर्ता—इत्यर्थे सर्वशब्दस्य प्रकारताप्रयोजकतया अन्यपदार्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितोपस्थितीयप्रकारताप्रयोजकत्वरूपो

पसर्जनत्वस्य सत्त्वात् 'संज्ञोपजर्नीभूतास्तु न सर्वादय' इति सर्वनामत्वनिषेधात् तत्प्रयुक्त कार्यं न भवति तथैव अतस्मै, असर्वे इत्यादावपि गौणत्वात् सर्वनामत्वनिषेधात् तत्प्रयुक्तं कार्यं न स्यादिति भावः। सदृश एवेति। अब्राह्मणमानय-इत्युक्ते ब्राह्मणसदृशमनुष्य एवानीयते, नह्यसौ लोष्ठमानीय कृती भवतीति 'भृशादिभ्य' (३।१।१२) इति सूत्रभाष्योक्तेः यत्सादृश्यविशिष्टं भवति तत्रैव प्रवृत्तिनिमित्तस्यारोपो भवतीत्यर्थः। ननु तर्हि पर्युदासे निषेधप्रतीतिः कथमत आह—निषेधस्त्वार्थः इति। पर्युदासस्थले शब्दतो न निषेधप्रतीतिरपितु निषेधे पर्यवसानात् आर्थी निषेधप्रतीतिरिति भावः। आरोपपदार्थमाह—अन्यस्मिन्निति। तदभाववति तद्धर्मारोपः आहार्यज्ञानरूपो भवति। बाधकालिकमिति। बाधनिश्चयकालेऽपि इच्छामात्रेण यत् ज्ञानं कल्प्यते तदाहार्यमित्युच्यते। यथा घटो पटत्वाभाववानिति निश्चयदशायामपि अयं पट इति ज्ञानमिच्छया जायते तदाहार्यम्। अयमेव भ्रमः उच्यते, तद्धर्माभाववन्निष्ठविशेष्यतानिरूपित–तद्धर्मनिष्ठप्रकारतानिरूपकज्ञानस्यैव भ्रमत्वस्वीकारादिति तार्किकाः। ननु आहार्यज्ञानस्थले सादृश्यादिप्रतीतिः कथमत आह—सादृश्यादय इति। अयं भावः–तत्रारोपरूपोऽर्थः शब्दशक्त्या प्रतीयते सादृश्याद्यर्थानां प्रतीतिस्तु आर्थीवृत्त्या (अर्थात्) लभ्यते। पर्युदासे तर्हि कथं सादृश्यादीनां प्रतीतिरत आह–पर्युदासेत्त्विति। पर्युदासस्थले प्रवृत्तिनिमित्तारोपो भवति। अयं चारोपः सदृशे एव भवति। एवञ्चारोपविषयत्वरूपोऽर्थः नञः शब्दवृत्त्या प्रतीयते किन्तु सादृश्यप्रतीतिस्तु अर्थत एव भवति, सदृशे एवारोपादिति बोध्यम्। नञः षट् आर्थिकाः = आर्थीवृत्त्या प्रतीयमानाः अर्थाः सन्ति न तु शाब्दीवृत्त्या। अत एव कारिकायाम् अभावभेदयोरुभयोर्ग्रहणं चरितार्थम्। शाब्दीप्रतीतिस्वीकारे तदसङ्गतिः स्पष्टैवेति बोध्यम्। के ते सादृश्यादयोऽर्था अत आह—तदुक्तमिति। अत्र कारिकोक्तेषु षडर्थेषु —अभावः प्रसज्यप्रतिषेधस्थले प्रतीयते; अन्ये पञ्चार्थाः पर्युदासस्थले प्रतीयन्ते इति बोध्यम्। अत्रापि सादृश्यं व्यापकमतएव–'पर्युदासःसदृग्ग्राही'त्यादि वचनम्। उदाहरणान्निरूपयति—तत्सादृश्यमिति। अनश्वोऽयमित्यत्र आरोपिताश्वत्ववानिति शब्दतो बोधः, अश्वसदृशोऽयं गर्दभ इति त्वार्थो बोधः। अमनुष्यम् = मनुष्यभिन्नम्, अनुदरा=ईषदुदरविशिष्टा, अब्राह्मणः = अप्रशस्तब्राह्मणः, असुरः = सुरविरुद्धः, अधर्मः = धर्मविरुद्धः। अत्र सर्वत्र आरोपितत्वमेव शाब्दीवृत्त्या अन्ये चार्थाः आर्थीवृत्त्या लभ्यन्ते इति ज्ञेयम्। अभावस्य विषये प्रसज्यप्रतिषेधप्रसङ्गे विचारयिष्यते।

नञ् का अर्थ

नञ् दो प्रकार का है—(१) पर्युदास और (२) प्रसज्यप्रतिषेध। इन (दोनों) में आरोपविषयता नञ् पर्युदास का द्योत्य है। और आरोपविषयता का द्योतक होना—नञ् का (अपने) समभिव्याहृत घटादि पदों के आरोपित प्रवृत्तिनिमित्त के बोधक होने में तात्पर्यग्राहक होना—है। [अर्थात् [पर्युदास नञ् का प्रयोग होने पर नञ् से

समभिव्याहृतपद आरोपितप्रवृत्तिनिमित्तवाला है—इस बोध में नञ् तात्पर्यज्ञान कराता है। इसलिए 'अब्राह्मणः' आदि में ब्राह्मणपद आरोपितब्राह्मणत्ववान् का बोधक है—इसमें नञ् तात्पर्यग्राहक होता है।) प्रवृत्ति के निमित्त घटत्व ब्राह्मणत्व आदि हैं। (आरोपित प्रवृत्तिनिमित्त का बोध होता है) इसीलिये—अब्राह्मणः आदि में 'आरोपितब्राह्मणत्ववाला क्षत्रिय आदि' यह बोध होता है। (पर्युदास नञ् द्योतक होता है) इसीलिए—नञ् तत्पुरुष उत्तरपदार्थप्रधान होता है—यह प्रवाद संगत होता है। (आरोपविषयता के द्योतक होने से उत्तर पदार्थ प्रधान रहता है) इसलिए 'अतस्मै ब्राह्मणाय' 'असः शिवः' आदि में सर्वनामकार्य (होता है)। अन्यथा (उपर्युक्तरीति न मानने पर) गौण होने के कारण वह (सर्वनाम-संज्ञाप्रयुक्त कार्य) नहीं हो सकता। [क्योंकि 'संज्ञोपसर्जनीभूतास्तु न सर्वादयः; यह नियम है।] प्रवृत्तिनिमित्त का आरोप तो सदृश में ही होता है अतः 'पर्युदास सदृश का बोधक है' यह प्रवाद है। पर्युदास में निषेध [का ज्ञान] तो आर्थ [अर्थ से प्रतीत होने वाला है]। अन्य में अन्य धर्म का आरोप तो आहार्यज्ञानरूप है। बाधकाल में होनेवाला, इच्छाजन्य ज्ञान ही आहार्य है—ऐसा वृद्ध [लोग कहते हैं। वास्तव में जो नहीं है या जिसका बाध है उसका भी इच्छावशात् ज्ञान होने पर उसे आहार्यज्ञान कहा जाता है। सादृश्य आदि तो प्रयोगरूप उपाधि को मान कर प्रतीत होते हैं, पर्युदास में आर्थिक अर्थ होते हैं। [तात्पर्य यह है कि ऐसे स्थलों पर सादृश्यादि अर्थों की प्रतीति शब्द से न होकर अर्थ से होती है।] जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है—[वास्तव में यह कारिका वाक्यपदीय में नहीं है।]

(१) उसका सादृश्य, (२) अभाव, (३) उससे भिन्नता, (४) उसकी अल्पता, (५) अप्रशस्तता=निन्दा, (६) विरोध [ये]—छह नञ् के [आर्थिक] अर्थ कहे गये हैं।

[क्रमशः उदाहरण] (१) 'अनश्वोऽयम्' [यह अनश्व है] इत्यादि में उस [अश्व] का सादृश्य है। [अर्थात् यह गधा घोड़े के समान है—यह बोध होता है।] (२) अभाव तो प्रसज्यप्रतिषेध में कहा जायगा। (३) उससे भिन्न होना—'अमनुष्य प्राणी को लाओ' [मनुष्य से भिन्न प्राणी को लाओ]—इत्यादि में [प्रतीत होता है।] (४) उसका अल्प होना—अनुदरा कन्या—इसमें है। स्थूलता के निषेध से उदर का अल्प होना अर्थतः प्रतीत हो जाता है। [अल्प उदरवाली यह प्रतीति आर्थी है।] (५) अप्रशस्त होना—ब्राह्मण में अब्राह्मण है—इस प्रयोग में [प्रतीत होता है।] अप्रशस्त, निन्दित ब्राह्मण यह आर्थी प्रतीति है। (६) विरोध—असुर, अधर्म इस प्रयोग में है। [सुरविरुद्ध, धर्मविरुद्ध—यह आर्थी प्रतीति है।]

पर्य्युदासस्तु स्वसमभिव्याहृतपदेन सामर्थ्यात्समस्त एव। क्वचित्तु "यजतिषु येयजामहं करोति नानुयाजेषु" इत्यादौ घटः अपटो भवतीत्यर्थके

घटो न पट इत्यादौ च समासविकल्पादसमासेऽपि। अत्रान्योन्याभावः फलितो भवति।

प्रसज्यप्रतिषेधस्तु समस्तोऽसमस्तश्चेति द्विविधः। तत्र विशेष्यतया क्रियान्वयनियमात् सुबन्तेनासामर्थ्येऽपि "असूर्यललाटयोः" [पा० सू० ३।२।३६] इत्यादिज्ञापकात् समासः। तदुक्तम्—

प्रसज्यप्रतिषेधोऽयं क्रियया सह यत्र नञ्। इति।

अत्र क्रियापदं गुणस्याप्युपलक्षणमिति बहवः। अत एव "नञ्" [पा० सू० २।२।६] सूत्रे भाष्ये "प्रसज्यायं क्रियागुणौ ततः पश्चान्निवृत्तिं कुरुत" इत्युक्तम्। उदाहरणम्—नास्माकमेकं प्रियमिति। एकप्रियप्रतिषेधे बहुप्रियप्रतीतिः। एवं 'न सन्देहः, नोपलब्धिः' इत्याद्युदाहरणं गुणस्य। सन्देहादीनां गुणत्वात्।

क्रियोदाहरणम्—'अनचि च' [पा० सू० ८।४।४७] 'गेहे घटो नास्ति' इत्यादि। तस्य समस्तस्य तु अत्यन्ताभाव एवार्थः। असमस्तस्य तु अत्यन्ताभावोऽन्योन्याभावश्च। तादात्म्येतरसम्बन्धाभावोऽत्यन्ताभावः। तादात्म्यसम्बन्धाभावोऽन्योन्याभावो, भेद इत्यर्थः। 'असूर्य्यम्पश्या राजदाराः, गेहे घटो नास्ति, घटो न पटः' इत्युदाहरणानि। प्रागभावप्रध्वंसाभावौ तु न नञ्द्योत्यौ।

पर्युदास-प्रसज्यप्रतिषेधयोर्विषयभेदं प्रतिपादयितुमाह—पर्युदासस्त्विति। समव्याहृतेति। उत्तरपदेनेतिभावः। यजतिष्विति। अत्र मन्त्रे यजतिशब्दो यागसामान्यवाची, अनुयाजशब्दश्च यागविशेषवाची—'पञ्च प्रयाजाः, त्रयोऽनुयाजा इति' स्मरणात्। अत्र 'येयजामहशब्दस्तद्घटितमन्त्रवाचकः, करोतिश्चोच्चारणार्थको नञर्थः आरोपितत्वम्। एवञ्च—आरोपितानुयाजत्वविशिष्टेषु यागेषु येयजामहशब्दघटितं मन्त्रमुच्चारयेति बोधः। भेदे अर्थे तु प्रतियोगित्वेनान्वयेनानुयाजभिन्नेष्वित्यर्थे सप्तम्यनुपपत्तिः। समासविधीनां "विभाषा" [पा० सू० २।१।११] इत्यधिकारान्तर्गतपठितत्वादिति भावः। फलित इति। शाब्दार्थस्तु आरोपितत्वमेव, तेन आरोपितपटत्वान् घट इति शाब्दबोधः। अन्योन्याभावस्य प्रतीतिस्तु आर्थीति भावः। एवञ्च प्रायिकत्वेन समासे क्वाचित्कत्वेन व्यासे च पर्युदासनञ् प्रयुज्यते इति सारम्।

प्रसज्यप्रतिषेधविषये आह—प्रसज्येति। तत्र=समस्तासमस्तयोर्मध्ये इत्यर्थः। ननु समासे प्रसज्यप्रतिषेधे किम्मानमत आह—ज्ञापकादिति। अत्रेदं बोध्यम्—सूर्यं न पश्यन्ति-इत्यर्थे "असूर्यललाटयोर्दृशितपोः" [पा० सू० ३।२।३६] इति सूत्रं असूर्यो-

पपदात् दृश्धातोः खश्-विधानं करोति । तन्न सम्भवति, सूर्यं न पश्यन्तीत्यर्थे नञर्थस्य विशेष्यतया दृशिक्रियायामन्वयात् सुबन्तेन सूर्यशब्देनान्वयाभावात् सामर्थ्याभावेन तदप्राप्तेः । एवं च व्यर्थीभूय तत्सूत्रम्—असूर्यशब्दे समासं ज्ञापयति । क्रियायामन्वये मानमाह—तदुक्तमिति । अतएव=प्रसज्यनञः क्रियागुणोभयोर्निषेधबोधकत्वादेवेत्यर्थः । प्रसज्य=विधाय । ततः=विधानादित्यर्थः, केचित्तु 'ततः' इत्यस्य व्याख्यानं 'पश्चादि'ति प्राहुः । तत्र हि "भाष्ये नञ्समासे उत्तरपदार्थप्राधान्ये सति इदं सङ्गृहीतं भवति । किम् ? अनेकमिति । किमत्र सङ्गृहीतम् ? एकवचनम् । कथं पुनरेकस्य प्रतिषेधे बहूनां सम्प्रत्ययः स्यात् ? प्रसज्यायं क्रियागुणौ ततः पश्चान्निवृत्तिं करोति । तद्यथा—आसय, शायय, भोजय अनेकमिति" । अत्र कैयटः—"निराश्रययोश्च क्रियागुणयोरसम्भवादनियतसंख्यद्रव्याक्षेपे सत्येकप्रतिषेधाद् बहूनां प्रतीतिरित्यर्थः । एतच्च प्रसज्यप्रतिषेध उच्यते ।" अग्रे च भाष्ये "यद्यपि तावदत्रैतच्छक्यते वक्तुं यत्र क्रियागुणौ प्रसज्येते । यत्र तु खलु पुनर्न प्रसज्येते तत्र कथम्—अनेकं तिष्ठति ।" कैयटोऽत्र—"यत्र तु पूर्वमेव प्रतिषेधः पश्चात् क्रियागुणविधानं तत्र कथं बहूनां सम्प्रत्यय इति प्रश्नः । भाष्ये "भवति चैवंजातीयकानामप्येकस्य प्रतिषेधेन बहूनां सम्प्रत्ययः । तद्यथा—न न एकं प्रियम्, न न एकं सुखमिति ।" भाष्योक्तमेवोदाहरणमाह—उदाहरणमिति । अत्र एकत्वसंख्यायाः प्रतिषेधेन बहुत्वादिसंख्यान्तरप्रतीतिर्भवति । एतदेवाह—बहुप्रियप्रतीरिति । भाष्ये 'न न एकमित्यत्र' द्वितीयो 'नः' इति अस्माकमित्यर्थे बोध्यः । अत एव अत्र ग्रन्थे—'न अस्माकं (नः) एकं प्रियमिति पाठः । न चात्र 'अस्ती' त्यध्याहाराद्—एककर्तृकसत्तैव निषिध्यते इति वाच्यम्, प्रसज्यक्रियागुणौ ततः पश्चान्निवृत्तिं करोति इति भाष्यविरोधात् । एवमेवाग्रिमोदाहरणयोरपि गुणनिषेध एव । एतदेवाह—गुणत्वादिति ।

समासस्थले क्रियाप्रतिषेधस्यादोहरणमाह—क्रियेति । अनचि चेति । अजव्यवहितपूर्वत्वावच्छिन्नयर्निष्ठस्थानितानिरूपितादेशतावद्द्वित्वकर्तृकसत्ताप्रतियोगिकोऽभाव इति बोधः । गेहे घटो नास्तीति । गेहनिरूपिताधेयतावद्घटकर्तृकसत्ताप्रतियोगिकाभावबोधः । तस्य=प्रसज्यप्रतिषेधस्य समस्तस्य=समासस्थलीयस्य । असमस्तस्य त्विति । प्रसज्यप्रतिषेधनञः पर्युदासनञश्च । एवञ्च—असमस्तस्य प्रसज्यप्रतिषेधनञोऽत्यन्ताभावोऽर्थः, असमस्तस्य पर्युदासनञस्तु अन्योन्याभावः आरोपविषयत्वञ्चार्थ इति बोध्यम् । पर्युदासत्वञ्च—आरोपविषयताद्योतकत्वम्, प्रसज्यप्रतिषेधत्वञ्च—क्रियागुणान्यतर-प्रतियोगिकाभावद्योतकत्वम् । उभयाभावयोः स्वरूपं प्रतिपादयति—तादात्म्येति । तस्य आत्मा=स्वरूपं—तदात्मा, तदात्मनो भावस्तादात्म्यम्, अभेद इत्यर्थः । अत्रेदं बोध्यम्—अत्यन्ताभावशब्दोऽन्वर्थसंज्ञकः । तथाहि—अन्तमतिक्रान्तोऽत्यन्तः, अन्तम्=स्वप्रतियोगिनिष्ठाभावप्रतियोगित्वम्, अतिक्रान्तः=व्यभिचरितः—इति अत्यन्तः=

तादृशस्वप्रतियोगित्वव्यभिचारी स चासावभावश्चेति कर्मधारयः। इदञ्च योगार्थ-प्रदर्शनमेव। अत्यन्ताभावस्य लक्षणन्तु–तादात्म्येतरसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिकाभाववत्त्वमेव। अन्योन्याभाववत्त्वम्—अन्योन्यस्मिन् तादात्म्येनाभावः=अभवनमिति व्युत्पत्त्या तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताकाभाववत्त्वमन्योन्याभाववत्त्वमिति। अन्योन्या-भावशब्दस्य सिद्धिप्रकारः–'कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वे वाच्ये' इति वार्त्तिकेनान्यशब्दस्य द्वित्वे बहुलग्रहणाद् समासवद्भावाभावे द्वित्व–पूर्वभूतान्यप्रकृतिकसप्तम्याः सावादेशे—अन्योन्यङि–इत्यस्य अभावशब्देन समासः, बहुलग्रहणेनैव सोरलुक् "सुपो धातुप्राति-पदिकयोः" [पा० सू० २।४।७१] इति सप्तम्याश्च लुक् भवति। एवंरीत्या अन्योऽन्यशब्दः सिध्यति। समस्तस्थले–अत्यन्ताभावोऽर्थ उक्तस्तस्योदाहरणमाह—असूर्यम्पश्या राजदाराः। सूर्यकर्मक-दर्शनप्रतियोगिकाभाववन्तः राजदारा इतिबोधः। असमस्तस्थले अन्योन्याभावोप्यर्थ उक्तस्तस्योदाहरणमाह–घटो न पटः। आरोपित-पटत्ववान् घट इति शाब्दबोधे घटत्वावच्छिन्न-प्रतियोगितानिरूपकभेदविशिष्टो घट इत्यन्योन्याभावः फलितो भवतीति बोध्यम्। ननु इह घटो भविष्यति। इत्यादौ भवि-ष्यतो घटस्य स्वाधिकरणे कपालादौ योऽभावः सः प्रागभाव इत्युच्यते एवमेव भूतस्य घटस्य यो 'घटो नष्टः' इत्यादिवाक्यबोध्यः सः प्रध्वंसाभावः इत्युच्यते, अनयोरपि अभा-वत्वात् नञ्द्योत्यत्वापत्तिरत आह–प्रागभावेति। अनयोर्नञाऽद्योत्यत्वे शब्दशक्तिस्वभावः कारणम्, नञोऽभावेऽनयोः सर्वानुभवसिद्धा प्रतीतिश्च प्रमाणमिति बोध्यम्। ननु रक्ते घटे श्यामो नास्ति, कपाले घटो नास्तीत्यादौ क्रमशः ध्वंसप्रागभावौ नञा प्रतीयेते, तौ च नञो द्योत्याविति चेन्न, तत्रापि अत्यन्ताभावावगाहिज्ञानस्यैव सत्त्वात्। अन्यथा घटः पूर्वं रक्तः ततः श्यामः, ततः पुनरपि रक्तः, तत्र मध्ये श्यामरूपतादशायां रक्तंरूपं नास्तीति प्रत्ययस्योत्पत्तिः कथं स्यात्। तस्मात् प्रागभावप्रध्वंसाभावौ अत्यन्ताभावा-तिरिक्तौ नेति दीधित्यादौ विस्तरः।

पर्युदास तो–स्व [नञ्] से समभिव्याहृतपद के साथ सामर्थ्य के कारण समास में ही [प्रायः होता है]। कहीं कहीं "यजतिषु येयजामहं करोति' इत्यादि [व्यास] में और 'घटः अपटो भवति' [घट अपट होता है।] इस अर्थवाले 'घटो न पटः' [घट पट नहीं है] इत्यादि में समासविकल्प होने से असमास में भी [होता है]। यहां अन्यो-न्याभाव फलित होता है।

प्रसज्यप्रतिषेध तो दो प्रकार का [होता है]–[१] समस्त [समासस्थलीय] और [२] असमस्त [असमासस्थलीय]। इन [दोनों] में नञ् का विशेष्यत्वरूप से क्रिया में अन्वय होने का नियम होने से सुबन्त के साथ [नञ् के] सामर्थ्य के न होने पर भी "असूर्यललाटयोः दृशितपोः" [पा० सू० ३।२।३६] इत्यादि ज्ञापक [बल] से समास [होता है]।

विमर्श—सूर्य न पश्यन्ति—इस अर्थ में 'असूर्यम्पश्या' यह प्रयोग होता है। परन्तु यहां नञर्थ का क्रिया के साथ अन्वय होता है सुबन्त सूर्य के साथ नहीं। इसलिए नञ् और सूर्य का सामर्थ्य न होने के कारण समास नहीं होने से "असूर्यललाटयोः दृशितपोः" [पा० सू० ३।२।३६] इस सूत्र से असूर्य उपपद दृश् धातु से खश् प्रत्यय का विधान व्यर्थ होने लगेगा। वही व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि यहां ऐसे स्थल पर भी सामर्थ्य है और समास होता है। तभी खश् प्रत्यय का विधान सगत होता है।

अनु०—जैसा कि कहा गया है—

जहाँ क्रिया के साथ नञ् अन्वित होता है वहाँ प्रसज्यप्रतिषेध है।

इस [कारिका] में क्रिया पद गुण का भी उपलक्षण [बोधक है],–ऐसा बहुत लोग कहते हैं। प्रसज्यप्रतिषेध नञ् क्रिया एवं गुण दोनों के निषेध का बोधक है] इसलिये "नञ्" [पा० सू० २।२।६] सूत्र पर भाष्य में यह कहा गया है "यह [प्रयोक्ता आदि] क्रिया और गुण की प्रसक्ति=विधान करके बाद में निवृत्ति=प्रतिषेध करता है। [इस प्रसज्यप्रतिषेध का] उदाहरण "न अस्माकम् एकम् प्रियम्" [हमारा एक प्रिय नहीं है] एक प्रिय के प्रतिषेध में बहुत प्रियों की प्रतीति [होती है]। इसी प्रकार 'न सन्देहः, न उपलब्धिः' इत्यादि गुण के उदाहरण [हैं]। क्योंकि सन्देह आदि गुण [होते हैं।] सन्देह का अत्यन्ताभाव, उपलब्धि का अत्यन्ताभाव—यह अर्थ है।]

क्रिया का उदाहरण–'अनचि च' [पा० सू० ८।४।४७] 'गेहे घटो नास्ति' इत्यादि। इस समासस्थलीय [प्रसज्यप्रतिषेध नञ्] का तो अत्यन्ताभाव ही अर्थ है। असमासस्थलीय [प्रसज्यप्रतिषेध नञ् का] तो अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव अर्थ है। तादात्म्य से भिन्न सम्बन्ध का अभाव अत्यन्ताभाव है। तादात्म्यसम्बन्ध का अभाव= अन्योन्याभाव भेद यह अर्थ है। असूर्यम्पश्याः राजदाराः, गेहे घटो नास्ति, घटो न पटः–इत्यादि उदाहरण हैं। प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव तो नञ् के द्योत्य [अर्थ] नहीं हैं।

विमर्श—उपर्युक्त उदाहरणों में असूर्यम्पश्याः राजदाराः और 'अनचि च' ये समासस्थलीय नञर्थ अत्यन्ताभाव के, गेहे घटो नास्ति, यह असमासस्थलीय नञर्थ अत्यन्ताभाव का और 'घटो न पटः' अन्योन्याभाव का उदाहरण है। क्योंकि प्रसज्यप्रतिषेध दो प्रकार का है–समास और असमास। इनमें अत्यन्ताभाव समास तथा असमास दोनों में होता है। अन्योन्याभाव केवल असमास में होता है। इनसे होनेवाले शाब्दबोध का यह रूप होता है–

(१) असूर्यम्पश्याः राजदाराः—सूर्यकर्मकदर्शनप्रतियोगिकाभाववन्तः राजदाराः।

(२) अनचि च—अजव्यवहित-पूर्वत्वावच्छिन्न-यर्निष्ठ-स्थानितानिरूपित—आदेशतावद्-द्वित्वकर्तृकसत्ताप्रतियोगिकः अभावः।

(३) गेहे घटो नास्ति—गेहनिरूपित—आधेयतावद् - घटकर्तृक—सत्ताप्रतियोगिक अभावः ।

(४) घटो न पटः—आरोपितपटत्ववान् घटः, यहां घटत्वावच्छिन्न—प्रतियोगितानिरूपकभेदविशिष्टः पटः—इस बोध में अन्योन्याभाव फलित होता है !

इनमें प्रथम दो उदाहरण समासस्थलीय नञर्थ के हैं ।

यद्यपि प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव भी अभाव ही होते हैं तथापि ये नञ् से द्योत्य नहीं है क्योंकि भावी घट का अपने अधिकरण कपालादि में जो अभाव—'इह घटो भविष्यति' आदि शब्दों से प्रतिपाद्य है, प्रागभाव कहा जाता है । और उत्पन्न घट के विनाश के बाद 'नष्टो घटः' यह जो व्यवहार है वह प्रध्वंसाभाव है । इन दोनों की प्रतीति नञ् से नहीं होती है, इसमें शब्दशक्तिस्वभाव ही कारण है । वास्तव में इन दोनों अभावों को अत्यन्ताभाव से अतिरिक्त नहीं समझना चाहिए ।

तत्रात्यन्ताभावो विशेष्यतया तिङन्तार्थक्रियान्वय्येव । नञर्थात्यन्ताभावविशेष्यकबोधे तिङसमभिव्याहृतधातुजन्योपस्थितेः कारणत्वात् । तथा च घटो नास्तीत्यादौ घटकर्तृकसत्ताप्रतियोगिकोऽभाव इति बोधः । अत एव 'अहं नास्मि, त्वं नासी'त्यादौ 'घटौ न स्तो घटा न सन्ती'त्यादौ च पुरुषवचनव्यवस्थोपपद्यते । अन्यथा युष्मदादेस्तिङसामानाधिकरण्याभावात् मदभावोऽस्तीत्यादाविव सा न स्यात् । असंदेह इत्यादौ तु आरोपितार्थकनञैव समासः । अत्यन्ताभावस्तु फलित एव । वायौ रूपं नास्तीत्यत्र तु तात्पर्यानुपपत्त्या रूपप्रतियोगिकात्यन्ताभावे लक्षणा । तेन वाय्वधिकरणिका रूपाभावकर्तृका सत्तेति बोधः ।

वस्तुतस्तु समनियताभावैक्यमाश्रित्य फलितार्थ एवायम् । अरूपमस्तीत्यर्थकं वा तत् । एतेनात्यन्ताभावप्रकारकक्रियाविशेष्यको बोध इति तार्किकोक्तमपास्तम् ।

तत्र=अत्यन्ताभावान्योन्याभावयोर्मध्ये इत्यर्थः, निर्धारणे सप्तमी । विशेष्यतयेति । अत्यन्ताभावस्य विशेष्यत्वरूपेण तिङन्तार्थक्रियायामेवान्वयो भवतीति बोध्यम् । कथमिदमत आह—नञर्थेति । अत्र क्रियापदं गुणस्याप्युपलक्षणम्, तिङन्तपदं च कृदन्तस्यापीति बोध्यम् । एवञ्च—नञर्थात्यन्ताभावत्वावच्छिन्न-विशेष्यतानिरूपित-प्रकारतासम्बन्धेन शाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति भावनात्वगुणत्वान्यतरधर्मावच्छिन्नविशेष्यतासम्बन्धेन तिङ्कृत्समभिव्याहृत—धातुगुणवाचकपदान्यतरजन्योपस्थितिः कारणमिति कार्यकारणभावो बोध्यः । अतएव=नञर्थात्यन्ताभावस्य क्रियागुणोभयं प्रति विशेष्यत्वेनान्वयित्वादेवेत्यर्थः । पुरुषवचनव्यवस्थेति । अयं भावः—अहं नास्मीत्यत्र मदभिन्नैकाश्रयवृत्ति-सत्ताभावः इति बोधः, त्वंनासीत्यत्र त्वदभिन्नैकाश्रयवृत्ति—

सताऽभाव इति बोधः। अत्र तिङर्थकर्तुरस्मदर्थे युष्मदर्थे चान्वयात् तिङ्वाच्यकर्तृ-कारकवाचित्वस्य अस्मच्छब्दे युष्मच्छब्दे च सत्त्वात् सामानाधिकरण्यमाश्रित्य "युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः [पा० सू० १।४।१०५] इति 'अस्मद्युत्तमः [पा० सू० १।४।१०७] इति सूत्रद्वयेन मध्यमोत्तमपुरुषव्यवस्थोपपद्यते। एवमेव घटौ न स्तः इत्यत्र द्वित्वावच्छिन्न-घटाभिन्नाश्रयवृत्ति-सत्ताऽभावः इति बोधः; घटाः न सन्तीत्यत्र बहुत्वावच्छिन्न-घटाभिन्नाश्रयवृत्ति-सत्ताभावः इति बोधः। अत्रात्यन्ताभावस्य विशेष्यतया बोधे संख्यायाः घटादावन्वये वचनव्यवस्थोपपद्यते इति बोध्यम्। अन्यथा= नञर्थात्यन्ताभावस्य विशेष्यतया तिङन्तार्थक्रियान्वयित्वाभावस्वीकारे सा=पुरुषव्यवस्था। नन्वेवम् 'असन्देह' इत्यत्र समासे अभावविशेष्यकप्रतीतावुत्तरपदार्थप्राधान्य-प्रतिपादकभाष्यग्रन्थस्य का गतिरत आह—असन्देह इति। एवाञ्चात्र पर्युदास एव न तु प्रसज्यप्रतिषेध इति बोध्यम्। अत्यन्ताभावस्य प्रतीतिः कथमत आह—फलित इति। ननु नञार्थात्यन्ताभावस्य क्रियात्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वे—वायौ रूपं नास्तीत्यत्र वायुनिरूपिताधेयतावद्रूपस्याप्रसिद्ध्या तादृशरूपकर्तृकसत्तायाश्चाप्रसिद्ध्या अप्रसिद्ध-प्रतियोगिकाभावस्यास्वीकारात् विशेष्यतया नञर्थात्यन्ताभावस्य तिङन्तार्थक्रियान्वयित्वं न सम्भवतीति पूर्वोक्तकार्यकारणभावे व्यभिचारः, रूपाभावकर्तृकसत्ताया एव विशेष्यतया बोधस्य सर्वानुभवसिद्धत्वादत आह—वायौ रूपमिति। अयं भावः—अत्र रूपाभावस्यैव बोधविषयतया तात्पर्यविषयत्वम्। एवञ्च रूपपदस्य रूपप्रतियोगिकात्यन्ताभावे लक्षणा, नञ्पदं च तात्पर्यग्राहकम्। कारकस्य क्रियान्वयित्वेन वायोः सत्तायामन्वयः। लक्षणाश्रयणे गौरवादाह—वस्तुस्त्विति। समनियतानामभावानामैक्य-माश्रित्य उक्तबोधः फलितार्थ एव बोध्यः। समनियतत्वञ्च—स्वव्यापकत्वे सति स्वव्याप्यत्वम्, अन्यूनानतिरिक्तवृत्तित्वमिति यावत्। एवञ्च रूपसत्ताऽभावस्य रूपाभाव-समनियतत्वेन अर्थात् यत्र रूपाभावोऽस्ति तत्र रूपकर्तृकसत्ताऽभावोऽपीति तयोः समनियतत्वम्, तेन रूपकर्तृकसत्ताऽभावसिद्धौ सत्यां रूपाभावस्य सुतरां सिद्धिः इति फलति। शाब्दबोधस्तु उक्तकार्यकारणभावानुरोधेन रूपकर्तृकसत्ताऽभाव इत्याकारक एवेति भावः। "प्रसज्यायं क्रियागुणौ पश्चान्निवृत्तिं करोती" ति भाष्यानुरोधेनोक्त-कार्यकारणभावे गुणस्य प्रवेशे वायौ रूपं नास्तीत्यत्र तादृशान्यतरत्वस्य गुणे क्रियाया-ञ्चोभयत्र सत्त्वेन व्यभिचारस्य दुर्वारतयोक्तरीत्या लक्षणाऽप्रसिद्धा शक्तिर्वाश्रयणीयैवेति तत्त्वम्। इतएवारुचेराह—अरूपमिति। 'वायौ अरूपमस्ति' इत्यर्थपरमिदवाक्यम्—वायौ रूपं नास्ति इति। समासस्य वैकल्पिकत्वात् पक्षे प्रस्तुतं वाक्यम्। एवञ्चात्र पर्युदासनञेव बोध्यः। तेन—आरोपितरूपत्ववद्-वाय्वधिकरणक—स्पर्शादिकर्तृकसत्तेति शाब्दबोधे सति वायौ रूपाभावबोधः फलितार्थ एवेति बोध्यमित्यन्यत्र विस्तरः। एतेन=उक्तरीत्येति भावः।

ननु नञर्थात्यन्ताभावविशेष्यकबोधस्वीकारे वैयाकरणाभिमतस्य व्यापारमुख्यविशेष्यकशाब्दबोधस्य उच्छेद इति चेन्न, 'भावप्रधानमाख्यातम्' इति यास्कवचनस्य नञ्समभिव्याहृतेतराख्यातविषयत्वस्य लक्ष्यसिद्ध्यनुरोधेन स्वीकारात्। नैयायिकादिमतेऽपि घटो नास्तीत्यतः घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावकर्तृका सत्तेति बोधाङ्गीकारात् सर्वत्र प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यकबोधस्य उच्छेदस्य दुर्वारत्वात्। तस्मात् लक्ष्यानुरोधेन व्यवस्थाश्रयणीया। अतएवोक्तम्

यश्चोभयोः समो दोषः परिहारस्तयोः समः।

इन [अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव] में अत्यन्ताभाव विशेष्यतया [विशेष्य होते हुए] तिङन्तार्थ क्रिया का ही अन्वयी [होता है] क्योंकि नञर्थ–अत्यन्ताभावविशेष्यक बोध में तिङ् से समभिव्याहृतधातुजन्य उपस्थिति कारण है। यहां तिङन्त पद कृदन्त का और क्रिया गुण का भी उपलक्षण है। और नञर्थ–अत्यन्ताभावत्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपत-प्रकारतासम्बन्धेन शाब्दबोधं प्रति क्रियात्व-गुणत्व-एतदन्यतर-वाचकपदजन्या उपस्थितिः कारणम्—यह कार्यकारणभाव कल्पित होता है।] और इस प्रकार 'घटोनास्ति' इत्यादि में' घटकर्तृकसत्ता-प्रतियोगिकः अभावः'–यह बोध होता है। [नञर्थ अत्यन्ताभाव का क्रिया एवं गुण के प्रति विशेष्य होते हुए ही बोध होता है।] इसीलिए 'अहं नास्मि' [मैं नहीं हूँ] त्वं नासि [तुम नहीं हो] इत्यादि में और घटौ न स्तः [दो घड़े नहीं हैं] घटाः न सन्ति [बहुत घड़े नहीं है] इत्यादि में [क्रमशः] पुरुष [=उत्तम तथा मध्यम] की व्यवस्था तथा [द्वि और बहु] वचन की व्यवस्था उपपन्न होती है। अन्यथा [धात्वर्थ की अपेक्षा नञर्थ अत्यन्ताभाव की विशेष्यता न मानने पर] युष्मद् [तथा अस्मद्] आदि का सामानाधिकरण्य [समानार्थवाचकता] न होने से 'मदभावोस्ति [मेरा अभाव है] इत्यादि के समान वह [पुरुषव्यवस्था] नहीं हो सकती। असन्देहः इत्यादि में तो आरोपित अर्थवाले नञ् के साथ ही समास होता है। [यहां सन्देह का] अत्यन्ताभाव तो फलित [होता है।] वायु में रूप नहीं है—यहां तो तात्पर्य [रूपाभावबोधनरूप] की अनुपपत्ति के कारण रूपप्रतियोगिक अत्यन्ताभाव में लक्षणा [होती है]। इससे वाय्वधिकरणिका रूपाभावकर्तृका सत्ता [वायुरूपी अधिकरणवाली रूपाभावरूपी कर्तावाली सत्ता] यह बोध होता है।

विमर्श—नञर्थ अत्यन्ताभाव तिङन्तार्थ क्रिया में विशेष्यतया अन्वित होता है। 'घटोनास्ति' यहां घटकर्तृकसत्ता-प्रतियोगिक अभाव—यह बोध होता है। इसी प्रकार अहं नास्मि यहां मदभिन्नकर्तृक-सत्ताप्रतियोगिक-अभावः इस बोध में तिङर्थ कर्ता का अस्मदर्थ में अन्वय होता है। दोनों समानाधिकरण हैं। उत्तमपुरुष उपपन्न होता है। इसी प्रकार त्वं नासि यहां भी त्वदभिन्न-एकाश्रयवृत्ति-सत्ताप्रतियोगिकः अभावः इस तिङर्थ कर्ता का युष्मदर्थ में अन्वय होने से युष्मद् में तिङ्वाच्यकारकवाचित्व आ

जाता है जिससे मध्यम पुरुष होता है। घटौ न स्तः यहाँ द्वित्वावच्छिन्न घटकर्तृक-सत्ता-प्रतियोगिक अभावः और घटाः न सन्ति यहाँ बहुत्वावच्छिन्न-घटकर्तृकसत्ता-प्रतियोगिकः अभाव इस बोध में अभाव विशेष्य ही रहता है। अन्य पदार्थ विशेषण-तया भासित होते हैं। अतः कोई अनुपपत्ति नहीं होती है।

उक्त व्यवस्था मानने पर 'वायौ रूपं नास्ति' यहाँ अनुपपत्ति प्रतीत होती है। क्योंकि अत्यन्ताभावस्थल में नञर्थ का क्रिया में अन्वय होता है। चूँकि वाय्वधिकर-णक रूप प्रसिद्ध नहीं है और रूपकर्तृकसत्ता भी अप्रसिद्ध है। और अप्रसिद्धप्रतियोगिक अभाव नहीं माना जाता है। इस लिये प्रस्तुतस्थल में नञर्थ अत्यन्ताभाव का विशेष्यतया तिङन्तार्थ क्रिया में अन्वय मानना ठीक नहीं है। इसके अतिरिक्त, रूप-प्रतियोगिक अभाव का बोध ही अनुभवसिद्ध है। इन आपत्तियों को देखते हुये यही उचित है कि रूप पद की रूपप्रतियोगिक अत्यन्ताभाव अर्थ में लक्षणा की जाय। नञ् पद को तात्पर्यग्राहक माना जाय। वाय्वधिकणिका रूपाभावकर्तृका सत्ता—यह बोध मानना उचित है।

ग्रन्थकार का अपना मत आगे प्रतिपादित है।

अनु०—(वैयाकरणमत में लक्षणा मानना ठीक नहीं है। अतः दूसरा पक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है—)वास्तव में तो समनियत अभाव एक ही होते हैं—यह मानकर यह लक्षणा द्वारा सिद्ध उक्त कथन फलित ही है। अथवा वह (वाक्य) 'अरूप है'—इस अर्थ-वाला है। इससे—अत्यन्ताभावप्रकारक-क्रिया-विशेष्यक बोध होता है—यह तार्किकों का कथन निरस्त हो गया।

विमर्श—समनियत=एक साथ रहने वाले जो भी अभाव होते हैं उन्हें एक माना जाता है। यह एक सिद्धान्त है। इस लिए जब रूपकर्तृकसत्ता के अभाव का बोध होता है तो उसी के समनियत=सदैव साथ रहने वाला रूप का अभाव भी अर्थतः सिद्ध है। क्योंकि जहाँ रूपाभाव है वहाँ रूपकर्तृकसत्ता का अभाव भी है। इस प्रकार दोनों अभाव समनियत हैं। इसलिए वाय्वधिकरणिका रूपाभावकर्तृका सत्ता—यह बोध फलित होता है।

अथवा अब्राह्मणः आदि में जैसे आरोपितब्राह्मणत्ववान् की प्रतीति होती है उसी प्रकार यहाँ आरोपितरूपत्ववान् की प्रतीति होती है। आरोपितरूपत्ववान् यो वायुः, तत्कर्तृका सत्ता—यही बोध होता है। और रूपाभाव का बोध आर्थ ही है शाब्द नहीं।

नन्वेवं घटसत्तारूपोऽर्थः प्रथमं बुद्धो नञा निवर्तयितुमशक्यः, सतो निषे-धायोगात्, असतस्त्वसत्त्वादेव निवृत्तिसिद्ध्या निषेधो व्यर्थः। तदुक्तम्—

सतां च न निषेधोऽस्ति सोऽसत्सु च न विद्यते ।
जगत्यनेन न्यायेन नञर्थः प्रलयं गतः ॥

(खण्डनखण्डखाद्यम्)

इति चेत्, न । बौद्धो हि शब्दो वाचकः, बौद्ध एवार्थो वाच्य इत्युक्तत्वात् बुद्धिसतोऽप्यर्थस्य नञा बाह्यसत्तानिषेधात् । बुद्धौ सन्नपि घटो बहिर्नास्तीत्यर्थात् ।

न च घटास्तिपदाभ्यां या घटविषयाऽस्तिबुद्धिर्जाता सा नञा निवर्त्यते किं बौद्धार्थस्वीकारेणेति वाच्यम् । बुद्धेश्शब्दावाच्यत्वेन नञा तन्निषेधायोगात् । एतेन बौद्धार्थमस्वीकुर्वन्तो नञर्थबोधाय कष्टकल्पनां कुर्वन्तस्तार्किकाः परास्ताः ।

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत" इति गीतोपदेशमूलकसांख्यप्रतिपादित-सत्कार्यवादसिद्धान्तमाश्रित्य शङ्कते—ननु इति । एवम्=तिङन्तार्थप्रकारकनञर्थात्यन्ताभावविशेष्यकबोधस्य घटो नास्तीत्यादौ स्वीकारे इत्यर्थः । निषेधायोगादिति । अयंभावः—घटो नास्तीत्यादौ अभावज्ञाने प्रतियोगिज्ञानं कारणमिति नियमेन पूर्वं प्रतियोगिनः=घटकर्तृकसत्तारूपपदार्थस्य उपस्थितिर्भवति, ज्ञातः सोऽर्थः नञ् शब्देन न निवर्तयितुं शक्यते, विद्यमानस्य पदार्थस्य नञ्सहस्रेणापि निवर्तुयितुमशक्यत्वात् । अविद्यमानस्य च पदार्थस्य स्वत एव निवृत्तिः सिद्धा । एवञ्च विद्यमानस्याविद्यमानस्य च कस्यापि निवर्तनाय नञः आवश्यकता नास्तीति सिध्यति । तदुक्तमिति । खण्डनखण्डखाद्यकारेण श्रीहर्षेण । वस्तुतस्तत्रेदं नास्ति । सः=निषेधइत्यर्थः । न्यायेन=प्रकारेणेति भावः । इत्युक्तत्वादिति । स्फोटवादे शक्तिवादे च शब्दार्थयोः बुद्धिदेशस्थत्वस्य प्रतिपादनादिति भावः । पदार्थानां द्विधा सत्ता—बुद्धिदेशे बाह्यदेशे च । नञा बाह्यदेशस्य सत्तानिषिध्यते । एवमेव 'अस्ती'त्यनेन बाह्यदेशे सत्ता बोध्यते इति भावः । बौद्धसत्तास्वीकारादेव शशशृङ्गादीनां प्रातिपदिकत्वं, निषेधश्च सिद्ध्यति । सा=घटविषयास्तिबुद्धिरित्यर्थः । तत्तद्विषयविषयिण्या बुद्धेरेव नञा वारणसम्भवात् बौद्धपदार्थस्वीकारो व्यर्थ इति पूर्वपक्ष्याशयः । तन्निराकरोति—बुद्धेरिति । अयं भावः—नञोऽसत्त्वे येन शब्देन यस्यास्तित्वं प्रतिपाद्यते तस्यैवाभावो नञा बोध्यते अर्थात् स्वसमभिव्याहृतपदार्थनिष्ठप्रतियोगिताकमेवाभावं नञ् शब्दो बोधयति, घटविषयास्तिबुद्धिः 'घटोऽस्ति' इति शब्दवाच्या नास्ति । एवञ्च नञ् शब्दस्तादृशबुद्धेरभावं बोधयितुं न क्षमः । किञ्च प्रसज्य क्रियागुणौ ततः पश्चान्निवृत्तिं करोतीति भाष्यवचनात्क्रियागुणयोरेव निषेधस्य नञा बोधनात् बुद्धेर्निषेधासम्भव इति बोध्यम् । एतेन=बुद्धेः शब्दावाच्यत्वेन नञा तन्निषेधस्यासम्भवेनेत्यर्थः । कष्टकल्पनाम्=बुद्धेरेव निषेधरूपाम्, शशशृङ्गं नास्तीत्यादौ शृङ्गे शशीयत्वभ्रमादिरूपामित्यर्थः ।

इस प्रकार [घटो नास्ति इत्यादि में नञ् द्वारा सत्ता-प्रतियोगिक अभाव मान लेने पर] पहले ज्ञात हुए घट-सत्तारूपी अर्थ को नञ् द्वारा निवृत्त [दूर] कराना सम्भव नहीं है क्योंकि सत् पदार्थ का निषेध नहीं होता है। और असत् पदार्थ की तो न होने से ही निवृत्ति सिद्ध हो जाती है, अतः [नञ् द्वारा दोनों का] निषेध करना व्यर्थ है। जैसा [खण्डनखण्डखाद्यकार श्री हर्ष ने] कहा है—

सत् पदार्थों का निषेध नहीं [होता] है और असत् पदार्थों में भी वह [निषेध] नहीं है। [नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।] इस न्याय से संसार में नञर्थ प्रलय को चला गया। [अर्थात् कहीं भी नहीं सम्भव नहीं है।]

यदि ऐसा [कहो तो] नहीं [कह सकते], क्योंकि बुद्धिदेशस्थ शब्द ही वाचक होता है और] बुद्धिदेशस्थ अर्थ ही वाच्य (होता है)—यह (शक्ति और स्फोट-प्रकरण में) कहा जा चुका है, अतः बुद्धिसत् (बुद्धि में रहते हुए) भी पदार्थ की बाह्यसत्ता का नञ् से निषेध होता है। क्योंकि (घटो नास्ति आदि में) बुद्धि [देश] में रहता हुआ भी घट बाहर नहीं है, यह अर्थ होता है।

घटः और अस्ति इन दो पदों से जो घटविषयक-अस्तित्व-बुद्धि [उत्पन्न] हुई, वह नञ् से निवृत्त करायी [हटायी] जाती है, अतः बौद्धार्थ स्वीकार करने से क्या लाभ ? ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि बुद्धि तो (इनमें से किसी भी) शब्द की वाच्य (अर्थ) होती नहीं है, अतः नञ् द्वारा उस [बुद्धि] का निवर्तन नहीं कराया जा सकता है। नञ् के अभाव में जिस शब्द से जिसके अस्तित्व का ज्ञान होता है नञ् के आ जाने पर उसी के अभाव का ज्ञान होता है। चूंकि बुद्धि का ज्ञान कराने वाला कोई शब्द नहीं है। अतः नञ् द्वारा उसके अभाव का भी ज्ञान नहीं कराया जा सकता। अतः बुद्धि की निवृत्ति का तर्क ठीक नहीं है]—इस [कथन] के द्वारा—बौद्ध पदार्थ को अस्वीकार करते हुए नञर्थ के बोध के लिए कष्ट कल्पना करने वाले नैयायिक परास्त हो गये।

विमर्श—'शशशृङ्गं नास्ति' आदि में शृङ्ग में शशीयत्व आदि का भ्रम मानकर नैयायिक लोग नञर्थ का उपपादन करते हैं। यह पहले बौद्धार्थविवेचन के प्रसङ्ग में स्फोटनिरूपण के अन्तर्गत लिखा जा चुका है। किन्तु वह क्लिष्ट कल्पनामात्र है। बौद्ध पदार्थ स्वीकार कर लेने पर सरलतया इसकी उपपत्ति हो जाती है। बुद्धिप्रदेश में प्रत्येक पदार्थ की सत्ता रहती है। बाह्यदेश में उसकी सत्ता बताने के लिए 'अस्ति' और अभाव बताने के लिये 'नास्ति' का प्रयोग किया जाता है।

घटो न पट इत्यत्र घटपदस्य घटप्रतियोगिकभेदाश्रये अप्रसिद्धा शक्तिरेव लक्षणा, नञ्पदं तात्पर्यग्राहकम्। तात्पर्यग्राहकत्वं द्योतकत्वमेवेत्युक्तम्। अत एवान्योन्याभावबोधे प्रतियोग्यनुयोगिपदयोः समानविभक्तिकत्वं नियामकमिति वृद्धोक्तं सङ्गच्छते।

यत्तु घटपदं घटप्रतियोगिके लाक्षणिकं नञ्पदं तु भेदवति, अतो घटप्रतियोगिकभेदवान् पट इति बोध इति तार्किकैरुक्तम्। तन्न। भेदवति नञर्थे भेदस्यैकदेशत्वात् तत्र घटार्थानन्वयापत्तेः। 'पदार्थः पदार्थेनान्वेति, न तु पदार्थैकदेशेन' इति न्यायात्। पदद्वये लक्षणास्वीकारे गौरवाच्च। भाष्यमते लक्षणाया निपातानां वाचकत्वस्य च स्वीकाराभावादिति संक्षेपः।

ननु घटो न पट इत्यादौ नञ् शब्दस्य भेदवाचकत्वे भेदे घटस्य प्रतियोगितानिरूपकत्वसम्बन्धेन अन्वयोपपादनार्थम्—'नामार्थयोरभेदातिरिक्तः सम्बन्धोऽव्युत्पन्नः' इति प्रसिद्धव्युत्पत्तौ निपातातिरिक्तविशेषणदाने गौरवमित्यतः आह—घटो न पट इति। एवञ्च घटप्रतियोगिकभेदाश्रयः पट इति बोधः। अन्यथा नञो भेदवाचकतया घटस्य प्रतियोगितया भेदेऽन्वयः, भेदस्य चाश्रयतया पटेऽन्वयः तेन घटपदस्य तिङ्सामानाधिकरण्याभावात् प्रथमानापत्तिरिति बोध्यम्। अत्रत्यो ग्रन्थस्तु भूषणादिरीत्या बोध्यः। नागेशमते तु समासविकल्पात् अपटो भवतीत्यर्थक तत्, एवञ्च पर्युदासनञा आरोपितपटत्ववान् घटः इति शब्दबोधः। अत एव=लक्षणया स्वरीत्या पर्युदासेन वा प्रतियोग्यनुयोगिनोः सामानाधिकरण्यस्योपपादनादेवेत्यर्थः। समानविभक्तिकत्वमिति। एकविभक्तिकत्वमितिभावः। समानविभक्तिकत्वञ्च—स्वप्रकृतिकविभक्तिसजातीयविभक्तिकत्वम्। साजात्यञ्च—विभक्तिनिष्ठ-सुप्विभाजकप्रथमात्वाद्यन्यतमत्वादिना न तु समानानुपूर्वीकत्वेन। विस्तरस्तु व्युत्पत्तिवादादौ द्रष्टव्यः। सङ्गच्छेत इति। लक्षणाया पर्युदासस्य वानङ्गीकारे घटस्य प्रतियोगितानिरूकत्वसम्बन्धेन नञर्थभेदेन्वयः, तस्य च भेदस्य स्वरूपसम्बन्धेन पटेन्वयः। एवञ्च घटपटस्य तिङा सामानाधिकरण्याभावात् प्रथमानापत्तौ वृद्धोक्तं नियामकत्वं विनष्टं स्यादिति बोध्यम्।

तार्किकाणामन्यां युक्तिं निराकर्तुमाह—यत्त्विति। भेदवति—इत्यस्य लाक्षणिकमिति शेषः, घटप्रतियोगिकस्य (घटपदार्थस्य) नञर्थ-भेदवति इत्यस्यैकदेशे भेदेऽभेदेनान्वयः। एवञ्च घटप्रतियोगिकभेदवान् पट इति बोध उपपद्यते इति तेषामभिप्रायः। तन्निराकरोति—तन्नेति। न्यायादिति। अयं भावः—नित्यो गौः, नित्यो घटः इत्यादौ गोपदार्थस्य चैकदेशे गोत्वे घटत्वे च नित्यपदार्थस्यान्वयवारणाय तादृशप्रयोगाणां प्रामाण्यवारणाय च—यत्किञ्चिद्धर्मावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यतासम्बन्धेन शाब्दबोधं प्रति मुख्यविशेष्यतया स्वेतरयत्किञ्चित्-पदजन्योपस्थितिः कारणम्—इति कार्यकारणभावमाश्रित्यैवं व्युत्पत्तिः—पदार्थः पदार्थेनान्वेति न तु पदार्थैकदेशेनेति। पदार्थः=उपस्थितीयविशेष्यताश्रयः, पदार्थेन=उपस्थितीयविशेष्यताश्रयेणैव अन्वेति न तु उपस्थितीयप्रकारताश्रयेणेत्यर्थः। प्रकृते च भेदवत्पदार्थस्यैकदेशो भेदः तस्मिन् घटपदार्थस्य अन्वयोऽसम्भवीति बोध्यम्! ननु देवदत्तस्य गुरुकुलमित्यादौ नित्यसाकाङ्क्षस्थले एकदेशेऽन्वयास्वीकारेऽभीष्टार्थबोधनापत्तिरत आह—पदद्वय इति। लक्षणाया

इति । 'सर्वे सर्वार्थवाचकाः' इति भाष्येण शक्त्यैव निर्वाहात्, लक्षणास्थलेषु अप्रसिद्धशक्त्यैव निर्वाह इति बोध्यम् । निपातानां द्योतकत्वमेवेति भाष्यादौ प्रतिपादितमित्यन्यत्र विस्तरः ।

'घटः पटो न' [घड़ा कपड़ा नहीं है] इसमें घट पद की घटप्रतियोगिक भेदाश्रय [अर्थ] में अप्रसिद्धा शक्ति ही लक्षणा है [इसी में] नञ् तात्पर्यग्राहक है । तात्पर्यग्राहक होना द्योतक होना ही है–यह कहा जा चुका है । इसीलिये अन्योन्याभाव के बोध में प्रतियोगी एवम् अनुयोगी पदों का समानविभक्तिक होना नियामक है–यह वृद्धोक्ति [प्राचीन आचार्यों का कथन] संगत होता है ।

नैयायिक-मत और उसका खण्डन

घट पद घटप्रतियोगिक में लाक्षणिक है, नञ् पद तो भेदवान् में [लाक्षणिक है] इसलिये घटप्रतियोगिकभेदवान् पटः [घट है प्रतियोगी जिसका ऐसे भेदवाला पट–] यह बोध [होता है]—ऐसा जो तार्किकों ने कहा है, वह (ठीक) नहीं (है), क्योंकि नञ् का अर्थ भेदवान् (भेदवाला) होने पर भेद उस (नञर्थ भेदवान्) का एकदेश (विशेषणतया उपस्थित) है, अतः उस (भेद) में घटपदार्थ का अन्वय नहीं हो सकेगा क्योंकि 'पदार्थ पदार्थ में अन्वित होता है न कि पदार्थैकदेश के साथ'—ऐसा न्याय है । (अर्थात् विशेष्यतया उपस्थित एक पदार्थ का विशेष्यतया उपस्थित ही अन्य पदार्थ के साथ अन्वय होता है न कि विशेषणतया उपस्थित पदार्थ के साथ । भेदवान् अर्थ में भेद की उपस्थिति विशेषणतया=एकदेश रूप से है, अतः उसमें अन्य पदार्थ का अन्वय नहीं होता है ।) और घट तथा नञ् दोनों पदों में लक्षणा स्वीकार करने पर गौरव होता है । भाष्यमत में लक्षणा और निपातों की वाचकता नहीं स्वीकार की गयी है, यह संक्षेप है ।

विमर्श—उपस्थितीय विशेष्यताश्रय जो होता है उसे ही पदार्थ कहा जाता है जो उपस्थितीय विशेषणताश्रय होता है उसे पदार्थैकदेश कहा जाता है । एक पदार्थ का अन्य पदार्थ के साथ ही अन्वय होता है, पदार्थ के एकदेश के साथ नहीं, यह व्युत्पत्ति मानना आवश्यक है । अन्यथा नित्या गोः, नित्यः घट आदि में गोत्व एवं घटत्व आदि में नित्य पदार्थ का अन्वय होने लगेगा । उक्त व्युत्पत्ति मानने पर यह अतिप्रसङ्ग नहीं आता है क्योंकि गोत्व एवं घटत्व पदार्थ नहीं है, पदार्थैकदेश हैं । उनके साथ पदार्थ—नित्य का अन्वय नहीं हो सकता । इसी प्रकार प्रस्तुत स्थल में भी भेदवान् ही पदार्थ है, भेद तो उसका एक देश है क्योंकि विशेषणतया उपस्थित है । उसमें घट का अन्वय सम्भव ही नहीं है ।

चूंकि निपात वाचक नहीं है । अतः शक्य=वाच्य का सम्बन्ध लक्षणा—यह भी सम्भव नहीं है । इसीलिए भाष्यकार ने लक्षणादि का संकेत नहीं किया है ।

एवशब्दस्यार्थोऽवधारणमसम्भवश्च। 'एवे चानियोगे' इति वार्तिके नियोगोऽवधारणं तदभावोऽसम्भव इति कैयटोक्तेः। अनयोरर्थयोरेवशब्दो द्योतकः। अतएव तं विनापि तदर्थप्रतीतिः। 'सर्वं वाक्यं सावधारणम्' इति वृद्धोक्तं सङ्गच्छते। लवणमेवासौ भुङ्क्ते इत्यादौ प्राचुर्यार्थकस्य, घट एव प्रसिद्ध इत्यादावप्यर्थकस्य, क्वेव भोक्ष्यसे इत्यादावसम्भवार्थस्य च तस्य सत्त्वमित्यालङ्कारिकाः।

एवपदार्थं निरूपयति—एवेति। अर्थ इत्यस्य द्योत्य इति शेषः। अनयोः= अवधारणासम्भवयोः। अतएव=एवशब्दस्य द्योतकत्वादेव ; तम्=एवशब्दम्। तदर्थ-प्रतीतिः=एवार्थप्रतीतिः। सर्वम्=एवघटितम्, एवाघटितञ्चेत्यर्थः। एवशब्दाभावेऽप्य-वधारणप्रतीतौ पस्पशाह्निकस्थं भाष्यमेव मूलम्। तत्र हि—"अथवा सन्त्येकपदान्यप्य-वधारणानि। तद्यथा—अब्भक्षो वायुभक्ष इति। अप एव भक्षयति वायुमेव भक्षयतीति गम्यते—अत्र भाष्ये 'एकपदान्यपीत्यस्य 'एवरहितान्यपीत्यर्थः वृद्धोक्तमित्यत्र 'च' शब्द शेषो बोध्यः अथवा 'तदर्थप्रतीतेः' इति पञ्चम्यन्त पाठः स्वीकार्यः, इति बोध्यम्। एव शब्दस्य विभिन्नार्थत्वं निरूपयति—लवणमेवेति। प्रचुरं लवणं भुङ्क्ते इत्यर्थः, घटोपि प्रसिद्ध इत्यर्थः क्वेव भोक्ष्यसे इत्यादौ स्थानस्यासम्भवत्वं द्योत्यते इति भावः।

एव पदार्थ का विवेचन

एव के [द्योत्य] अर्थ हैं—अवधारण [निश्चय] और असम्भव। क्योंकि "एवे चानियोगे" इस वार्तिक में नियोग=अवधारण [निश्चय], उसका अभाव= असम्भव—ऐसा कैयट ने कहा है। एव शब्द इन दोनों अर्थों का द्योतक है। इसी लिए एव के बिना भी उस अर्थ की प्रतीति हो जाती है। सभी [एवसहित और एवरहित] वाक्य सावधारण होते हैं—यह वृद्धों का कथन संगत होता है। 'नमक ही खाता है' इत्यादि में प्रचुरता अर्थवाला, घट ही प्रसिद्ध है' इत्यादि में अपि अर्थवाला 'कहां खाओगे' इत्यादि में असम्भव अर्थवाला वह [एव=ही] है—ऐसा आलङ्कारिक [कहते हैं]।

तच्चावधारणं त्रिविधम्। विशेष्यसङ्गतैवकारेऽन्ययोगव्यवच्छेदरूपम् विशेषणसङ्गतैवकारेऽयोगव्यवच्छेदरूपम्, क्रियासङ्गतैवकारेऽत्यन्तायोगव्यव-च्छेदरूपम्।

(१) विशेष्ये—पार्थ एव धनुर्धरः। पार्थेतरावृत्ति यद्धनुर्धरत्वं तादृश-धनुर्धरत्ववान् पार्थ इति बोधः इत्यन्यस्मिन् धनुर्धरत्वसम्बन्धव्यवच्छेदः।

(२) विशेषणे—शङ्खः पाण्डुर एव। अयोगः सम्बन्धाभावः तस्य व्यवच्छेदो निवृत्तिः द्वाभ्यां निषेधाभ्यां प्रकृतार्थदाढ्र्यंबोधनेनाव्यभिचरित-

पाण्डुरत्वगुणवान् शङ्खः इति बोध इत्ययोगव्यवच्छेदः न तु नील इति हि फलति।

(३) क्रियायां—नीलं सरोजं भवत्येव। अत्यन्तोऽतिशयतोऽयोगः सम्बन्धाभावस्तस्य व्यवच्छेदोऽभावः। तथा च कदाचिन्नीलत्वगुणवदभिन्नं यत्सरोजं तत्कर्तृका सत्तेति बोधः। कदाचिदन्यादृशगुणसंयुक्तमित्यपि गम्यते इत्यन्तायोगव्यवच्छेदः।

क्वचिदेवशब्दं विनापि नियमप्रतीतिः। तदुक्तं भाष्ये—"अभक्ष्यो ग्राम्य-कुक्कुट इत्युक्ते गम्यत एतत् आरण्यो भक्ष्य इति।" 'सर्वं वाक्यं सावधारणमि'ति न्यायात्।

त्रिविधमिति—

अयोगमन्ययोगं चात्यन्तायोगमेव च।
व्यवच्छिनत्ति धर्मस्य एवकारस्त्रिधा मतः॥

विशेष्यसङ्गतेति। विशेष्यवाचकपदसङ्गतेत्यादिसर्वत्र बोध्यम्। त्रिविधयोगस्योदाहरणान्याह—विशेष्ये इति। विशेष्यवाचकपदसमभिव्याहृत एवशब्दः विशेष्याद्भिन्ने विशेषणीभूतधर्मस्य सम्बन्धं वारयति यथा पार्थ एव धनुर्धर इत्यत्र पार्थाद्भिन्ने पुरुषे धनुर्धरत्वस्य सम्बन्धं वारयन् पार्थे तद् धनुर्धरत्वं नियमयति। अत एवाह—पार्थेतरा-वृत्तीति। अन्ययोगव्यवच्छेद एवशब्दस्यार्थस्तत्र अन्ययोगे व्यवच्छेदे च खण्डशः शक्तिः। अन्यः=भेदाश्रयः, योगः=सम्बन्धः व्यवच्छेदः=अभावः। पार्थस्य पदार्थैकदेशे भेदे प्रतियोगिकत्वसम्बन्धेनान्वयः, भेदाश्रयस्य वृत्तित्वसम्बन्धेन योगपदार्थे सम्बन्धेऽन्वयः, सम्बन्धस्य स्वप्रतियोगिकत्वसम्बन्धेन अभावे व्यवच्छेदपदार्थेऽन्वयः, अभावस्य धनुर्धरत्वे, धनुर्धरत्वस्य च पार्थेऽन्वयः। एवञ्च पार्थप्रतियोगिक-भेदाश्रयसम्बन्ध-प्रतियोगिकाभाववद् धनुर्धरत्वान् पार्थ इति बोधः, तदन्यो न इति तु फलति। विशेषण-सङ्गतैवकारस्य अयोग अर्थः, तत्र विशेष्ये विशेषणस्य अयोगम्=असम्बन्धं व्यवच्छिनत्ति=निषेधति। एवञ्च शङ्खः पाण्डुर एवेत्यादौ अयोगव्यच्छेदे एवपदार्थे सम्बन्धाभावाभाव इत्यत्र द्वाभ्यां निषेधाभ्याम्=अभावाभ्याम् प्रकृतार्थस्य=पाण्डुरत्वाद्यर्थस्य दृढत्वं बोध्यते। अत्र एवकारः विशेष्ये शङ्खे विशेषणतावच्छेदक-पाण्डुरत्वधर्मसम्बन्धा-भावं व्यवच्छिदन् शङ्खस्य पाण्डुरत्वं नियमयति। एवञ्च शङ्खत्वावच्छेदेन पाण्डुरत्वसम-वायाभावो बोध्यते। पाण्डुरत्वसम्बन्धाभावाभाववान् शङ्खः इति बोधः, न तु नीलः इति फलितार्थः। क्रियावाचकपदसङ्गत एवकार अत्यन्तायोगं व्यच्छिनति। यथा नीलं सरोजं भवत्येव—इत्यत्र सरोजे नीलभवनाभावाभावो बोध्यते। अत्र नीलाभिन्न-

सरोजकर्तृका अतिशयितयोः सम्बन्धाभावस्तदभाववती सत्तेति बोधः। एवञ्चात्र न सकले कमले नीलत्वं नियम्यते नाप्यकमलेऽनीलत्वम् अपि तु यस्मिन् कस्मिन्नपि कमले नीलत्वसम्बन्धो द्योत्यते। तेनान्यगुणसंयुक्तस्यापि कमलस्य प्रतीतिर्भवीति भावः।

एव शब्दप्रयोगाभावेऽपि नियमप्रतीतिरनुभवसिद्धा तामुपपादयन्नाह—क्वचिदिति। अयं भावः—यत्र प्रमाणान्तरेण पाक्षिकप्राप्तिकस्यार्थस्य पाक्षिकाभावनिवृत्तिफलकं विधानम्, यत्र च प्रमाणान्तरेण सामान्ये प्राप्तस्यार्थस्य विशेषे पुनर्विधानम्, यत्र वा प्रमाणान्तरेण सामान्ये प्राप्तस्यार्थस्य विशेषांशे निषेधस्मृतिस्तत्र एव शब्दस्य प्रयोगाभावेऽपि नियमप्रतीतिर्भवति, एव शब्दस्य द्योतकत्वादिति बोध्यम्। स्वोक्तौ प्रमाणमाह—तदुक्तमिति। पस्पशाह्निके महाभाष्ये शब्दोपदेशप्रसङ्गेऽयं विचारः प्रस्तुतः—"किं शब्दानामथवापऽशब्दानामाहोस्विदुभयेषामुपदेशः कर्तव्यः? तत्रान्यतरोपदेशेन निर्वाहसमर्थनाय इदं वाक्यम्—"अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुट इत्युक्ते गम्यत एतत् आरण्यो भक्ष्य इति।" अत्र रागतो ग्राम्यारण्यककुक्कुटसामान्ये प्राप्तस्य भक्षणस्य विशेषांशे [ग्राम्यकुक्कुटे] निषेधश्रुत्या इतरांशे [आरण्यककुक्कुटे] भक्षणस्याभ्यनुज्ञारूपो नियमः प्रतीयते ग्राम्य एव कुक्कुटो न भक्षणीयः, आरण्यकस्तु भक्षणीय इति। अत्र एवशब्दाभावेऽपि नियमप्रतीतिर्भवति, एवशब्दप्रयोगे स्फुटतरा तत्प्रतीतिरिति बोध्यम्। नन्वत्रैतादृशप्रतीतिस्वीकारे किं मूलमत आह–सर्वं वाक्यमिति। एवञ्च एवाभावो न तादृशप्रतीतिप्रतिबन्धक इति बोध्यम्।

और वह अवधारण तीन प्रकार का होता है—(१) विशेष्य के साथ रहने वाले 'एव' में अन्ययोगव्यवच्छेदरूप [अवधारण] (२) विशेषण के साथ रहने वाले 'एव' में अयोगव्यवच्छेदरूप [अवधारण और] (३) क्रिया के साथ रहनेवाले 'एव' में अत्यन्तायोगव्यवच्छेदरूप [अवधारण होता है]।

(१) विशेष्य में [एव के योग का उदाहरण]—पार्थ एव धनुर्धरः [=अर्जुन ही धनुषधारी है]। पार्थ से भिन्न में न रहने वाला जो धनुर्धरत्व, उस प्रकार के धनुर्धरत्ववाला पार्थ [है] यह बोध [होता है]।

(२) विशेषण में (एव के योग का उदाहरण)–शङ्खः पाण्डुर एव=शङ्ख पीला ही (होता है)। अयोग=सम्बन्ध का अभाव, उसका व्यवच्छेद=निवृत्ति, दो निषधों (अभाव और निवृत्ति) से प्रकृत अर्थ की दृढ़ता का बोध होने से—अव्यभिचरितपाण्डुरत्वगुणवान् शङ्खः (कभी भी न व्यभिचरित होनेवाले, सदैव साथ में रहने वाले पाण्डुरत्व गुणवाला शङ्ख)–यह बोध (होता है)–इस प्रकार अयोग का व्यवच्छेद (है)। न कि नीला (है) यह तो फलित (होता है)।

(३) क्रिया में (एव के योग का उदाहरण)—नीला कमल होता ही है। अत्यन्त=अतिशयित, अयोग=सम्बन्धाभाव, उसका व्यवच्छेद=अभाव (अर्थात् सर्वदा सम्बन्धा-

भाव का निषेध किया जाता है) और इस प्रकार कभी नीलत्व गुणवाले से अभिन्न जो कमल, तत्कर्तृक सत्ता—यह बोध (होता है)। कभी अन्य गुण (रंग) से संयुक्त (कमल होता है)-यह भी प्रतीत हो जाता है, इस प्रकार अत्यन्त अयोग का व्यवच्छेद (हो जाता है)। (अर्थात् कमल में नीला रंग तो रहता ही है कभी कभी अन्य रंग भी रहता है—यही 'एव' के प्रयोग का फल है।)

कहीं-कहीं एव शब्द के बिना भी नियम की प्रतीति [हो जाती है]। जैसा कि भाष्य में कहा गया है—"गांववाला मुर्गा अभक्षणीय=अखाद्य है" ऐसा कहे जाने पर यह प्रतीत हो जाता है कि जंगलवाला मुर्गा भक्षणीय=खाद्य है," क्योंकि सभी वाक्य अवधारण-विशिष्ट होते हैं यह न्याय है।" [अर्थात् 'अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटः' यहाँ एव न होने पर भी उसका अर्थ प्रतीत हो जाता है—गांववाला ही मुर्गा खाने योग्य है। इससे भिन्न स्थान वाला खाने योग्य नहीं है-यह फलित होता है।]

आलङ्कारिका अपि परिसङ्ख्याऽलङ्कारप्रकरणे प्रमाणान्तरेण प्राप्तस्यैव वस्तुनः पुनः शब्देन प्रतिपादनं प्रयोजनान्तराभावात् स्वतुल्यान्यवच्छेदं गमयतीति। भागवतेऽपि—

लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्यास्तु जन्तोर्न हि तत्र चोदना।
व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञ-सुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा॥
इति। [श्रीमद्भागवतम् ११.५.११]

व्यवसायो=मैथुनम्, आमिषम्=मत्स्यादि, मद्यम्—एतेषां सेवाः जन्तोः=प्राणिमात्रस्य, नित्या=रागतः प्राप्ताः। अतस्तत्र चोदना=विधिर्नास्ति।

नन्वेवम् 'ऋतौ भार्यामुपेयात्' 'हुतशेषम्भक्षयेत्' 'सौत्रामण्यां सुराग्रहान् गृह्णाति' इत्येतेषां वैयर्थ्यम्। भार्यां विवाहिताम्। तत्राह—व्यवस्थितिरिति। तेषु पुनः प्रापणमित्यर्थः। नियमस्यान्यनिवृत्तिफलकत्वादाह—आसु निवृत्तिरिष्टेति। अन्येष्विति शेषः। तदुक्तम्—

विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति।
तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसङ्ख्येति गीयते॥ इति।

स्वर्गकामोऽश्वमेधेन यजेतेति विधिः। क्षुत्प्रतिघातो यद्यपि शशकादिमांसैः श्वादिमांसैश्च भवति, तथापि शशकादिमांसैरेव कर्त्तव्य इति परिसङ्ख्यायते 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या' इत्यनेन, नखविदलनावहननाभ्यां व्रीहेर्निस्तुषीकरणं प्राप्तम्, तत्रावहननेन निस्तुषीकरणं पुण्यजनकमिति 'व्रीहीनवहन्ति' इत्यनेन नियम्यते। यद्यपि परिसङ्ख्यायां नियमे च (१) स्वार्थहानिः, (२) प्राप्तबाधः (३) परार्थकल्पना चेति दोषत्रयम्, तथाप्यनन्यगत्या स्वीक्रियते

इति वृद्धाः । 'पञ्च पञ्चनखा' इत्यस्य नियमत्वेन भाष्ये व्यवहृतत्वात् अन्यनिवृत्तिरूपफलेनैक्याच्च नियमपदेन परिसङ्ख्याऽपि व्याकरणे गृह्यत इति संक्षेपः ।

इति निपातार्थनिरूपणम्

—::०::—

स्वीयोक्तौ आलङ्कारिकानपि प्रमाणत्वेनोपन्यस्यति—आलङ्कारिका इति । मम्मटादय इति भावः । परिसंख्यालक्षणन्तु—

किञ्चित् पृष्टमपृष्टं वा कथितं यत्प्रकल्पते ।
तादृगन्यव्यपोहाय परिसङ्ख्या तु सा स्मृता ॥

का. प्र. उ. १०।११०

अस्यार्थः—शास्त्रपुराणादिरूपप्रमाणान्तरेण ज्ञातमपि वस्तु शब्देन पुनः प्रतिपादितं सत् स्वसदृशवस्त्वन्तरव्यवच्छेदरूपं यत् प्रयोजनं तदपेक्षया यत् प्रयोजनान्तरं तदभावात् स्वसदृशवस्त्वन्तरव्यवच्छेदाय यत् पर्यवसति=फलति सा परिसंख्याभिधीयते । यथा—

किमासेव्यं पुंसां सविधमनवद्यं द्युसरितः
किमेकान्ते ध्येयं चरणयुगलं कौस्तुभभृतः ।
किमाराध्यं पुण्यं किमभिलषणीयं च करुणा
यदासक्त्या चेतो निरवधि विमुक्त्यै प्रभवति ॥

अर्थस्तु सुगमः । अत्र गङ्गातटादेः सेव्यत्वादिकं शास्त्रपुराणादिना सर्वावगतमेवेति न तदवगमाय इदं पद्यमुक्तम्, किन्तु गङ्गाभिन्ननदीतटादेरसेव्यत्वादिप्रतिपादनाय गङ्गातीरादेः सेव्यत्वादिकमुक्तमिति परिसङ्ख्येयम् । एवमेव—

कौटिल्यं कचनिचये करचरणाधरदलेषु रागस्ते ।
काठिन्यं कुचयुगले तरलत्वं नयनयोर्वसति ॥

हे प्रेयसि ! तव कचनिचये एव कौटिल्यं वसति न तु हृदये । अत्र कौटिल्यं वक्रता कपटं च । करचरणाधरदलेषु एव ते रागः न परपुरुषे । अत्र रागः रक्तिमा प्रीतिश्च । कुचयुगले एव ते काठिन्यं न तु हृदये । काठिन्यमत्र दृढता निर्दयत्वं च । नयनयोरेव तरलत्वं न मनसि वसति । अत्र तरलत्वं चञ्चलता अविचार्यकारित्वं च ।

अत्र कौटिल्यादेरितराधिकरणकत्वं व्यवच्छेद्यं व्यङ्ग्यमिति भावः । अत्रापि एवाभावे तदर्थप्रतीतिरनुभवसिद्धा ।

लोके इति । लोके व्यवायामिषमद्यसेवा जन्तोः नित्याः (सन्ति) तत्र चोदना न हि । विवाहयज्ञसुराग्रहैः तेषु व्यवस्थितिः । [एभ्योऽन्येषु] आसु निवृत्तिः इष्टा—इत्यन्वयः । अयमभिप्रायः—मैथुन-मांसभक्षण-सुरापानादिषु मानवानां रागतः स्वभावतः

एव प्रवृत्तिसिद्धाऽस्ति। अत एषु विषये विधानस्य न कापि आवश्यकता। अस्यां स्थितौ "ऋतौ भार्यामुपेयात्" "हुतशेषं भक्षयेत्" "सौत्रामण्यां सुराग्रहान् गृह्णाति" इति विधीनां वैयर्थ्यं प्रसक्तं तदर्थमिदमुच्यते यत् एते विधयः तत्तद्विशेषावसरेषु एव मैथुनादीनां पुनर्विधानं कुर्वन्ति। पुनर्विधानस्य फलन्तु—एतदतिरिक्तेषु मैथुनादीनां निवृत्तिः। अत्रापि एव—शब्दाभावेऽपि नियमप्रतीतिरिति भावः।

ऋतौ भार्यामिति। अत्र त्रिविधनियमप्रतीतिरिति बोध्यम् (१) ऋतावेव, (२) भार्यां=विवाहिताम् एव, (३) उपेयादेव। नारीणां रजोदर्शनादनन्तराः षोडश निशाः ऋतुरित्युच्यते। अत्र प्रथमनियमेन ऋतुभिन्नकाले भार्यागमननिवृत्तिः फलति। द्वितीय-नियमेन विवाहितेतरस्त्रीगमननिवृत्तिः फलति। तृतीयेन अनृतौ अनुपगमे ब्रह्मचर्य-मुक्तम्। अविवाहितागमने, ऋतौ भार्यागमनाभावे च प्रायश्चित्तं तत्र तत्र स्मृतिषु प्रोक्तम्। "ऋतुस्नातां तु यो भार्यां सन्निधौ नोपगच्छति। घोरायां भ्रूणहत्यायां पच्यते" इत्यादि—दोषश्रवणन्तु पत्युः मनसि कामे सत्यपि तस्यां द्वेषादिनाऽनुपगमने बोध्यम्, कामाभावे तु अनुपगमनेऽपि दोषो नास्तीति बोध्यम्। तदुक्तमिति। कुमारिलभट्टपादैरिति भावः।

कारिकार्थः—यस्य यदर्थत्वं प्रमाणान्तरेणाप्राप्तं तस्य तदर्थेन यो विधिः सोऽपूर्व-विधिः। यथा—यजेत स्वर्गकामः इत्यादिः। यागस्य हि स्वर्गार्थत्वं न प्रमाणान्तरेण प्राप्तम्, किन्तु अनेनैव विधिनेति भवत्यपूर्वविधिः। पक्षेऽप्राप्तस्य तु यो विधिः स नियमविधिः। यथा 'व्रीहीनवहन्ति' इत्यादिः, 'अनेन हि विधिना अवघातस्य न वैतुष्या-र्थत्वं बोध्यते, अन्वयव्यतिरेकसिद्धत्वात्, किन्तु नियमः, स चाप्राप्तांशपूरणम्, वैतुष्यस्य हि नानोपायसाध्यत्वात् यस्यां दशायामवघातस्याप्राप्तत्वेन तद्विधानात्मकमप्राप्तांशपूरण-मेवानेन विधिना क्रियते। अतश्च नियमविधौ अप्राप्तांशपूरणार्थको नियम एव वाक्यार्थः। पक्षेऽप्राप्ततादशायामवघातविधानमिति यावत्। न त्वपूर्वविधाविवात्य-न्ताप्राप्ततया विधानमिति। उभयस्य युगपत्प्राप्तौ इतरव्यावृत्तिपरो विधिः परिसङ्ख्या-विधिः। यथा "पञ्च पञ्चनखाः भक्ष्या' इति। इदं हि वाक्यं न भक्षणविधिपरम्, तस्य रागतः प्राप्तत्वात्, नापि नियमपरम्, पञ्चनखापञ्चनखभक्षणस्य युगपत् प्राप्तेः पक्षेऽप्राप्त्यभावात्। अत इदं पञ्चातिरिक्तपञ्चनखभक्षणनिवृत्तिपरमिति भवति परिसङ्ख्याविधिः। इदमेव स्वसिद्धान्तानुसारं प्रतिपादयन्नाह—स्वर्गकाम इति। मीमांसादौ परिसङ्ख्यायां दोषत्रयं प्रतिपादितं किन्त्वत्र नियमेऽपि दोषत्रयं प्रतिपादयन् नियमपदेन परिसङ्ख्याया अपि ग्रहणं प्रतिपादयितुमाह—यद्यपीति। दोषत्रयम्—(१) स्वार्थहानिः—श्रुतस्य स्वार्थस्य पञ्चनखभक्षणस्य हानिः=परित्यागः, (२) परार्थकल्पना (अश्रुतकल्पना)—अश्रुत-पञ्चातिरिक्त-पञ्चनखभक्षणनिवृत्तिकल्पनम्, (३) प्राप्तबाधः—प्राप्तस्य च पञ्चातिरिक्तपञ्चनखभक्षणस्य बाधः। अत्र दोषत्रये आद्यं दोषद्वयं शब्दनिष्ठम्, अन्त्यस्तु प्राप्तबाधरूपदोषोऽर्थनिष्ठ इति बोध्यम्।

ननु परिसङ्ख्यायां दोषत्रयकल्पनापत्तावपि नियमे तत्कल्पने किम्मानमत आह—नियमत्वेनेति । अयं भावः—महाभाष्ये पस्पशाह्निके शब्दोपदेशरीतिनिर्णयावसरे दृष्टान्ततयेदं वाक्यमुपन्यस्तम्—"अन्यतरोपदेशेन कृतं स्यात् । तद्यथा—भक्ष्यनियमेनाभक्ष्यप्रतिषेधो गम्यते "पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः" इत्युक्ते गम्यत एतद्—अतोऽन्येऽभक्ष्या इति । "अत्र कैयटः—अर्थित्वाद् भक्षणं प्राप्तं पञ्चसु पञ्चनखेषु नियम्यमानं सामर्थ्यादन्येभ्यो निवर्तते । न त्वयं विधिः, अप्राप्तेरभावात् ।" उद्द्योतकारस्तु—ननु अस्य परिसङ्ख्यात्वात् कथं नियमत्वेन व्यवहारः । अस्ति च नियमपरिसङ्ख्ययोर्भेदः, पाक्षिकाप्राप्तिकाप्राप्तांशपरिपूरणफलो नियमः, अन्यनिवृत्तिफला च परिसङ्ख्या इति चेन्न, नियमेऽप्यप्राप्तांशपरिपूरणरूपफलबोधनद्वाराऽऽर्थान्यनिवृत्तेः सत्त्वेन अभेदमाश्रित्योक्तेः । एतदेवाभिप्रेत्योपसंहरति—नियमपदेन परिसङ्ख्यापीति ।

अत्रेदं बोध्यम्—नागेशेन सामान्यतयोपसर्गाणां निपातानां च द्योतकत्वं व्यवस्थापितम् । तत्रोपसर्गाणामपि निपातान्तर्गतत्वेन तदर्थविषयेपि समानैव गतिर्भाष्यादौ दृश्यते । अस्मिन् विषये पक्षत्रयमुपलभ्यते—(१) प्रजपतीत्यादौ प्रकर्षाद्यर्थाः केवलधातुतोऽप्रतीयमानाः उपसर्गसम्बन्धादेव प्रतीयन्ते इति उपसर्गाणां विशेषार्थद्योतकत्वमिति प्रथमः पक्षः । तदुक्तं हरिणा—

क्वचित् सम्भविनो भेदाः केवलैरनिदर्शिताः ।
उपसर्गेण सम्बन्धे व्यज्यन्ते प्रपरादिना ॥ वा० प० २।१८७

क्वचित्तु उपसर्गाणां वाचकत्वमपि प्रतीयते । यथा स्था (ष्ठा) धातुर्गतिनिवृत्तिवाचकः, तत्र गत्यर्थस्य प्रत्यायकः प्रशब्द एव । अत एव 'प्रतिष्ठते' इत्यादौ गमनाद्यर्थः प्रतीयते । तदुक्तं हरिणा—

स वाचको विशेषाणां सम्भवाद् द्योतकोऽपि वा । वा प० २।१८८ पूर्वार्ध

तृतीयपक्षस्तु—धातूपसर्गौ सम्भूय अर्थमाहतुः । उपसर्गा विशिष्टार्थाभिधाने सहकारिणः । तदुक्तं हरिणा—

शक्त्याधानाय धातोर्वा सहकारी प्रयुज्यते । वा० प० २।१८८ उत्तरार्ध

अस्यां स्थितौ कः पक्षः सिद्धान्तभूत इति निर्णेतव्यम् । उपसर्गाणां द्योतकत्वं तु सर्वसम्मतम् । प्रतिष्ठते इत्यादावपि तिष्ठतिरेव गतिवाची, धातूनामनेकार्थत्वात् । प्रशब्दस्तु तदर्थगतादित्वस्य द्योतकः । अतएवोक्तं हरिणा

स्थादिभिः केवलैर्यच्च गमनादिर्न गम्यते ।
तत्रानुमानाद्द्विविधात् तद्धर्मा प्रादिरुच्यते ॥ वा० प० २।१८९

उपसर्गाणामिव निपातविषयेऽपि पक्षत्रयं कल्प्यते (१) द्योतकत्वम् (२) वाचकत्वम्, (३) सम्भूयार्थस्य वाचकत्वमिति । अत्रापि हरिणोक्तम्—

निपाता द्योतकाः केचित् पृथगर्थाभिधायिनः ।
आगमा इव केऽपि स्युः सम्भूयार्थस्य वाचकाः ।। वा० प० २।१९२

अत्र—केचिदित्युभयान्वयि—केचित् पृथगर्थाभिधायिनः वाचकाः, केचिदनर्थका एवेत्याह—आगमा इवेति ।

एवञ्च चादीनां निपातानां केवलानामप्रयोगदर्शनात् लाघवाच्च द्योतकत्वमेव स्वीकार्यम् । किन्तु क्वचित्तु क्रियागतविशेषबोधकारिक्तनिपातानां वाचकत्वमपि । अत एव 'न' इत्यतोऽभावबोधः, 'कस्य' इति जिज्ञासा च दृश्यतेऽभावशब्द इव । किञ्च 'पर्वताद् आ' इत्यादौ पर्वतादर्वागित्यर्थप्रतीतेस्तत्र वाचकत्वमेवेति निरुक्तं स्पष्टम् । द्योत्यत्वे हि पञ्चमी न स्यात् तस्य विशेषणता च स्यात् । अत एव "स्त्रियाम्" (पा० सू० ४।१।३) 'हेतुमति च' (पा० सू० ३।१।२६) इत्यादौ भाष्ये द्योतकतया एव विशेषणत्वं समर्थितम् । तस्मादनुभवानुरोधिनी व्यवस्थेति न्यायेन लाघवेन च सिद्धान्तः स्थिरीकरणीयः इत्यलं पल्लवितेन ।

।। इति आचार्य जयशङ्करलालत्रिपाठि-विरचितायां भावप्रकाशिका-
व्याख्यायां निपातार्थनिरूपणम् ।।

—*—

आलङ्कारिकों की सम्मति

आलङ्कारिकों [मम्मट आदि] ने भी परिसङ्ख्या अलङ्कार के प्रकरण में [यह कहा है कि]—अन्य [शास्त्रादि में प्रतिपादित] प्रमाण से प्राप्त=सिद्ध वस्तु का ही पुनः शब्द के द्वारा प्रतिपादन करना अन्य किसी प्रयोजन के न होने के कारण अपने समान अन्य वस्तु के व्यवच्छेद [निवृत्ति] का बोध कराता है ।

विमर्श—काव्यप्रकाश में परिसङ्ख्या अलङ्कार का यह लक्षण है—

किञ्चित् पृष्टमपृष्टं वा कथितं यत् प्रकल्पते ।
तादृगन्यव्यपोहाय परिसङ्ख्या तु सा स्मृता ।। का०प्र० १०।११९

कोई पूछी गयी अथवा न पूछी गयी बात जो उसी प्रकार की अन्य वस्तु के निषेध में पर्यवसित होती है वह परिसङ्ख्या कही गयी है । तात्पर्य यह है कि वेदशास्त्र-पुराणादि प्रमाणों से जो वस्तु ज्ञात रहती है वही जब अनुवादरूप में शब्द से कही जाती है तो उसके कहने का कोई अन्य प्रयोजन नहीं रहता है, अतः वह स्वसदृश अन्य वस्तु का निषेध कराने में परिणत होती है । जैसे—

किमासेव्यं पुंसां सविधमनवद्यं द्युसरितः ।"

इस पद्य में प्रश्नपूर्वक परिसंख्या है । यहां गङ्गा नदी के तट का ही सेवन करना चाहिए अन्य किसी नदी के तट का अथवा स्त्रीनितम्बादि का नहीं–यह फलित होता है । विशेष व्याख्या काव्यप्रकाशादि में देखनी चाहिये ।

अनु०—श्रीमद्भागवत में भी [कहा गया है]—

लोक में प्राणी की व्यवाय [मैथुन], आमिष और मद्य की सेवा [उपभोग] नित्य हैं। इन [के विषय] में विधि नहीं है। इन [व्यवायादि के उपभोग] में विवाह, यज्ञ और सुराग्रह से व्यवस्था की गई है। [अन्यत्र] इन [व्यवायादि के विषय] में निवृत्ति इष्ट है।

[नागेश-कृत अनुवाद] व्यवाय=मैथुन, आमिष=मछली [मांस] आदि, [और] मदिरा—इनका सेवन प्राणिमात्र के लिए नित्य=राग से प्राप्त है। अतः इन [व्यवायादि के विषय] में चोदना=विधि नहीं [की गयी है]।

ऐसा मानने पर "ऋतु काल में भार्या के समीप जाये" "हुतशेष मांस का भक्षण करे" "सौत्रामणि याग में सुराग्रह का ग्रहण करे"—इन विधियों की व्यर्थता [प्रसक्त होती है]। भार्या=विवाहिता। इस पर कहते हैं—व्यवस्थितिः। इन [व्यवायादि के विषय] में पुनः प्रापण=विधान [किया गया है]।

[इन वचनों का आशय यही है कि विवाहित भार्या के साथ ही मैथुन क्रीडा करे, हवन से बचे हुए मांस का ही भक्षण करे और सौत्रामणि याग में सुरापान करे—अन्यत्र ये तीनों कार्य न करे।] नियम का फल होता है—अन्य की निवृत्ति कराना, इसलिए कहा है—इनके विषय में [अन्यत्र] निवृत्ति [ही] इष्ट है। 'अन्य=अवसरों पर' इतना शेष है [यह जोड़कर अर्थ करना चाहिए। अर्थात् उक्त काल से भिन्न काल में इन कार्यों को न करे] जैसा कि कहा गया है—

अत्यन्त अप्राप्ति में विधि, पाक्षिक में नियम, उसमें और उससे भिन्न में प्राप्त होने पर परिसङ्ख्या कही जाती है। (अर्थसग्रह)

"स्वर्ग की कामना करनेवाला अश्वमेध याग करे" यह विधि है। [क्योंकि याग से स्वर्ग की प्राप्ति होना इसी वाक्य से ज्ञात होता है।] क्षुधा का प्रतिहनन [शान्ति] यद्यपि खरगोश आदि के मांस से और कुत्ता आदि के मांस से होती है तथापि खरगोश आदि (पांच नाखूनवाले पांच प्राणियों) से ही करनी चाहिये, इस प्रकार "पांचनाखूनवाले पांच प्राणियों का भक्षण करना चाहिये" यह परिसङ्ख्या हो जाती है। नाखूनों से विदलित करना और कूटना—इन दोनों [क्रियाओं] से व्रीहि का छिलकारहित करना प्राप्त [होता है], इन (दोनों) में अवहनन=कूटने से छिलकारहित करना पुण्य का जनक होता है—यह "व्रीहियों का अवहनन करें" इसके द्वारा नियमित किया जाता है=नियम बनाया जाता है। यद्यपि परिसङ्ख्या और नियम में (१) स्वार्थ का परित्याग (२) प्राप्त का बाध (३) और अन्य अर्थ की कल्पना—ये तीन दोष (होते हैं), तथापि अन्य गति (उपाय) न होने के कारण स्वीकार किये जाते हैं—ऐसा वृद्धलोग (कहते हैं)। "पांच नाखूनवाले (शशकादि) पांच

प्राणियों का ही भक्षण करना चाहिये'' इसका नियमत्वरूप मे भाष्य में व्यवहार होने के कारण और अन्य की निवृत्तिरूप फल के द्वारा एक प्रकार का होने के कारण व्याकरण में नियमपद से परिसंख्या का भी ग्रहण किया जाता है। यह संक्षेप है।

विमर्श—विधि, नियम तथा परिसंख्या का स्वरूप इस प्रकार है-

(१) अन्य किसी प्रमाणादि से प्राप्त=ज्ञात न होनेवाली वस्तु का विधान करने वाली अपूर्व विधि कही जाती है। जैसे याग करने से स्वर्ग प्राप्त होता है इसका ज्ञान किसी अन्य प्रमाण से नहीं होता है अपितु "स्वर्गकामो यजेत" इस वचन से ही होता है। अतः यह अपूर्व विधि है।

(२) जब कोई कार्य एक से अधिक उपायों द्वारा किया जा सकता है वहां किसी एक ही उपाय द्वारा करने का विधान नियम-विधि कहा जाता है। उदाहरणार्थ—व्रीहि=यव को छिलके से रहित करना है। यह कार्य दो प्रकार से किया जा सकता है (क) नाखूनों से छीलकर और (ख) मूसल आदि से कूट=अवहनन कर। यहां जब नाखूनों से छीलकर छिलका हटाना चाहते हैं उस समय अवहनन प्राप्त नहीं है उसीका विधान "व्रीहीनवहन्ति" यह विधि करती है। यही पक्ष में अप्राप्तिदशा में अवहनन का विधान है। अतः नियमविधि है।

(३) यहां और वहां अर्थात् दो में एक साथ प्राप्ति रहने पर परिसंख्या कही जाती है। अर्थात् एक ही साथ जब दो विकल्प प्राप्त होते हैं उस समय जो नियम एक का वर्जन करा देता है उसे परिसंख्या कहा जाता है। परि=वर्जन, संख्या=बुद्धि अर्थात् वर्जनबुद्धि। "परेर्वर्जने" [पा० सू० १।८।१५] से परि वर्जन का बोधक है। परिसंख्याजनक विधि को परिसंख्याविधि कहा जाता है। इसका प्रसिद्ध उदाहरण है—

पञ्च पञ्चनखाः भक्ष्या ब्रह्मक्षत्रेण राघव।
शशकः शल्यको गोधा खड्गी कूर्मोऽथ पञ्चमः ॥ बा० रा० कि०कां०

भूख की शान्ति शशकादि के मांस और कुक्कुटादि के मांस दोनों से हो सकती है। यह विधि पांच नाखून वाले शशकादि पांच से भिन्न के भक्षण का निषेध कराती है। मीमांसक लोग परिसंख्या और नियम में भेद मानते हैं, जैसा कि ऊपर प्रतिपादित किया गया है। परन्तु नागेश का कहना है कि 'पञ्च पञ्चनखाः भक्ष्याः' इस वाक्य को भाष्यकार ने नियमरूप से व्यवहृत किया है तथा अन्य की निवृत्ति कराना यही उद्देश्य नियम तथा परिसंख्या दोनों का होता है। अतः दोनों में एकरूपता है। अतः व्याकरण में नियमपद से परिसंख्या को ग्रहण किया जाना असंगत नहीं समझना चाहिये।

॥ इस प्रकार आचार्य जयशङ्करलालत्रिपाठि-विरचित भावबोधिनी-व्याख्या में निपातार्थविवेचन समाप्त ॥

—*—

[अथ दशलकारादेशार्थनिरूपणम्]

यद्यपि लकाराणामेवार्थनिरूपणं तार्किकैः कृतम्, तथापि 'उच्चारित एव शब्दोऽर्थप्रत्यायको नानुच्चारित' इति भाष्याल्लोके तथैवानुभवाच्च तदादेशतिङामर्थो निरूप्यते । 'वर्तमाने लट्' [पा० सू० ३।२।१२३] इत्यादिविधायक 'लः कर्मणि' [पा० सू० ३।४।६९] इतिशक्तिग्राहकसूत्राणामादेशार्थं स्थानिन्यारोप्य प्रवृत्तिः । तत्र सङ्ख्याविशेष-कालविशेष-कारक-विशेष-भावा लादेशमात्रस्यार्थाः । तथाहि—लडादेशस्य वर्तमानकालः, शबादिसमभिव्याहारे कर्ता, यक्चिण्समभिव्याहारे भावकर्म्मणी, उभयसमभिव्याहारे एकत्वादिसङ्ख्या चार्थः । तदाह—

फलव्यापारयोस्तत्र फले तङ्यक्चिणादयः ।
व्यापारे शप्श्नमाद्यास्तु द्योतयन्त्याश्रयान्वयम् ॥ वै० भू० ३

फलव्यापारौ तु धात्वर्थावित्युक्तमेव । तत्र तिङ्समभिव्याहारे तदर्थसङ्ख्या तदर्थकारके विशेषणम् । कालस्तु व्यापारे । तदाह—

फलव्यापारयोर्धातुराश्रये तु तिङः स्मृताः ॥
फले प्रधानं व्यापारस्तिङर्थस्तु विशेषणम् ॥ वै० भू० २

तिङर्थः कर्ता व्यापारे, कर्म च फले विशेषणम् ।

धात्वर्थविचारानन्तरं लकारादेशानामर्थविषयको विचारः समुचितः । धातोर्हि प्रत्ययद्वयं विधीयते (१) तिङ् (२) कृत् च । तत्र तिङन्ते धात्वर्थव्यापारप्राधान्यमिति पूर्वं सिद्धान्तितम् । साम्प्रतं तिङ्स्थानिभूतानेकविधलकाराणामर्थान्निरूपयितुमारभते—यद्यपीति । नैयायिकाः लाघवप्रियाः । ते लत्वस्य कर्तृकर्मादिनिष्ठ-शक्यतानिरूपित-शक्ततावच्छेदकत्वे गौरवं प्रतिपाद्य लकाराणामेव वाचकत्वमङ्गीकुर्वन्ति न तु तदादेशभूतानां तिङामिति । तन्न समीचीनम्, उच्चारितशब्दस्यैवार्थप्रत्यायकत्वं भाष्यादौ निरूपितं लोके च तस्यैवार्थबोधकत्वं दृष्टमिति लकारस्थाने विहितानां तिङामेवार्थविचारः तर्कसङ्गत इति बोध्यम् । ननु वैयाकरणमते आदेशभूततिबादीनां वाचकत्वे कर्तृकर्माद्यर्थे तत्तत्सूत्रैर्लकारविधानमसङ्गतमत आह वर्तमाने लडिति । उच्चारितशब्दस्यैवार्थबोधकत्वमिति भाष्यात् शास्त्रप्रक्रियानिर्वाहाय स्थानित्वेन कल्पिते लकारे तिबादिनिष्ठां बोधजनकतां प्रकल्प्य लकाराणां विधानं सङ्गच्छते । किञ्च, लकारस्य प्रयोगघटकतयाऽनुच्चारितत्वेन तिबादीनामेवोच्चारितत्वेन च तिबादिशक्तिबोधने एव सूत्रतात्पर्यं बोध्यम् । अत्रान्वयव्यतिरेकाभ्यामादेशानामेव बोधजनकत्वमनुभवसिद्धमित्यपि बोध्यम् । अर्थाः=सामान्यार्था इति भावः । समभिव्याहार इति । तत्तच्च पदविशिष्टत्वम्, वैशिष्ट्यञ्च—स्वपूर्वत्व स्वोत्तरत्वैतदन्यतरसम्बन्धेन । उभय इति ।

लडादेशानां शबादीनाञ्च समभिव्याहारे इत्यर्थः। तदाह इति। वैयाकरणभूषणे इति शेषः। फलव्यापारयोरिति। मध्ये इति शेषः। धातूपस्थाप्ययोः फलव्यापारयोर्मध्ये तङादयः फले आख्यातार्थाश्रयान्वयं द्योतयन्ति। शबादयश्च व्यापारे आश्रयान्वयं द्योतयन्ति=व्यञ्जनया बोधयन्ति। तदर्थसंख्या=तिङर्थसंख्या। तदर्थकारके=तिङर्थकारके। विशेषणमिति। समानप्रत्ययोपात्तत्वादिति भावः। दीक्षितादिमते कर्त्रर्थक-तिङ्समभिव्याहारे तिङर्थसंख्या कर्तरि विशेषणम्, कर्मार्थकाख्यातसमभिव्याहारे च कर्मणि विशेषणमिति निष्कर्षः। कालस्त्विति। यद्यपि समानप्रत्ययोपात्तत्वात् कालोऽपि तिङर्थकारके एवान्वेतु इति वक्तुं शक्यम्, तथापि अतीते पाके कर्तरि च वर्तमाने पचतीत्यस्य पाके वर्तमानेऽतीते च कर्तरि अपाक्षीदित्यादेश्च प्रयोगापत्तिभिया कालस्य व्यापारे एवान्वयस्तर्कसङ्गतः। फलव्यापारयोरिति। वाचकत्वरूपविषयत्वं सप्तम्यर्थः। एवमेव 'आश्रये' इत्यत्रापि सप्तम्यर्थः। एवञ्च फलव्यापारनिरूपितवाचकतावान् धातुः स्मृतः। आश्रयनिरूपितवाचकतावन्तश्च तिङः स्मृताः। फलापेक्षया व्यापारस्य प्राधान्यम्। एवमेव तिङर्था अपि व्यापारे विशेषणतया प्रतीयन्ते इति बोध्यम्। एवञ्च सर्वत्र व्यापारस्यैव प्राधान्यमिति बोध्यम्। अतएव व्यापारमुख्यविशेष्यकशाब्दबोधवादिनः शाब्दिका इत्यभिधीयते। नागेशस्तु कर्मप्रत्यये फलमुख्यविशेष्यकशाब्दबोधं स्वीकरोति तदनुसारम्—'फलेऽप्रधानमिति अकारप्रश्लेषेण व्यापारस्य प्रधान्याप्राधान्यमुभयममुपपादनीयमिति भावः।

लकारार्थ-विवेचन

विमर्श—लाघव को सर्वाधिक महत्त्व देनेवाले नैयायायिक लोग लकारों में ही शक्ति का समर्थन करते हैं किन्तु वैयाकरण आदेशभूत तिबादि में शक्ति स्वीकार करते हैं क्योंकि उन्हीं का उच्चारण किया जाता है। और उन्हीं में बोधकता का अनुभव भी होता है।

अनु०—नैयायिकों ने यद्यपि लकारों के ही अर्थ का निरूपण किया है तथापि "उच्चारित ही शब्द अर्थ का बोध कराने वाला होता है न कि अनुच्चारित" इस [अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः पा० सू० १।१।६९ सूत्र के] भाष्य से और लोक में वैसा ही अनुभव होने से उन लकारों के आदेश तिङ् [प्रत्ययों] के अर्थ का निरूपण किया जा रहा है। 'वर्तमाने लट्' [पा० सू० ३।२।२३] इत्यादि विधान करने वाले और 'लः कर्मणि' [पा० सू० ३।४।६९] इत्यादि शक्तिग्राहक [अर्थ में शक्ति का ज्ञान कराने वाले] सूत्रों की आदेश [तिङ्] के अर्थों का स्थानी [लकारों] में आरोप [कल्पना] करके प्रवृत्ति होती है।

विमर्श—समस्या यह है कि जब वैयाकरण आदेशभूत तिङ् में शक्ति का समर्थन करते हैं तो वर्तमान काल में लट् [स्थानी] का विधान करने वाले और कर्ता कर्म

तथा भाव में लकार के शक्तिग्रह का बोध कराने वाले "वर्तमाने लट्" तथा "लः कर्मणि" इन सूत्रों की सङ्गति कैसे होगी ; उत्तर यह है कि वास्तव में अर्थ तो आदेशों के ही हैं। उन्हीं का आरोप स्थानियों में किया जाता है। अतः किसी का वैयर्थ्य नहीं होता है।

लकार के सामान्य अर्थ—

इन [लकारों] में [एकत्व, द्वित्वादि] संख्याविशेष, [वर्तमान, भूत एवं भविष्यत्] कालविशेष [कर्ता एवं कर्म] कारकविशेष और भाव [क्रिया]—[ये] लकार के आदेश [तिङ्] मात्र के [सामान्य] अर्थ हैं। जैसे लट् के आदेश [तिङ्] का वर्तमानकाल, शप् [श्नम्‌श्ना] आदि के समभिव्याहार में कर्ता, यक् और चिण् के समभिव्याहार में भाव तथा कर्म और दोनों [तिङ् और शबादि] के समभिव्याहार में एकत्व आदि संख्या अर्थ [होता है]। जैसा कि वैयाकरणभूषण में कहते हैं—

उन [धातु के अर्थभूत] फल एवं व्यापार में से तङ्, यक् तथा चिण् आदि फल में आश्रय [तिङर्थ कर्म] के अन्वय को [द्योतित=बोधित करते हैं] और शप्, श्नम् आदि व्यापार में [तिङर्थ=आश्रय=कर्ता के] अन्वय को द्योतित करते हैं।

फल एवं व्यापार तो धात्वर्थ हैं—यह कहा ही गया है। इनमें तिङ् के समभिव्याहार में उस [तिङ्] का अर्थ संख्या [एकत्व, द्वित्वादि] उस [तिङ्] के अर्थ [कर्ता एवं कर्म] में विशेषण बनती हैं। किन्तु काल तो [धात्वर्थभूत] व्यापार में ही [विशेषण बनता है]। जैसा कि [वैयाकरणभूषण में] कहते हैं—

फल एवं व्यापार [अर्थों] में धातु [की शक्ति मानी गयी है] किन्तु आश्रय [फलाश्रय=कर्म एवं व्यापाराश्रय=कर्ता अर्थ] में तिङ् [शक्त] माने गये हैं। फल के प्रति व्यापार प्रधान [होता है], और तिङर्थ [कर्ता, कर्म, संख्या, काल एवं भाव] विशेषण [होते] हैं।

तिङर्थ=कर्ता व्यापार में और (तिङर्थ) कर्म फल में विशेषण होता है।

'क्रियाप्रधानमाख्यातम्' इति यास्कोक्तौ क्रियापदं करणव्युत्पत्त्या व्यापारपरं कर्मव्युत्पत्त्या फलपरमिति बोध्यम्। तथा च ग्रामं गच्छति चैत्रः—इत्यत्रैकत्वावच्छिन्नचैत्राभिन्नकर्तृको वर्तमानकालिको ग्रामाभिन्नकर्मनिष्ठो यस्संयोगः तदनुकूलो व्यापारः, ग्रामो गम्यते चैत्रेणेत्यत्र तु चैत्रकर्तृकवर्तमानकालिकव्यापारजन्यो ग्रामाभिन्नकर्म्मनिष्ठः संयोग इति च बोधः।

वर्तमानकालत्वं च प्रारब्धापरिसमाप्तक्रियोपलक्षितत्वम्।

करणेति। क्रियते यया सा क्रियेति भावः। एवञ्च व्यापारार्थः सिध्यति। कर्मेति। क्रियते या सेति भावः। एवञ्च फलमर्थः सिध्यति। एतेन नागेशमते

कर्तृप्रत्ययसमभिव्याहारे व्यापारमुख्यविशेष्यकबोधः कर्मप्रत्ययसमभिव्याहारे च फलमुख्य विशेष्यकः बोध इति बोध्यम्। फलमुख्य-विशेष्यकबोधे प्रमाणन्तु "सुप आत्मनः क्यच्" (पा० सू० ३।१।८) इति सूत्रस्थं भाष्यम्। तत्र हि—"अथेह क्यचा भवितव्यम्—इष्टः पुत्रः, इष्यते पुत्रः ? इत्याशङ्क्य समाहितम्—इह भवन्तस्त्वाहुः न भवितव्यमिति। किं कारणम् ? इह समानार्थेन वाक्येन भवितव्यम् प्रत्ययान्तेन च। यश्चेहार्थो वाक्येन गम्यते—इष्ट पुत्रः, इष्यते पुत्र इति, नासौ जातुचित् प्रत्ययान्तेन गम्यते" (म० भा० ३।१।८)। अत्र कैयटः "यदा क्रियाफलस्य प्राधान्यं प्रतिप्रतिपिपादयिषितं तदा वाक्यमेव—इष्टः पुत्र इत्यादि, न तु क्यजन्तः, तस्याकर्मकत्वात् कर्मणि प्रत्ययानुत्पादात्।" वाक्ये फलं विशेष्यम्, वृत्तौ व्यापार इति भिन्नार्थत्वात् क्यच् नेति भावः। एवञ्चानेन भाष्येण फलस्यापि प्राधान्यं स्पष्टमेवोक्तम्। व्यापारमुख्यविशेष्यकशाब्दबोधं निरूपयति—एकत्वेति। फलमुख्यविशेष्यकशाब्दबोधं निरूपयति—मैत्रकर्तृकेति।

प्रारब्धेति। प्रारब्धा अपरिसमाप्ता च या क्रिया, तादृशक्रियोपलक्षितकालत्वमित्यर्थः। उपलक्षितत्वम्=आश्रयत्वमिति। अत्र केचित्—परिष्कृतं वर्तमानत्वन्तु धातुविशिष्टत्वम्। वैशिष्ट्यञ्च—स्वाधिकरणत्वम्, स्वजन्यबोधविषयत्वेन तात्पर्यविषयीभूतक्रियाधिकरणत्वम्, स्वजन्यबोधविषययावद्-व्यापारप्रतियोगिक-ध्वंसानधिकरणत्वम्, स्वजन्यबोधविषय - यावद्व्यापारप्रतियोगिकप्रागभावानधिकरणत्वमेतच्चतुष्टय-सम्बन्धेन। लक्षणसमन्वयश्चेत्थम्—तत्तद्धातुवाच्याद्यक्रियामादाय चरमक्रियापर्यन्ताधिकरणीभूतः कालो वर्तमानत्वेन व्यवह्रियते, तत्रैव पचति, गच्छतीत्यादि - प्रयोगदर्शनात्। तथा च तादृशकाले पच्यादिधातुविशिष्टत्वमस्ति। तथाहि - स्वम्= पच्यादिधातुः, तदधिकरणत्वं पचति इत्यादिप्रयोगमादाय पच्यादिधातुजन्यबोधविषयत्वेन तात्पर्यविषयीभूता क्रिया पाकादिस्तदधिकरणत्वमपि तत्र काले, पच्यादिधातुजन्यबोधविषय-सकलव्यापार-प्रतियोगिकध्वंसस्योक्तकालेऽसत्त्वेन तृतीतसम्बन्धोऽप्युपपद्यते। अत्र यत्किञ्चित्क्रियाप्रतियोगिकध्वंसस्य सत्त्वेनाव्याप्तिवारणाय ध्वंसे यावत्क्रियाप्रतियोगिकत्वनिवेशः।

पच्यादिधातुजन्यबोधविषयसकलव्यापारप्रतियोगिक-प्रागभावाधिकरणत्वस्य तादृशपूर्वकाले एव सत्त्वेन तादृशप्रागभावानधिकरणत्वमपि तत्र सुलभम्! अत्रापि यत्किञ्चत्क्रियाप्रतियोगिकप्रागभावाधिकरणत्वस्य तत्र काले सत्त्वेनाव्याप्तिपरिहाराय प्रागभावे यावत्क्रियाप्रतियोगिकत्वनिवेशः।

यास्क के वचन का तात्पर्य

'आख्यात=तिङन्त क्रियाप्रधान (होता है)' इस यस्कीय वचन में क्रियापद करणव्युत्पत्ति से (क्रियतेऽनया या सा क्रिया इस विग्रह को मानने से) व्यापार अर्थवाला

और कर्मव्युत्पत्ति से [क्रियते या सा इति क्रिया—इस विग्रह को मानने से] फलवाची है—ऐसा समझना चाहिए।

विमर्श—आख्यात=तिङन्त क्रिया की प्रधानतावाला होता है, ऐसा अर्थ मानने पर मञ्जूषाकार के अपने मत का विरोध हो रहा है। क्योंकि इनके अनुसार कर्तृ-प्रत्यय-समभिव्याहार में व्यापार=क्रिया प्रधान होता है और फल उसमें विशेषण होता है। किन्तु कर्मप्रत्यय-समभिव्याहार में फल प्रधान होता है व्यापार विशेषण होता है। इसलिए इन्होंने क्रियापद की करणपरक एवं कर्मपरक व्याख्या करके व्यापार तथा फल दोनों की प्रधानता सिद्ध की है। इनके मत का समर्थन धात्वर्थ विवेचन में किया जा चुका है। वहीं देखना चहिये।

अनु०—इस प्रकार [व्यापार तथा फल दोनों की लक्ष्यानुसार मुख्यविशेष्यता सिद्ध हो जाने पर]—चैत्रः ग्रामं गच्छति=चैत्र गांव जाता है—इसमें-एकत्वसंख्या-विशिष्ट [=एक]—चैत्र से अभिन्न कर्ता वाला, वर्तमान-कालवाला, ग्राम से अभिन्न कर्म में रहने वाला जो संयोग से उसका जनक व्यापार [—यह व्यापारमुख्यविशेष्यक शाब्दबोध होता है] और—मैत्रेण ग्रामः गम्यते=मैत्र द्वारा गांव को जाया करता है—इसमें तो मैत्ररूपी कर्तावाले, वर्तमानकाल वाले व्यापार से जन्य [उत्पन्न होने वाला], गांव से अभिन्न कर्म में रहने वाला संयोग—यह [फल-मुख्यविशेष्यक] शाब्दबोध [होता है]।

वर्तमानत्व का स्वरूप

और वर्तमान काल होना—प्रारब्ध [किन्तु] अपरिसमाप्त क्रिया से उपलक्षित काल होना है। [अर्थात् प्रारम्भ हो चुकी किन्तु समाप्त नहीं होने वाली क्रिया का आश्रय होना वर्तमान काल होता है। इसका परिष्कार संस्कृत व्याख्या में देखिये।]

लिट्तिङस्तु भूतानद्यतनकालः परोक्षत्वं चाधिकोऽर्थः। शेषं लड्वत्। परोक्षत्वं च कारके विशेषणं न तु क्रियायाम्, तस्या अतीन्द्रियत्वेन लिटसूत्रे भाष्ये प्रतिपादनात् व्यभिचाराभावात्। कृभ्वाद्यनुप्रयोगस्थले कृभ्वसां क्रियासामान्यमर्थः। आम्प्रकृतेस्तु तत्तत्क्रियाविशेषः। सामान्यविशेषयोर-भेदान्वयः। अकर्मकप्रकृतिकामन्तानुप्रयुक्तकृभ्वसामकर्मिकैव क्रिया।

वस्तुतस्तु अनुप्रयुक्तानां कृभ्वसां फलशून्यक्रियासामान्यवाचकत्वमेव। सकर्मकाकर्मकत्वव्यवहारस्तु आम्प्रकृतिभूतधातोरेवेति निष्कर्षः। एवञ्च एधाञ्चक्रे चैत्र इत्यत्र एकत्वावच्छिन्नपरोक्षत्वावच्छिन्नचैत्रकर्तृका भूतानद्य-तनकालाधिकरणिका वृद्धयभिन्ना क्रियेति बोधः। परोक्षत्वं च साक्षात्कृत-मित्येतादृशविषयताशालिज्ञानाविषयत्वम्। भूतानद्यतनत्वं च अद्यतनाष्टप्रह-रीव्यतिरिक्तत्वे सति भूतत्वम्।

लुडादेशस्य तु भविष्यदनद्यतनार्थोऽधिकः। शेषं लड्वत्। भविष्यत्त्वं च वर्तमानप्रागभावप्रतियोगिक्रियोपलक्षितत्वम्।

लृट्तिङस्तु भविष्यत्सामान्यमर्थः।

शेषम्=संख्याकारकम्। कारके=क्रियाविष्टे कर्तरि कर्मणि चेत्यर्थः। तस्याः=क्रियायाः। अतीन्द्रियेति। "क्रिया नामेयमत्यन्तापरदृष्टाऽनुमानगम्या न शक्या पिण्डीभूता निदर्शयितुमित्यादिभाष्येणेति भावः। एधाञ्चक्रे इत्यादौ वृद्ध्यनुकूल-व्यापाराभिन्नफलानुकूलव्यापार इत्यर्थे गौरवादाह—वस्तुतस्तु इति। एवञ्च फलाभावे वृद्ध्यनुकूलव्यापारभिन्नो व्यापार इति बोधे लाघवं फलति। परोक्षत्वमिति। साक्षात्कृतम् इत्येतादृश-विषयताशालि यज्ज्ञानं तस्य ज्ञानस्याविषयत्वं परोक्षत्वमिति भावः। अत्र विषयताया एतादृशत्वासम्भवाद् एतादृशशब्दबोध्यविषयताशालिज्ञानाविषयत्वमिति बोध्यम्।

भूतकाल के बोध का स्वरूप और प्रक्रिया

लिट् तिङ् का तो भूत अनद्यतन काल और परोक्षता [परोक्ष होना] अधिक अर्थ है। शेष [संख्या और कारक] अर्थ के समान ही होते हैं। परोक्षत्व [कर्ता एव कर्म] कारक मे विशेषण [होता है] न कि क्रिया में। क्योंकि उसके अतीन्द्रियत्व रूप से "परोक्षे लिट् [पा० सू० ३।२।११५] इस सूत्रभाष्य में प्रतिपादित होने से कोई व्यभिचार नहीं है। अर्थात् क्रिया इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष नहीं हो पाती है अतः उसे परोक्ष कहना सम्भव नहीं है। विशेषण वहीं दिया जाता है जहां सम्भव या व्यभिचार होता है।] [एधाञ्चक्रे आदि में] कृ, भू आदि के अनुप्रयोगस्थल में कृ, भू तथा अस् का क्रियासामान्य अर्थ [होता है] और आम् प्रत्यय की प्रकृति [धातु] का तो तत्तत् क्रियाविशेष [अर्थ होता है]। सामान्य एवं विशेष [क्रियाओं] का अभेदान्वय होता है। [जैसा कि द्रोणो व्रीहिः आदि में परिमाणविशेष प्रकृत्यर्थ का और परिमाण-सामान्य प्रथमाविभक्त्यर्थ का अभेदान्वय प्रसिद्ध है।] अकर्मक प्रकृतवाले आम् प्रत्ययान्त [धातु के बाद] अनुप्रयुक्त कृ, भू, अस् धातुओं का अकर्मक क्रिया ही [अर्थ होता है]। [अर्थात् यदि अकर्मक धातु से आम् प्रत्यय होता है तो इस आम् के बाद अनुप्रयुक्त कृ, भू, अस् धातुओं का अकर्मक क्रिया ही अर्थ होता है सकर्मक नहीं।]

वास्तव में तो [आम् की] अनुप्रयुक्त कृ, भू, अस् [धातुयें] फलशून्य क्रिया सामान्य [अर्थात् केवल व्यापार] की वाचक ही होती हैं। सकर्मक होना और अकर्मक होना—इसका व्यवहार तो आम् की प्रकृतिभूत धातु का ही होता है, यह निष्कर्ष है। और इस प्रकार 'चैत्रः एधाञ्चक्रे [चैत्र बढ़ा] इसमें—एकत्वावच्छिन्न [एक]—परोक्षत्वा-वच्छिन्न [परोक्ष]—चैत्ररूपी कर्तावाली भूतअनद्यतन कालरूपी अधिकरणवाली वृद्धि से अभिन्न क्रिया - यह [शाब्द-] बोध (होता है)। और परोक्षत्व—'साक्षात् किया' इस

की प्रकारता की विषयता वाले ज्ञान का विषय न होना है। [अर्थात् जह चक्षुरादि से किसी पदार्थ का साक्षात्कारात्मक ज्ञान नहीं रहता है वहां परोक्षत्व का व्यवहार होता है।] और भूत अनद्यतनत्व—आज के आठ प्रहरों से व्यतिरिक्त= भिन्न होते हुए भूत [बीता हुआ] होना है।

लुट् के आदेश [तिङ्] का तो अनद्यतन [आज से भिन्न] भविष्यत् [काल] अर्थ [होता है]। शेष [=संख्या एवं कारक=कर्ता कर्म] लट् के समान [समझना चाहिये]। और भविष्यत्त्व—वर्तमान प्रागभाव की प्रतियोगिनी क्रिया से उपलक्षित क्रिया का आश्रय होता है।

लृट् के (आदेश) तिङ् का तो भविष्यत्सामान्य अर्थ है।

लेट्तिङस्तु विध्यादिरर्थः। "छन्दसि लिङर्थे लेट्" [पा० सू० ३।४।७] इति सूत्रात्। लट्प्रक्रियातो "लेटोऽडाटावि" [पा० सू० ३।४।९४] ति विशेषः, भवति भवातीतिप्रतियोगदर्शनात्।

लोट्तिङस्तु विध्यादिरर्थः। तत्राधीष्टं सत्कारपूर्वको व्यापारः—आगच्छतु भवान् जलं गृह्णातु इत्यादौ। सम्प्रश्नोऽनुमतिः,—गच्छति चेत् भवान् गच्छत्वित्यादौ।

लङादेशस्य तु भूतानद्यतनत्वमधिकोऽर्थः। शेष लड्वत्।

लेटः प्रयोगस्तु [पा०सू० ३।४।७] छन्दस्येव इत्यत आह छन्दसि "लङर्थे लेडि"ति। (पा०सू० ३।४।७) विध्यादीति। "विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसम्प्रश्नप्रार्थनेषु लिङ्" (पा० सू० ३।३।१६१) इति सूत्रादिति भावः। सम्प्रश्न इति। कौमुद्यां शेखरादौ च सम्प्रश्नः=सम्प्रधारणम्, विचारः, इदं कर्तव्यं तद् वा कर्तव्यमित्युक्तम्। शेषम्= संख्याकर्मकर्तृकालाः।

लेट् के (आदेश) तिङ् का तो विधि (प्रेरणा) आदि अर्थ (होता है)। क्योंकि "वेद में लिङ् के अर्थ में लेट् होता है" ऐसा सूत्र है। लट् की प्रक्रिया की अपेक्षा लेट् में अट् आट् (आगम) यह विशेष (अन्तर) है क्योंकि भवति तथा भवाति ये प्रयोग देखे जाते हैं।

लोट् के (आदेश) तिङ् का तो विधि आदि अर्थ है। इन (विधि-निमन्त्रण-आमन्त्रण-अधीष्ट-सम्प्रश्न) में अधीष्ट—सत्कारपूर्वक काम में लगाना है (जैसा कि)— 'आप आइए और जलग्रहण कीजिए' आदि में है। सम्प्रश्न=अनुमति (जैसा कि)- 'यदि आप जाते हैं तो जाइए' आदि में है। (वास्तव में सम्प्रश्न का अर्थ 'सम्प्रधारण' जैसे—यह करूं अथवा वह' ऐसा शेखरादि ग्रन्थों में लिखा है। वही अधिक स्थलों पर उपलब्ध भी होता है।)

लङ के (आदेश) तिङ् का तो अनद्यतन भूतत्व अर्थ अधिक है। शेष (संख्या कारक) तो लट् के समान है।

लिङादेशस्य तु विध्यादिरर्थः। तत्र विध्यादिचतुष्टयानुस्यूतप्रवर्त्तनात्वेन चतुर्णां वाच्यता, लाघवात्। तदुक्तं हरिणा—

अस्ति प्रवर्त्तनारूपमनुस्यूतं चतुर्ष्वपि।
तत्रैव लिङ विधातव्यः किं भेदस्य विवक्षया। इति॥

प्रवर्त्तनात्वं च—प्रवृत्तिजनकज्ञानविषयतावच्छेदकत्वम्, तच्चेष्टसाधनत्वस्यैवेति तदेव लिङर्थः। न तु कृतिसाध्यत्वं, तस्य यागादौ लोकत एव लाभादित्यन्यलभ्यत्वात्। न च बलवदनिष्टाननुबन्धित्वं, द्वेषाभावेनान्यथासिद्धत्वात्, इत्यन्यत्र विस्तरः।

विध्यादिचतुष्टयेति। विधि-निमन्त्रणा-मन्त्राणाधीष्ट-इति चतुष्टये अनुस्यूतम्=एकरूपेण स्थितं यत्प्रवर्तनात्वं तदेव विध्यादिचतुष्टयार्थनिष्ठशक्यतावच्छेदकम्, न तु विधित्वादिकम्, चतुर्णां शक्यतावच्छेदकत्वे गौरवात् एकस्य प्रवर्तनात्वस्य तत्त्वे लाघवात्, शक्यतावच्छेदकभेदेन शक्तेर्नानात्वप्रसङ्गाच्चेति बोध्यम्। प्रवर्तनारूपमिति। यद्विषयकत्वेन ज्ञानस्य प्रवृत्तिजनकत्वं सैव प्रवर्तना। ज्ञानस्य प्रवृत्तिजनकत्वञ्च—इष्टसाधनताविषयकत्वेन 'इदं मदिष्टसाधनम्' इति ज्ञानादेः प्रवृत्तिदर्शनात्। तथा च इष्टसाधनत्वमेव प्रवर्तनेति बोध्यम्; प्रवर्तनायाः रूपम्=धर्मः, प्रवर्तनात्वमित्यर्थः, चतुर्ष्वपि=विध्यादिचतुष्टयेऽपीत्यर्थः, अनुस्यूतम्=सम्बद्धम्, तत्रैव=प्रवर्तनारूपार्थे एव, आकृत्यधिकरणन्यायेन प्रवर्तनात्वे इत्यर्थः, भेदस्य=विधित्वादिविशेषस्य विवक्षया किमपि फलं नैवेति भावः। अतएवोक्तं हरिणा—

न्यायव्युत्पादनार्थं वा प्रपञ्चार्थमथापि वा।
विध्यादीनामुपादानं चतुर्णामादितः कृतम्॥

प्रवर्त्यतेऽनयेति करणे "ण्यासश्रन्थो युच्" (पा० सू० ३।३।१०७) इति युचि योरने टापि च प्रवर्तना शब्दः निष्पाद्यते। एवञ्च प्रवृत्त्यनुकूलज्ञानविषयस्य प्रवर्तनात्वमिति तात्पर्येणाह—प्रवर्तनात्वञ्चेति। एवञ्च प्रवृत्तिकरणम्=प्रवर्तनेति सिद्ध्यति। प्रवृत्तिजनकं यत् ज्ञानम्—इदं मदिष्टसाधनम्—इत्याकारकं तद्विषयतावच्छेदकत्वम्=प्रकारतावच्छेदकत्वमित्यर्थः। 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यनेन 'यागो मदिष्टसाधनम्' इति ज्ञानं प्रवर्तकं भवति। तज्ज्ञानीया विशेष्यतारूपा विषयता यागनिष्ठा, तन्निरूपिता प्रकारता साधनत्वनिष्ठा, इति इष्टसाधनत्वस्य विशेष्यतानिरूपकत्वमवच्छेदकत्वं सिध्यति। यद्यपि साक्षात्विशेष्यतानिरूपकता प्रकारताया-मेव तथापि 'तन्निरूपकाश्रयोऽपि तन्निरूपकः' इति न्यायेन प्रकारताश्रयेष्टसाधनत्वस्यापि तन्निरूपकत्वं बोध्यम्। तच्च=उक्तविधप्रवर्तनात्वञ्चेत्यर्थः। इष्टसाधनत्वस्येति। प्रवृत्तिं प्रति इष्टसाधनत्वज्ञानस्य प्रयोजकत्वेन तद्विषयतावच्छेदकत्वमिष्ट-

साधनत्वेऽक्षतमिति भावः। तदेव=इष्टसाधनत्वमेव। एवकारेण कृतिसाध्यत्वयोर्व्यवच्छेदः। विध्यर्थः=विधिबोधकप्रत्ययार्थ इत्यर्थः।

अत्रेदं तत्त्वम्—मूलेऽत्र यदुक्तं तत्तु भूषणकारानुरोधेनेति बोध्यम्। नागेशस्य स्वीयं मतन्तु लघुमञ्जूषादौ दृश्यते। तत्र विधिः=प्रेरणम्, अधीष्टं नाम सत्कारपूर्विका व्यापारणा' इत्यादि भाष्याद् निमन्त्रणादिशब्दानां प्रयोजकनिष्ठव्यापारवाचकत्वस्य सर्वसम्मतया च 'लिङादिश्रवणे' अयं मां प्रवर्तयतीति नियमेन प्रतीतेश्च प्रेरणा प्रवर्तनापरपर्यायः प्रयोजनकनिष्ठव्यापार एव लिङर्थः न तु इष्टसाधनत्वम्; सचात्र प्रयुज्यमानलिङ्घटितवाक्यरूप एव व्यापारान्तरस्याननुभवात्। स च प्रेरणात्वेन लिङ्शक्यः, शक्यतावच्छेदकं च प्रेर्यादिधात्वर्थतावच्छेदकतया सिद्धं प्रेरणात्वमखण्डोपाधिः, न तु प्रवृत्तिजनकज्ञानीयविषयतावच्छेदकत्वरूपम्। स च व्यापारो (लोके) अवच्छेदकतासम्बन्धेन पुरुषनिष्ठः वेदे च ईश्वरनिष्ठः। शब्दरूपत्वाच्च सा शाब्दी भावनेत्युच्यते। शब्दनिष्ठेतिव्यवहारोपि प्रेरणात्वेन तस्यास्तद्वृत्तित्वेन। लिङ्संख्याद्यनन्वयित्वाद् व्यापारपदव्यवहार्याऽपि सा। प्रेरणात्वेन सविषया चेति बोध्यम्।

किञ्च इष्टसाधनत्वज्ञानादिव साध्येष्टकत्वज्ञानादपि प्रवृत्त्यनुभवेन विनिगमनाविरहिणोभयोः शक्यत्वे गौरवम्।

किञ्च, इदं ते इष्टसाधनं कृतिसाध्यञ्च, नाप्यत्र दुःखं, तस्मात्त्व कुरु, इति स्वारसिक-लोकव्यवहारसत्त्वेन तस्य विध्यर्थता वक्तुमशक्या, पौनरुक्त्यापत्तेः। न चेदं पौनरुक्त्यं सर्वथा इष्टसाधनत्वबोधाय, 'तस्मादि'त्यस्यानन्वयापत्तेः।

अपि च, 'राज्ञा प्रवर्तितोऽहम्' इत्यादि व्यवहारात् प्रवर्तकपुरुषनिष्ठैव सा लिङ्शक्येति सूत्रभाष्यादिसम्मतम्। न चेष्टसाधनत्वं तद्बोधो वा तन्निष्ठः। तज्ज्ञापनस्य तन्निष्ठत्वेपि न तदिष्टसाधनत्वेन नापि तच्छक्यत्वेन तव सम्मतम्, तज्ज्ञानानुकूलव्यापारस्य मदुक्तातिरिक्तस्याभावाच्च।

किञ्च, भगवान् पाणिनिः "विधिनिमन्त्रणे" (पा० सू० ३।३।१६१) ति सूत्रे विधिपदार्थं तद्विशेषनिमन्त्रणादिविवृतवान्। निमन्त्रणं नाम—श्राद्धादिभोजनानुकूलो व्यापारः प्रयोजकनिष्ठः, निमन्त्रयते इत्यादितस्तथा प्रतीतेः। न चेष्टसाधनत्वं तन्निष्ठमित्युक्तम्। अत एव "हेतुमति च" (पा० सू० ३।१।२६) इति सूत्रभाष्ये "पृच्छतु मां भवान् इत्यत्र णिच् कस्मान्न भवति इति, लिङादिशब्दप्रयोगरूपस्य कर्तृप्रयोजकव्यापारस्य सत्त्वादि'ति प्रश्नः। उत्तरम् "अकर्तृत्वादिति"। सक्रियप्रेरणायां णिच्, निष्क्रियप्रेरणायां लोडादि। "तत्प्रयोजक" इत्यत्र कर्तृपदेन व्यापाराविष्टः कर्ता गृह्यते इति भावः। अथापि कथञ्चित् कर्ता स्यादेवमपि न दोषः, लोटोक्तत्वात् प्रेरणस्य णिज् न भविष्यतीति।" इष्टसाधनत्वस्य णिजर्थत्वाभावेन तस्य विध्यर्थत्वे तदसङ्गतिः स्पष्टैव।

प्रेरणात्वं प्रेरणादिधात्वर्थतावच्छेदकतया सिद्धमेव। तस्य च लिङादिवृत्तित्वमात्रं कल्प्यते इति न मे किञ्चत् कल्प्यम्। एवञ्चेष्टसाधनत्वबोधे तस्यासाधुत्वं स्पष्टमेवे-त्यलम्—तदाह—अन्यत्र विस्तर इति। भाष्यप्रदीपोद्द्योतमञ्जूषादौ इत्यर्थः।

लिङ के आदेश [तिङ्] के तो विधि आदि अर्थ हैं। उन [विधि आदि] में विधि आदि [निमन्त्रण, आमन्त्रण और अधोष्ट इन] चारों में अनुस्यूत=सम्बद्ध प्रवर्तनात्वधर्म से चारों की वाच्यता है, क्योंकि लाघव है। [अर्थात् इन विधि आदि चारों को ततद्रूप से वाच्य मानने में गौरव है। और प्रवर्तना इन सभी में रहती है। अतः एक प्रवर्तनात्वरूप से ही वाच्य मानने में लाघव है।] जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है—

[विधि-निमन्त्रणादि] चारों में प्रवर्तनारूप=प्रवर्तनात्व अनुस्यूत प्रविष्ट] है, उसी [प्रवर्तना अर्थ] में लिङ् का विधान करना चाहिए, भेद की विवक्षा से क्या लाभ? [यह कारिका वाक्यपदीय में नहीं है।]

और प्रवर्तनात्व—प्रवृत्ति [=किसी कार्य में लगाना] के जनक [इदं मदिष्ट-साधनम्—यह कार्य मेरे इष्ट का साधन है—इत्याकारक]-ज्ञान की [विशेष्यतारूपी] विषयता का अवच्छेदक [परिचायक] होना है। और वह [अवच्छेदकत्व] इष्टसाधनत्व का ही है अतः वह [इष्टसाधनत्व] ही लिङ् का अर्थ है। कृतिसाध्यत्व [कृति=यत्न से साध्य होना] तो [लिङ् का अर्थ] नहीं है क्योंकि उस [कृतिसाध्यत्व] का याग आदि में लोक से लाभ [प्रतीति] हो जाने से अन्यलभ्य है। [अतः लिङ्रूपी शब्द का अर्थ नहीं माना जा सकता क्योंकि "अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः" यह नियम है।] बलवान् अनिष्ट का अननुबन्धी=अजनक होना [भी लिङ का अर्थ] नहीं है, क्योंकि द्वेषा-भाव से अन्यथासिद्ध है। इसका अन्यत्र [लघुमञ्जूषा आदि में] विस्तृत विवेचन है।

विमर्श—लिङ् के अर्थ के विषय में व्यापक विवेचन किया गया है। इस विषय में संक्षिप्त निष्कर्ष ये हैं—

१. पाणिनि—विधि-निमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसम्प्रश्नप्रार्थनेषु लिङ् [पा० सू० ३।३।१६१] सूत्र से लिङ् के छह अर्थ मानते हैं।

२. वाक्यपदीयकार भर्तृहरि—के नाम से मूलोक्त कारिका के अनुसार प्रवर्तनात्व, सम्प्रश्न और प्रार्थन—अर्थ हैं।

३. भूषणकारादि—इष्टसाधनत्व के समर्थक हैं।

४. नैयायिकों ने—(१) इष्टसाधनत्व, (२) बलवदनिष्टाननुबन्धित्व और (३) कृतिसाध्यत्व—तीन अर्थ माने हैं।

५. मीमांसकों में वाचस्पति ने इष्टसाधनत्व और कृतिसाध्यत्व को तथा प्रभाकरा-नुयायियों ने कार्यत्व को लिङ् का अर्थ माना है।

६. नागेश का यह कहना है—'कृति से साध्य है' यह ज्ञान तो लोक से ही हो जाता है, अन्यलभ्य है। अतः लिङ् का अर्थ नहीं मानना चाहिये। बलवान् अनिष्ट का अजनक—यह भी अर्थ नहीं है क्योंकि यह प्रतीति तो द्वेषाभाव से ही सम्भव है। अनिष्ट-जनक के प्रति द्वेष होना और अजनक के प्रति द्वेष का न होना देखा जाता है। अतः यह भी लिङ् का अर्थ नहीं मानना चाहिये। केवल इष्टसाधनत्व अर्थ ही मानना उचित है। वास्तव में यह भी नागेश का अपना सिद्धान्त नहीं है। वे तो प्रवर्तना को ही लिङ् का अर्थ मानते हैं। यहां का विवेचन वैयाकरणभूषण से प्रभावित है।

लुङादेशस्य तु भूतसामान्यमर्थः। भूतत्वं च—वर्तमानध्वंसप्रतियोगिक्रियोपलक्षितत्वम्।

लृङादेशस्य तु क्रियातिपत्तौ गम्यमानायां हेतुहेतुमद्भावे च गम्यमाने भूतत्वं भविष्यत्त्वञ्चार्थः। आपादना तु गम्यमाना। भूते-एधश्चेदलप्स्यत ओदनमपक्ष्यत्। भविष्यति — सुवृष्टिचेदभविष्यत्सुभिक्षमभविष्यदिति सङ्क्षेपः।

अथ नैयायिकानां मते सङ्क्षेपाल्लकाराणामर्थो निरूप्यते। तत्र लडादि-लृङन्ता दश लकाराः। तत्र लकारस्य कर्ता, कालः सङ्ख्या चेति त्रयोऽर्थाः। तत्र कर्तेति पातञ्जलाः। 'लः कर्म्मणि च' (पा० सू० ३।४।६९) इति सूत्रे चकारेण कर्तुः परामर्शात्। कर्तृस्थाने व्यापार इति भाट्टाः। यत्न इति नैयायिकाः। युक्तं चैतत्। व्यापारताद्यपेक्षया लाघवेन यत्नत्वस्यैव शक्यतावच्छेदकत्वात्। शक्ततावच्छेदकञ्च लकारसाधारणं लत्वमेव, भवतीत्यादौ चादेशेनादेशिनो लस्यैव स्मरणादन्वयधीः। आदेशेषु बहुषु शक्तिकल्पने गौरवात्। तदस्मरणे च शक्तिभ्रमादेवा-न्वयधीः। 'चैत्रो गन्ता, गतो ग्रामः' इत्यादौ सामानाधिकरण्यानुरोधेन यथायथं कर्तृकर्मणी कृद्वाच्ये। नचैवं 'लटः शतृशानचौ' (पा० सू० ३।२। १२४) इत्यनेन शतृशानचोरादेशत्वात्कथं कर्त्तरि शक्तिः; आदेशिशक्त्या निर्वाह एवादेशशक्त्यकल्पनात्। चैत्रः पचन्नित्यादौ सामानाधिकरण्यानुरोधा-दादेशिशक्त्याऽनिर्वाहादत्रादेशेऽपि शक्तिः।

आपादनेति। आपादना=तर्कः, स च मानसत्वव्याप्यो जातिविशेषः। व्याप्या-रोपेण व्यापकारोपस्तर्क इति केचित्। यथा यदि पर्वते वह्न्यभावः स्यात् तर्हि धूमा-भावोऽपि स्यात्। आरोपश्च आहार्यज्ञानस्वरूपमुक्तम्। प्रकृते एधोलाभाभावश्चेत् ओदनपाकाभावः स्यादित्येवंरूपः। सूत्रे अतिपत्तिः=अनिष्पत्तिः, तया च आपादनायाः लाभ इति।

ननु लकारस्यैक्याद्दशत्वमनुपपन्नमिति चेन्न, अनुबन्धभेदेन दशत्वव्यवहारादित्याशयेनाह—दशलकारा इति। तत्र=अर्थत्रये इत्यर्थः। पातञ्जलाः=भाष्यकारपतञ्जल्यनुयायिनो वैयाकरणाः। परामर्शादिति। 'कर्तरि कृत्' [पा० सू० ३।४।६७] इति सूत्रादनुवर्तमानस्य कर्तुरिति भावः। भाट्टाः=मीमांसकैकदेशिनः। यत्न इत्यस्य कर्तृस्थाने इति भावः। वैयाकरणा आख्यातस्य कर्त्रर्थकत्वं स्वीकुर्वन्ति, भट्टानुयायिनो मीमांसकास्तस्य व्यापारार्थकत्वं नैयायिकाश्च यत्नार्थकत्वमूरीकुर्वन्तीति निष्कर्षः। लाघवेनेति। व्यापारत्वं नाम तज्जन्यत्वसमानाधिकरणतज्जन्यजनकत्वरूपम्। एतदपेक्षया कृतित्वरूपजातेर्लाघवात् तत्रैव शक्तिर्न तु व्यापारे। कृतिश्च यत्नः। कृतौ शक्तौ व्यवस्थापितायां तिप्त्वादिकं न शक्ततावच्छेदकम्, गौरवात्, किन्तु सर्वलकारसाधारणं लत्वमेव, तच्च जातिरूपमित्याशयेनाह—शक्ततावच्छेदकञ्चेति। ननु लत्वस्य शक्ततावच्छेदकत्वे 'भवती'त्यादितः कृत्यादेर्बोधो न स्यात् तिबादेस्तत्र शक्त्यग्रहादित्यत आह—भवतीति। आदेशिनः=स्थानिनः। अन्वयधीः=शाब्दबोध इति भावः। नैयायिकाः स्थानिभूतलकारेष्वेव शक्तिं स्वीकुर्वन्ति, आदेशेषु च तां स्मृत्वार्थबोधमुपपादयन्तीति बोध्यम्। तदस्मरणे=तस्य स्थानिनो लकारस्य स्मरणाभावे च। सामानाधिकरण्यानुरोधेन =समानार्थकत्वानुरोधेन। कथमिति। नैयायिकैः स्थानिष्वेव शक्तिस्वीकारादिति भावः। आदेशिशक्त्या=स्थानिशक्त्येत्यर्थः। अत्र=शत्रादौ।

अनु०—**लुङ्** के आदेश [तिङ्] का तो भूतसामान्य अर्थ है। और भूतत्व—वर्तमानध्वंस की प्रतियोगिनी क्रिया से उपलक्षित [क्रिया का आश्रय काल] होना है।

लृङ् के आदेश [तिङ्] का तो—क्रिया की अतिपत्ति=असिद्धि गम्यमान होने पर और हेतुहेतुमद्भाव=कार्यकारणभाव गम्यमान होने पर—भूतत्व तथा भविष्यत्त्व [भूतकाल और भविष्यत्काल] अर्थ है। आपादना=तर्क तो गम्यमान रहती है। भूतकाल में जैसे—'लकड़ी यदि मिली होती तो चावल पका होता।' [लकड़ी न मिलना कारण है, चावल न पकना कार्य। अतः कार्यकारणभाव और क्रिया की असिद्धि गम्यमान है। लृङ् होता है।] भविष्यत् [काल]—में सुवृष्टि यदि हो जाती तो सुभिक्ष हो जाता। [यहां भविष्यत्कालिक सुवृष्टि के अभाव से भविष्यत्कालिक सुभिक्ष का अभाव प्रतीत हो रहा है। कारण के अभाव से कार्य की असिद्धि गम्य है] यह सङ्क्षेप है।

नैयायिकों का लकारार्थ-सम्बन्धी मत

अब नैयायिकों के मत में सङ्क्षेप से लकारों के अर्थ का निरूपण किया जा रहा है। यहां लट् से लेकर लृङ् तक दश लकार हैं। उनमें लकार के कर्ता, काल और संख्या—ये तीन अर्थ हैं। इन [तीनों] में 'कर्ता' यह पतञ्जलि के अनुयायी [वैयाकरण मानते हैं]। क्योंकि ''लः कर्मणि' [पा० सू० ३।४।६९] इस सूत्र में चकार द्वारा कर्ता का परामर्श

[बोध] होता है। [अर्थात् "कर्तरि कृत्" [पा० सू० ३।४।६७] सूत्र में उपात्त कर्ता का चकार से बोध होता है, अनुवृत्ति होती है।] कर्ता के स्थान पर व्यापार [भावना] अर्थ है—यह भाट्ट [मीमांसक मानते हैं]। और [कर्ता के स्थान पर] यत्न=कृति [लकार का अर्थ है]—ऐसा नैयायिक [मानते है] और यह [नैयायिकमत] ठीक भी है क्योंकि व्यापारत्व [और कर्तृत्व] आदि की अपेक्षा लघुभूत होने के कारण यत्न=कृतित्व ही शक्यता का अवच्छेदक [होता है]। और शक्तता का अवच्छेदक सभी लकारों में रहनेवाला लत्व [धर्म] ही है; भवति आदि में आदेशभूत तिप् आदि के द्वारा [स्थानिभूत] लकार के स्मरण होने से ही अन्वय का ज्ञान अर्थात् शाब्दबोध होता है।] क्योंकि बहुत से आदेशों [तिङ्] में शक्ति मानने में गौरव [होता है]। उस लकार का स्मरण न होने पर [उसके] शक्तिभ्रम से ही अन्वयबोध=शाब्दबोध होता है।

विमर्श—शक्य अर्थ में रहने वाला असाधारण धर्म जो केवल शक्य में ही रहता है, शक्यतावच्छेदक कहा जाता है। जैसे घट शब्द का शक्य अर्थ है मिट्टी का पात्र-विशेष घड़ा, उसमें रहनेवाला घटत्व धर्म शक्यतावच्छेदक होता है। शक्त का असाधारण धर्म अर्थात् केवल उसी में रहनेवाला धर्म जो कि आनुपूर्वीरूप ही होता है, शक्ततावच्छेदक कहा जाता है। जैसे घट में घकारोत्तर-अकारोत्तर-टकारोत्तर अत्वरूप आनुपूर्वी शक्तता की अवच्छेदक है। प्रस्तुत स्थल में 'लत्व' ही शक्ततावच्छेदक है, ल ही शक्त=शक्तिविशिष्ट है। यही मानने में लाघव है। बहुत से आदेशों=तिङ् में शक्ति मानने में गौरव होता है।

अनु०—चैत्रो गन्ता [जानेवाला चैत्र] 'गतः ग्रामः [जाया गया ग्राम] इत्यादि में [चैत्रः और गन्ता=जानेवाला इन दोनों के तथा ग्रामः और गतः=जाया हुआ—इन दोनों के] सामानाधिकरण्य [अभेदान्वय=समानार्थवाचक होने] के अनुरोध से क्रमशः कर्ता और कर्म वाच्य हैं [अर्थात् गन्ता यहां कृत् प्रत्यय तृच् कर्ता का और गतः में क्त प्रत्यय कर्म का वाचक है, कर्ता और कर्म वाच्य हैं।] ऐसा [अर्थात् स्थानी लकार को कर्ता आदि का वाचक] मानने पर "लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे" [पा० सू० ३।२।१२४] इस सूत्र द्वारा [लट् के स्थान पर] आदेश होने के कारण शतृ और शानच् की कर्ता अर्थ में शक्ति कैसे [हो सकती है]? ऐसा नहीं [कहना चाहिये], क्योंकि आदेशी=स्थानी की शक्ति से निर्वाह होने पर ही आदेश में शक्ति की कल्पना नहीं [की जाती है, किन्तु] चैत्रः पचन् [पकाता हुआ चैत्र, पाक-कर्ता चैत्र] इत्यादि में सामानाधिकरण्य [अभेदान्वय] के अनुरोध से, आदेशी=स्थानी की शक्ति से निर्वाह न होने के कारण, यहां [शतृ और शानच्] आदेश में भी शक्ति [मानी जाती है]।

इयांस्तु विशेषः—लत्वेन यत्ने शक्तिः, आत्मनेपदत्वेन फले। 'मैत्रेण गम्यते ग्रामः' इत्यादौ मैत्रवृत्तिकृतिजन्यगमनजन्यफलशाली ग्राम इत्यन्वबोधात्। कृतिश्चात्र तृतीयार्थः। जन्यत्वं सर्गः। मैत्रः कृतौ विशेषणम्, सा च गमने, तच्च फले, तच्च ग्रामे।

'ग्रामं गच्छति मैत्र' इत्यत्र तु ग्रामवृत्तिफलजनकगमनानुकूलकृतिमान्मैत्र इति बोधः। फलं च द्वितीयार्थः। जनकत्वं संसर्गः। ग्रामश्चात्र फले विशेषणम्, तद् गमने, तच्च कृतौ, सा मैत्रे इति विशेष्यविशेषणभावभेदेनैव कर्मकर्तृस्थलीयबोधयोर्विशेषः। तावन्तः पदार्थास्तूभयत्रैव तुल्याः। मैत्रेण ज्ञायते, इष्यते, क्रियते घट इत्यादौ तु वृत्तिस्तृतीयाया, विषयता त्वाख्यातस्यार्थः। मैत्रवृत्तिज्ञानविषयो घट इति बोधः। घटं जानाति मैत्र इत्यादौ तु विषयता द्वितीयायाः, आश्रयत्वं चाख्यातस्यार्थः। घटविषयकज्ञानाश्रयो मैत्र इति बोधः।

नैयायिकमते विशेषतां दर्शयति—इयानिति। आत्मनेपदप्रत्ययस्थले लत्वेन यत्नस्य बोधः, आत्मनेपदत्वेन फलस्य बोधः। गमनजन्येति। अत्र गमनपदेन संयोगाख्यफलजनको व्यापारो विवक्षितः, फलपदेन च संयोगरूपं फलमिति बोध्यम्। विशेष्यविशेषणभावेति। अयं भावः—नैयायिकमते प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यकशाब्दबोधो भवति। एतदनुसारमेव विशेष्यविशेषणभावः कल्प्यते। तेन कर्तृप्रत्ययस्थले कर्मप्रत्ययस्थले च विशेष्यविशेषणभावस्य वैपरीत्यं दृश्यते।

इतना तो अन्तर है—लत्वरूप से [लत्वावच्छिन्नलकार की] यत्न=कृति अर्थ में शक्ति है [और] आत्मनेपदत्वरूप से [आत्मनेपदत्वावच्छिन्न तङ् की] फल (अर्थ) में शक्ति है। क्योंकि मैत्रेण गम्यते ग्रामः (मैत्र द्वारा गांव जाया जाता है) इत्यादि में मैत्र में रहनेवाली कृति=यत्न से जन्य गमनरूप व्यापार से जन्य संयोगरूपफल का आश्रय ग्राम—ऐसा (प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यक) अन्वयबोध=शाब्दबोध होता है। यहां तृतीया का अर्थ 'कृति' है। जन्यत्व संसर्ग (आकाङ्क्षा से भासित होने वाला) है। मैत्र (तृतीयार्थ) कृति में विशेषण (होता) है, कृति=यत्न गमन (रूपी व्यापार) में (विशेषण है) वह गमनरूपी व्यापार [संयोगरूपी] फल में (विशेषण है), वह (संयोगरूपी फल) ग्राम (प्रथमान्तार्थ) में (विशेषण है)।

ग्रामं गच्छति मैत्रः (मैत्र गांव जाता है)—इत्यादि में गांव में रहने वाले (संयोग रूप) फल के जनक गमन [रूप व्यापार] की जनक कृति=यत्नवाला मैत्र-यह [प्रथमान्तार्थ-मुख्यविशेष्यक] बोध [होता है]। और [यहां] फल द्वितीया का अर्थ है। जनकत्व संसर्ग [आकाङ्क्षा से भास्य] है। गांव यहां [संयोगरूप] फल में विशेषण है, वह [संयोगरूप फल] [गमनरूप] व्यापार में, वह [गमनरूप व्यापार] कृति=यत्न में, वह कृति मैत्र में [विशेषण होती है]—इस प्रकार

विशेष्यविशेषणभाव के भेद [वैपरीत्यादि] से ही कर्मवाच्य एवं कर्तृवाच्य-स्थलीय बोध में अन्तर होता है। [अर्थात् कर्तृप्रत्ययस्थल में कर्ता प्रधान होता है अन्य सभी उसी में विशेषणतया अन्वित होते है और कर्मप्रत्ययस्थल में कर्म प्रधान होता है, उसी में सभी विशेषणतया अन्वित होते हैं] उतने [पूर्वोक्त] पदार्थ तो दोनों ही स्थलों पर समान रूप से ही रहते हैं। 'मैत्र द्वारा घट जाना जाता है, चाहा जाता है, बनाया जाता है' [मैत्रेण घटः ज्ञायते, इष्यते, क्रियते]–इत्यादि में तो तृतीया का अर्थ वृत्ति है, आख्यात प्रत्यय [लट्] का अर्थ विषयता है [क्योंकि ज्ञान, इच्छा एवं कृति अर्थ वाली धातु के योग में कर्म प्रत्यय का अर्थ विषयता है] 'मैत्र में रहने वाले ज्ञान का विषय घट, [मैत्र में रहने वाली इच्छा का विषय घट और मैत्र में रहने वाली कृति का विषय घट] यह बोध [होता है]। मैत्र घट को जानता है [मैत्रः घटं जानाति] –इत्यादि में तो द्वितीया का अर्थ विषयता और आख्यात=लकार का अर्थ आश्रयत्व है। घट-विषयक-ज्ञान का आश्रय मैत्र—यह बोध [होता है]।

कालश्चातीतवर्त्तमानानागतात्मा यथायथं लडादेरर्थः। लटो भवतीत्यादौ वर्त्तमानत्वं, लङ्लुङ्लिटाम् अभवत् अभूत् बभूवेत्यादौ भूतकालः, लुड्लृटो-र्भविता भविष्यतीत्यादौ भविष्यत्कालः। लिङ्लोड्लेटां भवेत्, भवतु 'आग्ने-योष्टाकपालो भवतो'त्यादौ विधिः। संख्या च केवलार्थः।

लेटस्तु छन्दस्येव प्रयोगः। तत्र दीर्घत्वमपि विकल्पेन, भवति, भवातीति दर्शनात्। तत्र व्यापारादिबोधकेन लटा वर्त्तमानत्वं व्यापारादावेव बोध्यते। पचतीत्यादितो वर्त्तमानपाकानुकूलव्यापारवानिति बोधात्। एवमन्यत्रापि।

व्यापारबोधकाख्यातजन्यवर्त्तमानत्वप्रकारकबोधे आख्यातजन्यव्यापारोप-स्थितेर्हेतुत्वकल्पनान्नातिप्रसङ्गः।

व्यापाराबोधकज्ञाधात्वादिसमभिव्याहृताख्यातजन्यवर्त्तमानत्वप्रकारक-बोधे तु तादृशधातुजन्योपस्थितिर्हेतुः। कार्यताकारणतावच्छेदिका च प्रत्यासत्त्या विषयतैवेति नातिप्रसङ्गः। जानाति, इच्छति, यतते इत्यादौ वर्त्तमानत्वाश्रयज्ञानाश्रयत्वादिबोधस्यैवानुभविकत्वात्।

तत्र लटा शक्त्या वर्त्तमानत्वं लक्षणयाऽऽश्रयत्वं बोध्यत इति विशेषः। लटा स्वाधिकरणकालोपाधिस्पन्द एव वर्त्तमानः प्रत्याय्यते। वर्त्तमान-सामीप्ये विहितेन तु स्वानधिकरणसमीपवर्त्ती तादृशकालः। तत्रापि शक्ति-र्लक्षणा वेत्यन्यदेतत्।

नैयायिकमतानुसारं लडादीनामर्थानां त्रैविध्यं प्रदर्शयति—व्यापारादावेव=लडर्थो यत्न एवेत्यर्थः। यत्नव्यापारयोः पर्यायत्वमतेनेदम्। एवमन्यत्रापि=लड्भिन्न-

लकारस्थलेऽपि कालस्याख्यातार्थ-कृतावेवान्वय इति भावः। तादृशेति। व्यापारा-बोधकज्ञादि-धातुजन्योपस्थितिः हेतुरिति भावः। नातिप्रसङ्ग इति। जानातीत्यादौ ज्ञानमात्रं धात्वर्थः। एकस्मिन् ज्ञानरूपे पदार्थे एव फलत्वं व्यापारत्वं चारोप्य विषयतारूपफलतावच्छेदकसम्बन्धेन ज्ञानरूपफलाश्रयत्वात् घटादेः कर्मत्वं सिध्यति। सम-वायरूपव्यापारतावच्छेदकसम्बन्धेन व्यापाराश्रयत्वात् चैत्रादेः कर्तृत्वमिति गौणकर्मत्वं सविषयार्थकधातूनाम्। ज्ञानानुकूलकृतेर्बाधात् आख्यातस्य न कृतौ शक्तिः किन्तु आश्रये लक्षणा। धात्वर्थज्ञाने च वर्तमानकालस्यान्वयः। विषयतासम्बन्ध एव कार्यता-कारणतावच्छेदकत्वेन स्वीक्रियते तेन कालिकादिसम्बन्धेन नातिव्याप्तिरिति भावः। जानातीति। वर्तमानकालिकज्ञानाश्रयत्ववान् चैत्र इत्यादिबोधः। एवमेवेच्छायत्ना-देरपि आश्रयत्वविशिष्टबोधः। स्वाधिकरणेति। स्वस्य=लट्प्रयोगस्य अधिकरणं कालः स उपाधिः विशेषणं यस्य स्पन्दस्य=क्रियायाः स एव वर्तमान इत्यर्थः। वर्तमान-सामीप्ये इति। "वर्तमानसमीपे वर्तमानवद् वा" (पा० सू० ३।३।१३१) इति सूत्रेण विहितेनेत्यर्थः। स्वानधिकरणेति। स्वस्य=लट्प्रयोगस्य अनधिकरणं यः कालः, तत्समीपवर्ती=भूतभविष्यद्रूपः कालः प्रत्याय्यते इति भावः। तत्रापि=तादृशार्थे-पीति भावः। विस्तरस्तु भूषणसारस्य प्रभाटीकायां लकारार्थनिर्णये द्रष्टव्य।

और अतीत, वर्तमान तथा अनागत [भविष्यद्] रूपी काल क्रमशः [यथायोग्य] लट् आदि [लकारों] का अर्थ है। भवति—इत्यादि में लट् का वर्तमानकाल, अभवत् अभूत् बभूव—इत्यादि में लङ् लुङ् लिट् का भूतकाल, भविता भविष्यति इत्यादि में लुट् लृट् का भविष्यत्काल [अर्थ होता है]। भवेत्, भवतु 'आग्नेयोऽष्टाकपालो भवति—इत्यादि में—लिङ्, लोट्, लेट्—का विधि अर्थ है। और [कारकादिरहित] केवल संख्या [भी लकारों का] अर्थ है।

लेट् का प्रयोग तो केवल वेद में ही होता है। वहां दीर्घ भी विकल्प से होता है क्योंकि भवति तथा भवाति—इत्यादि प्रयोग देखा जाता है। उसमें व्यापारादि के बोधक लट् के द्वारा व्यापारादि में ही वर्तमानकाल का बोध कराया जाता है। क्योंकि 'पचति' इत्यादि से वर्तमानपाकानुकूल [कृति=] व्यापारवान्—ऐसा बोध [होता है]। इसी प्रकार अन्य स्थलों पर भी समझना चाहिये। व्यापार के बोधक आख्यात [लकार] से जन्य वर्तमानत्वप्रकारक बोध में आख्यात [=लकार] से जन्य व्यापार की उपस्थिति की हेतुता की कल्पना के कारण अतिप्रसङ्ग नहीं होता है। [भाव यह है कि धात्वर्थ व्यापार में वर्तमानत्व का अन्वय न होने लगे इसकेलिये यह कार्यकारण-भाव मान लेना चाहिये—व्यापार के बोधक आख्यात=लकार से जन्य वर्तमानत्व-प्रकारक बोध के प्रति आख्यात=लकार से जन्य व्यापार की उपस्थिति हेतु होती है। अतः धातु से जन्य व्यापारोपस्थिति में अतिव्याप्ति नहीं होती है।] व्यापार के अबोधक

ज्ञा आदि धातुओं से समभिव्याहृत आख्यात=लकार से जन्य वर्तमानत्वप्रकारक [वर्तमानकाल है विशेषण जिसमें उस] बोध में तो वैसी धातु [अर्थात् व्यापार के अबोधक धातु] से जन्य उपस्थिति कारण होती है। कार्यतावच्छेदक एवं कारणतावच्छेदक सम्बन्ध, उपस्थित होने के कारण, विषयता [विशेष्यता] ही है। इसलिए अतिव्याप्ति नहीं है। क्योंकि—जानाति, इच्छति, यतते आदि में वर्तमानत्व के आश्रयत्व [आश्रय होना] और ज्ञानाश्रयत्व आदि का बोध ही अनुभवसिद्ध है।

विमर्श—अपने उत्पत्तिस्थल में जिस सम्बन्ध से कार्य रहता है वह सम्बन्ध कार्यतावच्छेदक होता है। और कारण जिस सम्बन्ध से कार्य के साथ रहता है वह सम्बन्ध कारणतावच्छेदक होता है। प्रस्तुत स्थल में 'वर्तमानत्व'—प्रकारक बोध रूप कार्य है वह विशेष्यता-नामक विषयता सम्बन्ध से अपने उत्पत्तिस्थल व्यापार रूप विषय में रहता है। और धातुजन्य बोध कारण है, वह विशेष्यताख्यविषयता सम्बन्ध से कार्य के साथ व्यापार में रहता है। इस प्रकार विशेष्यताख्य विषयता सम्बन्ध ही कार्यतावच्छेदक एवं कारणतावच्छेदक दोनों है। अवच्छेदक सम्बन्ध का निवेश कर देने के कारण 'घट' आदि में वैसे बोध की अतिव्याप्ति नहीं होती है क्योंकि कालिकादि सम्बन्ध यहां कारणतावच्छेदक आदि नहीं है।

अनु०—उन [पूर्वोक्त स्थलों] में लट् द्वारा शक्ति से वर्तमानत्व का और लक्षणा से आश्रयत्व का बोध कराया जाता है, यह अन्तर है। [अर्थात् लट् ही दोनों का बोधक है।] लट् द्वारा स्व=लट् के उच्चारण के अधिकरण कालरूप उपाधिवाला स्पन्द=व्यापार ही वर्तमान बोधित कराया जाता है। वर्तमानकाल के समीप अर्थ में विहित लट् द्वारा तो स्व=लट् के उच्चारण के अनधिकरण का समीपवर्ती वैसा [भूत या भविष्यत्] काल [बोधित कराया जाता है]। इसमें भी शक्ति अथवा लक्षणा है—यह पृथक् विषय है। [अर्थात् किसी को मानने का आग्रह नहीं है।]

नन्वेकपदोपस्थितयोः कृतिवर्तमानत्वयोः कथं मिथोऽन्वयः; तत्पदजन्यशाब्दबोधे पदान्तरजन्योपस्थितेर्हेतुत्वात्। कार्यतावच्छेदिका च प्रत्यासत्तिः प्रकारता। कारणतावच्छेदिका च विशेष्यतेति। अन्यथा हरिपदार्थयोः, दण्डेनेत्यादौ च करणत्वैकत्वयोर्मिथोऽन्वयापत्तेः; नैवम्। तत्तत्पदान्यत्वस्योक्तव्युत्पत्तौ प्रवेशात्। कथमन्यथैवकारार्थयोरन्ययोगव्यवच्छेदयोर्मिथोऽन्वयः।

घटो नश्यतीत्यादौ वर्त्तमानोत्पत्तिकत्वं प्रतियोगित्वं च लडर्थः। आद्यं नाशे प्रकारः द्वितीयं घटे प्रकारः। वर्त्तमानोत्पत्तिकनाशप्रतियोगी घट इति बोधस्यानुभविकत्वात्। अत्र च वृत्तिद्वयस्य युगपद्बोधकत्वं सर्वैरेषितव्यम्। तादृशोत्पत्तिकत्वप्रतियोगित्वयोरर्थयोर्युगपदेव बोधात्। न च तादृशोत्पत्ति-

कत्वमेवार्थोऽस्तु। धात्वर्थस्य नाशस्य घटे प्रातिपदिकार्थे साक्षादन्वया-सम्भवात्। न च प्रतियोगित्वमेवार्थोऽस्त्विति वाच्यम्, चिरनष्टेऽपि नश्यतीति प्रसङ्गात्।

एतेनात्र वर्तमानत्वमेवार्थो नोत्पत्तिरित्यपास्तम्।

कृतिवर्तमानत्वयोरन्वयमुपपादयितुमाह—नन्विति। एकपदोपस्थितयोरिति। आख्यातप्रत्ययरूपेण एकेन पदेन उपस्थितयोरित्यर्थः। शक्तं पदमितिरीत्या प्रत्ययस्यापि पदत्वं बोध्यम्। तत्पदजन्येति। अयं भावः—तत्पदार्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपित—प्रकारतासम्बन्धेन शाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति विशेष्यतासम्बन्धेन पदान्तरजन्योपस्थितिः कारणमिति नियमत्वेन एकेनैव आख्यातेन उपस्थितस्य कृतित्वस्य वर्तमानत्वस्य च परस्परमन्वयो न सम्भवति। कार्यतावच्छेदिका च प्रत्यासत्तिः=सम्बन्धः प्रकारतारूपः, कारणतावच्छेदिका च प्रत्यासत्तिः=सम्बन्धः विशेष्यतारूपः। एवञ्चोभयकोटौ प्रकारताविशेष्यतयोरेव बोधात् प्रकृतेऽनुपपत्तिरिति शङ्काशयः। अन्यथा=उक्तरीत्यस्वीकारे। एकपदोपस्थितयोरपि पदार्थयोरन्वयस्वीकारे च। हरिपदार्थयोः=अश्वेन्द्रयोः आधाराधेयभावेनान्वयापत्तिः, दण्डेनेत्यत्र टा-प्रत्ययेनोपस्थितयोरेकत्वकरणत्वयोश्चान्वयापत्तिरिति भावः। समाधत्ते—मैवमिति। अयं भावः—यत्र यत्र एकपदोपस्थितयोः परस्परमन्वयोऽभीष्टस्तत्र तत्र तत्तत्पदान्यत्वविशिष्ट—पदान्तरजन्योपस्थितिः कारणमिति स्वीकार्यम्। प्रकृते च आख्यातपदभिन्न-पदजन्योपस्थितिर्नास्ति अपि तु आख्यातपदजन्यैवास्ति तेन परस्परान्वयबोधे न कापि क्षतिरित्यन्यत्र विस्तरः। कथमन्यथा=उक्तव्युत्पत्तौ तथाविधसङ्कोचास्वीकारे।

लडर्थ इति। वर्तमानत्वे शक्तिः, प्रतियोगित्वे च लटः लक्षणेति भावः। वृत्तिद्वयस्य=शक्तिलक्षणारूपस्य। एषितव्यमिति। गङ्गायां मीनघोषौ स्त इत्यादौ एककालावच्छेदेनैव जलप्रवाहरूपशक्यार्थस्य तटरूपलक्ष्यार्थस्य च बोधोपपत्तये तस्य विरोधस्यासार्वत्रिकत्वादिति भावः। असम्भवादिति। निपातिरिक्तनामार्थयोः भेदसम्बन्धेन साक्षादन्वयोऽव्युत्पन्न इति व्युत्पत्तेरिति भावः। एतेनेति। ध्वंसस्य नित्यत्वात् वर्तमानकालेऽपि सत्त्वेन चिरनष्टेऽपि नश्यतीति प्रयोगप्रसङ्गेनेत्यर्थः। अपास्तमिति। चिरनष्टेऽपि ध्वंसस्य वर्तमानत्वात् नश्यतीति प्रयोगापत्तेरिति भावः।

एक [आख्यात] पद से उपस्थित=बोधित कृति एवं वर्तमानत्व का परस्पर अन्वय कैसे होगा? [अर्थात् लट् से ही वर्तमान व्यापार और यत्न=कृति दोनों का बोध होता है इसलिए वर्तमानव्यापारानुकूलकृतिमान् यह बोध अभीष्ट है परन्तु हो नहीं सकता]। क्योंकि एक पद से जन्य शाब्दबोध में अन्य पद से जन्य उपस्थिति कारण होती है। यहां कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध प्रकारता [विशेषणता] है और कारणतावच्छेदक सम्बन्ध विशे-

ष्यता है। अन्यथा [उक्त कार्यकारणभाव न मानने पर] हरि पद के [अश्व और इन्द्र] अर्थों में [आधाराधेयभाव से] और 'दण्डेन' इत्यादि में करणत्व और एकत्व का परस्पर अन्वय होने लगेगा? ऐसा मत [कहो], क्योंकि उक्त कार्यकारणभाव में लकार तथा एव आदि उन उन पदों से भिन्नत्व का निवेश [करने से दोष नहीं है अर्थात् एव तथा लट् आदि अभीष्ट शब्दों से भिन्न किसी पद के अर्थ में वृत्ति विशेष्यता से निरूपित दूसरे पद के अर्थ में वृत्ति प्रकारता सम्बन्ध से शाब्दबोध के प्रति पदान्तर-जन्य उपस्थिति विशेष्यतासम्बन्धेन कारण होती है। यहां लकार से ही जन्य उपस्थिति है। अतः अन्वय की अनुपपत्ति दोष नहीं आता है]; अन्यथा [उक्त तत्तत्पदान्यत्व का निवेश न स्वीकार करने पर एव के अर्थ—अन्ययोग एवं व्यवच्छेद में परस्पर अन्वय कैसे होगा।

घटो नश्यति [घड़ा नष्ट होता है] इत्यादि में वर्तमान उत्पत्तिवाला होना और प्रतियोगी होना—लट् का अर्थ है। [प्रथम अर्थ में शक्ति है और द्वितीय में लक्षणा है] प्रथम अर्थ [धात्वर्थ] नाश में प्रकार है और द्वितीय अर्थ घट में प्रकार है, क्योंकि—वर्तमान उत्पत्ति वाले नाश का प्रतियोगी [जिसका नाश होता है ऐसा] घट—यह बोध अनुभवसिद्ध है। यहां (शक्ति एवं लक्षणा इन) दो वृत्तियों का एक साथ बोधक होना सभी को इष्ट होना चाहिये, क्योंकि वैसा अर्थात् वर्तमान उत्पत्तिकत्व एवं प्रतियोगित्व इन दोनों अर्थों का एक साथ ही बोध होता है। केवल वर्तमानोत्पत्तिकत्व ही (लट् का) अर्थ हो (धात्वर्थ नाश का प्रतियोगित्व सम्बन्ध से आकाङ्क्षया प्रातिपदिकार्थ में अन्वय हो जायेगा)—ऐसा नहीं (कहा जा सकता) क्योंकि धात्वर्थ नाश का प्रातिपदि-कार्थ घट में साक्षात् अन्वय सम्भव नहीं है [क्योंकि यह व्युत्पत्ति है—'नामार्थधात्वर्थयो-र्भेदेन साक्षादन्वयोऽव्युत्पन्नः'। केवल प्रतियोगिकत्व ही अर्थ हो—ऐसा भी नहीं कहना चाहिये, क्योंकि बहुत पहले नष्ट हो चुके घट के विषय में भी (अर्थात् भूतकाल में भी) 'नश्यति' ऐसा प्रयोग होने लगेगा (क्योंकि नाश नित्य है अतः वर्तमानकालिक प्रयोग होने में बाधा नहीं है) इस (दोष के प्रदर्शन) से यहां केवल वर्तमानत्व अर्थ हो, उत्पत्ति नहीं—यह (कथन) निरस्त हो गया।

विमर्श—नश्यति आदि में शक्ति एवं लक्षणा दोनों का एक साथ आश्रयण करके वर्तमानोत्पत्तिकत्व और प्रतियोगित्व ये दो अर्थ मानने आवश्यक हैं। क्योंकि यदि केवल प्रथम अर्थ—वर्तमानोत्पत्तिकत्व (वर्तमान उत्पत्तिवाला होना) मानते हैं तो धात्वर्थ नाश का आकाङ्क्षाभास्य प्रतियोगित्व सम्बन्ध से घटरूप प्रातिपदिकार्थ में अन्वय करना होगा—यही दोष है क्योंकि धात्वर्थ एवं प्रातिपदिकार्थ का साक्षाद् अन्वय नहीं होता है। यदि केवल प्रतियोगित्वरूप द्वितीय अर्थ ही लट् का मानें तो बहुत पहले नष्ट हुए घट के विषय में अर्थात् भूतकाल के विषय में भी वर्तमानकालिक

'नश्यति' यह प्रयोग दुर्निवारणीय है। क्योंकि घटनाश=घटध्वंस है जो नित्य होता है! इसी अनिष्ट प्रयोग की आपत्ति के भय से केवल वर्तमानत्व अर्थ भी नहीं माना जा सकता। अतः विवश होकर शक्य और लक्ष्य दोनों एक साथ स्वीकार करने पड़ते हैं।

केचित्तु लत्वमेवात्र प्रतियोगित्वस्य वृत्त्यवच्छेदकं लट्त्वं तु तादृशोत्पत्तिकत्वस्य। एकधर्मावच्छिन्नवृत्तिद्वयस्यैव न युगपद्बोधकत्वम्। अन्यथा दण्डेनेत्यादौ करणत्वैकत्वयोर्बोधो न स्यादित्याहुः।

अन्ये तु नश्यतीत्यादौ लटा नाशसामग्र्येव बोध्यते। तेन न चिरनष्टे नश्यतीति प्रसङ्गः। अत एव विनश्यत्ता विनाशसामग्रीसान्निध्यमित्याहुः प्रामाणिकाः।

मतान्तरमाह—केचित्त्विति। वृत्त्यवच्छेदकम्=लक्षकतावच्छेदकम्, प्रतियोगित्वनिष्ठलक्ष्यतानिरूपितलक्षतावच्छेदकं लत्वम्, तादृशोत्पत्तिकत्वस्य=वर्तमानोत्पत्तिकत्वस्य। वर्तमानोत्पत्तिकत्वनिष्ठशक्यतानिरूपतशक्ततावच्छेदकं लट्त्वमिति। अय भावः—अत्र लत्वं प्रतियोगित्वरूपार्थस्य लक्षतावच्छेदकम्, वर्तमानोत्पत्तिकत्वरूपार्थस्य शक्ततावच्छेदकं लट्त्वम्। एवञ्च प्रतियोगित्वे लस्य लक्षणा, वर्तमानोत्पत्तिकत्वे लटः शक्तिरिति। ननु युगपद्वृत्तिद्वयविरोध अत आह—एकधर्मेति। भिन्नभिन्नधर्मावच्छिन्नस्य वृत्तिद्वयस्य युगपद्बोधे न किमपि बाधकमिति।

कुछ लोग तो यह कहते हैं कि यहाँ [घटो नश्यति आदि में] प्रतियोगित्व अर्थ की [लक्षणा] वृत्ति का अवच्छेदक लत्व ही है [अर्थात ल में लक्षणा है] और वर्तमानोत्पत्तिकत्व की [शक्ति का अवच्छेदक तो] लट्त्व है [अर्थात् लट् मे उस अर्थ की शक्ति है। एक धर्म से अवच्छिन्न दो वृत्तियां एक साथ बोधक नहीं हैं। अन्यथा [भिन्न-भिन्न धर्मों से अवच्छिन्न वृत्तियों का साथ साथ बोधकत्व न मानने पर] दण्डेन इत्यादि में करणत्व और एकत्व का एक साथ बोध नहीं हो सकता। (क्योंकि तृतीया में करणत्व एवं एकत्व अर्थो की पृथक् पृथक् दो वृत्तियां हैं।)

दूसरे प्रामाणिक (आचार्य) तो (यह कहते हैं)—नश्यति। (नष्ट होते हैं) इत्यादि में लट् से नाश की सामग्री का ही बोध होता है। इस से चिर नष्ट (घट के विषय) में नश्यति यह प्रयोग नहीं होगा। (क्योंकि वर्तमानकाल में नाश की सामग्री नहीं है। इसीलिये विनश्यत्ता (विनष्ट होना)—विनाशसामग्री का सन्निधान होना है।

आख्यातात् क्रियाविशेष्यको बोध इति वैयाकरणाः भाट्टाश्च। आद्यनये धात्वर्थः क्रिया। चैत्रस्तण्डुलं पचतीत्यादितश्चैत्रकर्तृकतण्डुलकर्मकपाक इति

धीः। अन्त्यनये भावना=क्रिया प्रत्ययार्थः। चैत्रीयपाककरणिका तण्डुलकर्मिका भावनेति बोधः।

प्रथमान्तार्थविशेष्यक एव बोधः। ओदनकर्मकपाकानुकूलकृतिमांश्चैत्र इति बोध इति नैयायिकाः। द्वितीयाद्यर्थकर्मकरणत्वादेः क्रियायामेव सर्वमतेऽन्वयः।

शाब्दबोधीयमुख्यविशेष्यतां निरूपयति—आख्यातादिति। भाट्टाः=मीमांसकाः। आद्यनये=वैयाकरणसिद्धान्ते। धीः=शाब्दबोधः। अन्त्यनये=मीमांसकमते। प्रत्ययार्थः=आख्यातप्रत्ययार्थः। मीमांसकाः—प्रत्ययार्थो भावना। सा द्विधा—शाब्दी भावना आर्थीभावना चेति। लिङ्घटितपदे सति सा द्विधाऽपि लिङ्त्वेन शाब्दी, आख्यातत्वेन चार्थी। शाब्दी च प्रवर्तना प्रेरणाऽपरपर्यायो लिङ्घटितपदरूपः–प्रवृत्त्यनुकूलो व्यापारः, लिङ्श्रवणे सति 'आचार्यो मां प्रेरयतीति नियमेन प्रतीतेः। शब्दरूपत्वात् सा शाब्दीति कथ्यते। आर्थी भावना च धात्वर्थफलानुकूलो व्यापार आख्यातमात्रवाच्यः। लिङो भिन्नस्थले तु आख्याते आर्थी भावनैव। लिङि तु शाब्दीभावनया सहिता आर्थी। सा द्विवापि भावना त्र्यंशा—भाव्य-करण-इतिकर्तव्यताभिः। सा च भावना अंशत्रयमपेक्षते—साध्यम्, साधनम्, इतिकर्तव्यताञ्च—किं भावयेत्, केन भावयेत्, कथंभावयेदिति। तत्र शाब्द्यां भावनायां साध्याकाङ्क्षायामंशत्रयविशिष्टाऽऽर्थी भावना साध्यत्वेनान्वेति, एकप्रत्ययगम्यत्वेन समानाभिधानश्रुतेः। एवं तस्याः साध्यत्वेऽवगते केनेतिसाधनाकाङ्क्षायां प्रवृत्त्यनुकूलव्यापारबोधकत्वेन ज्ञातलिङादिज्ञानं करणत्वेनान्वेति। विस्तरस्तु मीमांसान्यायप्रकाशादौ द्रष्टव्यः।

आख्यात=तिङन्त से क्रियाविशेष्यक बोध होता है—यह वैयाकरण और मीमांसक (मानते हैं)। प्रथममत=वैयाकरणमत में धातु का अर्थ क्रिया=व्यापार है। 'चैत्रः तण्डुलं पचति'—इत्यादि से—चैत्ररूपी कर्तावाला, तण्डुलरूपी कर्मवाला पाक—यह शाब्दबोध होता है। अन्त्यमत=मीमांसकमत में भावना=क्रिया आख्यात प्रत्यय का अर्थ है। (चैत्रः तण्डुलं पचति—इस वाक्य से) चैत्रसम्बन्धी पाकरूपी करणवाली, तण्डुलरूपी कर्मवाली भावना=क्रिया—यह शाब्दबोध होता है।

प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यक ही शाब्दबोध होता है। ओदनकर्मक, पाकानुकूलकृतिमान् चैत्र—यह बोध होता है—ऐसा नैयायिक (कहते हैं) द्वितीया आदि के अर्थ कर्मत्व एवं करणत्व आदि का सभी के मत में क्रिया में ही अन्वय (होता है)।

लङस्तु शब्यो ह्योऽनद्यतनकालः। लुङस्तु भूतसामान्यम्। भूतत्वं च वर्तमानध्वंसप्रतियोग्युत्पत्तिकत्वम्, न तु तादृशप्रतियोगित्वमेव। चिरोत्पन्नेऽपि पूर्वेद्युरभवदितिप्रत्ययापत्तेः। नष्ट इत्यादौ नाशे तदन्वयासम्भ-

वाच्च। उत्पत्तेस्तु देशकालादावन्वयान्न दोषः। अभवदित्यादौ तु धातुनोत्पत्तिः प्रत्याय्यते, नष्ट इत्यादौ तादृशोत्पत्तिकत्वं प्रत्ययेनेति विशेषः। लिटस्तु भूतकाल इव परोक्षत्वमप्यर्थः। अहं चकारेत्यदिप्रयोगादर्शनात्।

न तु चैवं 'णलुत्तमो वा'' (पा० सू० ७।१।९१) इति ज्ञापकात् उत्तमपुरुषस्तत्र स्यादिति वाच्यम्। 'सुप्तोऽहं किल विललाप' 'मत्तोऽहं किल विचचार' इत्यादौ चित्तविक्षेपादिना पारोक्ष्यमुपपाद्य तत्र सूत्रसार्थक्यसम्भवात्। तत्र परोक्षत्वेन पारोक्ष्यसादृश्ये तात्पर्यम्। 'चक्रे सुबन्धुः' इति तु न लिट्प्रयोगोऽपि तु तिङन्तप्रतिरूपको निपातः।

वर्तमानेति। अत्र द्विविधो विग्रहः—वर्तमाने ध्वंसः वर्तमानश्चासौध्वंसः—वर्तमानध्वंसः। तेन वर्तमानक्षणवृत्तिर्योध्वंसः=अतीतक्रियाध्वंसः, वर्तमानो यो ध्वंस इति वा—तत्प्रतियोगिनी या क्रिया तदुत्पत्तिकत्वं भूतकालस्येति लक्षणसमन्वयः। तादृशप्रतियोगित्वम्=वर्तमानध्वंसप्रतियोगित्वमित्यर्थः। परोक्षत्वञ्च—वक्तुः साक्षात्काराविषयत्वम्।

लङ् का तो शक्य=अर्थ कल (बीता हुआ) अनद्यतन [भूत] काल है। लुङ् का तो भूतसामान्य अर्थ है। और भूतकाल—वर्तमानध्वंस की प्रतियोगिनी (क्रिया) की उत्पत्तिवाला होना है न कि वर्तमानध्वंस का प्रतियोगी होना। क्योंकि बहुत पहले काल में उत्पन्न (के विषय) में भी 'पूर्वेद्युः अभवत् (कल उत्पन्न हुआ) यह ज्ञान होने लगेगा। और नष्टः इत्यादि में नाश में वर्तमानध्वंसप्रतियोगित्व का अन्वय सम्भव नहीं है। उत्पत्ति का तो देशकाल आदि में अन्वय होने से दोष नहीं है।

विमर्श—भूतकाल का लक्षण है—वर्तमानध्वंस की प्रतियोगिनी क्रिया की उत्पत्तिवाला काल। वर्तमानध्वंस में द्विविध विग्रह है—(१) वर्तमाने ध्वंसः (२) वर्तमानः चासौ ध्वंसः। इससे घटनाश के विद्यमान होने पर भी 'विनष्टः घटः' यह प्रयोग होता है क्योंकि उसकी उत्पत्ति वर्तमान नाश की प्रतियोगिनी है। लक्षण में उत्पत्ति पद न देने से चिरोत्पन्न में भी 'कल उत्पन्न हुआ' इस प्रयोग की आपत्ति आती है। नष्ट हुई उत्पत्ति का काल भूतकाल है, यह मानने से चिरोत्पन्न क्रिया की उत्पत्ति का काल गत पूर्व दिवस नही है, अतः भूतकाल नहीं है। इस स्थिति में उक्त प्रयोग की आपत्ति नहीं है।

अनु०—अभवत् इत्यादि में धातु से उत्पत्ति का ज्ञान कराया जाता है। और 'नष्टः' इत्यादि में वैसी उत्पत्तिवाला होना [अर्थात् वर्तमानध्वंस-प्रतियोगि-क्रियोत्पत्तिकत्व] का ज्ञान प्रत्यय से होता है, यही अन्तर है। लिट् का तो भूतकाल के समान परोक्षत्व भी अर्थ होता है, क्योंकि 'अहं चकार' आदि प्रयोग नहीं देखा जाता है।

ऐसा मानने पर "णलुत्तमो वा" (पा० सू० ७।१।९१) इस ज्ञापक के बल से वहां उत्तमपुरुष हो जायेगा ('णलुत्तमो वा' यह सूत्र उत्तमपुरुष णल् को विकल्प से णित् करता है। यदि परोक्षता के कारण उत्तमपुरुष का प्रयोग ही असम्भव हो तो णित्विधान व्यर्थ होता है और यह ज्ञापित करता है कि उत्तपुरुष से भी लिट् होता है)—ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि "सोया हुआ मैं विलाप करने लगा, मत्त मैं घूमने लगा' आदि में चित्तविक्षेप (बेहोशी) आदि से परोक्षत्व का उपपादन करके इन प्रयोगों में सूत्र की सार्थकता सम्भव है। और यहां परोक्षता का परोक्षता की समानता में तात्पर्य है। (अर्थात् वास्तव परोक्षत्व के अभाव में भी परोक्षत्व का सादृश्य है यह मान कर लिट् होता है) 'चक्रे सुबन्धुः' (मैं=सुबन्धु ने रचना की) यह तो लिट् का प्रयोग नहीं है अपितु तिङन्त प्रतिरूपक (समान) निपात है।

विमर्श—सुबन्धु स्वयं रचना करने वाले हैं। वे अपनी रचना की परोक्षता कैसे उपपादित कर सकते हैं। और ग्रन्थ की रचना चित्तविक्षेपादि से सम्भव भी नहीं है। इसलिये मञ्जूषाकार ने 'चक्रे' को लिट् का प्रयोग न मानकर तिङन्तसदृश निपात शब्द माना है जो लट् के अर्थ के सामान अर्थवाला है। इस प्रकार क्लिष्ट कल्पना की आवश्यकता नहीं है।

लुङ्लृटोस्तु भविष्यत्कालः। भविष्यत्वं वर्त्तमानप्रागभावप्रतियोग्युत्पत्तिकत्वम्। उत्पत्तौ च देशविशेषः कालविशेषश्चाधिकरणत्वेनान्वेति। गृहे घटो भविता, अद्य घटो भविष्यतीत्यादौ धातुनोत्पत्तिः प्रत्याय्यते, वर्तमानप्रागभावप्रतियोगित्वमाश्रयत्वं च प्रत्ययेन। गृहाधिकरणकवर्त्तमानप्रागभावप्रतियोग्युत्पत्त्याश्रयो घटः, अद्यतनप्रागभावप्रतियोग्युत्पत्त्याश्रयो घट इत्यन्वयबोधात्। वर्त्तमानप्रागभावप्रतियोगित्वमात्रस्य लुडाद्यर्थत्वे श्वो गृहे समुत्पद्य परश्वः प्राङ्गणं गमिष्यति मैत्रे परश्वः प्राङ्गणे मैत्रो भविष्यतीति प्रसङ्गः।

केचित्तु देशविशेषः कालविशेषश्च प्रागभावे प्रतियोगिनि चान्वेति। परश्वः प्राङ्गणे मैत्रो भविष्यतीत्यस्य परश्वोवृत्तिः प्राङ्गणवृत्तिर्यः प्रागभावस्तत्प्रतियोग्युत्पत्त्याश्रयः परश्वोवृत्तिः प्राङ्गणवृत्तिर्मैत्र इति बोधः। तेन नोक्तातिप्रसङ्गः। एतेन श्वोभाविनि घटे अद्य भविष्यतीति प्रसङ्गो निरस्त इत्याहुः।

नङ्क्ष्यतीत्यादौ वर्तमानप्रागभावप्रतियोग्युत्पत्तिकत्वं प्रतियोगित्वं च प्रत्ययार्थः। श्वो घटो नङ्क्ष्यतीत्यादौ श्वोवृत्तिः वर्त्तमानप्रागभावप्रतियोगिनी योत्पत्तिस्तदाश्रयनाशप्रतियोगी घट इत्यन्वयबोधः। यत्त्वत्र वर्त्तमानप्रागभावप्रतियोगित्वमेव प्रत्ययार्थ इति; तन्न। श्वोभाविनाशके घटे अद्य नङ्क्ष्यतीति प्रसङ्गात्।

पक्ष्यतीत्यादौ आद्यपाकव्यक्तिप्रागभावगर्भमेव भविष्यत्त्वम्, पक्ववानित्यादौ चरमपाकव्यक्तिध्वंसगर्भमेव भूतत्वं भासते। तत्तत्समभिव्याहारस्य तादृशबोधे हेतुत्वात्। तेन पाकमध्ये कस्याश्चित्पाकव्यक्तेरनुत्पादेऽपि कस्याश्चिदतीतत्वेऽपि न पक्ष्यति पक्ववानित्यादिप्रयोगः।

वर्तमानेति। वर्तमानकालिको यः प्रागभागः=भाविनीक्रियाया अभावः, तत्प्रतियोगिनी उत्पत्तिर्यस्य सः; तत्त्वम्। श्वोभावि-नाशके इति। श्वो भावी नाशः यस्य सः इति बहुव्रीहौ कप्—श्वो-भावि-नाशकः, तस्मिन्नित्यर्थः। ण्वुल् तु नात्र, अर्थासङ्गतेः। तत्तत्समभिव्याहारस्येति। अयं भावः—यथा यत्किञ्चिद् व्यापारे प्रारब्धे यत्किञ्चद्व्यापारेऽवशिष्टे सत्यपि पचति इति प्रयोगो भवति तथैव कस्याश्चिद् पाकव्यक्तेरनुत्पादे 'पक्ष्यती'ति कस्याश्चिदतीतत्वे च पक्ववानित्यादि प्रयोगापत्तिः। एतद्वारणाय च तत्तत्क्रियासमभिव्याहारस्यैव तादृशबोधे हेतुत्वं बोध्यम्। एवञ्च आद्यपाकप्रागभावबोधे पच्धातूत्तर-स्य-पदसमभिव्याहारज्ञानस्य चरमपाकप्रध्वंसाभावबोधे च तद्धातूत्तरक्तक्तवत्वादि समभिव्याहारज्ञानस्य कारणस्य कल्पनान्न दोष इति।

अनु०—लुट् एवं लृट् का तो भविष्यत्काल अर्थ है। और भविष्यत् वर्तमान प्रागभाव (अर्थात् भाविनी क्रिया के अभाव) की प्रतियोगिभूत उत्पत्तिवाला होना है। उत्पत्ति में देशविशेष और कालविशेष अधिकरणत्व रूप से अन्वित होते हैं। 'गृहे घटो भविता (घर में घड़ा होगा), गृहे अद्य घटो भविष्यति' (घर में आज घड़ा होगा) इत्यादि में (भू) धातु से उत्पत्ति का ज्ञान कराया जाता है और वर्तमान प्रागभाव का प्रतियोगित्व तथा आश्रयत्व (लुट् लृट्) प्रत्यय से (बोधित होता है) क्योंकि गृहरूपी अधिकरण में वर्तमान प्रागभाव की प्रतियोगिनी जो उत्पत्ति, उस (उत्पत्ति) का आश्रय घट और आज होनेवाले प्रागभाव की प्रतियोगिनी जो उत्पत्ति, उस (उत्पत्ति) का आश्रय घट—यह शाब्दबोध (होता है)। (भविष्यत् के लक्षण में उत्पत्त्याश्रय पद न रखने पर) केवल वर्तमान प्रागभाव प्रतियोगित्व लुट् आदि का अर्थ होगा उसमें 'आगामी कल गृह में उत्पन्न होकर परसों आंगन में जाने वाले मैत्र के विषय में 'परसों आंगन में मैत्र होगा'—इस प्रयोग की आपत्ति होती है।

विमर्श—भाव यह है कि भविष्यत् के लक्षण में यदि उत्पत्त्याश्रय पद नहीं रहेगा तो वर्तमान-प्रागभाव-प्रतियोगित्व यही अर्थ होगा। इससे 'श्वः गृहे समुत्पद्य परश्वः प्राङ्गणे गमिष्यति मैत्रः' इसके लिए 'परश्वः मैत्रः प्राङ्गणे भविष्यति' यह प्रयोग होने लगेगा। क्योंकि परश्वः प्राङ्गणे मैत्रो भविष्यति' इस वाक्य से परश्वोवृत्तिः प्राङ्गणवृत्तिः वर्तमानप्रागभावप्रतियोगी यो व्यापारस्तदाश्रयः मैत्र—यह बोध होता है। कल उत्पन्न होकर परसों आंगन में जाने वाले मैत्र में यह लागू होता है। क्योंकि मैत्र परसों

आंगन में रहने वाला भी है, वर्तमान प्रागभाव की प्रतियोगी उत्पत्ति का आश्रय भी है। जब उत्पत्ति का भी निवेश करते हैं तो उत्पत्ति में ही देश एवं कालरूपी अधिकरण का अन्वय होता है। अतः परसों दिन में तथा आंगन में (अर्थात् दिन कालरूप अधिकरण की आधेय तथा आंगन देशरूप अधिकरण की आधेय) जो वर्तमान प्रागभाव प्रतियोगी उत्पत्ति है, उसका आश्रय=मैत्र–यह बोध होता है। अतः कल उत्पन्न होने वाले मैत्र में इस प्रयोग की आपत्ति नहीं है।

अनु०–कुछ लोग तो यह कहते हैं कि देशविशेष और कालविशेष प्रागभाव तथा प्रतियोगी में अन्वित होता है। परश्वः प्राङ्गणे मैत्रो भविष्यति' इस से–परसों होने वाला, आंगन में रहने वाला जो प्रागभाव, उसकी प्रतियोगी उत्पत्ति का आश्रय, परसों होने वाला, आंगन में रहने वाला मैत्र–यह बोध होता है। इससे उक्त अतिप्रसङ्ग नहीं आता है। इससे (अर्थात् अधिकरण का प्रतियोगी में अन्वय होने से)—कल होने वाले घट में 'आज होगा'–यह [आपत्ति] निरस्त हो गई।

नङ्क्ष्यति [नष्ट होगा] इत्यादि में—वर्तमान प्रागभाव-प्रतियोगि-उत्पत्तिकत्व और प्रतियोगित्व प्रत्यय (लकार) का अर्थ है। श्वो घटो नङ्क्ष्यति (कल घड़ा नष्ट होगा) इत्यादि में–कल रहने वाली, वर्तमान प्रागभाव की प्रतियोगिनी जो उत्पत्ति, उसके आश्रय नाश का प्रतियोगी घट–यह शाब्दबोध होता है। जो यह–वर्तमान-प्रागभाव का प्रतियोगित्व ही प्रत्यय (लकार) का अर्थ है, ऐसा [कहते हैं]—वह [ठीक] नहीं है क्योंकि कल नष्ट होने वाले घट में 'अद्य नङ्क्ष्यति' (आज नष्ट होगा)–यह प्रयोग होने लगेगा। (क्योंकि वर्तमान प्रागभाव का प्रतियोगित्व तो आज भी है। किन्तु जब वर्तमान प्रागभाव की प्रतियोगिनी उत्पत्तिवाला—यह मानते हैं तो आज ऐसा न होने से दोष नहीं है।)

पक्ष्यति (पकायेगा) आदि में प्रथम पाक व्यक्ति के प्रागभाव को गर्भ में छिपाने वाला ही भविष्यत्त्व होता है और पक्ववान् (पकाया) इत्यादि में अन्तिम पाक (क्रिया) व्यक्ति के ध्वंस को गर्भ में छिपाने वाला ही भूतत्व है।

क्योंकि तत्तत् समभिव्याहार (अर्थात् धातु के साथ लट्, लृट, लङ् आदि का समभिव्याहार) उस प्रकार (पूर्वोक्त रूप) के बोध में हेतु होता है। इससे–पाकक्रिया के मध्य में किसी एक पाक व्यक्ति (अंश) के उत्पन्न न होने पर भी पक्ष्यति और किसी पाक व्यक्ति (अंश) के अतीत होने पर पक्ववान् इत्यादि प्रयोग नहीं होता है।

विमर्श—आशय यह है कि जैसे कुछ क्रिया हो जाने पर अवशिष्ट क्रियाओं को मान कर 'पचति' यह प्रयोग होता है उसी प्रकार कुछ क्रियांश के भविष्यत्त्व को मान कर पक्ष्यति और कुछ क्रियांश के ध्वंस को मानकर पक्ववान् ऐसे प्रयोगों की आपत्ति

होती है। अतः उसके परिहार के लिए जितने क्रियासमुदाय को मानकर भविष्यत्त्व इष्ट है उसमें प्रथम पाक क्रिया व्यक्ति (अंश) का प्रागभाव रहने तक ही 'पक्ष्यति' ऐसा भविष्यत्कालिक प्रयोग होगा। जब प्रथम व्यक्ति का प्रागभाव न होकर ध्वंस हो गया, अर्थात् कुछ क्रियांश होने लगा तब भविष्यत्ता नहीं रहेगी। इसी प्रकार भूतत्व के लिए चरम क्रियांश का ध्वंस होना चाहिये। अतः कुछ क्रियांश के ध्वंस (सम्पन्न) हो जाने पर और कुछ के रह जाने पर पक्ववान् ऐसा भूतकालिक प्रयोग नहीं होगा।

लिङो विधिराशीश्चार्थः। यजेतेत्यादौ विधिः, आशीस्तु भूयादित्यादौ। सा च शुभाशंसनं, तदिच्छेति यावत्। लोटस्तु विधिरनुमतिर्वा। गच्छतिव-त्यत्रानुमतिविषयगमनानुकूलकृतिमानिति बोधस्यानुभविकत्वात्।

विधिः प्रवर्त्तनेति भाट्टाः। लिङ्निष्ठो व्यापारः पदार्थान्तरम्, लिङ्पद-ज्ञानमेव वा। तस्य प्रवर्त्तनात्वेन ज्ञानं शब्दाधीनप्रवृत्तौ कारणम्। लिङ्-श्रवणे आचार्यो मां प्रवर्तयतीति ज्ञानाद् गवानयनादौ प्रवृत्तेः। आचार्यनिष्ठा प्रवर्त्तना त्वभिप्रायविशेष एवेत्याहुः।

तन्न। स्तनपानादिप्रवृत्ताविष्टसाधनताज्ञानस्य हेतुताया आवश्यकत्वात् तत एवोपपत्तौ प्रवर्त्तनाज्ञानस्य हेतुत्वे मानाभावात्। स्वर्गकामो यजेतेत्यादौ प्रवर्त्तनाविषया यागकरणिका स्वर्गकर्मिका भावनेति बोधस्य परैरभ्युपगमात् प्रवर्तनाविषयत्वमात्रज्ञानात् प्रवृत्त्यनुपपत्तेरावश्यकस्वर्गसाधनत्वादिज्ञानादेव तत्र प्रवृत्तेः।

नैयायिकमतेनाह—लिङ इति। तदिच्छा=शुभविषयिणीच्छा। भाट्टाः= मीमांसकाः। लिङ्निष्ठ इति। तेषां मते वेदापेक्षया इदम्। वेदस्यापौरुषेयत्वेन तत्राचार्याभावात् शब्दनिष्ठैव प्रवर्तना। ननु शब्दनिष्ठः प्रवर्तनापरपर्यायः कोसौ व्यापार इत्यत आह—पदार्थान्तरमिति। आर्थीभावनारूपप्रसिद्धव्यापारविलक्षणमि-त्यर्थः, वैलक्षण्यञ्च शब्दनिष्ठत्वात्। ननु अप्रसिद्धस्य विलक्षणव्यापारस्य कल्पने गौरवम्, लोके आचार्यादिनिष्ठा प्रवर्तनेत्यननुगमश्चेत्यत आह—लिङ्पदज्ञानमेव वेति। प्रवर्तनात्वेन=प्रवृत्तिहेतुत्वेनेत्यर्थः। अयं भावः—प्रवर्तनात्वेनैव ज्ञानस्य प्रवृत्तिं प्रति कारणत्वान्न लोकवेदयोरननुगमः। लिङ्श्रवणे 'अयं मां प्रवर्तयतीतिप्रतीतिसाक्षिकस्य प्रवर्तनात्वस्य आज्ञादिष्विव शब्दव्यापारेऽपि सत्त्वादिति बोध्यम्। मीमासकमतं निरा-करोति—तन्नेति। अयं भावः—सद्योजातस्य शिशोरिदं ज्ञानं न भवति—अयं मां दुग्धपाने प्रवर्तयतीति।" एवञ्च प्रवर्तनाज्ञानाभावे प्रवृत्तिः न स्यात्, किन्तु दृश्यते च प्रवृत्तिस्तेषामपि। एवं तिरश्चामपि लिङादिश्रवणं तज्ज्ञानं च दुर्लभम्। अतः इष्ट-साधनताज्ञानं प्रवृत्तौ कारणं मन्तव्यम्। तच्च फलबलात् जन्मान्तरीयमपि कल्प्यते।

एवञ्चेष्टसाधनताज्ञानेनैव निर्वाहे सम्भवे प्रवर्तनाज्ञानस्य हेतुतावच्छेदकत्वे न किमपि मानमिति ।

लिङ् का विधि [प्रेरणा] और आशीर्वाद अर्थ है। यजेत इत्यादि में विधि और भूयात् इत्यादि में आशीर्वाद अर्थ है। और वह आशीः=शुभाशंसन =शुभ की इच्छा है। **लोट्** का तो विधि अथवा अनुमति अर्थ है क्योंकि 'गच्छतु' इसमें—अनुमति=स्वीकृति के विषय गमन के जनक यत्नवाला—यह बोध अनुभवसिद्ध है।

विधि प्रवर्त्तना है—यह भाट्ट [भट्टमत के अनुयायी] मीमांसक [मानते हैं]। [विधि] लिङ् पद में स्थित पदार्थान्तररूप व्यापार [अर्थात् प्रसिद्ध व्यापार से भिन्न व्यापार] है अथवा लिङ् पद का ज्ञान ही [विधि] है। उस लिङ् का प्रवर्तनारूपेण ज्ञान शब्दा-धीन प्रवृत्ति में कारण है, क्योंकि [गाम् आनयेः इत्यादि में] लिङ् का श्रवण होने पर 'आचार्य मुझे [अमुक कार्य में] प्रवृत्त कराते हैं' इस ज्ञान से गाय के लाने में प्रवृत्ति होती है। आचार्य में रहने वाली प्रवर्त्तना [आचार्य का शिष्य को प्रवृत्त कराना] तो [आचार्य का] अभिप्रायविशेष है।

किन्तु उक्त [कथन ठीक] नहीं है, क्योंकि [लिङादिपदज्ञान-रहित बालक की] दूध पीने की प्रवृत्ति में इष्टसाधनता के ज्ञान को हेतु होना आवश्यक है अतः इस [इष्ट-साधनताज्ञान] से ही सिद्धि हो जाने पर प्रवर्तनाज्ञान के कारण होने में कोई प्रमाण नहीं है। कारण यह है कि 'स्वर्गकामो यजेत' [स्वर्ग का अभिलाषी याग करे] इत्यादि में—प्रवर्तना की विषय, यागरूपी करणवाली; स्वर्गरूपी कर्मवाली भावना—यह बोध अन्यों [=मीमांसकों] ने स्वीकार किया है। अतः प्रवर्तना का विषय है—केवल इतने ज्ञान से प्रवृत्ति की उपपत्ति नहीं होती, क्योंकि 'स्वर्ग का साधन है' इस आवश्यक ज्ञान से ही उस [यागादि] में प्रवृत्ति होती है।

कार्यं विधिरिति प्राभाकराः। (१) स्वर्गकामो यजेतेत्यादौ स्वर्गकामनि-योज्यकं यागविषयकं कार्यमिति प्राथमिको बोधः। (२) सनियोज्यकं याग-विषयकं स्थायिस्वर्गसाधनं कार्यमिति द्वितीयः। (३) स्वर्गकामनियोज्यको यागः स्वर्गकामकार्य्य इति तृतीयः। (४) स्वर्गकामो यागकर्तेति चतुर्थः। (५) अहं स्वर्गकामोऽतो यागो मत्कृतिसाध्य इति पञ्चमः। न च प्रथम एव स्वर्गकामकार्य्यो याग इति बोधोऽस्तु, तथा च कार्यत्वे एव शक्तिर्न कार्ये इति वाच्यम्। यागादिक्रियायां नियोज्यान्वयं विना कार्यत्वान्वयानुपपत्तेः। नियोज्यत्वं हि क्रियानिष्ठकाम्यसाधनताज्ञानाधीनमत्कार्यमिति बोधवत्त्वम्। तत्तु स्वर्गकामनाविशिष्टे योग्यताऽवच्छेदकतया भासते, घटेन जलमाहरे-त्यत्र घटे सछिद्रेतरत्ववत्। न च यागे स्वर्गसाधनत्वज्ञानं विनेदृशं नियोज्यत्वं

भासितुमर्हति। न वा यागे स्वर्गसाधनत्वं प्रथममेव शक्यं ज्ञातुम्। तद्धि साक्षात् परम्परया वा। नाद्यः। आशुविनाशिनो यागस्य कालान्तरभाविनि स्वर्गरूपफले साक्षादहेतुत्वात्। नान्त्यः। परम्पराघटकापूर्वानुपस्थितेः। अतो यागविषकं कार्यमिति प्रथमबोधादपूर्वोपस्थितौ तद्द्वारा यागे स्वर्गसाधनत्वग्रहात् तत्र कार्यत्वबोध इत्युक्तम्। नियोज्यत्वं च पदानुपस्थितमपि योग्यतया शाब्दबोधे भासते द्वारमित्यत्र पिधेहीतिवत्।

प्रभाकरमतं निरूपयति—कार्यमिति। कार्यम्=कृतिसाध्यमित्यर्थः। तच्च वेदे अपूर्वरूपेण पर्यवस्यति। अत्रेदं बोध्यम्—शाब्दबुद्धौ योग्यताज्ञानस्य हेतुत्वं सर्वेरङ्गीकृतम्। अन्वयप्रयोजकधर्मवत्त्वमेव च योग्यतात्वम्। एवञ्च 'घटेन जलमाहर' इत्यादौ यथा घटे जलाहरणकरणत्वस्यान्वयाय सच्छिद्रेतरत्वरूपयोग्यताया भानं भवति तथैव 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यत्रापि यजधातु—त-प्रत्ययवाच्य–यागकरणकभावनायां लिङ्वाच्यकृतिनिष्पाद्यत्वरूपकार्याभेदान्वयस्य—यागभावना कार्या—इत्याकारकस्य सिद्धये यागभावनायां नियोज्यान्वयरूपाया योग्यतायाः शाब्दबोधे भानमावश्यकम्। अत्र भावनायां नियोज्यान्वयश्च—'स्वर्गकामनियोज्यिका यागभावना—इत्येवंरूपः, स्वर्गकामनिष्ठं यत् नियोज्यत्वं तन्निरूपितं यन्नियोजकत्वं तद्वती यागभावना—इति। स्वर्गकामे नियोज्यत्वञ्च—क्रियानिष्ठकाम्यसाधनताज्ञानाधीन-मत्कार्यत्व-प्रकारक-ज्ञानवत्त्वम्, एतच्च स्वर्गकामपुरुषे उक्तरूपान्वयरूप-यागभावनीय-योग्यताया अवच्छेदकम्, वैयधिकरण्येऽपि तस्य सम्बन्धविशेषेण भावनानिष्ठत्वसिद्धेः। भावनायां नियोजकत्वञ्च—स्वनिष्ठकाम्यसाधनताज्ञानजन्यमत्कार्यत्व [स्वर्गकामकार्यत्व]-प्रकारकज्ञानविशेष्यत्वम्। उक्तरूपस्य भावनानुयोगिकनियोज्यान्वयस्य लिङर्थकार्यान्वयप्रयोजकरूपवत्त्वरूपयोग्यतात्वञ्च—प्रवृत्तिमात्रं प्रति मदिष्टसाधनताज्ञानजन्य-मत्कार्यत्वप्रकारकज्ञानं चिकीर्षोत्पादनद्वारा लाघवात् कारणम्—इति प्राभाकरानुभवसिद्ध-व्युत्पत्तिमूलकम्।

एवञ्च नियोज्यान्वयभानस्यावश्यकत्वे घटकतया कारणीभूतत्वेन भावनायां स्वर्गसाधनत्वज्ञानमावश्यकम्। भावनायां स्वर्गसाधनत्वज्ञानार्थञ्च कार्यत्वेन रूपेण अपूर्वनामकस्य पदार्थविशेषस्य लिङा भानमावश्यकम्। अपूर्वास्वीकारे तु तृतीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगिन्या यागभावनायाः मरणाद्यनन्तरभाविस्वर्गं प्रति साक्षात् साधनत्वग्रहासम्भवः, कार्याव्यवहितप्राक्-क्षणावच्छेदेन कार्यव्यापकत्वरूपस्य कारणत्वस्य तत्राभावात्। 'यागभावनाविषयकम् अपूर्वात्मकं कार्यम्–इति रूपेणापूर्वस्योपस्थितौ तु तस्य स्वर्गप्राप्त्यव्यवहितप्राक्क्षणावच्छेदेन स्थायित्वात् तद्द्वारा यागभावनायां स्वर्गसाधनताज्ञानमुपपद्यते अर्थात् यागभावनाया अपूर्वोत्पत्तिः अपूर्वाच्च स्वर्गोत्पत्तिरिति परम्परया यागभावनायां स्वर्गसाधनत्वज्ञानं जायते। अपूर्वस्य भावनाविषयकत्वं च—भावनाविषयक-कृति-साध्यत्वमेव। तस्मात् कार्ये एव लिङः शक्तिर्वाच्या। कार्यञ्च कृतिसाध्यम्। मुख्यस्य तृतीयबोधस्य

सिद्धये कार्यत्वेनैव रूपेण वाच्यतावश्यिकी, तेनैव रूपेणाऽपूर्वस्याप्युपस्थितिः, तस्यापि कृतिसाध्यत्वाविशेषात् ।

अत्रायं निष्कर्षः—(१) स्वर्गकामकर्तृक-यागकरणकभावनाविषयकं कार्यम् अपूर्व-रूपम्—इति प्रथमो बोधः। अस्मिन् बोधे कार्यात्मकतयाऽपूर्वोपस्थित्यर्थमेव च कार्यत्वं विहाय कार्ये लिङः शक्तिः प्रतिपादिता। तदनन्तरम् (२) स्वर्गकामकर्तृक-यागभावनाविषयकं स्थायित्वेन स्वर्गसाधनं कार्यरूपमपूर्वम् इति द्वितीयो बोधः। ततश्च—(३) स्वर्गकामनियोज्यिका यागभावना स्वर्गकामकार्या—इति तृतीयो बोधः। प्रथमबोधादपूर्वस्योपस्थित्या यागभावनायां स्वर्गसाधनत्वग्रहात्मको द्वितीयो बोधः। द्वितीयबोधाच्च स्वर्गसाधनत्वग्रहाधीनकार्यत्वप्रकारकज्ञानात् शाब्दबोधहेतुभूतयोग्यताया नियोज्यान्वयरूपाया ग्रहणेन यागभावनायां स्वर्गकामकार्यत्वस्य ग्रहात्मकः प्रवृत्त्यौपयिक: तृतीयः शाब्दबोधः। अयमेव च मुख्यः शाब्दबोधः, प्रवृत्त्यौपयिकत्वात्। अत्र पद-निष्ठवृत्त्याऽनुपस्थितमपि नियोज्यत्वं वाक्यशक्त्योपस्थाप्यते यथा द्वारमित्युक्ते पिधे-हीति। अत्र कृतिसाध्यत्वविशिष्टात्मक-लिङ्वाच्यकार्यघटक-कृतेराश्रयाकाङ्क्षापूरणार्थ-मपरोपि चतुर्थो बोधः—(४) स्वर्गकामो यागभावनाविषयककृत्याश्रयः—इत्याकारकः। एतेषां सर्वेषां निष्कर्षभूतोऽपरोऽपि पञ्चमो बोधः—(५) अहं स्वर्गकामः, अतो यागभावना मत्कृतिसाध्या—इत्याकारकः।

अत्र च तृतीय एव मुख्यः शाब्दो बोधः। तन्त्रादिना प्रथमोपि शाब्द इति वक्तुं शक्यते। द्वितीय-चतुर्थौ तु मानसावार्थाविवेत्यन्यत्र विस्तरः।

प्रभाकर का मत

विधि [का अर्थ] कार्य है—ऐसा प्रभाकर के अनुयायी [मानते हैं क्योंकि इनके अनुसार प्रवृत्ति के प्रति कार्यत्वज्ञान ही कारण है इसलिये] 'स्वर्गकामो यजेत' [स्वर्ग की कामनावाला याग करे] आदि में (१) 'स्वर्गकामनियोज्यक, यागविषयक कार्य [अर्थात् स्वर्ग की इच्छा रखने वाला जिसमें नियोज्य=मुझे ऐसा करना चाहिये इस ज्ञान वाला है, याग विषय है, ऐसा कार्य=अपूर्व]-यह प्रथम बोध होता है। (२) नियोज्य के सहित, यागविषयक, स्थायि, स्वर्ग का साधन कार्य=अपूर्व-यह दूसरा [ज्ञान होता] है। (३) स्वर्ग की कामनावाला जिसमें नियोज्य है ऐसा याग, स्वर्ग के इच्छुक द्वारा करने योग्य है-यह तीसरा [ज्ञान होता है]। (४) स्वर्ग का इच्छुक [व्यक्ति] याग करने वाला-यह चौथा [ज्ञान होता] है। (५) मैं स्वर्ग की कामना वाला हूँ अतः याग मेरी कृति=यत्न से साध्य है-यह पांचवां [ज्ञान होता है]। 'स्वर्ग की कामना वाले के द्वारा करने योग्य याग' यह पहला ही ज्ञान हो, और इस प्रकार कार्यत्व [कार्य-वृत्तिधर्म] में ही [लिङ् की] शक्ति हो न कि कार्य में—ऐसा नहीं कहना

चाहिये क्योंकि याग आदि क्रिया में नियोज्य के अन्वय के बिना कार्यत्व का अन्वय सिद्ध नहीं हो सकता है। क्योंकि नियोज्य होना–क्रिया की इष्टसाधनता के ज्ञान से उत्पन्न 'मुझे यह करना चाहिए' ऐसे बोध वाला होना–है। और वह [नियोज्यत्व] स्वर्ग की कामना से विशिष्ट व्यक्ति में योग्यता की अवच्छेदकता [परिचायकत्व] रूप से भासित होता है। 'घट से जल लाओ' यहां घट में सच्छिद्रेतरत्व [छिद्ररहित] से भिन्न होना जलाहरणयोग्यता का परिचायक होता है। इसी प्रकार स्वर्ग की कामना रखने वाले व्यक्ति में याग-सम्पादन की योग्यता का परिच्छेदक [निश्चायक] नियोज्यत्व=इष्टसाधनता-ज्ञान से जन्य कर्तव्यता का ज्ञान रहता है।] क्योंकि याग में स्वर्ग-साधनता-ज्ञान [स्वर्ग का साधन है–ऐसे ज्ञान] के बिना नियोज्यत्व भासित नहीं हो सकता। और न याग में स्वर्गसाधनता का ज्ञान पहले ही किया जा सकता है। क्योंकि वह [याग में स्वर्ग-साधनता] साक्षात् है अथवा परम्परा से [अर्थात् किसी अन्य के के माध्यम से—ये दो पक्ष हो सकते हैं] [इनमें] पहला पक्ष [अर्थात् स्वर्ग के प्रति याग की साक्षात् साधनता] नहीं [उत्पन्न होती है] क्योंकि आशुविनाशी [तृतीय क्षण-ध्वंसी] याग कालान्तर में [मृत्यु के बाद] प्राप्त होने वाले स्वर्गरूपी फल के प्रति साक्षात् हेतु नहीं होता है। [क्योंकि कार्योत्पत्ति-समकालिक कारण ही साक्षात् कारण होता है।] दूसरा पक्ष भी नहीं है क्योंकि परम्पराघटक [=अन्तर्गत] अपूर्व की उपस्थिति [ज्ञान] नहीं होती है। इसलिए 'याग-सम्बन्धी [अपूर्व रूप] कार्य' –इस प्रथम ज्ञान से अपूर्व [पुण्य] के उपस्थित [ज्ञात] होने पर इसके द्वारा याग में स्वर्ग-साधनता [याग स्वर्ग का साधन होता है—इत्याकारक] ज्ञान से उस [याग] में कार्यत्व [कृतिसाध्यत्व] का ज्ञान [होता है] —यह कहा गया है। और नियोज्यत्व, पद से उपस्थित न होता हुआ भी, योग्यतावशात् शाब्दबोध में उसी प्रकार भासित होता है जैसे 'द्वारम्' [दरवाजे को] इस [कथन] में 'पिधेहि' ['बन्द करो'] यह भासित होता है।

विमर्श–यहां का अभिप्राय इस प्रकार से समझना चाहिए। प्रभाकर के अनुयायी विद्वानों का कथन है कि प्रवृत्ति के प्रति कार्यता=कृति-साध्यता का ज्ञान कारण मानना चाहिये। यह कार्यताज्ञान दो प्रकार से होता है–१. मेरे द्वारा यह किया जा सकता है। और २. मुझे यह अवश्य करना चाहिये। इन दोनों ज्ञानों में प्रथम–पदार्थ की योग्यता से समझा जाने वाला है, अतः यह ज्ञान प्रवृत्ति के प्रति कारण नहीं माना जाता है। द्वितीय ज्ञान जो इष्टसाधनत्व आदि के ज्ञान से होने वाला है, वह चिकीर्षा (=करने की इच्छा) के माध्यम से प्रवृत्ति के प्रति कारण बनता है। इसीलिये इष्टसाधनत्व से अज्ञात मधुमिश्रित अन्न के भक्षण में और प्रबल अनिष्ट के साधनत्वरूप से ज्ञात विषमिश्रित अन्न के भक्षण में प्रवृत्ति नहीं होती है। कारण यह

है कि उपर्युक्त कार्यता=कृतिसाध्यता का ज्ञान तब तक नहीं होता है जब तक इष्ट-साधनता का ज्ञान नहीं होता। नैयायिक लोग इष्टसाधनत्व, कृतिसाध्यत्व एवं बलदनिष्टाननुबन्धि—इनको प्रवृत्ति के प्रति कारण मानते हैं परन्तु लाघव को ध्यान में रखकर केवल कृतिसाध्यता को ही चिकीर्षा के माध्यम से प्रवृत्ति का कारण मानना उचित है। यह उसी प्रकार है जैसे प्रकरणादि को हेतु मानकर होने वाले तात्पर्यज्ञान को शाब्दबोध का कारण माना जाता है। इसलिए लौकिक प्रयोगों में कार्यताज्ञान=कृतिसाध्यता का ज्ञान ही प्रवर्तक होता है, वही विधि प्रत्यय का अर्थ समझना चाहिए।

परन्तु वेद में लिङ् का अर्थ कार्य=कृतिसाध्य=अपूर्व है। इसकी उपपत्ति इस प्रकार है। शाब्दबोध में (पदार्थ की) योग्यता का ज्ञान हेतु होता है। योग्यता-अन्वय-प्रयोजकधर्मवत्त्वरूप होती है। जैसे 'घटेन जलमाहर' इत्यादि में घट में जला-हरणकरणत्व के अन्वय के लिए सच्छिद्रेतरत्व (छिद्रयुक्त से भिन्न होना) रूपी योग्यता का भान होता है। इसी प्रकार 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि स्थलों में भी 'यज्' धातु एवं 'त' प्रत्ययों की वाच्य (अर्थ)—यागकरणकभावना में लिङ् के वाच्य कृति-निष्पाद्यत्वरूप कार्य का अभेदान्वय, जो 'यागभावना कार्या' इस आकारवाला है, की सिद्धि के लिए यागभावना में नियोज्यान्वयरूपी योग्यता का शाब्दबोध में भान आवश्यक है। भावना में नियोज्य का अन्वय—स्वर्गकामनियोज्यिका यागभावना (=यागकरणकभावना)—ऐसा है। अर्थात् स्वर्गकामनिष्ठनियोज्यता से निरूपित नियोजकतावाली यागभावना - ऐसा है। और स्वर्गकाम व्यक्ति में रहने वाला नियोज्यत्व—क्रियानिष्ठ-काम्य-साधनताज्ञानाधीन-मत्कार्यत्व-प्रकारकज्ञानवत्त्व है। यह (ज्ञानवत्त्व) स्वर्गकामपुरुष में उपर्युक्त रूपवाली अन्वयरूप यागभावनीय योग्यता का अवच्छेदक है। वैयधिकरण्य रहने पर भी यह सम्बन्धविशेष से भावनानिष्ठ सिद्ध हो जाता है। और भावना में नियोजकता—स्व (=भावना)-निष्ठकाम्य-साधनता-ज्ञानजन्य-मत्कार्यत्व (=स्वर्गकामकार्यत्व)-प्रकारक-ज्ञानविशेष्यत्व है। उक्त रूप वाले भावनानुयोगिक-नियोज्यान्वय का लिङर्थकार्य के अन्वयप्रयोजकरूपवत्त्वरूप योग्यतात्व—प्रवृत्तिमात्र के प्रति मदिष्टसाधनता-ज्ञानजन्य - मत्कार्यत्वप्रकारक ज्ञान चिकीर्षोत्पादन द्वारा लाघवात् कारण होता है—इस अनुभवसिद्ध व्युत्पत्ति के आधार पर है। क्योंकि नैयायिकाभिमत तीन को कारण मानने की अपेक्षा उपर्युक्त एक ज्ञान को ही कारण मानने में लाघव है।

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार यह सिद्ध है कि नियोज्य के अन्वय का भान आवश्यक है। इसमें घटकतया कारणीभूत होने से भावना में स्वर्गसाधनता का ज्ञान आवश्यक है। अर्थात् यागभावना स्वर्ग का साधन है यह ज्ञान होना आवश्यक है। और भावना में स्वर्गसाधनताज्ञान के लिये कार्यत्वरूपेण अपूर्व नामक पदार्थविशेष का लिङ्

से भान होना आवश्यक हैं। लोक में जैसे 'तृप्तिकामः पचेत्' इत्यादि में पाकादि में तृप्तिरूप फलसाधनता के लौकिक प्रमाणगम्य होने से उक्त रूप से अवगत पाक आदि में काम्यसाधनताज्ञानाधीन कार्यताज्ञानवत्त्वरूप नियोज्यत्वविशिष्ट के अन्वय में कार्यत्व का अन्वय होता है उसी प्रकार 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वेद वाक्यों में यागादि में कार्यत्व का अन्वय नहीं हो सकता क्योंकि याग क्रियारूप होने से तृतीयक्षण-वृत्ति ध्वंस का प्रतियोगी है अतः उसमें बहुत काल[मरणादि]के अनन्तर प्राप्त होनेवाले काम्य स्वर्ग की साधनतारूप योग्यता के न होने के कारण तज्ज्ञानाधीन कार्यताज्ञानवत्त्वरूप-नियोज्यत्व-विशिष्टान्वयरूपयोग्यता जो कार्यत्वान्वय की प्रयोजिका है, का अभाव है। इसलिए अपूर्वरूप कार्य को विध्यर्थ मानकर—'स्वर्गकामनियोज्यकं यागभावनाविषयकम् अपूर्वात्मकं कार्यम्' इस रूप से प्रथम बोध के पश्चात् अपूर्व की उपस्थिति होती है। यह स्वर्गप्राप्तिपर्यन्त स्थायी रहता है। इस प्रकार भावना अपूर्व द्वारा स्वर्ग की साधन होती है। द्वितीय बोध से स्थायित्व एवं स्वर्ग-साधनत्व का ज्ञान होने पर अपूर्व के माध्यम से याग में स्वर्गसाधनता से उस अपूर्व में कार्यत्व के बोध का उपपादन करना चाहिये। और इसीलिये अतीन्द्रिय भी अपूर्व के कार्यत्व की उपपत्ति हो जाती है। इस प्रकार यागभावना से अपूर्व और अपूर्व से स्वर्ग उत्पन्न होता है। यहां अपूर्व के भावनाविषयक होने का तात्पर्य है—भावनाविषयक कृति का साध्य होना। इस प्रकार कार्य अर्थ में ही लिङ् की शक्ति माननी चाहिये। और कार्य का अर्थ है—कृतिसाध्य।

मूल में जो पांच बोध बतलाये गये हैं उनमें मुख्य है तृतीय—स्वर्गकामनियोज्यको यागः स्वर्गकामकार्यः। इस तृतीय बोध की सिद्धि के लिए कार्यत्वरूपेण वाच्यता माननी आवश्यक है। इसी रूप से अपूर्व की भी उपस्थिति होती है क्योंकि यह भी कृतिसाध्यत्व से भिन्न नहीं है। पांचवां बोध निष्कर्षभूत है—अहं स्वर्गकामः, अतो यागभावना मत्कृतिसाध्या। इस विषय का और अधिक विवेचन संस्कृत-व्याख्या में देखा जा सकता है।

प्रवर्त्तकज्ञानविषयो विधिरिति नैयायिकाः। प्रवर्त्तकं च कृतिसाध्यत्वेष्ट-साधनत्वबलवदनिष्टाननुबन्धित्वानां ज्ञानम्। अतस्तेषु लिङःशक्तित्रयम्। सुमेरुशृङ्गहरणनिष्फलाचरणमधुविषसंपृक्तान्नभोजनेषु प्रवृत्तिवारणाय यथा-सङ्ख्यं त्रयाणामेव ज्ञानं प्रवर्त्तकम्।

यत्तु समुदिते शक्तिरेकैवेति। तन्न। विशेष्यविशेषणभावे विनिगमका-भावेन त्रिष्वेव पृथक् शक्तेः। एवञ्च स्वर्गकामो यजेतेत्यादौ स्वर्गकामीयो यागः कृतिसाध्यः, इष्टसाधनं बलवदनिष्टाननुबन्धी चेति बोध इत्येके।

वस्तुतो नामार्थधात्वर्थयोर्भेदेन साक्षादन्वयस्याव्युत्पन्नतया तादृशया-गानुकूलकृतिमान् स्वर्गकाम इत्येव बोधः ।

कृतिसाध्यत्वं च प्रवृत्तिसाध्यत्वम् । अतो न समुद्रतरणादौ प्रवृत्तिः । इष्टसाधनत्वं चेष्टनिष्टसाध्यतानिरूपकत्वमतो न तृप्तस्य भोजने प्रवृत्तिः । बलवदनिष्टाननुबन्धित्वं तु स्वजन्येष्टोत्पत्तिनान्तरीयकदुःखाधिक-दुःखाजनकत्वम् । 'नहि सुखं दुःखैर्विना लभ्यते' इति न्यायेन नान्तरीयकं किञ्चिद् दुःखमिष्टोत्पत्ताववश्यं भावि तदतिरिक्तदुःखराहित्यमेव तत्त्वम् ।

'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादौ नञः कृतिसाध्यत्वेष्टसाधनत्वनिषेधे स्वारस्याभावात् तेन बलवदनिष्टाननुबन्धित्वनिषेधाद् ब्राह्मणवधो बलवदनिष्टजनक इत्यर्थः पर्यवस्यति । एतेन समुदिते लिङः शक्तिकल्पनमपास्तम् ।

नैयायिकमतं निरूपयति—प्रवर्त्तकेति । प्रवर्त्तकम्=प्रवृत्तिजनकं यज्ज्ञानम्, तद्विषयः=तद्विषयको विधिरित्यर्थः । प्रवर्तकं प्रतिपादयति—प्रवर्त्तकञ्चेति । कृतिसाध्यत्वम्, बलवदनिष्टाननुबन्धित्वञ्च—एतेषां त्रयाणां ज्ञानं क्वचिदपि प्रवर्त्तकम्=प्रवृत्तिजनकम् । तेषु =कृतिसाध्यत्व-इष्टसाधनत्व-बलवदनिष्टाननुबन्धित्वेषु । शक्तित्रयमिति । कृतिसाध्यत्वनिरूपिता लिङ्निष्ठा एका, इष्टसाधनत्वनिरूपिता लिङ्निष्ठा द्वितीया, एवमेव बलवदनिष्टाननुबन्धित्वनिरूपिता लिङ्निष्ठा तृतीया शक्तिरितिरूपेण शक्तित्रयम् । अर्थत्रये शक्तिस्वीकारे मानमाह—सुमेरुशृङ्गेति । अय भावः—अत्र कृतिसाध्यत्वे शक्तिस्वीकारेण सुमेरुशृङ्गानयने कस्यापि प्रवृत्तिर्न, तस्य कृत्यसाध्यत्वात् । इष्टसाधनत्वे शक्तिस्वीकारेण निष्फलजलताडनादौ कस्यापि प्रवृत्तिर्न, तत्र इष्टसाधनत्वाभावात् । बलवदनिष्टाननुबन्धित्वे शक्तिस्वीकारेण विषसम्पृक्तान्नादिभोजने प्रवृत्तिर्न, तस्य बलवदनिष्टानुबन्धित्वादिति बोध्यम् ।

एकशक्तिवादिनां मतं निराकर्तुमाह—यत्त्विति । यथा शाब्दिकनये फलव्यापारोभयत्र धातोरेकैव शक्तिस्तथैवात्रापि उक्तार्थत्रये लिङोऽपि एकैव शक्तिरस्वीकार्या लाघवात् । खण्डयति–तन्नेति । परस्परं विशेष्यविशेषणभावे किमपि प्रमाणं नास्ति तेन त्रिष्वपि स्वतन्त्रतया शक्तित्रयं स्वीकार्यमिति । इष्टसाधनम् = स्वर्गरूपस्येष्टस्य साधको याग इति भावः । नामार्थेति । स्वर्गकामो यजेत—इत्यत्र स्वर्गकामरूपनामार्थस्य यागरूपधात्वर्थस्य च परस्परं भेदेन साक्षादन्वयोऽव्युत्पन्नस्तेन स्वर्गकामीयो याग इतिबोधोऽसमीचीनः, अत आह—तादृशेति । कृतिसाध्य-इष्टसाधन-बलवदनिष्टाननुबन्धि—यागानुकूलकृतिमान् स्वर्गकाम इतिबोधः । प्रवृत्तिरिति । समुद्रतरणस्य कृत्यसाध्यत्वादिति भावः । तृप्तस्येति । तृप्तस्य पुंस इष्टस्य सिद्धत्वात् भोजने इष्टसाधनत्वोपादानासम्भवादिति । बलवदिति । बलवद् यद् अनिष्टं तस्य अनुबन्धि=जनकं न भवति, तथा; तत्त्वम्, स्वम्=

यागादिः, तज्जन्या या स्वर्गादीष्टस्योत्पत्तिः=स्वर्गप्राप्तिः, तत्र नान्तरीयकम्=अनिवार्यम् यद्दुःखं व्रतोपवासादिजन्यम्, तदितरत्=ततोऽधिकं यद् दुखं तस्य अजनकम्=अनुत्पादकमित्यर्थः। तत्त्वम्=बलवदनिष्टाननुबन्धित्वमित्यर्थः। अयमाशयः—स्वर्गादीष्टप्राप्तावनिवार्यतयोपायभूतं यच्छारीरिकं मानसं वा कष्टमनुभूयते ततोऽधिकं कष्टं दुःखं वा येन न जायते तद् बलवदनिष्टाननुबन्धीति बोध्यम्।

नञ्समभिव्याहारे लिङाद्यर्थं निरूपयति--ब्राह्मण इति। एतादृशस्थलेषु नञर्थोऽभावः, तस्मिन् बलवदनिष्टाननुबन्धित्व-विशिष्टेष्टसाधनत्वरूपस्य लिङर्थस्य स्वप्रतियोगिकत्व-सम्बन्धेनान्वयः, नञार्थाभावस्य च स्वरूपसम्बन्धेन धात्वर्थे हननेऽन्वयः। एवञ्च बलवदनिष्टाननुबन्धित्वविशिष्टेष्टसाधनत्वप्रतियोगिकाभाव - विशिष्टं ब्राह्मणहननमिति बोधः। अत्र नैयायिकमते बलवदनिष्टाजनकत्वस्य विशेषणस्य इष्टसाधनत्वस्य विशेष्यस्य चाभावप्रयुक्तो विशिष्टाभावः तेन हनने बलवदनिष्टजनकत्वं प्रतीयते। अत्र धात्वर्थे हनने नञ्रूपनामार्थस्यान्वयः। ननु इष्टसाधनत्वस्य लिङर्थत्वे नञ्समभिव्याहारे 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इत्यादाविष्टसाधनत्वस्यानुपपत्तिः, धात्वर्थव्यापारे इष्टसाधनत्वस्य बाधादिति चेन्न, तत्र लक्षणया अनिष्टसाधनत्वस्यैव लिङर्थत्वात्। तथा च कलञ्ज-भक्षणमनिष्टसाधनम् इति बोधः। एवमेवात्रापि ब्राह्मणबधोऽनिष्टसाधनमिति बोध इति केचित्। गुरुमते च हननस्य स्वप्रतियोगिकत्वसम्बन्धेन नञर्थाभावेऽन्वयः, अभावस्य च प्रयोज्यत्वसम्बन्धेन लिङर्थेऽपूर्वेऽन्वयः; अपूर्वं च पुण्यम्, एवञ्च—ब्राह्मणहनन-प्रतियोगिकाभावप्रयोज्यमपूर्वमिति बोधः। नैयायिकमते ब्राह्मणहननमनिष्टजनकम् न तु ब्राह्मणहननाभावः पुण्यजनक इति बोधः। गुरुमते च ब्राह्मणहननाभावजन्यं पुण्यं न तु ब्राह्मणहननमनिष्टजनकमिति प्रतीयते। अयमेवोभयोर्भेदः। एतेन=उक्तस्थले समुदितार्थ-स्वीकारे निर्वाहासम्भवेनेत्यर्थः। अपास्तमिति। कृतिसाध्यत्व-इष्टसाधनत्व-बलवदनिष्टा-ननुबन्धित्वेषुत्रिषु समुदितेषु लिङः शक्तिस्वीकर्तृमते कृतिसाध्यत्वेष्टसाधनत्वयोरपि नञा निषेधः सम्प्राप्तः तेन वाक्यार्थासङ्गतिः स्यात्। अतः पृथक् पृथक् शक्तिः स्वीकार्या। एवञ्चात्र बलवदनिष्टाननुबन्धित्वमेव लिङर्थः, तस्यैव निषेधो नञा भवतीति तात्पर्यम्।

विध्यर्थविषयक नैयायिक-मत

अनु०—प्रवर्त्तक=प्रवृत्ति के प्रयोजक ज्ञान का विषय विधि है—ऐसा नैयायिक [कहते हैं]। और (१) कृतिसाध्यत्व [यत्न से साध्य होना], (२) इष्टसाधनत्व [अभीष्ट का साधक होना], (३) बलवदनिष्टाननुबन्धित्व [प्रबल अनिष्टों=दुःखों का जनक न होना इन तीनों] का ज्ञान प्रवर्तक होता है। [अर्थात् जब ये तीन ज्ञान हो जाते हैं तो मनुष्य की प्रवृत्ति होती है।] इस लिये इन [तीन अर्थों] में लिङ्

की तीन शक्तियां हैं। (१) सुमेरु पर्वत का शिखर लाने में, (२) [पानी को पीटना आदि] निष्फल कार्य करने में और (३) मधुविष से मिश्रित अन्न के भोजन में प्रवृत्ति को रोकने के लिये क्रमशः [उक्त] तीनों ही ज्ञानों को प्रवर्त्तक [मानना आवश्यक है]। तीनों के समुदाय में एक शक्ति है जो यह [कहते हैं], वह [ठीक] नहीं है, क्योंकि [तीनों में] विशेष्यविशेषणभाव में [किसी] प्रमाण के न होने से तीनों में ही पृथक् पृथक् शक्ति है। [अर्थात् उक्त तीन में कौन विशेषण है, कौन विशेष्य है—इसका निश्चायक कोई प्रमाण नहीं होने के कारण तीनों में अलग-अलग तीन शक्तियां माननी चाहिये।] इस प्रकार 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि में 'स्वर्ग की कामना वाले का याग—कृतिसाध्य, इष्ट-साधन और प्रबल दुःख का अजनक है-यह [शाब्द] बोध होता है, ऐसा कुछ [आचार्य कहते हैं]।

वास्तव में नामार्थ [स्वर्गकाम] और धात्वर्थ [याग] का भेद सम्बन्ध से साक्षात् अन्वय [सम्बन्ध] अव्युत्पन्न=अस्वीकृत होने के कारण वैसे [अर्थात् कृतिसाध्य-इष्ट-साधन-बलवदनिष्ट के अजनक] याग के अनुकूल कृतिवाला स्वर्गकाम—यही शाब्दबोध होता है]।

विमर्श—'नामार्थ-धात्वर्थयोः साक्षाद् भेदेन अन्वयोऽव्युत्पन्नः' यह व्युत्पत्ति माननी आवश्यक है अन्यथा 'राजा पुरुषः' यहां स्वत्वसम्बन्धेन राजविशिष्टः पुरुषः तथा 'भूतलं घटः' यहां आधेयत्वसम्बन्धेन भूतलविशिष्टो घटः आदि बोध होने लगेगा। इसे रोकने के लिये प्रस्तुत व्युत्पत्ति माननी आवश्यक है। इस व्युत्पत्ति को मान लेने पर नामार्थ स्वर्गकाम और धात्वर्थ याग का साक्षात् भेदेन अन्वय अर्थात् स्वर्गकाम पुरुष का स्वकर्तृकत्वसंसर्ग से याग में अन्वय नहीं हो सकता। इसलिये उपर्युक्त शाब्दबोध में अस्वीकृति प्रदर्शित करके दूसरे प्रकार के शाब्दबोध को प्रस्तुत किया है—कृतिसाध्य-इष्टसाधन-बलवदनिष्टाननुबन्धि-यागानुकूलकृतिमान् स्वर्गकामः।

अनु०—और कृतिसाध्य होना—प्रवृत्ति से साध्य होना [माना जाता है]। इस लिये समुद्र में तैरना आदि में प्रवृत्ति नहीं [होती है क्योंकि यह कार्य कृतिसाध्य नहीं है]। और इष्टसाधनत्व [इष्ट का साधन=साधक होना]—इष्ट में रहने वाली साध्यता का निरूपक होना [अर्थात् इष्ट का साधक होना है]। इसलिये [पहले से ही] सन्तुष्ट [व्यक्ति] की भोजन में प्रवृत्ति नहीं [होती है]। बलवान् अनिष्ट का अननुबन्धी होना तो—स्व [यागादि] से जन्य इष्ट की उत्पत्ति [स्वर्गादि की प्राप्ति] में नान्तरीयक=अनिवार्य दुःख से अधिक दुःख का जनक न होना है। 'दुःखों के बिना सुख नहीं प्राप्त होता है' इस न्याय से इष्ट की उत्पत्ति [प्राप्ति] में अनिवार्य कुछ दुःख अवश्य होने

वाला है, उस [अनिवार्य] के अतिरिक्त दुःख से रहित होना ही वह [प्रबल दुःख का अजनक होना] है ।

विमर्श—इष्ट स्वर्ग आदि को प्राप्त करने में व्रत उपवास आदि कुछ अनिवार्य दुःख=कष्ट होते हैं । इनके अतिरिक्त अन्य प्रायश्चित्तादि दुःखों को जो उत्पन्न नहीं कराता है वही बलवदनिष्टाननुबन्धी होता है । इसलिये कहीं अतिव्याप्ति आदि का अवसर नहीं है ।

अनु०—'ब्राह्मण का बध नहीं करना चाहिए' इत्यादि में कृतिसाध्यत्व एवम् इष्टसाधनत्व के निषेध में नञ् का स्वारस्य [वास्तविक अभिप्राय] न होने से [और] उस [नञ्] के द्वारा बलवदनिष्टाननुबन्धित्व [प्रबल अनिष्ट के जनकत्वाभाव] का निषेध होने से 'ब्राह्मणवध बलवान् अनिष्ट=दुःख [नरकादि] का जनक है' यह अर्थ पर्यवसित होता है । [ऐसे स्थलों पर केवल बलवदनिष्टाननुबन्धित्व] का निषेध होता है] इस प्रकार [मान लेने] से समुदित [कृतिसाध्यत्व - इष्टसाधनत्व-बलवदनिष्टाननुबन्धित्व] में लिङ् की शक्तिकल्पना निरस्त हो गयी । [कारण यह है कि समुदाय में शक्ति मानने वाले के मत में कृतिसाध्यत्व और इष्टसाधनत्व इनका भी निषेध प्राप्त होगा जिससे वाक्यार्थ असंगत हो जायगा ।]

यद्यपि प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वं प्रत्ययस्येति व्युत्पत्त्या नञर्थे बलवदनिष्टाननुबन्धित्वान्वयोऽसम्भवी, तथाप्यन्यथाऽनुपपत्त्या एतदतिरिक्तस्थले एव सा व्युत्पत्तिः । अत एव "नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाती"त्यादौ षोडशिग्रहणाभाव इष्टसाधनमिति बोध इति दीधितिकृतः । 'न हन्तव्य' इत्यादौ हननाभावविषयकं कार्यमिति बोध इति गुरवः ।

ननु पचतीत्यादौ लडाद्यर्थवर्तमानत्वादेर्यत्ने एवान्वयान्न सा व्युत्पत्तिः । मैवम् । यत्र प्रत्ययत्वं तत्र प्रकृत्यार्थान्वितस्वार्थबोधकत्वमिति व्याप्तेः । यः प्रत्ययार्थः स प्रकृत्यर्थस्य विशेष्यतया भासते इति व्याप्तेश्च ।

नञर्थे बलवदनिष्टरूपस्य लिङर्थस्यान्वयमुपपादयितुमाह—यद्यपीति । प्रत्ययार्थस्य प्रथमं स्वप्रकृत्यर्थे एवान्वयो भवतीति व्युत्पत्त्या प्रत्ययार्थभूतस्य बलवदनिष्टाननुबन्धित्वस्य स्वप्रकृत्यर्थे हननेऽन्वयमकृत्वा नञर्थेऽन्वयोऽसङ्गतः ।अत एव दण्डिनं पश्येत्यादौ द्वितीयार्थकर्मत्वस्य स्वप्रकृत्यर्थे दण्डिनि एवान्वयो न तु दण्डे इति । एवञ्चात्रापि तथैवान्वयस्वीकारे इष्टबोधानुपपत्तिः । तदर्थमाह—तथापीति । एतादृशस्थलेषु उक्तव्युत्पत्ति स्वीकारेऽभीष्टबोधानुपपत्त्या तत्र व्युत्पत्तौ विधिप्रत्ययातिरिक्तप्रत्ययस्यैवार्थः स्वप्रकृत्यर्थेऽन्वेति । एवञ्च नात्र कोपि दोष इति बोध्यम् । अतएव=उक्तव्युत्पत्तौ तथा विषसङ्कोचादेवेत्यर्थः । अतिरात्रः=यागविशेषः । षोडशी=सोमरसस्थापनार्थः पात्रविशेषः ।

गृह्णाति=गृह्णीयादित्यर्थः। दीधितिकृतः=चिन्तामणिदीधितिकारः रघुनाथशिरोमणि-महोदयाः। यत्ने=आख्यातप्रत्ययार्थे। सा=प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वमिति व्युत्पत्तिः। व्याप्तेश्चेति। अयंभावः—यः प्रत्ययो भवति सः स्वप्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थ-बोधक एव भवति। एवमेव यः प्रत्ययार्थो भवति सः प्रकृत्यर्थापेक्षया विशेष्यभूत एव भवति। यथा पचति-इत्यत्र लटि प्रत्ययत्वमपि अस्ति, प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वमपि अस्ति। द्वितीयव्याप्तेश्चेदं बोध्यम्—प्रत्ययस्यार्थौ वर्तमानकालः यत्नश्च। इमौ प्रत्ययार्थभूतौ प्रकृत्यर्थपाकापेक्षया विशेष्यभूतौ। एवञ्च न कोऽपि दोषः।

यद्यपि 'प्रत्यय प्रकृत्यर्थ से अन्वित स्वार्थ का बोधक होता है'—इस व्युत्पत्ति से नञर्थ [=भिन्न प्रकृत्यर्थ] में [लिङर्थक प्रत्यय तव्यत् के अर्थ] बलवान् दुःख के अजनकत्व का अन्वय असम्भव है तथापि अन्य किसी प्रकार उपपत्ति न होने के कारण इस [नञ्सहचरित विध्यर्थक प्रत्यय] से भिन्न स्थल में ही वह [प्रत्यय अपने प्रकृत्यर्थ में अन्वित होते हुए ही अपने अर्थ का बोध कराता है] व्युत्पत्ति है। इसी लिये 'अतिरात्र [नामक यागविशेष] में षोडशी [सोमरस रखने के पात्र] का ग्रहण न करे' इत्यादि में–षोडशी के ग्रहण का अभाव इष्ट का साधन है–यह बोध [होता है]–ऐसा दीधितिकार [रघुनाथ शिरोमणि ने लिखा है]। 'हनन नहीं करना चाहिये' इत्यादि में 'हननाभाव-विषयक कार्य' यह बोध होता है—ऐसा प्रभाकरानुयायी [मानते हैं]।

'पचति' आदि में लट् आदि प्रत्ययों के अर्थ वर्तमानत्व आदि का [लट् आदि के अर्थ] यत्न=कृति में ही अन्वय होने के कारण वह व्युत्पत्ति [प्रत्यय प्रकृत्यर्थान्वित होकर स्वार्थ का बोधक होता है] नहीं है—ऐसा मत [कहो] क्योंकि जिस [शब्द] में प्रत्ययत्व है उस [शब्द] में प्रकृत्यर्थ से अन्वित स्वार्थ की बोधकता है [अर्थात् जो प्रत्यय होता है वह प्रकृत्यर्थ से अन्वित स्वार्थ का बोधक होता है]—यह व्याप्ति है। और जो प्रत्ययार्थ [प्रत्ययजन्य शाब्दबोध का विशेष्य] है वह प्रकृत्यर्थ का विशेष्य होते हुये भासित होता है यह व्याप्ति है।

विमर्श—तव्यत् आदि लिङर्थक प्रत्यय हैं। 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादि में नञ् का अर्थ अभाव है। यहां लिङ् के तुल्य तव्यत् प्रत्यय के अर्थ—बलवदनिष्टाननु-बन्धित्वविशिष्ट इष्टसाधनत्वरूप का स्वप्रतियोगिकत्वसम्बन्ध से नञर्थ अभाव में अन्वय होता है और अभाव का स्वरूपसम्बन्ध से धात्वर्थ हनन में अन्वय होता है। इस प्रकार बलवदनिष्टाननुबन्धित्वविशिष्ट-इष्टसाधनत्व-प्रतियोगिक अभावविशिष्ट ब्राह्मणहनन—यह बोध होता है। यहां विशेषण बलवदनिष्टाजनकत्व के और विशेष्य इष्टसाधनत्व के अभाव को मानकर होने वाला विशिष्ट अभाव है इससे हनन में बलवद-निष्टजनकता प्रतीत होती है। यहां धात्वर्थ में नञ् रूप नामार्थ का अन्वय होता है।

निपातातिरिक्त नामार्थ एवं धात्वर्थ का साक्षात् अन्वय अव्युत्पन्न है, ऐसा नैयायिकों का मत है।

प्रभाकर के मत में तो हनन धात्वर्थ का स्वप्रतियोगिकत्व सम्बन्ध से नञर्थ अभाव में अन्वय और अभाव का प्रयोज्यत्व सम्बन्ध से लिङर्थ अपूर्व में अन्वय होता है। और अपूर्व पुण्यरूप है। इस प्रकार ब्राह्मणहनन-प्रतियोगिकाभावप्रयोज्यम् अपूर्वम्—यह बोध होता है।

नैयायिकमत में ब्राह्मणहनन अनिष्ट का जनक है न कि ब्राह्मणहननाभाव पुण्य का जनक है। और प्रभाकरमत में ब्राह्मणहननाभावजन्य पुण्य है न कि ब्राह्मणहनन अनिष्ट का जनक है—यह अन्तर है।

लेटस्तु यच्छब्दासमभिव्याहृतस्यैव विधिरर्थः "समिधो यजती"त्यादौ विधिप्रत्ययात्। "देवांश्च याभिर्यजते ददाति च" "य एवं विद्वानमावास्यां यजते" इत्यादौ तदप्रत्ययादिति।

लेटि विशेषमाह—यच्छब्देति। तदप्रत्ययात्=विध्यप्रत्ययात्।

यत् शब्द से असमभिव्याहृत ही लेट् का विधि अर्थ है क्योंकि 'लकड़ी का पूजन करे' इत्यादि में विधि का ज्ञान होता है। और "देवताओं को जिनसे पूजते हैं और देते हैं" "जो विद्वान् इस प्रकार अमावस्या को पूंजते हैं" इत्यादि में उस [विधि] का ज्ञान नहीं होता है। [क्योंकि यहां यत् शब्दरूप का प्रयोग है।]

लृङस्तु भूतत्वं क्रियातिपत्तिश्चार्थः। अतिपत्तिरनिष्पत्तिरापादनारूपा। सा च शक्या। सा चापादना तर्कः। तर्कत्वं च मानसत्वव्याप्यो जातिविशेषः। एधांश्चेदलप्स्यत ओदनमपक्ष्यत् इत्यादौ एधकर्मको भूतत्वेनापादनाविषयो यो लाभस्तदनुकूलकृतिमान् ओदनकर्मको भूतत्वेनापादनाविषयो यः पाकस्तदनुकूलकृतिमांश्चेति बोधः। भविष्यति क्रियातिपादनेऽपि लृङ्, यदि सुवृष्टिरभविष्यत्तदा सुभिक्षमभविष्यदिति प्रयोगदर्शनात्। भूतत्वभविष्यत्वयोर्बोधनियमस्तात्पर्यात्। 'यदि स्यादि'त्यादौ लिङोऽप्यापादनायां शक्तिः। यदि निर्वह्निः स्यात्तर्हि निर्धूमः स्यादित्यादौ तस्या एव प्रतीतेः। लाघवेन स्थानिना वाचकत्वात् सङ्ख्यापि लकारार्थः।

[इति लकारार्थनिरूपणम्]

—:o:—

लृङर्थं निरूपयति—लृङस्त्विति। अनिष्पत्तिः=असिद्धिः तर्क इति। व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्कः। आरोपश्चात्र आहार्यज्ञानम्, तच्च बाधकालिकेच्छाजन्यज्ञानरूपम्,

यथा—निर्वह्निः स्यात् निर्धूमः स्यादिति । अत्र व्याप्यस्य वह्न्यभावरूपस्य आरोपेण व्यापकस्य धूमाभावस्य आरोपः । वह्न्यभावकल्पनया धूमाभावं कल्प्यते इति भावः। प्रकृते एधांश्चेदलप्स्यत ओदनमपक्ष्यत् इत्यादौ एधोपलब्ध्यभावात् ओदनपाकाभाव आरोप्यते । नैयायिकमतानुसारं बोधमाह—एधकर्मक इति । क्रियातिपादने = क्रियाया अनिष्पत्तौ । ननु लृङः भूतत्वभविष्यत्त्वोभयनिरूपितशक्तिमत्त्वे बोधे सन्देहनिवारणं न स्यादत आह—तात्पर्यादिति । तात्पर्यमधिकृत्यैव भूतत्वस्य भविष्यत्त्वस्य च निर्णयो भवतीति भावः । सुभिक्षभवने सुवृष्टिभवनं हेतुः । एवञ्च हेतु-हेतुमद्-भावे क्रियाया असिद्धौ धातोर्लृङः सिद्धिस्तेन सुवृष्टिभवनहेतुकं सुभिक्षभवनमिति बोधो जायते । आपादनायाम् = उक्तविधतर्के इत्यर्थः । तस्याः = आपादनायाः । संख्यापीति । अयं भावः—लाघवानुरोधेन यथाऽन्यार्थानां स्थानिनो लकारा एव वाचकास्तथैव संख्यारूपार्थस्यापि लकाराः एव वाचकाः । यद्यपि "द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने" [पा० सू० १।४।२२] "बहुषु बहुवचनम्" [पा० सू० १।४।२१] इत्यादिसूत्रैः आदेशेष्वेव संख्याया शक्तिर्गृह्यते तथापि कालकारकारणामिव संख्याया अपि स्थानिभूतलकारार्थत्वमेव स्वीकार्यमित्यन्यत्र विस्तरः ।

॥ इति आचार्य-जयशङ्करलालत्रिपाठि-विरचितायां भावप्रकाशिका-व्याख्यायां लकारादेशार्थनिरूपणम् ॥

—*—

लृङ् का तो भूतत्व और क्रिया की अतिपत्ति अर्थ है । अतिपत्ति = अनिष्पत्ति = असिद्धि आपादनारूप है । और वह [लृङ् की] शक्य है । और वह आपादना तर्क है । और तर्कत्व मानसत्वव्याप्य जातिविशेष है [अर्थात् मन में होने वाले विचारविशेष का धर्म है। व्याप्य के आरोप से व्यापक का अनुमान तर्क है । जैसे 'यदि निर्वह्निः स्यात् निर्धूमः स्यात्' यदि वह्नि से रहित हो तो धूम से रहित हो । यहां वह्निराहित्य इस व्याप्य की कल्पना से धूमराहित्य इस व्यापक की कल्पना की जाती है । यही तर्क समझना चाहिये ।] 'लकड़ियों को यदि प्राप्त कर लिया होता तो भात पका लिया होता' इत्यादि में एधकर्मक, भूतत्वरूप से आपादना का विषय जो लाभ [= प्राप्त करना], उसके अनुकूल = जनक कृतिवाला और ओदनकर्मक, भूतत्वरूप से आपादना का विषय जो पाक उसके अनुकूल = जनक यत्नवाला—यह बोध होता है । भविष्यत् कालिक क्रिया के अतिपादन = तर्क में भी लृङ् होता है, क्योंकि 'यदि सुवृष्टि हो जाती तो सुभिक्ष हो जाता' ऐसा प्रयोग देखा जाता है । तात्पर्य के अनुसार भूतत्व और भविष्यत्त्व के बोध का नियम होता है [अर्थात् वक्ता का जैसा अभिप्राय रहता है वैसा ही भूत या भविष्यत् काल समझा जाता है] 'यदि स्यात्' इत्यादि में लिङ् की भी

आपादना = तर्क अर्थ में शक्ति है क्योंकि 'यदि निर्वह्निः स्यात् तदा निर्धूमः स्यात्'= 'यदि वह्निरहित हो जाय तो धूमरहित हो जाय' इत्यादि में उस आपादना = तर्क की ही प्रतीति [होती] है। लाघव के कारण स्थानियों के ही वाचक होने से [एकत्वादि] संख्या भी लकार का अर्थ [होती] है।

विमर्श—तात्पर्य यह है कि "द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने" [पा० सू० १।४।२२] तथा 'बहुषु बहुवचनम्' [पा० सू० १।४।२२] आदि सूत्र आदेशों में ही संख्या की शक्ति सूचित करते हैं तथापि काल एवं कारकों के समान संख्या को भी स्थानी का अर्थ मानने में लाघव है। आदेश में आरोपित मानकर सूत्रों में निर्देश है—यह नैयायिक-मत है।

[॥ लकारादेशार्थनिरूपण समाप्त ॥]

॥ इस प्रकार आचार्य जयशंकरलालत्रिपाठिविरचित बालबोधिनी व्याख्या में लकारादेशार्थनिरूपण समाप्त हुआ ॥

—::०::—

[अथ कारकार्थनिरूपणम्]

कर्ता कर्म च करणं सम्प्रदानं तथैव च।
अपादानाधिकरणमित्याहुः कारकाणि षट् ॥

तत्र क्रियानिष्पादकत्वं कारकत्वम्। तच्च कर्त्रादीनां षण्णामपि। तत्र प्रकृतधातुवाच्यव्यापाराश्रयत्वं कर्तृत्वम्।

धातुनोक्तक्रिये नित्यं कारके कर्तृतेष्यते। [वा० प०]

इति हर्युक्तेः। अन्यकारकनिष्ठो व्यापारस्तु न प्रकृतधातुवाच्यः। यथा वह्निना पचतीत्यत्र वह्निनिष्ठः प्रज्वलनादिः। अन्यकारकनिष्ठव्यापाराश्रयस्य कर्तृत्ववारणाय धातुवाच्येति।

तत्रोक्ते तु कारकमात्रे प्रथमैव, "तिङ्समानाधिकरणे प्रथमा" "अभिहिते प्रथमे"ति वार्त्तिकद्वयात्।

धातुप्रकृतिकलकाराणामर्थान् निरूप्य प्रातिपदिकप्रकृतिकसुबामर्थान् निरूपयितुं प्रतिजानीते—अथेति। अथ शब्दः श्रुत्या शङ्खादिवन्मङ्गलार्थकः। तदुक्तम्—

"ओङ्कारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्वा विनिर्यातौ तस्मात् माङ्गलिकावुभौ॥

वृत्त्या चाथशब्दः आनन्तर्यार्थकः। आनन्तर्यञ्च—स्वोत्तरकालिकत्वरूपं स्वध्वंसाधिकरणकालवृत्तित्वम्। स्वपदञ्चात्र लादेशार्थनिरूपणपरामर्शकम्। एवञ्च लादेशार्थनिरूपणप्रतियोगिक-ध्वंसाधिकरण-कालवृत्तित्वमित्यर्थः। अस्यान्वयश्च 'निरूप्यन्ते' इत्येतद्घटकनिपूर्वकण्यन्त-रूप-धात्वर्थो ज्ञानं व्यापारश्च, तत्र व्यापारे स्वरूपसम्बन्धेन, व्यापारस्य जन्यत्वेन ज्ञाने। कर्मलकारस्य कर्मत्वशक्तिमान् इत्यर्थः। तत्र कारकाणीति प्रथमान्तपदार्थस्याभेदेनान्वयः। कर्मणश्च विषयतानिरूपकत्वेन ज्ञानेऽन्वयः, वर्तमानकालश्च लकारादेशभूतप्रत्ययार्थस्तस्य वृत्तित्वसम्बन्धेन धात्वर्थव्यापारेऽन्वयः मयेति कर्ता अध्याहार्यः, एतदर्थश्च श्रीनागेशः, तस्य तृतीयार्थकर्तरि अभेदेनान्वयः, तृतीयार्थस्य च धात्वर्थे क्रियाकारकभावसम्बन्धेनान्वयः। एवञ्च—लकारादेशार्थज्ञापनोत्तरकालिकवर्तमानकालिकश्रीनागेशकर्तृक-व्यापारजन्यं कारककर्मकं ज्ञानमिति बोधः। निरूप्यन्ते—सामान्यतो विशेषतश्चेति शेषः।

कारकविशेषान् विभजते—कर्ता कर्मेति। सामान्यज्ञानमन्तरा विशेषविषयिणी जिज्ञासा नोदेतीति कारकसामान्यस्य निरूपणमकृत्वा कारकविशेषनिरूपणमसङ्गतमतः कारकसामान्यलक्षणं प्रस्तौति—क्रियेति। क्रियायाः निष्पादकत्वम्=जनकत्वम्, निर्वर्तकत्वम्, उत्पादकत्वमिति वार्थः। "कारके" [पा० सू० १।४।२३] इति सूत्रे भाष्ये उक्तम्—"कारक इति संज्ञानिर्देशश्चेत् संज्ञिनोपि निर्देशः कर्तव्यः—साधकं निर्वर्तकं कारकसंज्ञं भवतीति वक्तव्यम्। इतरथा कर्मसंज्ञाप्रसङ्गश्चाकथितस्य—ब्राह्मणस्य पुत्रं पन्थानं पृच्छतीति"। अग्रे च "नैष दोषः, कारक इति महतीयं संज्ञा क्रियते, संज्ञा च नाम यतो न लघीयः। कुत एतत्? लघ्वर्थं हि संज्ञाकारणम्, तत्र महत्याः संज्ञायाः करणे एतत् प्रयोजनम्—अन्वर्थसंज्ञा यथा विज्ञायेत—करोतीति कारकम्।" [म०भा० १।४।२३] करोति=क्रियां निर्वर्तयतीत्यर्थः। नन्वेवं करोतीति कारकमिति व्युत्पत्तौ कर्तृण्वुलन्त-कारक-शब्दस्य धातुवाच्यप्रधानव्यापाराश्रयरूपस्वतन्त्र एव वृत्तौ प्रधानेन कर्त्रा व्यवाये स्थाल्यादीनां धातुवाच्यप्रधानव्यापाराश्रयत्वेन विवक्षितत्वेऽपि प्रधानेन समवाये तेनरूपेण विवक्षितुमशक्यत्वेन युगपद्—अधिकरणमिति कारकमिति च स्थाल्या व्यपदेशो न स्यादित्याशयेन—"ननु च भोः प्रधानेनापि समवाये स्थाल्या अनेनार्थः अधिकरणं कारकमिति" इत्याशङ्क्य "एवं तर्हि सामान्यभूता क्रिया वर्तते, तस्या निर्वर्तकं कारकमिति समाहितम्। अत्र कैयटेन चैवं व्याख्यातम्—'सर्वेषां कारकाणां साध्यत्वेन साधारणी क्रिया ततश्च सर्वेषां तस्या कर्तृत्वम्। अवान्तर-व्यापाररूपविवक्षायान्तु करणादिरूपत्वम्। यथा मातापित्रोरपत्योत्पादने कर्तृत्वं भेदविवक्षायान्तु 'अयमस्याम्, इयम् अस्मात् जनयतीत्यधिकरणत्वाद्यवस्थायां न भवति, "स्वतन्त्रः कर्ता" इत्यत्र कारकत्वादेव स्वातन्त्र्ये लब्धे पुनः स्वतन्त्रविधिर्नियमार्थः, तेन स्वातन्त्र्यमेव यस्य कर्तृसंज्ञा तस्य, नतु पारतन्त्र्यसहितस्वातन्त्र्ययुक्तस्य।

अत्रेदं बोध्यम्—क्रियानिर्वर्त्तकं कारकम्—इत्यत्र क्रियतेऽनया सा क्रियेति व्युत्पत्त्या व्यापारः, क्रियते या सा क्रियेति व्युत्पत्त्या फलं च प्रतीयते किन्तु अत्र रूढ्या केवलव्यापारार्थ एव ग्राह्यः। व्यापारश्च धातुवाच्य एव साध्यभूतः। एवं च धातुवाच्यव्यापारोत्पत्त्यनुकूल-व्यापारवत्त्वं कारकत्वमिति फलितम्।

ननु सम्प्रदानस्यासत्त्वेऽपि तज्ज्ञानमात्रेणैव तदुद्देशेन दानदर्शनात् सम्प्रदानस्य क्रियाजनकत्वाभावेन कारकत्वं न स्यादिति चेन्न, असन्निहितसम्प्रदानस्यापि दातृबुद्धिस्थत्वावश्यकत्वेन स्वज्ञानपूर्वकालकत्वेनैव जनकत्वात् सम्प्रदानज्ञानवर्तिन्या दानजनकतायाः सम्प्रदाने आरोप इति तात्पर्यात्। नन्वेवमपि घटस्यानुत्पाददशायामेव 'घटं करोती'ति इष्यते, तन्न स्यात्, तदानीं घटस्याभावेन तत्र जनकत्वाभावात्, एवं घटं स्मरतीत्यादावपि घटे स्मरणजनकत्वाभावात् कारकत्वानापत्तिरिति चेन्न, बौद्धघटादेः पूर्वकालत्वेन स्मृत्यादिनिष्पादकत्वात्।

अन्ये च क्रियान्वयित्वं कारकत्वम्। अन्वयश्च विभक्त्यर्थमभ्यन्तरीकृत्य बोध्य इत्याहुः।

ब्राह्मणस्य पुत्रं पन्थानं पृच्छतीत्यत्र ब्राह्मणस्य न कारकत्वम्, पुत्रेणान्यथासिद्ध्या क्रियोत्पादकत्वाभावात्। अन्यमते च विभक्त्यर्थद्वारापि क्रियान्वयित्वाभावान्न कारकत्वमिति बोध्यम्

तच्च=क्रियानिष्पादकत्वञ्च। तत्र=षण्णां कारकाणां मध्ये। प्रथमोपस्थितत्वात् कर्तारं लक्षयति—प्रकृतेति। प्रकृतधात्वर्थप्रधानीभूतव्यापाराश्रयत्वमित्यर्थः। अत्र मूलन्तु "कारके" [पा० सू० १।४।२४] इति सूत्रस्थं भाष्यमेव। तत्र हि—"एवं तर्हि स्थालीस्थे यत्ने [पचिना] कथ्यमाने स्थाली स्वतन्त्रा, कर्तृस्थे यत्ने कथ्यमाने परतन्त्रा।" अनेन च भाष्येण एकदा एककारकस्थव्यापारस्यैव धातुवाच्यत्वं बोध्यते विवक्षया च पर्यायेण प्रत्येककारकव्यापारस्य धातुवाच्यत्वं बोध्यते। एवं च विवक्षावशादेव कर्तृत्वं करणत्वादिकं वेति बोध्यम्।

अत्र केचित्—कर्तृप्रत्ययसमभिव्याहारे व्यापारतावच्छेदकसम्बन्धेन धात्वर्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारतानाश्रयतद्धात्वर्थाश्रयत्वं कर्तृत्वम्, तेन ग्राममजां नयतीत्यादौ संयोगानुकूलव्यापारस्याश्रयत्वेऽपि अजाया न कर्तृत्वम्। पक्वस्तण्डुलो देवदत्तेन इत्यत्रापि न दोषः, कर्तृप्रत्ययसमभिव्याहारे इत्युक्तत्वात्। निर्दुष्टकर्तृत्वञ्च—धातुनिष्ठशक्तिविशिष्टार्थाश्रयत्वम्। अर्थे शक्तिवैशिष्ट्यञ्च—स्वज्ञानप्रयोज्य-शाब्दबोधीयानुकूलत्वसम्बन्धावच्छिन्न-प्रकारतात्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताकाभाववत्त्व-स्वज्ञानीय-विषयताश्रयत्वैतदुभयसम्बन्धेन। प्रतियोगिता च—स्वाश्रयत्व-स्वावच्छेदकताश्रयत्वान्यतरसम्बन्धावच्छिन्ना ग्राह्या। विस्तरस्तु भूषणसारप्रभाटीकादावनुसन्धेयः।

अन्यकारकेति। अयं भावः—"कारके" [पा० सू० १।४।२४] इति—सूत्रे भाष्ये इदं स्पष्टम्। तत्र हि "स्थालीस्थे यत्ने पचिना कथ्यमाने स्थाली स्वतन्त्रा, कर्तृस्थे यत्ने कथ्यमाने परतन्त्रा" इत्युक्तम्। एतेन कर्तृमात्रनिष्ठव्यापारस्यैव धातुवाच्यत्वं सिद्ध्यति। तत्र=तेषां कारकाणां मध्ये। उक्ते त्विति। "अनभिहिते" (पा० सू० २।३।१) इत्यधिकारसूत्रान्तर्गतैः "कर्मणि द्वितीया" (पा० सू० २।३।२) इत्यादिसूत्रैः—अनभिहिते एव कर्मादौ द्वितीयादेर्विधानादिति भावः। वार्त्तिकद्वयेति। इदं वार्त्तिकद्वयं "प्रातिपदिकार्थलिङ्गे"ति सूत्रे स्पष्टीकृतम्। उभयत्र वार्त्तिके "कारके" (पा० सू० १।४।२४) इत्यधिकारात् तिङर्थनिष्ठविषयतानिरूपिताभेदसंसर्गावच्छिन्नप्रकारताश्रये कारके वर्तमानात् प्रातिपदिकात् प्रथमा, एवं तिङ्कृदाद्यन्यतमप्रयोज्याभिधानविषयताश्रये कारके वर्तमानाच्च प्रातिपदिकात्प्रथमा भवतीति वार्त्तिकद्वयार्थः।

कारक-विवेचन प्रारम्भ

विमर्श :—धातु से होने वाले लकारों के अर्थों का विवेचन करने के उपरान्त अब प्रातिपदिक से होने वाले सुप् प्रत्ययों के अर्थों का विवेचन किया जा रहा है। मञ्जूषाकार ने इस प्रकरण को कारकार्थ-निरूपण लिखा है। अतः यहां किस कारक का क्या अर्थ है—इसका निर्णय करते हुये मतमतान्तरों का प्रतिपादन किया जा रहा है।

अनु०—अब कारकों के अर्थों का निरूपण [किया जा रहा है]—(१) कर्ता, (२) कर्म, (३) करण, (४) सम्प्रदान और इसी प्रकार (५) अपादान तथा (६) अधिकरण—[इन] छह कारकों को कहा गया है।

इनमें क्रिया का निष्पादक=जनक होना कारक होना है। और यह [क्रिया-जनक होना] कर्ता आदि छहों कारकों का है। इन [छह कारकों] में प्रकृत=उपात्त धातु के वाच्य व्यापार का आश्रय होना कर्ता होना है। क्योंकि भर्तृहरि ने ऐसा कहा है—

[प्रकृत] धातु द्वारा उक्त क्रियावाले कारक में कर्तृत्व इष्ट है। [अर्थात् प्रकृत धातु से जिस कारक की क्रिया कही गयी है उसे कर्ता माना जाता है।] [सम्प्रति वाक्यपदीय में यह कारिकांश नहीं मिलता है।]

[कर्ता से] भिन्न कारक में रहने वाला व्यापार तो प्रकृत धातु का वाच्य [अर्थ] नहीं होता है। जैसे '(राम) वह्नि से पकाता है' यहां वह्नि में रहने वाला प्रज्वलनादि [प्रकृत धातु पच् का वाच्य नहीं होता है]। (कर्ता से) भिन्न [कर्मादि] कारक में रहने वाले व्यापार का आश्रय कर्ता न होने लगे इसके लिये—[प्रकृत] धातु के वाच्य [व्यापार का आश्रय] ऐसा [कहा गया है।]

विमर्श—कारक शब्द की दो व्युत्पत्तियां विशेष प्रसिद्ध हैं—(१) क्रियान्वयित्वं कारकत्वम्। भट्टोजिदीक्षित आदि इसे मानते हैं। (२) मञ्जूषाकार नागेश 'क्रिया-

जनकत्वं कारकत्वम्' इसे मानते हैं। इन दोनों मतों के अनुसार 'ब्राह्मणस्य पुत्रं पन्थानं पृच्छति' यहां ब्राह्मण कारक नहीं है। क्योंकि प्रकृत क्रिया पृच्छ के साथ उसका अन्वय नहीं है और न वह उस क्रिया का जनक ही है। नागेश के मत का आधार 'कारके' (पा० सू० १।४।२३] सूत्र का महाभाष्य है।

कारक और कर्ता ये दोनों शब्द कृ धातु से ण्वुल्=अक तथा तृच् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होते हैं। दोनों का एक ही अर्थ है। अतः पर्यायवाची होने के कारण 'कर्ता कारकम्' आदि में पुनरुक्ति दोष है। इसका समाधान यह है कि सभी कारक अपने अपने व्यापार द्वारा स्वतन्त्ररूप से ही प्रधान क्रिया के जनक होते हैं। अतः सभी में कारकत्व सुरक्षित हैं। इस क्रियाजनकत्वरूप सामान्य ज्ञान के बाद जब 'कः, किम् केन' आदि विशेष जिज्ञासा होती है तो विवक्षा के आधार पर कर्तृत्व कर्मत्व आदि का व्यवहार होता है। पाणिनीय अष्टाध्यायी में 'कारके' यह अधिकार सूत्र है। आगे इसकी अनुवृत्ति होती रहती है। इसलिये 'कर्म कारकम्, करणं कारकम् कर्तृ कारकम् आदि व्यवहार में बाधा नहीं है। कारकों का प्रयोग विवक्षाधीन है। अतः एक पदार्थ भिन्न भिन्न कारक का रूप धारण कर लेता है।

अनु०—उन [कर्ता आदि सभी कारकों] में [तिङ् आदि के द्वारा] उक्त होने पर प्रथमा ही होता है क्योंकि 'तिङ् के समानाधिकरण=समानार्थवाचक में प्रथमा होती है' ['कर्तृत्वादि के] उक्त रहने पर प्रथमा होती है' ऐसे वार्तिक हैं।

सूत्रमते तु कर्तृकर्माद्यर्थकप्रत्ययेन कर्त्रादेरुक्तत्वात् प्रथमायाः प्रातिपदिकार्थ एवार्थः। तस्य चाख्यातार्थकर्त्रादिनाऽभेदान्वयेन प्रथमार्थस्य कारकत्वम्। अत एवाख्यातार्थद्वारकक्रियान्वयात् तदर्थस्य क्रियाजनकत्वादस्याः कारकविभक्तित्वेन भाष्ये व्यवहारः।

चैत्रो भवतीत्यत्र एकत्वावच्छिन्नचैत्राभिन्नकर्तृकं भवनमिति बोधः। आख्यातकृदादिना कर्त्रादेरभिधानेऽपि प्रथमयाऽनुद्भूतकर्तृत्वादिशक्तिः प्रतिपाद्यते इति तात्पर्यम्।

कर्माख्याते तु चैत्रेण ग्रामो गम्यते इत्यत्र चैत्रकर्तृकव्यापारजन्य एकत्वावच्छिन्नग्रामाभिन्नकर्मनिष्ठः संयोग इति बोधः।

सूत्रमते इति। अयं भावः—प्रथमाविधायके "प्रातिपदिकार्थे" (पा० सू० २।३।४६) ति सूत्रे कारकवाचकपदाभावात् प्रातिपदिकार्थ एव प्रथमार्थः; वार्तिकद्वये उक्ते तु "तिङ्समानाधिकरणे" इति "अभिहिते" इति च कारकवाचकप्रथमार्थबोधकशब्दोपादानाद् उक्तकारकमात्रं विभक्त्यर्थ इति निश्चीयते। ननु तर्हि सूत्रमते प्रथमान्तघटितप्रयोगे कथं कर्तृत्वादेर्भानमित्यत आह—सूत्रमते त्विति। तत्तत्कारकार्थकतिङ्-

कृदभ्यां कर्तृत्वादीनां भानं भवतीत्यर्थः। ननु सूत्रमते प्रथमार्थस्य कथं कारकत्वम्? एवमेव वार्त्तिकमतेऽपि तिङर्थ एव प्रथमार्थस्यान्वयात् क्रियायामन्वयाभावेन क्रियाजनकत्वानुपपत्त्या प्रथमार्थस्य तस्य कथं कारकत्वमित्यत आह—तस्य चेति। कारकेण सहाभेदान्वयात् प्रथमार्थस्यापि कारकत्वं बोध्यमित्यर्थः। अतएव=प्रथमार्थस्यापि कारकत्वादेवेत्यर्थः। नन्वेमपि प्रथमान्तार्थस्य क्रियायामन्वयाभावेन क्रियाजनकत्वानुपपत्त्या क्रियाजनकत्वरूपं कारकत्वं तस्य न स्यात्, क्रियान्वयिन एव क्रियाजनकत्वादत आह—आख्यातार्थेति। आख्यातार्थस्य क्रियाजनकत्वात् क्रियाजनकस्य क्रियायामन्वयौचित्येन क्रियान्वयित्वाच्च कारकत्वे सति तदभेदेन प्रथमान्तार्थस्यापि क्रियाजनकत्वात् आख्यातार्थभेदद्वारकक्रियान्वयित्वाच्च तस्यापि कारकत्वं निर्बाधमिति भावः।

अत्रेदं बोध्यम्—ननु क्रियाजनकस्य क्रियायां साक्षात्सम्बन्ध आवश्यकः, परम्परासम्बन्धे कथं तस्य क्रियाजनकत्वम्, 'ब्राह्मणस्य पुत्रं पन्थानं पृच्छती'त्यादौ ब्राह्मणस्येवान्यथासिद्धिग्रस्तत्वात्, साक्षादन्वयौचित्ये सति परम्परान्वये तस्य साधुत्वे मानाभावाच्चेति चेन्न, कर्मसम्बन्धिनं विना कर्ममात्रेणापि पृच्छादिक्रियायाः सम्भवेन कर्मसम्बन्धिनो ब्राह्मणादेरन्यथासिद्धत्वेऽपि 'कटे शेते' 'स्थाल्यां पचती'त्यादौ कर्तृकर्माधिकरणे विना शयनपाकक्रिययोरसम्भवेनाधिकरणस्यान्यथासिद्धिग्रस्तत्वाभावात्, चैत्रः पचतीत्यादौ चैत्रादेरपि आख्यातार्थाभिन्नत्वेनान्यथासिद्ध्यग्रस्तत्वात्, परम्परान्वयेपि साधुत्वे 'तिङ्समानाधिकरणे' इति "आधारोऽधिकरणम्" (पा० सू० १।४।४५) इति शास्त्रयोरेव मानत्वाच्च। अन्यथा क्रियायां तिङर्थस्यैव साक्षादन्वयेन प्रथमार्थस्य साक्षादनन्वयेन कारकत्वाभावापत्तौ प्रथमायास्तिङ्वाच्यवाचकत्वरूपतिङ्सामानाधिकरण्यस्य दुरुपपादत्वात्, "आधारोऽधिकरणम्," (पा० सू० १।४।४५) इत्यत्रापि कारकाधिकारेण क्रियाया लाभात् क्रियाश्रयस्यैवाधिकरणसंज्ञाविधानेन साक्षात्क्रियाश्रययोः कर्तृकर्मभ्यां परत्वाद् बाधेन परम्परया क्रियाधारयोरेवाधिकरणसंज्ञाया उपपत्तेः। क्रियाशब्देनात्र फलस्यापि ग्रहणात् फलाश्रयकर्माश्रयस्य व्यापाराश्रयकर्त्राश्रयस्य चाधिकरणसंज्ञायाः सिद्धेः। एवञ्च-कारकाणां भावनान्वयव्युत्पत्तिः साक्षात्, कारकत्वव्याप्य-कर्तृत्व-कर्मत्वाधिकरणत्व-सम्बन्धेतरसम्बन्धाघटितपरम्परया वेति निष्कर्षः।

'चैत्रः स्वस्यौदनं भुङ्क्ते' इत्यत्र स्वपदार्थस्य वस्तुतश्चैत्ररूपत्वेन भुजिक्रियाजनकत्वेऽपि शाब्दबोधे शब्दालिङ्गितस्यैवार्थस्य भानात् चैत्रपदार्थस्य क्रियाजनकत्वेन विवक्षितत्वेऽपि स्वपदार्थस्य ओदनसम्बन्धित्वेनैव विवक्षिततया क्रियाजनकत्वेनाविवक्षिततया क्रियायां कारकत्वव्याप्यकर्तृत्वादिसम्बन्धेतरस्वस्वामिभावसम्बन्धघटितपरम्परयान्वयस्यैव सत्त्वाच्च न कारकत्वम्। ब्राह्मणस्य पुत्रं पृच्छतीत्यादौ च क्रियाजनकत्वाभावादेव न कारकत्वमित्युक्तम्, तादृशपरम्परयाऽनन्वयाच्च। 'चैत्रः पचती'त्यादौ अभेदस्य

सम्बन्धत्वाभावात् कर्तृत्वादिसम्बन्धेतरसम्बन्धाघटितपरम्परयैवान्वय इति नान्वया-सिद्धिः। सुन्दरश्चैत्रः पचतीत्यादावपि तथैव।

एतेन—परम्परया सम्बन्धेनान्वयस्वीकारे प्रथमार्थेऽव्याप्तिवारणेऽपि राज्ञः पुरुष इत्यादौ 'चैत्रः स्वस्यौदनं भुङ्क्ते' इत्यादौ च राजपदार्थस्वपदार्थयोः कारकत्वाति-व्याप्तिवारणाय 'सुन्दरश्चैत्र' इत्यादौ सुन्दरपदार्थेऽव्याप्तिवारणाय च—क्रियानिष्ठविशे-ष्यतानिरूपित-कर्मत्वादिषट्केतरसम्बन्धघटितसम्बन्धानवच्छिन्नप्रकारताश्रयत्वं कारकत्व-मिति लक्षणं परास्तम्, निष्फलत्वात्, क्रियाजनकत्वं तत्त्वमिति भाष्यलक्षणादेव सामञ्जस्यात्। किन्तु—क्रियानिष्ठविशेष्यतानिरूपितकर्मत्वादिषट्केतरसम्बन्धघटित-सम्बन्धानवच्छिन्न-प्रकारताप्रयोजकविभक्तित्वं कारकविभक्तित्वमिति कारकविभक्ते-र्लक्षणं वाच्यमिति केचिदाहुः।

तस्य=प्रातिपदिकार्थस्य। तदर्थस्य=प्रथमाविभक्त्यर्थस्य। अस्याः=प्रथमाविभक्तेः। भाष्ये व्यवहार इति। "सहयुक्तेऽप्रधाने" (पा० सू० २।३।१९) इतिसूत्रे भाष्ये "अप्रधानग्रहणाभावे पुत्रेण सहागतो देवदत्त इत्यादौ देवदत्तादिपदादपि तृतीयापत्तिमा-शङ्क्योपपदविभक्तिन्यायेन समाहितम्—"सहयुक्तेऽप्रधानवचनमनर्थकम्। किं कारणम्? उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयस्त्वात्। . . . . उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्ब-लीयसीति प्रथमा भविष्यती"ति तत्रोक्तम्। आख्यातेति। आख्यातेन, क्त्वा, आदिना निपातेन चेत्यर्थः। तात्पर्यमिति। 'तिङ्समानाधिकरणे प्रथमा' 'अभिहिते प्रथमा' इति वार्तिकयोस्तात्पर्यमित्यर्थः।

कर्माख्याते त्विति। नागेशमते कर्माख्याते फलमुख्यविशेष्यकबोधस्यैव स्वीकारादिति भावः। शाब्दबोधस्योपपत्तिस्तु—चैत्रपदोत्तरतृतीयाया आश्रयोऽर्थः, तत्राभेदेन चैत्र-पदार्थस्यान्वयः। आश्रयस्य च निष्ठत्वसम्बन्धेन धात्वर्थव्यापारेऽन्वयः। कर्मप्रत्यया-र्थोऽप्याश्रयः। तत्राभेदेन ग्रामस्यान्वयः। आश्रयस्य च वृत्तित्वसम्बन्धेन संयोगेऽन्वयः। संयोगे एव व्यापारस्य जन्यत्वसम्बन्धेनान्वयः। आख्यातार्थैकत्वसंख्यायाः समवायेन ग्रामेऽन्वयः।

सूत्रकार पाणिनि के मत में तो कर्ता एवं कर्म आदि अर्थवाले प्रत्ययों के द्वारा कर्ता आदि के उक्त हो जाने के कारण प्रथमा का अर्थ प्रातिपदिकार्थ ही (होता है, अन्य कोई नहीं)। और उस (प्रातिपदिकार्थ) का आख्यात=तिङ् के अर्थभूत कर्ता आदि के साथ अभेदेन अन्वय होने से प्रथमा का अर्थ कारक होता है। (कारक होता है) इसीलिये आख्यात=तिङ् के अर्थ के माध्यम से क्रिया में अन्वय होने के कारण उस (प्रातिपदिक) का अर्थ क्रिया का जनक होता है अतः इस (प्रथमा) का 'कारक विभक्ति है' इस रूप से भाष्य में व्यवहार (किया गया) है।

'चैत्रो भवति' यहां 'एक चैत्र से अभिन्न कर्ता वाली होना (क्रिया)—यह बोध (होता है)। आख्यात=तिङ् एवं कृत् आदि के द्वारा कर्ता आदि का अभिधान=कथन होने पर भी प्रथमा द्वारा अनुद्भूत=अप्रकाशित कर्तृत्व आदि शक्ति (धर्म) का प्रतिपादन होता है, यह (भाष्यवार्त्तिक का) तात्पर्य है।

कर्म (वाचक) आख्यात=तङ् में तो 'चैत्रेण ग्रामो गम्यते' (चैत्र द्वारा गांव जाया जाता है) इसमें 'चैत्ररूपी कर्ता के व्यापार से जन्य, एक ग्राम से अभिन्न कर्म में रहने वाला संयोग'—यह बोध (होता) है।

विमर्श—प्रस्तुत शाब्दबोध के आकार मञ्जूषाकार नागेश के अनुसार हैं। ये कर्तृप्रत्यय में धात्वर्थ व्यापार को और कर्मप्रत्यय में धात्वर्थफल को मुख्य विशेष्य मानते हैं। किन्तु भट्टोजि दीक्षितादि सर्वत्र व्यापारमुख्यविशेष्यक ही शाब्दबोध स्वीकार करते हैं। दीक्षित के मतानुसार कर्मवाच्य में भी चैत्रकर्तृक-ग्रामनिष्ठसंयोगानुकूलो व्यापारः यह व्यापारमुख्यविशेष्यक बोध होता है।

सम्बोधनप्रथमार्थस्यापि अनुवाद्यत्वेनोद्देश्यतया युष्मदर्थाभेदेन विधेयक्रियायामन्वयात् क्रियाजनकत्वरूपं कारत्वम्। देवदत्त त्वं गच्छेत्यादौ अभिमुखीभवद्देवदत्ताभिन्नयुष्मदर्थोद्देश्यकप्रवर्त्तनादिविषयो गमनमिति बोधः। अत एव—

आश्रयोऽवधिरुद्देश्यः सम्बन्धः शक्तिरेव वा।
यथायथं विभक्त्यर्थाः सुपां कर्मेति भाष्यतः॥

(वै० भू० का० २४)

इत्यभियुक्तोक्तम्—

सुपां कर्मादयोऽप्यर्थाः सङ्ख्या चैव तथा तिङाम्।

(म० भा० ३।१।६७)

इति भाष्यं च सङ्गच्छते। अनुक्तकर्त्रादिषु तृतीयादयो विभक्तयः, अनभिहिताधिकारे तासां विधानादित्यन्यत्र विस्तरः।

सम्बोधनप्रथमाया अपि कारकविभक्तित्वं साधयितुमाह—सम्बोधनेति। सम्यग् बोधनम्=अभिमुखीभावः, प्रयोक्तृवचनार्थग्रहणे सादरीभवनम्। एतद्व्यञ्जकञ्च मुखपरावृत्त्यादि। तत्फलन्तु सम्बोध्यस्य प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा। तेन सम्बोधनविभक्तिरनुवाद्यविषयैव, सम्बोध्यतावच्छेदकरूपेण सम्बोध्यस्य सिद्धिं विना तेन रूपेण सम्बोधनासम्भवात्। अत एव 'राजन् युध्यस्व' इत्यस्य कुमारावस्थायां 'राजा भव युध्यस्व' इत्यस्य राजावस्थायां च न प्रयोगः। राजत्वादेरसिद्धत्वेनानुवाद्यत्वाभावात्। एवञ्च सम्बोधनविभक्तेरनुवाद्यविषयतयाऽनुवाद्यस्य च विधेय एवान्वयेन विधेयतायाश्च क्रिया-

निष्ठत्वेन तस्यां विधेयभूतक्रियायामेव सम्बोधनविभक्त्यन्तार्थस्यान्वय इति युक्तम्। तदुक्तं हरिणा—

सिद्धस्याभिमुखीभावमात्रं सम्बोधनं विदुः।
प्राप्ताभिमुख्यो ह्यर्थात्मा क्रियासु विनियुज्यते॥

वा० प० ३।७।१६३

एवञ्च क्रियासु विनियोगफलकोऽभिमुखीभावः सम्बोधनमिति फलितम्। कारिकायां 'सिद्धस्य' इत्यनेन सम्बोधनस्यानुवाद्यत्वम् 'विनियुज्यते' इत्यनेन च प्रवर्तनाविषयकक्रियासम्बन्धस्तस्येति बोधितम्। एवञ्च संख्याया इव सम्बोधनस्य प्रकृत्यर्थे रामादावाश्रयत्वसम्बन्धेनान्वयः। प्रकृत्यर्थस्य च स्वोद्देश्यकत्वसम्बन्धेन साक्षाद्विध्यर्थप्रवर्तनायामेवान्वयः, तद्द्वारैव प्रवर्तनाविषयीभूतक्रियायामन्वयाङ्गीकारात्। परम्परयाऽन्वयस्वीकारादेव "नामार्थधात्वर्थयोर्भेदेन साक्षादन्वयोऽव्युत्पन्न" इति व्युत्पत्तेरपि न विरोधः। प्रवर्तनायाश्च विषयत्वसम्बन्धेन रक्षणादिक्रियायामन्वयः। एवञ्च राम! पाहीत्यादौ अभिमुखीभवद्रामाद्युद्देश्यक-प्रवर्तनाविषयो रक्षणमिति बोधः। विस्तरस्तु लघुमञ्जूषाशेखरादौ द्रष्टव्यः।

अतएव = सम्बोधनप्रथमार्थस्यापि कारकत्वादेव। कारिकार्थस्तु — कर्मद्वितीयायाः, कर्तृकरणतृतीयायाः, अधिकरणसप्तम्याश्च आश्रयोऽर्थः। अवधिः अपादान-पञ्चम्या अर्थः। उद्देश्यः सम्प्रदानचतुर्थ्या अर्थः। सम्बन्धः शेषषष्ठ्यर्थः। ननु आश्रयस्यापि प्रकृत्यैव लाभात् विभक्त्यर्थो नोचित अत आह—शक्तिरेव वेति। आश्रयत्वम्, अवधित्वम्, उद्देश्यत्वम्, सम्बन्धत्वमेव वा उक्तविभक्तीनामर्थः। शक्तिः=धर्म इत्यर्थः। यथायथम् = तत्तद्विभक्तीनां यद्यदात्मीयमर्थस्वरूपं तद् यथायथं विभक्त्यर्थ इति भावः। अत्र "सुपां कर्म" त्यादिकं भाष्यं प्रमाणम्। 'बहुषु बहुवचनम्' [पा० सू० १।४।२१] इति सूत्रे भाष्येऽयं श्लोकः—

सुपां कर्मादयोऽप्यर्थाः संख्या चैव तथा तिङाम्।
प्रसिद्धो नियमस्तत्र नियमः प्रकृतेषु वा॥ म०मा० १।४।२१

अयं भावः—'कर्मणि द्वितीया' [पा० सू० २।३।२] इत्यादेः प्रकरणस्य 'बहुषु बहुवचनम्' [पा० सू० १।४।२३] इत्यादेश्च सुबादिविधायकसूत्रेण सहैकवाक्यता। तथा च प्रातिपदिकादेकत्वविशिष्टे कर्मणि द्वितीयैकवचनमित्येवं रूपेण प्रत्ययविधाने संख्याकर्मादयश्च सुपामर्थाः भवन्ति, तथैव तिङामपि संख्याकर्मादिश्चार्थः, तत्रार्थनियमः प्रसिद्ध इत्यर्थः। नियमः प्रकृतेषु वेति— प्रकृतेषु अर्थेषु वा नियमः, तुल्यजातीयस्यार्थस्य तुल्यजातीयेन नियमेन व्यावृत्तिः क्रियते, इत्यव्ययानां संख्याद्यर्थकत्वाभावात् नियमसजातीयत्वाभावेन तेभ्यः स्वादयः सिद्ध्यन्तीति भाष्ये स्पष्टम्। तत्र=कर्मादिसंख्यास्वर्थेषु। नियमः=कर्माद्यर्थयोग्यप्रातिपदिकाच्चेत् कर्मणि विभक्तिस्तदा द्वितीयैव। एवं संख्यावदर्थयोग्यप्रातिप-

दिकाच्चेत् एकत्वे विभक्तिस्तदा एकवचनमेवेत्यादिरूपोऽर्थनियमः। प्रकृतेषु नियमः— कर्माद्यर्थयोग्यप्रातिपदिकाच्चेत् द्वितीया तदा कर्मण्येव न करणादौ। एवं 'संख्यावदर्थ-योग्यप्रातिपदिकाच्चेदेकवचनं तदा एकत्व एव' इत्यादिरूपःप्रकृतार्थापेक्षनियम इति भावः। सङ्गच्छते इति। सम्बोधनप्रथमार्थस्य कारकत्वाभावे "सुपां कर्मादयोऽप्यर्थाः" इति भाष्यस्य आश्रयार्थप्रतिपादकोक्तकारिकायाश्च असङ्गतिः स्पष्टैवः।

यत्तु—वैयाकरणभूषणसारे प्रकृतकारिकायाः विवरणे इदं प्रतिपादितम्—"द्वितीया-तृतीयासप्तमीनामाश्रयोऽर्थ" इति, तन्न्यूनम्, प्रथमायाः परित्यागात्, "तिङसमानाधि-करणे प्रथमा" इति वार्तिकरीत्या प्रथमाया अपि उक्तकर्तृकत्वाद्यर्थकत्वेन द्वितीया-द्युक्तरीत्या आश्रयार्थकत्वात्, कारिकायाः प्रथमार्थाविवरणे न्यूनत्वापत्तेश्चेति केचिदाहुः। अनभिहितेति। "अनभिहिते" [पा० सू० २।३।१] इत्यधिकृत्यैव द्वितीयादीनां विधानादिति भावः। अन्यत्रेति। लघुमञ्जूषाशेखर-प्रदीपोद्द्योतादाविति भावः।

सम्बोधन प्रथमा [विभक्ति] का अर्थ भी अनुवाद्य [पहले से सिद्ध रहने वाला] होने से उद्देश्य होता है इसलिये युष्मद् शब्दार्थ के साथ अभेद [से अन्वित होने] से विधेयभूत क्रिया में अन्वय के कारण क्रियाजनकरूप कारक होता है। 'देवदत्त ? त्वं गच्छ' [देवदत्त ! तुम जाओ] इत्यादि में—अभिमुख होते हुये देवदत्त से अभिन्न युष्मत्पदार्थ=तुमको उद्देश्य बनाने वाली प्रेरणा आदि का विषय गमन—यह शाब्द-बोध होता है। इसी लिये—

[द्वितीया, तृतीया एवं सप्तमी का] आश्रय, [पञ्चमी का] अवधि, [चतुर्थी का] उद्देश्य, [और षष्ठी का] सम्बन्ध [अर्थ है] अथवा शक्ति [धर्म=आश्रयत्व आदि] ही यथायोग्य विभक्तियों का अर्थ होता है क्योंकि 'सुपां कर्म' ऐसा भाष्य है।

यह [वैयाकरणभूषण में सुबर्थनिर्णय में भट्टोजिदीक्षित] अभियुक्त का कथन और "सुप् [प्रत्ययों] के कर्मादि [कारक] और [एकत्वादि] संख्या अर्थ जैसे होते है वैसे ही तिङ् के भी होते है।"

यह भाष्य संगत होता है। अनुक्त कर्ता आदि में तृतीयादि होती हैं। क्योंकि "अनभिहिते" [पा० सू० २।३।१] इस अधिकार में इनका विधान है। इसका अन्यत्र [लघुमञ्जूषा आदि में] विस्तृत वर्णन है।

विमर्श—आशय यह है कि सुप् विभक्तियों के कर्म आदि तथा संख्या अर्थ होते हैं। इसी प्रकार तिङ् प्रत्ययों के भी ये दोनों अर्थ होते है। इसके लिये दो प्रकार के नियम माने गये हैं—(१) अर्थनियम और (२) शब्दनियम=प्रत्ययनियम। इसे इस प्रकार समझना चाहिये—"स्वौजसमौट्" [पा० सू० ४।१।२] "कर्मणि द्वितीया;' [पा० सू० २।३।२] "द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने" [पा० सू० १।४।२२] इन सूत्र वाक्यों को मिलाकर एक महावाक्य बनाया जाता है। एकत्वविशिष्ट कर्म में ही द्वितीया

एकवचन होता है। इसे शब्दनियम=प्रत्ययनियम कहते हैं। एकत्वविशिष्ट कर्मार्थ-योग्य प्रातिपदिक से यदि कर्म में विभक्ति होती है तो द्वितीया ही होती है। इस प्रकार 'द्वितीया कर्मणि एव, तृतीया करणे एव' इत्यादि नियम से प्रत्यय=शब्द नियमित होता है। अतः यह शब्दनियम या प्रत्ययनियम है। और 'कर्म में द्वितीया ही होती है, करण में तृतीया ही होती है,' इस प्रकार कर्म रूप अर्थ द्वितीया को ही प्राप्त करता है अन्य विभक्ति को नहीं। इसलिए यह अर्थनियम है।

भूषण एवं महाभाष्य की कारिकाओं से यही निष्कर्ष निकलता है कि सम्बोधन प्रथमा का अर्थ भी कारक होता है।

ननु क्रियानिमित्तत्वं कारकत्वमिति स्वीकार्यमिति चेत्, न। चैत्रस्य तण्डुलं पचतीत्यत्र सम्बन्धिनि चैत्रादावतिव्याप्तेः। अनुमत्यादिप्रकाशनद्वारा सम्प्रदानादेरिव तण्डुलादिद्वारा सम्बन्धिनोऽपि क्रियानिमित्तत्वात्। किन्तु क्रियाऽन्वितविभक्त्यर्थान्वितत्वं क्रियानिर्वर्तकत्वं वा कारकत्वम्। विशेष्यतया क्रिया सुप्तिङन्यतरविभक्त्यर्थेऽन्वेति। स च विशेष्यतयैव चैत्रघटादौ। षष्ठ्यर्थस्य तण्डुलादिनामार्थान्विततया क्रियाऽनन्वितत्वात्। अत एव षष्ठ्यर्थस्योपपदविभक्त्यर्थस्य च न कारकत्वम्, क्रियान्वयाभावादिति शाब्दिकाः। उपपदविभक्तीनामपि सम्बन्ध एवार्थः। चैत्रस्य पचतीत्यादावपि तण्डुलादिपदाध्याहारेणैव बोधः। षष्ठ्यर्थसम्बन्धस्य नामार्थेनेव क्रियायाः कर्मत्वादिनेव साकाङ्क्षत्वेन सम्बन्धक्रिययोर्निराकाङ्क्षत्वात्।

यत्तु कारकान्तराप्रयोज्यत्वे सति कारकचक्रप्रयोजकत्वं कर्तृत्वमिति तन्न। स्थाली पचति, असिश्छिनत्तीत्यादौ स्थाल्यादेः कारकचक्राप्रयोजकत्वात् कारकान्तरप्रयोज्यत्वाच्च तत्त्वं न स्यादित्यलम्।

निराकर्तुं मतान्तरं प्रदर्शयति—नन्विति। निमित्तत्वं जन्यजनकतावच्छेदकसाधारणं प्रयोजकत्वरूपमित्याशयेन अत्र पूर्वपक्षः। निमित्तत्वं जनकत्वरूपम् इति स्वीकारे तु पूर्वपक्षासङ्गतिः। अथवा निमित्तजनकत्वयोरभेदान्नय उभयोरपि करणत्वरूपात् पूर्वपक्षासङ्गतिः, तस्मात् निमित्तमिह साक्षात्परम्परासाधारणं मत्वायं पूर्वपक्ष इति बोध्यम्। अतिव्याप्तेरिति। चैत्रस्य तण्डुलं पचतीत्यत्र सम्बन्धिनोऽपि चैत्रस्य कारकत्वापत्तौ "अकथितञ्च" [पा० सू० १।४।५१] इति कर्मत्वापत्तौ पर्यायेण द्वितीयाया आपत्तिरित्यर्थः। क्रियान्वितेति। क्रियायामन्वितो यो विभक्त्यर्थस्तस्मिन्नन्वितत्वमित्यर्थः। एतदेवोपपादयति—विशेष्येति। अयं भावः—क्रियानिष्ठविशेष्यतासम्बन्धेन शाब्दबोधं प्रति विशेष्यतासम्बन्धेन सुप्-तिङन्यतरविभक्तिजन्योपस्थितिः कारणमिति स्वीकारादुक्तकथनं बोध्यम्। स च=सुप्तिङ्विभक्त्यर्थश्चेत्यर्थः। षष्ठ्यर्थस्येति। चैत्रस्येत्यत्र विद्यमानस्येत्यर्थः। क्रियानन्वितत्वात्=जनकता-

सम्बन्धेन साक्षात् क्रियायामन्वयाभावादित्यर्थः। अत एव=षष्ठ्यन्तार्थस्य क्रियायामन्वयाभावादेवेत्यर्थः क्रियान्वयाभावात्=जनकत्वेन साक्षात्क्रियायामन्वयाभावादिति भावः। नामार्थेनैवेति। साकाङ्क्षत्वेनेत्यत्रान्वयः। एवमेव कर्मत्वादिनैवेत्यत्रापि बोध्यम्। एवञ्च षष्ठ्यर्थसम्बन्धस्य क्रियायाश्च परस्परं साकाङ्क्षत्वाभावेन नोभयोः परस्परमन्वयः। तेन न षष्ठ्यन्तार्थस्य चैत्रस्य कारकत्वमिति निष्कर्षः।

खण्डयितुं तार्किकाद्यभिमतं मतान्तरं निरूपयति—यत्त्विति। अन्यानि कारकाणि—कारकान्तराणि, तैरप्रयोज्यत्वे=अप्रवर्त्यत्वे सति, कर्मादिकारकाणां चक्रम्=समूहः, तस्य प्रयोजकत्वम्=प्रवर्तकत्वमित्यर्थः। 'चैत्रः स्थाल्यां काष्ठैस्तण्डुलान् पचती'त्यादौ चैत्र एव एतदुभयं न काष्ठादौ, तेन चैत्रस्यैव कर्तृत्वम्। तत्त्वं न स्यादिति। प्रयोजकत्वं नाम प्रवर्तकत्वम्, तच्च चेतनवृतिर्धर्मस्तस्याचेतने स्थाल्यादौ बाधात् तेषां कर्तृत्वं न स्यादिति भावः।

वस्तुतस्तु 'कारकचक्रप्रयोजकत्वं कर्तृत्वमि'ति 'कारके' [पा० सू० १।४।२३] इति सूत्रस्थभाष्यसम्मतमेव। तत्र हि—"कथं पुनर्ज्ञायते कर्ता प्रधानमिति? यत्सर्वेषु सन्निहितेषु कर्ता प्रवर्तयिता भवतीति।" एवञ्चाचेतने प्रयोजकत्वादेरारोपे बाधाभावात् तेषां कर्तृत्वं सुलभमित्याहुः। एतदेव सूचयति—अलमित्यादिना।

क्रिया का कारण होना कारक होना है—यह स्वीकार करना चाहिये [अर्थात् क्रिया का कारण साक्षात् हो या परम्परा से, उसे कारक मानना चाहिये]—ऐसा यदि (कहो तो) नहीं, (कह सकते) क्योंकि 'चैत्र का चावल पकाता है,' यहां सम्बन्धी चैत्र आदि में (इस कारकलक्षण की) अतिव्याप्ति होने लगेगी, क्योंकि जिस प्रकार स्वीकृति आदि के प्रकाशन (प्रकट करने) के द्वारा सम्प्रदान आदि क्रिया के निमित्त होते हैं उसी प्रकार तण्डुलादि के माध्यम से सम्बन्धी चैत्र आदि भी क्रिया के निमित्त हो जाते हैं; किन्तु क्रिया में अन्वित विभक्त्यर्थ के साथ अन्वित होना अथवा क्रिया का (साक्षात्) निर्वर्तक=जनक होना कारक होना है। विशेष्यता-सम्बन्ध से क्रिया सुप् या तिङ् किसी एक विभक्ति के अर्थ में अन्वित होती है। और वह (=विभक्त्यर्थ) विशेष्य होते हुए ही चैत्र एवं घट आदि (नामार्थों) में (अन्वित होता है)। षष्ठ्यर्थ (सम्बन्ध) तण्डुल आदि नामार्थ में अन्वित होता है इस कारण क्रिया में अन्वित नहीं होता है। (षष्ठ्यन्त पदार्थ का क्रिया में अन्वय नहीं होता है) इसीलिये षष्ठ्यर्थ=षष्ठ्यन्तार्थ कारक नहीं होता है क्रिया में अन्वय न होने के कारण—ऐसा वैयाकरण (कहते हैं)। उपपद विभक्तियों का भी सम्बन्ध ही अर्थ (होता है क्योंकि उनका भी अन्वय क्रिया में नहीं होता है)। 'चैत्र का पकाता है' इत्यादि में भी तण्डुल आदि पदों के अध्याहार से बोध (होता है) क्योंकि षष्ठ्यर्थ सम्बन्ध नामार्थ के साथ ही (और) क्रिया कर्मत्वादि के साथ ही साकाङ्क्ष होती है

अतः सम्बन्ध और क्रिया परस्पर निराकाङ्क्ष होते हैं। (अतः 'चैत्रस्य पचति' आदि में तण्डुलादि नामार्थ का अन्वय करना आवश्यक है)।

(नैयायिक आदि किसी अन्य के मत का खण्डन करते हैं—) अन्य कारक से प्रयोज्य=प्रेरित न होते हुए कारकसमूह का प्रयोजक होना कर्ता होना है—ऐसा जो (कहते हैं) वह (ठीक) नहीं (है) क्योंकि 'स्थाली=बटलोई पकाती है 'तलवार काटती है' इत्यादि में स्थाली आदि कारकसमुदाय की प्रयोजक नहीं होती है और अन्य कारक (चैत्रादि कर्ता) से प्रयोजित होनेवाली होती है अतः (स्थाली आदि) कर्ता कारक नहीं हो सकेगी। अतः विस्तार अनावश्यक है।

विमर्श—नागेश ने उपर्युक्त मत का खण्डन अवश्य किया हैं परन्तु "कारके" (पा० सू० १।४।२३) इस सूत्र पर भाष्य में जो लिखा है इससे 'कारकचक्रप्रयोजकत्वं कर्तृत्वम्' यह व्यक्त होता है—"कथं पुनर्ज्ञायते कर्ता प्रधानम्? यत् सर्वेषु सन्निहितेषु कर्ता प्रवर्तयिता भवतीति।" अतः अचेतनादि में इस प्रयोजकत्व का आरोप मान लेना चाहिये।

[कर्तृकारकविचार समाप्त]

कर्मत्वं च प्रकृतधात्वर्थप्रधानीभूतव्यापारप्रयोज्यप्रकृतधात्वर्थफलाश्रयत्वेनोद्देश्यत्वम्। इदमेव कर्मलक्षणे ईप्सिततमत्वम्। गां पयो दोग्धीत्यादौ पयोवृत्तिर्यो विभागस्तदनुकूलो व्यापारो गोवृत्तिः, तदनुकूलश्च गोपवृत्तिः। अत्र पयसः कर्मत्वसिद्धये प्रयोज्यत्वनिवेशः। जन्यत्वनिवेशे तन्न स्यात्। प्रयागात् काशीं गच्छतीत्यत्र प्रयागस्य कर्मत्ववारणाय प्रकृतधात्वर्थफलेति। नहि विभागः प्रकृतधात्वर्थः, किन्तु नान्तरीयकतया गमने उत्पद्यते। प्रयागस्य फलतावच्छेदकसम्बन्धेन फलाश्रयत्वेनानुद्देश्यत्वाच्च।

कर्तृत्वं निरूप्यावसरसङ्गत्या कर्मलक्षणं प्रतिपादयति-कर्मत्वञ्चेति। व्याकरणशास्त्रबोधतकर्मसंज्ञकत्वमेव कर्मत्वम्। एतच्चानेकसूत्रबोधित्वादनेकविधम्। तत्र व्यापकं कर्मत्वं "कर्तुरीप्सिततमं कर्म" [पा० सू० १।४।४९] इति सूत्रबोधितं निरूपयति—प्रकृतेति। प्रकृतधात्वर्थप्रधानीभूतो यो व्यापारस्तत्प्रयोज्यं यत् प्रकृतधात्वर्थफलं तत्फलाश्रयत्वेनोद्देश्यत्वमित्यर्थः। यथा चैत्रो हरिं भजति इत्यत्र प्रकृतधातुः भज् धातुः, तदर्थप्रधानीभूतो व्यापारो भजनानुकूलो व्यापारस्तत्प्रयोज्यं प्रकृतधात्वर्थफलं प्रीतिरूपं फलम्, तदाश्रयत्वेनेच्छोद्देश्यत्वं हरेरिति तस्य कर्मसंज्ञा। इदमेव=पूर्वोक्तमेवेत्यर्थः।

अत्रेदं बोध्यम्—"कर्तुरीप्सिततमं कर्म" [पा० सू० १।४।४९] ति सूत्रे 'ईप्सित' शब्दः क्रियापरो नाभिप्रेतपरो रूढः, 'कर्तु'रिति "क्तस्य च वर्तमाने" [पा०सू० २।३।६७]

इति कर्तरि षष्ठी। सन्नन्ताद् आप् धातोः "मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च" [पा० सू० ३।२।८८] इति वर्तमाने कर्मणि क्तः। मतिः = इच्छा। एवञ्च कर्त्राऽऽप्तुमिष्यमाणं कर्मेत्यर्थः। आप्तिश्चात्र सम्बन्धः, स च कर्तृपदार्थद्वारकविशेषणीभूतव्यापारद्वारक एव, उपस्थितपरित्यागेनानुपस्थितकल्पने मानाभावात्। एवञ्च कर्त्रा स्वनिष्ठव्यापार-प्रयोज्यफलेन सम्बन्द्धुमिष्यमाणमित्यर्थः। फलस्यापि व्यपदेशिवद्भावेन फलसम्बन्धि-त्वात् कर्मत्वम्, अत एव तत्समानाधिकरणे 'स्तोकं पचती'त्यादौ कर्मत्वसिद्धिः। फल-व्यापारयोः प्रकृतधात्वर्थत्वन्तु प्रत्यासत्तिलभ्यम्। तेन यदा पुष्ट्यर्थं माषभक्षणाय माषक्षेत्रे एवाश्वबन्धनं तदा 'माषेष्वश्वं बध्नाती'त्यादौ माषाणां न कर्मत्वम्, बन्धनप्रयोज्य-भक्षणफलाश्रयत्वेऽपि भक्षणस्य बध्नात्यर्थत्वाभावात्। प्रयोज्यत्वनिवेशात्—गां पयो दोग्धी-त्यादौ विभागानुकूलव्यापारानुकूलव्यापारार्थकदुहियोगे पयसः कर्मत्वसिद्धिरिति स्पष्टं भाष्ये। एतदेवाह—गां पयो दोग्धीति। विभागानुकूलव्यापारानुकूलो व्यापारो गोवृत्तिः, एतदनुकूलश्च व्यापारो गोपवृत्तिः। ननु जन्यत्वनिवेशेनैवेष्टसिद्धौ किं प्रयोज्यत्वनिवेशेनेत्यत आह—प्रयोज्यत्वनिवेश इति। गोपव्यापारं विना पयसि व्यापार-पूर्वकविभागानुत्पत्तेः गोपव्यापारजन्यो गोव्यापारो धातुवाच्यः। तज्जन्यस्तु पयोनिष्ठव्यापारपूर्वको विभागः तत्र पयोनिष्ठव्यापारस्य विभागनान्तरीयकत्वान्न धातुवाच्यतेति न तदुल्लेखः। एवञ्च विभागरूपफलस्य गोपनिष्ठधात्वर्थप्रधान-व्यापारजन्यत्वाभावात् कर्मसंज्ञा न स्यादिति साक्षात् परम्परासाधारणं प्रयोज्यत्वं निवेशनीयमिति भावः। तन्न स्यादिति। प्रधानीभूतगोपवृत्तिव्यापारजन्यत्वस्य गोव्यापारे एव सत्त्वात् विभागे तदभावेन पयसः कर्मत्वं न स्यात्। साक्षात्-परम्परासाधारणप्रयोज्यत्वस्य निवेशे तु प्रधानव्यापार-प्रयोज्यत्वस्य विभागेऽपि सत्त्वात् तदाश्रयत्वेन पयसः कर्मत्वसिद्धिः। गोर्विभागाश्रयत्वेन तु न कर्मत्वम्, पयोनिष्ठविभागीयसम्बन्धस्यैव फलतावच्छेदकत्वात्, तत्त्वेनानुद्देश्यत्वाच्चेति भावः। फलव्यापारयोः प्रकृतधात्वर्थत्वन्तु प्रत्यासत्तिलभ्यम्। तत्फलमाह—कर्मत्ववार-णायेति। कर्तृनिष्ठपादप्रक्षेपादिरूपव्यापारेण काश्याः संयोगस्येव प्रयागात् विभाग-स्यापि जायमानत्वेन संयोगाश्रयत्वात् काश्या इव प्रयागस्यापि कर्मत्वं प्राप्तं तद्-वारणाय प्रकृतधात्वर्थफलस्येति निवेशितम्। गम्धात्वर्थश्च उत्तरदेशसंयोगानुकूल-व्यापार एव। तेनातिव्याप्तिर्न। अन्तरा = विना भवम्—इत्यर्थे 'गहादिभ्यश्च' इति तद्धितीयः छप्रत्ययः। तस्येयादेशे अन्तरीयम्। ततः स्वार्थे कः। ततो नञा सुप्सुपेति समासः—नान्तरीयकम् = अवश्यम्भाविता, तयेत्यर्थः। फलतावच्छेद-केति। फलाश्रयत्वञ्च फलतावच्छेदकसम्बन्धेनैव ग्राह्यम्। येन सम्बन्धेन फलाश्रयत्व-प्रकारिकेच्छा भवति स एव फलतावच्छेदकसम्बन्धः। स च तत्तद्धातुभेदाद्भिन्नो-भिन्नो भवति। यथा—ग्रामं गच्छतीत्यत्रानुयोगित्वविशिष्टः समवायः फलतावच्छेदक-सम्बन्धः। 'तेन सम्बन्धेन संयोगरूपफलाश्रयो ग्रामो भवतु' इत्याकारकेच्छीयफलनिष्ठ-

विषयतावच्छेदकत्वस्य समवाय एव सत्त्वेन तत्सम्बन्धेन फलाश्रयस्यैव कर्मत्वं न तु कालिकादिना फलाश्रयस्य, तस्य सम्बन्धस्य फलतावच्छेदकत्वाभावात् । एवञ्च प्रयागादेर्न कर्मत्वमित्यन्यत्र विस्तरः ।

कर्मकारक का विवेचन

और प्रकृत=प्रयुक्त धातु के अर्थ=प्रधानीभूत व्यापार से प्रयोज्य [=साक्षात् अथवा परम्परया उत्पाद्य] जो प्रकृत=प्रयुक्त धातु का अर्थ फल, उस फल का आश्रय होते हुए उद्देश्य=इच्छा का विशेष्य होना—कर्मत्व है। यही [उपर्युक्त] कर्मलक्षण में ईप्सिततम होना है। [जैसे—] 'गां पयो दोग्धि=गाय से दूध दुहता है' इत्यादि में दूध में रहने वाला जो विभाग, इसका जनक व्यापार गाय में रहनेवाला, इस [गाय में रहनेवाले व्यापार] का जनक [व्यापार] गोपाल में रहने वाला है। [दुह् धातु का अर्थ है—अन्तः स्थित-द्रव-द्रव्य-विभागानुकूल-व्यापारानुकूल-व्यापार] यहां दूध का कर्मत्व सिद्ध करने के लिए [कर्मलक्षण में] प्रयोज्यत्व का निवेश किया गया है [क्योंकि प्रयोज्यत्व तो साक्षात् एवं परम्परया जन्यत्व माना जाता है।] जन्यत्व=साक्षात् उत्पाद्यत्व का निवेश करने पर [पयः का] कर्मत्व नहीं हो सकेगा। 'प्रयागात् काशीं गच्छति'=प्रयाग से काशी जाता है—यहां प्रयाग कर्म न होने लगे इसको रोकने के लिए 'प्रकृतधात्वर्थफल' यह [निविष्ट हैं]। क्योंकि विभाग प्रकृत धातु का अर्थ नहीं है किन्तु अनिवार्य होने से गमन होने में उत्पन्न होता है। और प्रयाग फलतावच्छेदक सम्बन्ध से फल का आश्रय होते हुए उद्देश्य=इच्छा का विशेष्य नहीं है। [अतः प्रयाग कर्म नहीं होता है।]

विमर्श—व्याकरणशास्त्र में अनेक सूत्रों द्वारा कर्मत्व का लक्षण बताया गया है। उनमें प्रमुख है 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' [पा० सू० १।४।४९] से बोधित। इसी का परिष्कृत स्वरूप यहां लिखा गया है—प्रकृतधात्वर्थ-प्रधानीभूत-व्यापार-प्रयोज्य-प्रकृत-धात्वर्थफलाश्रयत्वेनोद्देश्यत्वं कर्मत्वम्। फल एवं व्यापार ये दोनों प्रकृत धातु के ही अर्थ होने चाहिए। इसीलिए 'माषेषु अश्वं बध्नाति' यहां माष=उड़द कर्म नहीं होते हैं क्योंकि वे माष भक्षणरूप फल के आश्रय हैं परन्तु यह भक्षण प्रकृत बन्ध धातु का अर्थ नहीं है। जन्यत्व का निवेश न करके प्रयोज्यत्व का निवेश किया गया है जिसके फलस्वरूप 'गां पयो दोग्धि' में पयः=दूध की कर्म संज्ञा होती है। विभागानुकूल-व्यापारानुकूल-व्यापार दुह् धात्वर्थ है। यहां पयोवृत्ति विभाग, इसका जनक गोवृत्ति व्यापार, इसका जनक गोपवृत्ति व्यापार है। गोपव्यापार के बिना पयः में व्यापारपूर्वक विभाग उत्पन्न न होने के कारण गोपव्यापार से जन्य गोव्यापार को धातु का वाच्य मानना पड़ता है। इस गोव्यापार से जन्य है पयोनिष्ठव्यापारपूर्वकविभाग। इसमें

पयोनिष्ठव्यापार विभागनान्तरीयक होने के कारण धातुवाच्य नहीं है। अतः उसे नहीं लिखा गया। इस प्रकार विभागरूप फल गोपनिष्ठधात्वर्थप्रधानव्यापार से जन्य नहीं है। अतः तदाश्रय की कर्मसंज्ञा नहीं हो पाती। इसीलिए साक्षात्परम्परासाधारण प्रयोज्यत्व का निवेश किया गया। जन्यता तो साक्षात् ही ली जाती है। उस स्थिति में यहां पय की कर्मता कठिन हो जाती। इसका विशद विवेचन संस्कृत-व्याख्या में देखें।

ननु प्रकृतधात्वर्थग्रहणेनैवात्र वारणादुद्देश्यत्वनिवेशः किमर्थः, इति चेत्; न, तस्यासाधारणं प्रयोजनं 'काशीं गच्छन् पथि मृत' इति काश्याः फलाश्रयत्वाभावेऽपि फलाश्रयत्वेनोद्देश्यत्वसत्त्वात्कर्मत्वम्।

ननु काशीं गच्छति चैत्रे 'चैत्रः काशीं गच्छति न प्रयागमि'ति प्रयोगानुपपत्तिः, प्रयागस्य फलाश्रयत्वेनोद्देश्यत्वाभावादिति चेत्, उच्यते। कर्मलक्षणे ईप्सिततमपदस्य स्वार्थविशिष्टयोग्यताविशेषे लक्षणा। तथा च प्रकृतधात्वर्थप्रधानीभूतव्यापारप्रयोज्यप्रकृतधात्वर्थफलाश्रयत्वेनोद्देश्यत्वयोग्यताविशेषशालित्वं कर्मत्वम्। तच्च प्रयागस्याप्यस्तीति कर्मत्वं तस्य सुलभम्। एतेन कार्यान्तरं कुर्वति चैत्रे किं ग्रामं गच्छति अथवा ओदनं पचतीति प्रश्ने न ग्रामं गच्छति नौदनं पचतीत्यादिप्रयोगा व्याख्याताः।

कर्तुरीप्सिततममित्यत्र सना उद्देश्यत्वं प्रतीयते एतदभावेऽपि प्रयागात् काशीं गच्छतीत्यादौ प्रकृतधात्वर्थस्य ग्रहणादेवानिष्टनिवृत्तौ प्रकृतधात्वर्थफलाश्रयत्वपर्यन्तमेव लक्षणं कार्यम्। अत उद्देश्यग्रहणस्य प्रयोजनं साधयति—तस्याधारणेति। लक्षणे उद्देश्यत्वग्रहणाभावे 'काशीं गच्छन् पथि मृतः' इत्यादौ प्रकृत-गम्-धात्वर्थी-भूत-संयोग-रूपफलाश्रयत्वाभावात् काश्याः कर्मत्वं न स्यात्। उद्देश्यत्वनिवेशे च नायं दोषः। काश्याः संयोगरूपफलाश्रयत्वाभावेऽपि तद्रूपफलाश्रयत्वेनोद्देश्यत्वात् तस्याः कर्मत्वसिद्धिरिति भावः।

तच्चेति। उक्तफलाश्रयत्वेनोद्देश्ययोग्यताविशेषशालित्वमित्यर्थः। सुलभमिति। अयं भावः—कर्मसंज्ञाविधायके ईप्सिततमपदस्य फलाश्रयत्वप्रकारकेच्छीयविषयतायोग्यताश्रयोपलक्षकतया 'प्रकृतधात्वर्थ-प्रधानीभूतव्यापारप्रयोज्य-प्रकृतधात्वर्थ-फलाश्रयत्वेनोद्देश्यत्वयोग्यताविशेषशालित्वं कर्मत्वम्' इति लक्षणं निष्पन्नम्। एवञ्च प्रयागगमनस्याप्युद्देश्यत्वेन किञ्चित्कारणवशात् तत्रगमनाभावेऽपि तत्र कर्मत्वसिद्धौ न किमपि बाधकमिति बोध्यम्। अन्ये तु—'काशीं गच्छति चैत्रो न प्रयागम्' इत्यत्र प्रयागे उद्देश्यत्वारोपादेव निर्वाहान्नोक्तनिवेश आवश्यक इत्याहुः। एतेन—उक्तलक्षणाङ्गीकारेण। व्याख्याता इति। अत्र ओदने तादृशफलाश्रयत्वयोग्यतासत्त्वात्

एवमेव ग्रामेऽपि तादृशयोग्यतासत्त्वात् कर्मत्वसिद्धौ न किमपि बाधकमिति भावः। उक्तनिवेशास्वीकारे तु नात्र कर्मत्वोपपत्तिरिति बोध्यम्।

'प्रकृत=प्रयुक्त धात्वर्थफल' के ग्रहण से ही यहां [='प्रयागात् काशीं गच्छति' वाक्य-घटक प्रयाग के कर्मत्व का] वारण हो जाने से [इस कर्मलक्षण में] उद्देश्यत्व का निवेश किस लिए किया गया है? ऐसा यदि [कहो तो] नहीं [कह सकते], क्योंकि उस [उद्देश्यत्वनिवेश] का असाधारण प्रयोजन 'काशी जाता हुआ मार्ग में मर गया' इसमें काशी की [संयोगरूप] फल का आश्रय न होने पर भी फलाश्रयत्वरूप से उद्देश्य न होने के कारण कर्मता होती है। [अर्थात् बीच में मर जाने के कारण वह यात्री काशी तक नहीं आ पाता है। अतः गम् धात्वर्थ संयोगरूप फल का आश्रय काशी नहीं बन पाती है। परन्तु 'संयोगरूपफलाश्रय हो' इस इच्छा का विशेष्य=उद्देश्य तो रहती ही है। अतः उसकी कर्मसंज्ञा के लिये उद्देश्यता का निवेश है।]

काशी जाते हुए चैत्र के विषय में 'चैत्र काशी जाता है प्रयाग नहीं' इस प्रयोग की उपपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि प्रयाग संयोगरूपफलाश्रयत्वरूप से उद्देश्य नहीं होता है—ऐसा यदि [कहते हो] तो उत्तर दिया जाता है—कर्म के लक्षण में ईप्सित-पद की स्वार्थविशिष्टयोग्यताविशेष में लक्षणा की जाती है। और इस प्रकार प्रस्तुत धातु के अर्थ प्रधानीभूत व्यापार से प्रयोज्य=साक्षात् अथवा परम्परया उत्पाद्य प्रस्तुत धात्वर्थ फल के आश्रयत्वरूप से उद्देश्यत्वयोग्यताविशेषवाला होना कर्मत्व है। और वह [प्रस्तुत योग्यताविशेषशालित्व] प्रयाग का भी है अतः उसकी कर्मता सुलभ है। [अर्थात् फलाश्रय न होने पर भी फलाश्रययोग्यता तो प्रयाग की है ही] इससे [=योग्यता-विशेषशालित्व का निवेश कर देने से]—अन्य कार्य करनेवाले चैत्र के विषय में 'क्या गांव जाता है या चावल पकाता है?' इस प्रश्न के होने पर 'न गांव जाता है न चावल पकाता है' आदि प्रयोगों का व्याख्यान [कर्मसंज्ञा की उपपत्ति] हो गया।

विमर्श—यहां कर्म का लक्षण—'प्रकृतधात्वर्थप्रधानीभूत-व्यापारप्रयोज्य-प्रकृत-धात्वर्थफलाश्रयत्वेनोद्देश्यत्वविशेषशालित्वं कर्मत्वम्' है। अतः प्रयाग भी गमन का उद्देश्य होता ही है किसी कारणवश प्रयाग न जा सकने पर भी उसमें तादृशयोग्यता-विशेष तो रहती है। अतः उसकी कर्मसंज्ञा होने में बाधा नहीं है। 'ग्रामं न गच्छति ओदनं न पचति' आदि में भी तादृशयोग्यताविशेष रहती ही है। अतः ग्राम एवम् ओदन की कर्म संज्ञा में बाधा नहीं है।

यत्र तु ताडनादिना पराधीनतया विषभोजनादिकं तत्र विषादि तादृश-फलाश्रयत्वेनोद्देश्यमेव। अत एव "आतश्च विषमीप्सितं यद्भक्षयति ताड-नात" [म० भा० १।४।५०] इति भाष्यं सङ्गच्छते। एतेन कशाभिहतः कारागारं गच्छतीति व्याख्यातम्। कालत्रये काशीगमनशून्ये चैत्रे काशीं

गच्छति चैत्र इति वारणाय विशेष इति। काश्याः फलाश्रयत्वेनोद्देश्यत्व-योग्यतासत्त्वेऽपि तद्विशेषाभावान्न कर्मत्वम्। तद्विशेषश्च व्यापारसमकालिकस्तटस्थजनगम्यः। किञ्च ईदृशस्थले तद्विशेषवत्त्वेऽपि निषेध एवानुभव-सिद्ध इति काशीं न गच्छतीति किमनुपपन्नम्।

अनीप्सितस्थलेऽपि कर्मत्वसिद्धिप्रकारं लक्षयति—यत्र त्विति। अयं भावः—विषे भक्षिते सति सद्यः पीडाकरात् ताडनादितः मुक्तिर्भविष्यतीति विचिन्त्य विषं भुंक्ते। एवञ्च विषादावपि तादृशफलाश्रयत्वेनोद्देश्यत्वमक्षतमिति। अत एव=तादृशस्यापि फलाश्रयत्वेनोद्देश्यत्वादेव, विषभक्षणस्योद्देश्यत्वादेव वेत्यर्थः। एतेन=ताडनादिभयात् विषभक्षणस्योद्देश्यत्वमिव अन्यत्रापि फलाश्रयत्वेनोद्देश्यत्वसत्त्वेनेत्यर्थः। लक्षणे विशेष-पदोपादानस्य फलं प्रदर्शयति—कालत्रय इति। तद्विशेषाभावात्=योग्यताविशेषा-भावादित्यर्थ। तद्विशेषश्च=योग्यताविशेषश्चेत्यर्थः। अनुपपन्नमिति। अनुभवानु-सारिबोधस्यैव स्वीकर्त्तव्यतया एतादृशस्थलेषु निषेध एव बोध्य इति भावः।

जहां पर ताडनादि के द्वारा पराधीन होने के कारण विषभोजन आदि [होता है] वहां विषादि उक्त प्रकार के फल के आश्रयत्वरूप से उद्देश्य ही है। [अतः ऐसे स्थलों के लिये योग्यताविशेष के निवेश की आवश्यकता नहीं है।] [विषभक्षण उद्देश्य होता ही है] इसीलिए "इस लिए भी विष ईप्सित [फलाश्रयत्वेन इच्छा का विशेष्य] है चूंकि ताडनादि से खा लेता है' [म० भा० १।४।५०] यह भाष्य संगत होता है। इससे [विषभक्षण की भी उद्देश्यता सिद्ध हो जाने से]—'कोंड़े से मारा गया जेल जाता है' इसकी व्याख्या हो गयी। [जिस प्रकार मार खाने की तुलना में विषभक्षण श्रेयस्कर समझकर उसे ही खा लेता है। इसी प्रकार कोंड़ों की मार खाते रहने की अपेक्षा कारागार जाना श्रेयस्कर समझता है। अतः विषभक्षण और कारागार-गमन की उद्देश्यता सुलभ है।] तीनों कालों में काशी के गमन से रहित चैत्र के विषय में 'चैत्र काशी जाता है' इस [प्रयोग] का वारण करने के लिए—'विशेष' इसका निवेश है। काशी की फलाश्रयत्वेन उद्देश्यत्व योग्यता रहने पर भी योग्यताविशेष के अभाव से कर्म संज्ञा नहीं होती है और योग्यताविशेष—व्यापार के समकालिक, तटस्थ व्यक्ति द्वारा जानने योग्य है। और भी, ऐसे स्थलों पर योग्यताविशेष के रहने पर भी निषेध ही अनुभवसिद्ध है। अतः 'काशी नहीं जाता है' यह होता है, इसमें क्या अनुपपन्न है? अनुभवानुसारी शाब्दबोध ही माना जाता है। ऐसे स्थलों पर निषेध ही सर्वानुभव-सिद्ध है। अतः योग्यताविशेष का अभाव मानना आवश्यक है।]

नन्वन्नं भक्षयन् विषं भुङ्क्ते, ग्रामं गच्छंस्तृणं स्पृशतीत्यादौ विषतृण-योरुद्देश्यत्वाभावात् कथं कर्मत्वमिति चेच्छृणु। "तथायुक्तम्" [पा० सू०

१।४।५०] इति लक्षणान्तरात्। प्रकृतधात्वर्थप्रधानीभूतव्यापारप्रयोज्यप्रकृतधात्वर्थफलाश्रयत्वमनीप्सितकर्मत्वमिति तदर्थात्। प्रयागात् काशीं गच्छतीत्यत्र प्रयागस्य कर्मत्ववारणाय प्रकृतधात्वर्थफलेति। द्वेष्योदासीनकर्मसङ्ग्रहार्थमिदं लक्षणम्।

दुहादीनां व्यापारद्वयार्थकत्वपक्षे "अकथितञ्च" [पा० सू० १।४।५१] इति व्यर्थम्, पूर्वेणैवेष्टसिद्धेः। एकव्यापारबोधकत्वपक्षे तु सम्बन्धषष्ठीबाधनार्थम्। तत्पक्षे कर्मसम्बन्धित्वे सति अपादानादिविशेषाविवक्षितत्वमकथितकर्मत्वमिति तृतीयलक्षणेन 'गां पयो दोग्धि' इत्यादौ गामित्यस्य कर्मत्वसिद्धिरित्यन्यत्र विस्तरः।

"तथायुक्तं चानीप्सितम्" [पा० सू० १।४।५०] इत्यस्य लक्ष्यं निरूपयितुमुपक्रमते-नन्विति। प्रकृते च प्रकृतधातुत्वेन भक्षिधातोर्गम्धातोश्च ग्रहणम्। तथायुक्तमिति सूत्रे तथायुक्तत्वञ्च—समभिव्याहृत-धात्वर्थ-प्रधानव्यापारप्रयोज्य-तद्धात्वर्थफलाश्रयत्वरूपम्। पराधीनतया विषं भुञ्जानेऽपि भुजिक्रियाफलाश्रयत्वेनोद्देश्यत्वात् 'कर्तुरीप्सित०' इति सूत्रेणैव सिद्धम्। तदुक्तं भाष्ये—"आतश्च विषमीप्सितं यत्तद् भक्षयती'ति। तस्मात् 'चौरान् पश्यती'ति द्वेष्योदाहरणम्। विषयेन्द्रियसम्बन्धात् दृश्यमाना अपि ते न दर्शनोद्देश्याः, अपि तु अनिष्टदर्शना एवेति स्पष्टं भाष्यकैयटयोः। एवञ्च तत्र पूर्वेण सूत्रेणाप्राप्तौ वचनमिदमिति। अनीप्सितम्=अनुद्देश्यम्, तच्च द्वेष्यम्, उदासीनञ्च। अनीप्सितपदाभावे ईप्सितस्य प्रकर्षहीनस्याप्यनेन सञ्ज्ञाप्राप्तौ "वारणार्थानामीप्सित" [पा० सू० १।४।२७] इत्यनवकाशं स्यात्। प्रकृतग्रहणस्य फलमाह—प्रयागादिति। प्रयागस्य प्रकृतधात्वर्थफलाश्रयत्वाभावात् न कर्मत्वापत्तिरिति बोध्यम्। 'अपादानत्वशक्तिश्च—प्रकृतधात्वर्थ-विभागाश्रयत्वसमानाधिकरणेति—अपादानसमभिव्याहारे विभागोऽपि धात्वर्थः इति बोद्ध्यमिति शेखरोक्तदिशा तु विभागस्य फलत्वेपि फलतावच्छेदकसम्बन्धेन तदाश्रयत्वाभावान्न प्रयागस्य कर्मत्वमिति बोध्यम्।

प्रसङ्गतो निरूपयति—दुहादीनामिति। अयं भावः—'गां दोग्धि पय' इत्यादौ 'गौः पयस्त्यजति' 'देवदत्तो गवा पयस्त्याजयती' त्याद्यर्थस्यापि प्रतीत्या पयोनिष्ठविभागानुकूल-गोनिष्ठव्यापारानुकूलव्यापारादिर्दुहादिधात्वर्थः। अत्र पक्षे फलद्वयस्योपादानात् "कर्तुरीप्सिततमं कर्म" [पा० सू० १।४।४९] इत्यनैव गोः पयसश्च कर्मत्वं सिद्धम्। किन्तु यदा गोनिष्ठव्यापारादेः प्रतीत्यभावेऽपि दुहादेः प्रयोगो दृश्यते तदा पयोनिष्ठविभागानुकूलव्यापारादिरेव धात्वर्थ इत्यपि पक्षः। तथा चापादानत्वाद्यविवक्षायामन्येनासिद्धकर्मत्वार्थम् "अकथितञ्च" [पा० सू० १।४।५१] इति सूत्रमावश्यकम्। बाधनार्थमिति। प्रकृतसूत्राभावे अपादानत्वाद्यविवक्षायां सम्बन्धषष्ठी प्राप्नोति, तद्बाधनार्थमिदं सूत्रमावश्यकम्। तत्पक्षे=एकव्यापारबोधकत्वपक्षे इत्यर्थः।

तृतीयलक्षणेनेति। प्रस्तुतार्थपरक—"अकथितञ्च" [पा०सू० १।४।५१] इति सूत्रेणेत्यर्थः।

अत्रेद बोध्यम्—अन्तःस्थित-द्रवद्रव्यविभागानुकूलो व्यापारो दुहेरर्थः। अत्र गोरपादानत्वाविवक्षायामनेन कर्मत्वम्, तद्विवक्षायां पञ्चमी, गोः पयस्यन्वये षष्ठी। द्विकर्मकेषु गवादीनां कर्मत्वाविवक्षया क्रियान्वये षष्ठी न, अनभिधानात्, षष्ठ्यन्तस्य स्वान्वययोग्यनामसमभिव्याहारे तत्रैवान्वयस्योत्सर्गतो व्युत्पत्तेश्चेत्यादिकं शेखरलघुमञ्जूषादौ द्रष्टव्यम्। तदेवाह—इत्यन्यत्रेति।

अनीप्सित कर्मत्व का उपपादन

'अन्न खाता हुआ विष खाता है,' 'गांव जाता हुआ तृण छूता है' इत्यादि में विष एवं तृण के उद्देश्य न होने के कारण कर्मत्व किस प्रकार होता है? यदि ऐसा [प्रश्न करते हो तो] सुनो, "तथायुक्तं चानीप्सितम्" [पा० सू० १।४।५०] इस दूसरे लक्षण=सूत्र से [कर्मसंज्ञा होती है]। क्योंकि—प्रस्तुत धातु के अर्थरूप प्रधान व्यापार से प्रयोज्य=साक्षात् अथवा परम्परया उत्पाद्य, प्रस्तुतधात्वर्थ फल का आश्रय होना अनीप्सित कर्म होना है—यह इस [सूत्र] का अर्थ है। [उक्त वाक्यों में विष एवं तृण क्रमशः प्रकृत धात्वर्थफल=भक्षण एवं स्पर्श के आश्रय होने से कर्म हो जाते हैं।] 'प्रयाग से काशी जाता है' इसमें प्रयाग के कर्मत्व का वारण करने के लिये—प्रकृतधात्वर्थ फल—यह निवेश है। [प्रकृत गम् धात्वर्थफल संयोग है। उसका आश्रय काशी है प्रयाग नहीं, अतः प्रयाग की कर्मसंज्ञा नहीं होती है।] द्वेष्य तथा उदासीन [पदार्थों] की कर्मसंज्ञा के सङ्ग्रह के लिये यह [प्रस्तुत सूत्र] है।

विमर्श—जहां 'कर्तुरीप्सिततमम्' [पा० सू० १।४।४९] की प्रवृत्ति नहीं होती है वहीं कर्मसंज्ञा के उपपादनार्थ द्वितीय सूत्र "तथायुक्तं चानीप्सितम्" [पा० सू० १।४।५०] है। अनीप्सित=अनुद्देश्य है। यह दो प्रकार का होता है (१) द्वेष्य और (२) उदासीन। द्वेष्य का उदाहरण है—चोरान् पश्यति। अनीप्सित का—ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति।] इसके लिये—समभिव्याहृत धात्वर्थ प्रधानव्यापार से प्रयोज्य, समभिव्याहृत उसी धात्वर्थ फल का आश्रय होना चाहिये।

अनु०—दुह् आदि धातुओं के दो व्यापार अर्थवाली होने के पक्ष में "अकथितञ्च" [पा० सू० १।४।५१] यह सूत्र व्यर्थ है क्योंकि पूर्वसूत्र [कर्तुरीप्सित–पा० सू० १।४।४९] से ही इष्टसिद्धि [कर्मसंज्ञा की उपपत्ति हो जाती है]। [दुह् आदि धातुओं के] एकव्यापार अर्थवाली होने के पक्ष में तो सम्बन्धषष्ठी का बाध करने के लिये [यह सूत्र है]। उस [एकव्यापार अर्थवाली होने के] पक्ष में—कर्म का सम्बन्धी होते हुए अपादान आदि विशेषरूप से अविवक्षित होना अकथित कर्म होता है। इस तीसरे लक्षण [अकथितञ्च—सूत्र] से 'गां पयो दोग्धि' [गाय से दूध दुहता है] इत्यादि में 'गाम्' इसका कर्मत्व सिद्ध होता है, इसका अन्यत्र [शेखर लघुमञ्जूषादि में] विस्तृत विवेचन है।

विमर्श—'गाय से दूध दुहता है' आदि में यह प्रतीति होती है—(१) गाय दूध छोड़ती है, (२) देवदत्त गाय द्वारा दूध छुड़वाता है। इस प्रकार दूध में होने वाले विभाग का जनक व्यापार गाय में है और गाय में होनेवाले व्यापार का जनक व्यापार देवदत्त आदि में रहनेवाला है—पयोनिष्ठविभागानुकूल-गोनिष्ठव्यापारानुकूल-देवदत्तादि-निष्ठव्यापारो दुह् धातोरर्थः। इसी प्रकार उपर्युक्त अन्य १५ धातुओं के भी दो दो व्यापार अर्थ हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में विभागरूपी दो फलों की प्रतीति होती है जिनके आश्रय होने के कारण पयस् एवं गाय दोनों की कर्मसंज्ञा सम्भव है। इसीलिये 'अकथितञ्च' [पा० सू० १।४।५६] यह सूत्र व्यर्थ है। इसका कोई फल नहीं है।

परन्तु जब दुह् आदि धातुओं का अर्थ एक ही व्यापार होता है—पयोनिष्ठविभागानुकूल व्यापार, तब गो अपादान होती है। उसकी अविवक्षा में अन्य किसी से 'गो' की कर्मता सम्भव नहीं है। अतः "अकथितञ्च" [पा० सू० १।४।५१] यह सूत्र आवश्यक है। यदि यह सूत्र नहीं होगा तो सम्बन्ध में षष्ठी प्राप्त होगी उसे रोकने के लिये सूत्र आवश्यक है।

यहां यह ध्यान रखना चाहिये कि दुह् धातु का परिष्कृत अर्थ है—अन्तःस्थित-द्रव-द्रव्यविभागानुकूल-व्यापारानुकूल-व्यापार। इसमें गाय की अपादानत्व की अविवक्षा में प्रस्तुत सूत्र से कर्मसंज्ञा होती है। अपादानत्व की विवक्षा में पञ्चमी विभक्ति और गाय का पयस् के साथ सम्बन्ध करने पर—गोसम्बन्धी पयस्—में षष्ठी भी होती है।

यत्तु तार्किकाः—कर्मत्वं तु न करणव्यापारवत्त्वम्, तद्धि करणजन्य-व्यापारवत्त्वम्। दात्रेण धान्यं लुनातीत्यादौ हस्तादिकरणजन्यव्यापारवति दात्रादावतिव्याप्तेः। नापि क्रियाजन्यफलशालित्वं तत्। चैत्रश्चैत्रं गच्छतीत्यापत्तेः। संयोगरूपफलस्योभयकर्मकर्तृनिष्ठत्वात्। नापि परसमवेत-क्रियाजन्यफलशालित्वं तत्। गमिपत्योः पूर्वस्मिन्देशे त्यजेश्चोत्तरस्मिन्देशे कर्मत्वप्रसङ्गात्। नदी वर्धत इत्यादौ अवयवोपचयरूपवृद्धिक्रियायाः तीर-प्राप्तिरूपफलाश्रये तीरे कर्मत्वापत्तेश्चेति।

अत्र ब्रूमः—धात्वर्थतावच्छेदकफलशालित्वं कर्मत्वं, तादृशफलं च गमेः संयोगस्त्यजेर्विभागः पतेरधोदेशसंयोगः। अधोदेशरूपकर्मणो धात्वर्थ-निविष्टत्वादकर्मकत्वेन पर्णं वृक्षाद् भूमौ पततीति। संयोगमात्रफलपक्षे वृक्षाद् भूमिं पततीति।

ननु चतुर्थलक्षणेऽपि चैत्रश्चैत्रं गच्छतीत्यापत्तिः, तत्र हि धात्वर्थताव-च्छेदकफलं संयोग इति चेत्, न। लक्षणे व्यापारानधिकरणत्वे सतीति विशेषणदानादित्याहुः।

तत्र। काशीं गच्छन् पथि मृत इत्यादौ काश्याः, काशीं गच्छति न प्रयागमित्यादौ प्रयागस्य, ग्रामं न गच्छतीत्यादौ ग्रामस्य च तादृशफलशालित्वाभावादेतस्य लक्षणस्यात्र सर्वत्राऽव्याप्तेः।

खण्डयितुं तार्किकमतमनुवदति—यत्त्विति। करणजन्येति। करणव्यापारजन्यव्यापारवत्त्वमित्यर्थः। गच्छतीत्यापत्तेरिति। गम्धात्वर्थक्रियाजन्यफलस्य संयोगात्मकस्य कर्तरि चैत्रे कर्मणि चैत्रे च सत्त्वात्। वस्तुतस्तु नायं दोषः, ग्रामस्येव चैत्रस्यापि फलाश्रयत्वेऽपि परत्वात्तदीयकर्तृसंज्ञया कर्मसंज्ञाया बाधात्, द्वितीयोत्पत्तौ कर्मसंज्ञाया एव नियामकत्वाच्च। ननु चैत्रश्चैत्रं गच्छतीति प्रयोगवारणाय धात्वर्थक्रियायां परसमवेतत्वं विशेषणीयम्। तेन द्वितीयाप्रकृतित्वेन विवक्षितार्थभिन्नसमवेतव्यापारजन्य यत् फलं तादृशफलाश्रयस्यैव कर्मत्वं बोध्यम्। प्रकृते च द्वितीयाप्रकृतित्वेन विवक्षितचैत्रार्थप्रतियोगिकभेदस्य चैत्रेऽसत्त्वात् तत्समवेत-व्यापारजन्यसयोगरूपफलाश्रयस्य न कर्मत्वम्। ग्रामप्रतियोगिकभेदवच्चैत्र-समवेतव्यापारजन्यफलाश्रयत्वाद् ग्रामस्य कर्मत्वं सिध्यति। अत्र परत्वस्य परसमवेतत्वस्य च द्वितीयावाच्यस्य इष्टान्वयबोधायानेककार्यकारणाभावाभ्युपमे गौरवान्तरमपि। तथाहि—द्वितीयाप्रकृत्यर्थनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यतासम्बन्धेन शाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति द्वितीयार्थपरत्वोपस्थितिः कारणमिति, द्वितीयार्थपरसमवेतत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यतासम्बन्धेन शाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति भावनात्वावच्छिन्नविशेष्यतासम्बन्धेन धातुजन्योपस्थितिः कारणमिति कार्यकारणभावान्तरं कल्पनीयं स्यादिति बोध्यम्। कर्मत्वप्रसङ्गादिति। कर्तृव्यापारजन्यसंयोगाश्रयस्य ग्रामस्येव तादृशविभागाश्रयस्य पूर्वदेशस्यापि कर्मत्वं दुर्निवारम्। एवं त्यज् धातुयोगेऽपि व्यापारजन्यविभागाश्रयत्वात् पूर्वदेशस्येवोत्तरदेशस्यापि तज्जन्यसंयोगाश्रयत्वात् कर्मत्वं दुर्निवारमेव। नदी वर्धते इति। अत्र तीरप्राप्त्यनुकूलोऽवयवोपचयरूपो व्यापारो वृध् धात्वर्थः।

नैयायिकाः स्वसिद्धान्तमाहुः—अत्र ब्रूम इति। धात्वर्थतेति। धात्वर्थता= धातुजन्योपस्थितीयविशेष्यता, तदवच्छेदकं यत् फलं धात्वर्थविशेष्यविशेषणमिति यावत्, तच्छालित्व कर्मत्वमिति बोध्यम्। एवञ्च गमिपत्योः संयोगानुकूलव्यापारे एव शक्तिसत्त्वेन तादृशशक्तिनिरूपकार्थीभूतव्यापारनिष्ठविशेष्यतानिरूपितावच्छेदकतायाः संयोगे एव सत्त्वेन तादृशसंयोगाश्रयस्योत्तरदेशस्यैव कर्मत्वं न तु विभागाश्रयस्य पूर्वदेशस्य। विभागस्य तु नान्तरीयकत्वेन संयोगानुकूलव्यापारजन्यत्वेपि तत्रांशे शक्त्यभावात् प्रकृतधात्वर्थतावच्छेदकताभावेन न तदाश्रयस्य पूर्वदेशस्य कर्मत्वापत्तिः। त्यज् धातोस्तु विभागानुकूलव्यापारोऽर्थः, तत्र विभागजन्यसंयोगस्य नान्तरीयकत्वेऽपि तदंशे शक्त्यभावेन संयोगस्य प्रकृतधात्वर्थतावच्छेदकत्वाभावेन तदाश्रयस्योत्तरदेशस्य न कर्मत्वापत्तिरिति बोध्यम्। धात्वर्थनिविष्टत्वादिति।

धातोरर्थान्तरे वृत्तेर्धात्वर्थेनोपसङ्ग्रहात् ।
प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया ।। [वा० प० ३।७।८८]

इति हरिकारिकोक्तदिशा धात्वर्थेनोपसङ्ग्रहादकर्मकत्वं पत्धातोर्बोध्यम् । भूमिं पततीति— । अत एव पतितशब्दयोगे "द्वितीया श्रितातीतपतित०" [पा० सू० २।१।२४] इत्यादिना समासविधानं सङ्गच्छते ।

नैयायिकोक्तरीत्या (१) करणजन्यव्यापारवत्त्वं कर्मत्वमिति प्रथमलक्षणम् । (२) क्रियाजन्यफलशालित्वं कर्मत्वमिति द्वितीयलक्षणम्। (३) परसमवेत-क्रियाजन्यफलशालित्वं कर्मत्वमिति तृतीयलक्षणम् । (४) धात्वर्थतावच्छेदकफलशालित्वं कर्मत्वमिति चतुर्थं सिद्धान्तभूतं कर्मत्वलक्षणम् । अत्रापि दोषमाशङ्कते—नन्विति । अयं भावः—चैत्रश्चैत्रं गच्छतीत्यत्र धात्वर्थतावच्छेदकफलं संयोगः, तदाश्रयत्वाच्चैत्रस्य कर्मत्वापत्तिस्तदवस्थैवेति बोध्यम् । लक्षणे इति— । धात्वर्थतावच्छेदके फले 'व्यापारानधिकरणत्वे सति' इति विशेषणं योज्यम् । एवञ्च व्यापारानधिकरणत्वे सति यत् धात्वर्थतावच्छेदकफलं तच्छालित्वं कर्मत्वमिति फलितम् । चैत्रीयसंयोगस्यातथात्वान्न दोष इति बोध्यम् ।

नैयायिकमतं निराकरोति—तन्नेति । तादृशेति । धात्वर्थतावच्छेदकफलशालित्वाभावादित्यर्थः । एवञ्च नैयायिकोक्तं चतुर्थलक्षणमपि न निर्दुष्टमिति बोध्यम् ।

नैयायिक-मत

नैयायिक लोग जो यह कहते हैं कि—कर्मत्व तो करणव्यापार से युक्त होना नहीं है, क्योंकि वह [करणव्यापारवत्त्व] करण [-व्यापार से] जन्य व्यापारवाला होना है । 'दात्र=हंसिया से धान काटता है' इत्यादि में हाथ आदि करण कारक से जन्य व्यापारवाले दात्र आदि में [कर्मत्व] लक्षण की अतिव्याप्ति है । और क्रिया से जन्य फल का आश्रय होना भी वह [कर्मत्व] नहीं है क्योंकि 'चैत्र चैत्र के पास जाता है' यह होने लगेगा, क्योंकि [गम् धात्वर्थ] संयोगरूप फल [चैत्ररूप] कर्ता और [चैत्ररूप] कर्म दोनों में रहनेवाला है । [अतः दोनों के क्रियाजन्य फलशाली होने से 'चैत्रश्चैत्रं गच्छति' यह प्रयोग होने लगेगा ।] और न अन्य में समवेत [समवाय सम्बन्ध से रहने वाली] क्रिया से जन्य फलवाला होना कर्मत्व है, क्योंकि गम् तथा पत् के पूर्वदेश में तथा त्यज् के उत्तर देश में कर्मत्व का प्रसङ्ग आता है । और 'नदी बढ़ती है' इत्यादि में अवयवों की उपचयरूप वृद्धि क्रिया के तीरप्राप्तिरूपफल के आश्रय तीर=तट में कर्मत्व की आपत्ति होगी ।

विमर्श—(१) करण के व्यापार से जन्य व्यापारवाला कर्म होता है, ऐसा मान लेने पर 'दात्रेण लुनाति' आदि में दात्र भी कर्म होने लगेगा । कारण यह है कि हाथ आदि जो दूसरे करण हैं उनसे होने वाला व्यापार दात्र में रहता है । अतः करणजन्य व्यापारवत्ता के कारण कर्मत्व अतिप्रसक्त है ।

(२) क्रिया से जन्य फलवाला होना कर्मत्व है—यह भी ठीक नहीं है क्योंकि संयोगादिफल उभयनिष्ठ माने जाते हैं इसलिए ग्रामादि के समान स्वयं चैत्र में भी संयोग रहने के कारण 'चैत्रो ग्रामं गच्छति' के समान 'चैत्रः चैत्रं गच्छति' आदि प्रयोग भी होने लगेंगे।

(३) उपर्युक्त दोष से मुक्त होने के लिये क्रिया में 'परसमवेतत्व' विशेषण देना चाहिये। अतः द्वितीया के प्रकृतिरूप से विवक्षित पदार्थ से भिन्न में समवेत क्रिया से जन्य फलवाला कर्म होता है, ऐसा मान लेने से 'चैत्रः चैत्रं गच्छति' आदि प्रयोग नहीं होगा, क्योंकि यहां परसमवेत न होकर स्वसमवेत ही क्रिया है। परन्तु गम् धातु एवं पत् धातुओं के योग में जैसे उत्तरदेश फलाश्रय होने से कर्म होता है उसी प्रकार पूर्वदेश भी क्रियाजन्यविभागरूप फल का आश्रय होने से कर्म होने लगेगा। इसी प्रकार त्यज् के योग में पूर्वदेश के समान उत्तर देश भी क्रियाजन्यसंयोगरूपफलाश्रय होने से कर्म होने लगेगा। इसलिए 'चैत्र प्रयाग से काशी जाता है' यहां प्रयाग का और 'वृक्ष से पत्ता गिरता है' यहां वृक्ष का कर्मत्व प्रसक्त होता है। 'काशी के लिये प्रयाग को छोड़ता है' आदि में प्रयागरूप पूर्वदेश के समान काशीरूप उत्तर देश का भी कर्मत्व प्रसक्त होता है। 'नदी वर्धते' यहां वृध् धातु का अर्थ है—अवयवोपचयरूप वृद्धि क्रिया। इसका फल है तीरप्राप्ति। इस फल के आश्रय तीर [तट] में कर्मत्व प्रसक्त होता है।

अनु०—यहां [उपर्युक्त मतों के खण्डन के विषय में] हम तार्किक कहते हैं—धात्वर्थता के अवच्छेदक फल का आश्रय होना कर्मत्व है। और वैसा [अर्थात् धात्वर्थता का अवच्छेदक] फल गम् का संयोग, त्यज् का विभाग और पत् का अधोदेशसंयोग है। [अतः गम् में विभाग को और त्यज् में संयोग को धात्वर्थतावच्छेदक न मानने से दोष नहीं हैं।] अधोदेशरूप कर्म धात्वर्थ में निविष्ट है अतः [पत् धातु के] अकर्मक होने के कारण 'पत्ता वृक्ष से भूमि पर गिरता है' यह [प्रयोग होता है; इस में भूमि की कर्मता नहीं होती है]। [पत् धातु का] 'केवल संयोग फल है' इस पक्ष में [संयोगाश्रय होने से] 'वृक्षात् भूमिं पतति' [वृक्ष से भूमि को गिरता है] यह [होता है]।

चतुर्थ लक्षण [=धात्वर्थतावच्छेदक-फलशालित्व] में भी 'चैत्रः चैत्रं गच्छति' यह आपत्ति है ही, क्योंकि यहां धात्वर्थतावच्छेदक फल संयोग है [और यह उभयनिष्ठ होने से कर्ता एवं कर्म उभयरूपी चैत्र में रहता है]—ऐसा यदि [कहो तो] नहीं [कह सकते], क्योंकि [कर्मत्व के] लक्षण में 'व्यापार का अनधिकरण होते हुए'—यह विशेषण देना चाहिए।

विमर्श—यहां कुल मिलाकर चार लक्षण बताये गये हैं—(१) करणजन्यव्यापारवत्त्वम् (२) क्रियाजन्यफलशालित्वम् (३) परसमवेतक्रियाजन्यफलशालित्वम् (४) धात्वर्थतावच्छेदकफलशालित्वं कर्मत्वम्। तीन पक्षों में सम्भावित दोषों का निराकरण

चतुर्थलक्षण मानकर किया गया है। परन्तु इस पक्ष में भी 'चैत्रः चैत्रं गच्छति' यह दोष स्थिर ही है क्योंकि गम् धात्वर्थतावच्छेदक संयोगरूप फल कर्म एवं कर्ता चैत्र [दोनों] में रहनेवाला है। अतः उक्त अतिप्रसंग है ही। इसके लिये—व्यापार का अधिकरण न होते हुए धात्वर्थतावच्छेदक फल का आश्रय होना कर्मत्व है, ऐसा मानना चाहिये। यहां चैत्र व्यापार का भी अधिकरण है अतः उसे कर्म नहीं माना जा सकता। अतः उक्त अतिप्रसंग नहीं आता है।

नैयायिक-मत का खण्डन

अनु०—वह [उपर्युक्त नैयायिक-मत ठीक] नहीं है क्योंकि 'काशी जाते हुए रास्ते में मर गया' इत्यादि में काशी, 'काशी जाता है प्रयाग नहीं' इत्यादि में प्रयाग और 'गांव नहीं जाता है' इत्यादि में ग्राम वैसे [अर्थात् धात्वर्थतावच्छेदक] फल वाले नहीं हैं अतः इस [चतुर्थ] लक्षण की सभी में अव्याप्ति है। [अतः नैयायिकोक्त लक्षण ठीक नहीं है।]

ननु वृक्षं त्यजति खग इत्यत्र वृक्षस्य विभागरूपफलाश्रयत्वेनापादानत्वमस्त्विति चेत्, न। अत्र हि विभागः प्रकृतधात्वर्थः। यत्र च विभागो न प्रकृतधात्वर्थस्तद्विभागाश्रयस्यैवापादानत्वम्, यथा वृक्षात्पततीत्यादौ। यत्र च प्रकृतधात्वर्थो विभागस्तत्रोभयप्राप्तौ 'अपादानमुत्तराणि कारकाणि बाधन्ते' (म० भा० १।४।१) इति भाष्ययुक्तेः कर्मत्वम्। अनुक्ते कर्मणि षष्ठीद्वितीये, भारतस्य श्रवणं, भारतं शृणोतीति यथा।

सकर्मकत्वं च फलव्यधिकरणव्यापारवाचकत्वम्। फलसमानाधिकरणव्यापारवाचकत्वमकर्मकत्वम्। अत्र देवदत्तो भवति=उत्पद्यत इत्यर्थः। अत्रोत्पत्तिरूपं फलं बहिर्निस्सरणं च व्यापारो देवदत्तनिष्ठ एव। व्यापारमात्रवाचकत्वं वाऽकर्मकत्वम्। अस्ति भवति विद्यते वर्तते इत्यादिधातुषु फलस्य सर्वदुर्विज्ञेयत्वात्। सत्ता हि स्थितिरूपो व्यापारविशेषः। देवदत्तोऽस्तीत्यादौ देवदत्तकर्तृका सत्तेत्येव बोधाच्च। "फलव्यापारयोर्धातुर्वाचक" इति तु बाहुल्याभिप्रायेणेति दिक्।

यथाकथञ्चित् विभागाश्रयत्वमपादानत्वमित्यभिमानेन शङ्कते—नन्विति। समाधत्ते—यत्र चेति। प्रकृतधात्ववाच्यविभागाश्रयत्वमपादानत्वमिति रीत्या समाधानं बोध्यम्। यथा वृक्षात् पततीत्यादौ विभागो न प्रकृतधात्वर्थत्वेन प्रतीयते। तेन तदाश्रयस्य वृक्षस्यापादानत्वं सिद्धम्। वृक्षं त्यजतीत्यत्र तु विभागः प्रकृधात्वर्थः। तेन कर्मत्वापादानत्वयोरुभयोः प्रसङ्गे "अपादानमुत्तराणि कारकाणि बाधन्ते" [म० भा० १।४।१] इति भाष्यवचनात् कर्मत्वमेव भवतीति बोध्यम्। अनुक्ते कर्मणि विभक्तिं निर्दिशति—अनुक्ते इति। "कर्तृकर्मणोः कृति" [पा० सू० २।३।६५] इत्यनेन कृद्योगे षष्ठी,

"कर्मणि द्वितीया" [पा० सू० २।३।२] इत्यनेन द्वितीयेति भावः। ननु केवल-व्यापारार्थप्रतीतौ "फलव्यापारयोर्धातुराश्रये तु तिङः स्मृतः" (वै० भू० का० १) इतिदीक्षितकारिकाविरोध अत आह—बाहुल्येति। वस्तुतस्तु—शब्दशास्त्रीयकर्मसंज्ञकार्थान्वय्यर्थकत्वं सकर्मकत्वम्, तदनन्वय्यर्थकत्वमकर्मकत्वमिति धात्वर्थप्रकरणोक्तमेव लक्षण सिद्धान्तभूतम्। तदेवाह—दिगिति। इति कर्मकारकविचारः।

'पक्षी वृक्ष को छोड़ता है' इसमें वृक्ष विभागरूप फल का आश्रय होता है अतः अपादानत्व हो जाय—ऐसा यदि [कहो तो] नहीं [कह सकते], क्योंकि यहां विभाग प्रकृत धात्वर्थ है। और जहां विभाग प्रकृतधात्वर्थ नहीं होता है उस विभाग का आश्रय ही अपादान होता है, जैसे 'वृक्षात् पतति' [वृक्ष से गिरता है] इत्यादि में है। और जहां विभाग प्रकृत धात्वर्थ [होता है] वहां [कर्मत्व तथा अपादानत्व] दोनों की प्राप्ति में "बाद वाले कारक अपादान का बाध कर लेते हैं" इस भाष्य की युक्ति [वचन] से कर्मत्व [ही होता है]। अनुक्त कर्म में ['कर्तृकर्मणोः' पा० सू० २।३।६५ से] षष्ठी तथा ['कर्मणि द्वितीया' पा०सू० २।३।२ से] द्वितीया [होती है] जैसे-भारतस्य श्रवणम् [महाभारत का सुनना और] भारतं शृणोति [महाभारत सुनता है] इत्यादि में है।

सकर्मकत्व और अकर्मकत्व

और सकर्मकत्व—फल के व्यधिकरण [भिन्न अधिकरण में रहने वाले] व्यापार का वाचक होना है। फल के समानाधिकरण [समान ही अधिकरण में रहने वाले] व्यापार का वाचक होना अकर्मक होना है। 'आज देवदत्त होता है=उत्पन्न होता है'-यह अर्थ है। इसमें उत्पत्तिरूप फल और [गर्भ से] बाहर निकलनारूपी व्यापार [दोनों] देवदत्त में रहने वाले ही हैं। अथवा केवल व्यापार का वाचक होना अकर्मक होना है क्योंकि, 'अस्ति, भवति, विद्यते, वर्तते' [=अस्, भू, विद्, वृत्] इन धातुओं में सभी को फल का ज्ञान करना कठिन है। क्योंकि सत्ता=स्थितिरूप व्यापारविशेष है [फल नहीं है]। और क्योंकि 'देवदत्तोऽस्ति' इत्यादि में—देवदत्त-रूपी कर्तावाली सत्ता—यही बोध होता है। 'धातु फल एवं व्यापार दोनों का वाचक [होता है]'—यह [भूषणकार का] कथन तो बाहुल्य [बहुत होने] के कारण है। [अर्थात् अधिकतर धातुएं फल एवं व्यापार दोनों अर्थों की वाचक होती हैं इसी आशय से भूषणकारादि ने दोनों अर्थों का वाचक माना है।]

विमर्श—यहां सकर्मकत्व एवम् अकर्मकत्व के विषय में जो विवेचन किया है वह नागेश का सिद्धान्तभूत मत नहीं है। उनका अपना मत धात्वर्थप्रकरण में इस प्रकार प्राप्त होता है—व्याकरणशास्त्र द्वारा बोधित कर्म संज्ञावाले अर्थ के साथ अन्वयी अर्थवाला होना सकर्मक होना है। और उसके साथ अन्वयी अर्थवाला न होना अकर्मक होना है। इसीलिये 'अध्यासिताः भूमयः' आदि प्रयोगों में कर्म में क्त होता है क्योंकि 'अधि-

शीङ्स्थासां कर्म' [पा० सू० १।४।४६] से आधार=भूमि की कर्मसंज्ञा होती है उसके साथ इस धात्वर्थ का अन्वय होने से सकर्मकता होती है।

यहां यद्यपि 'अस्ति' आदि में केवल व्यापारअर्थ का प्रतिपादन किया गया है परन्तु वैयाकरणभूषणादि में इनमें भी 'सत्तारूपफलानुकूल भावना' की प्रतीति मानी गयी है। जब 'उत्पत्त्यनुकूल' व्यापार अर्थ माना जाता है तब फल एवं व्यापार दोनों की प्रतीति हो ही जाती है। जैसा कि वाल्मीकीय रामायण में प्रयोग है—

रोहितो लोहितादासीत् धुन्धुस्तस्य सुतोऽभवत्।

कर्म-कारक का विचार समाप्त हुआ।

स्वनिष्ठव्यापाराव्यवधानेन फलनिष्पादकत्वं करणत्वम्। इदमेव साधकतमत्वम्।

क्रियायाः परिनिष्पत्तिर्यद्व्यापारादनन्तरम्।
विवक्ष्यते यदा यत्र करणं तत्तदा स्मृतम्॥

वा० प० ३।७।९०।

इति हर्युक्तेः। क्रियाया इत्यस्य फलात्मिकाया इत्यर्थः। रामेण बाणेन हतो बालीत्यादौ धनुराकर्षणादेर्व्यापारस्य बाणव्यापारात् पूर्वमपि कर्तरि सत्त्वात्। रामाभिन्नकर्तृनिष्ठव्यापारप्रयोज्यो यो बाणनिष्ठो व्यापारस्तज्जन्यं यत् प्राणवियोगरूपं फलं तदाश्रयो बालीति बोधाच्च। रामो बाणेन बालिनं हन्तीत्यादौ कर्तृप्रत्यये बाणव्यापारजन्यो यो बालिनिष्ठः प्राणवियोगस्तदनुकूलो रामकर्तृको व्यापार इति बोधः। अर्थाद् रामव्यापारप्रयोज्यो बाणव्यापार इति पार्ष्णिको बोधः। कर्त्रादिपञ्चकारकाणां करणत्ववारणाय व्यापाराव्यवधानेनेति दिक्।

अवसरप्राप्तं करणकारकं निरूपयितुमारभते—स्वनिष्ठेति। यस्य करणत्वं विवक्षितं तस्य स्वपदेन ग्रहणम्। यथा रामेण बाणेन हतो बाली—इत्यत्र स्वं=बाणनिष्ठव्यापाराव्यवहितोत्तर-बालिप्राणवियोगरूप-फलनिष्पादकत्वं बाणस्यास्तीति तस्य करणत्वं सिद्धम्। स्वोक्तौ प्रमाणमुपन्यस्यति—साधकतमत्वमिति। अत्रेदं बोध्यम्—"साधकतमं करणम्" [पा०सू० १ ४।४२] इति सूत्रं करणबोधकम्। अत्र तमप्-प्रत्ययार्थः प्रकर्षः, स च कारकान्तरापेक्षयैव, न तु करणान्तरपेक्षया, कारकसामान्यवाचक-साधक-शब्दात् तमपो विधानात्। तेन 'देवदत्तोऽश्वेन दीपिकया पथा गच्छतीति' प्रयोगः सङ्गच्छते, अन्यथा करणान्तरापेक्षस्यापि प्रकर्षस्य ग्रहणे तु युगपत् कस्यचिदेकस्यैव करणत्वं स्यादेकस्यैव कस्यचिद् प्रकृष्टत्वादिति। प्रकर्षश्चात्र अव्यवधानेन फलजनको यो व्यापारस्तद्वत्ता। एवञ्च यद्व्यापाराव्यवधानेन फलनिष्पत्तिस्तत्त्वं करणत्वमिति फलति। तेन विवक्षया सर्वाण्यपि कारकाणि करणानि भवितुमर्हन्ति। अत्र प्रमाणत्वेन

हरिकारिकामुपन्यस्यति–क्रियाया इति। यद्व्यापाराद् अनन्तरं यत्र यदा क्रियायाः परिनिष्पत्तिः विवक्ष्यते तदा तत् करणं स्मृतमित्यन्वयः। यन्निष्ठव्यापाराव्यवहितोत्तर क्रियाफलस्य सिद्धिर्भवति तत् करणमिति भावः। ननु क्रियाशब्दस्य व्यापारार्थकत्वेन प्रसिद्धतया फलार्थप्रतिपत्तिः कथमत आह–क्रियाया इति। क्रियते या सा क्रियेति कर्मव्युत्पत्त्या फलस्यापि क्रियात्वेन व्यवहार इत्यर्थः। उदाहरणेन समर्थयते—रामेणेत्यादि। अयं भावः—'रामेण बाणेन हतो बाली'त्यत्र कर्तरि रामे धनुराकर्षणादिव्यापारे सत्त्वेऽपि न तस्य करणत्वम्, तन्निष्ठव्यापारेण प्राणवियोगरूपफलानिष्पत्तेः। एतत्फलनिष्पत्तिस्तु बाणनिष्ठव्यापाराव्यवहितोत्तरमेव भवति। एवञ्च बाणस्यैव करणत्वं बोध्यम्। कर्तृप्रत्यये इति। अत्र प्रथमान्तार्थस्य रामपदार्थस्य तिङर्थकर्तरि अभेदेनान्वयः, तिङर्थकर्तुश्च निष्ठत्वसम्बन्धेन धात्वर्थ-व्यापारेऽन्वयः, धात्वर्थफलस्यानुकूलत्वसम्बन्धेन धात्वर्थव्यापारेऽन्वयः, तृतीयान्तार्थस्य करणबाणस्य स्वव्यापारजन्यत्वसम्बन्धेन धात्वर्थफलेऽन्वयः, द्वितीयान्तार्थबालिपदार्थस्य निष्ठत्वसम्बन्धेन धात्वर्थफलेऽन्वयः। एतदेवाह—अर्थादिति। पार्ष्णिक इति। पृष्णि=पश्चाद् भवः पार्ष्णिकः=अर्थनिष्ठव्यञ्जनावृत्तिगम्य इत्यर्थः। इति करणकारकविचारः।

करण-कारक का विवेचन

अपने [करणरूप से विवक्षित पदार्थ] में स्थित व्यापार के अव्यवधान से फल का उत्पादक होना कारण होना है। यही साधकतम होना है। क्योंकि—

'जहां जब जिसके व्यापार के अनन्तर क्रिया की उत्पत्ति [वक्ता द्वारा] विवक्षित=कहने के लिए इष्ट होती है वहां उस समय वह [पदार्थ] करण कहा गया है।'

ऐसा भर्तृहरि ने कहा है। [इस कारिका में] क्रियायाः इसका अर्थ है—फलरूप क्रिया का। [अर्थात् क्रिया=फल की निष्पत्ति जिसके व्यापार के तत्काल बाद होती है उस समय वही करण कहा जाता है।] क्योंकि 'रामेण बाणेन हतो बाली' [राम ने बाण से बाली को मार डाला] इत्यादि में धनुष का खींचना आदि व्यापार, बाणनिष्ठ व्यापार [शीघ्र गमन, आघात] से पहले भी कर्ता [राम] में रहता है। [अतः राम करण नहीं होता कर्ता ही रहता है किन्तु बाण के आशुगमन शरीरप्रवेशादि व्यापार के बाद प्राणवियोगरूपी फल की उत्पत्ति होने से बाण ही करण है।] और राम से अभिन्न कर्ता में रहने वाले व्यापार से प्रयोज्य जो बाण में रहने वाला व्यापार, इससे जन्य जो प्राणवियोगरूप फल, उसका आश्रय बाली—ऐसा बोध होता है। 'रामो बाणेन बालिनं हन्ति [राम बाण से बाली को मारता है] इत्यादि में कर्तृप्रत्यय में—बाण के व्यापार से जन्य, बाली में रहने वाला जो प्राणवियोग, उसका जनक, रामरूपी कर्तावाला व्यापार—यह बोध होता हैं। अर्थात् राम के व्यापार से प्रयोज्य बाण का व्यापार—यह पर्ष्णिक [पीछे से होने वाला] बोध है। कर्ता आदि पांच कारक करण न हों—इसके लिये 'व्यापार के अव्यवधान से' यह [कहा गया है]।

विमर्श—'साधकतमं करणम्' [पा० सू० १।४।४२] इस सूत्र से करण का ज्ञान होता है। यह सूत्र 'कारके' [पा० सू० १।४।२३] इस अधिकार सूत्र के अन्तर्गत है। अतः जो अन्य कारकों की अपेक्षा अधिक सहायक होता है अर्थात् जिसकी सहायता के तत्काल बाद क्रियाफल की निष्पत्ति होती है उसे करण कहते हैं। 'रामेण बाणेन हतो बाली' यहां राम और बाण दोनों के व्यापार से प्राणवियोगरूप फल होता है। अन्तर यह है कि बाणनिष्ठ आशुगमन शरीरप्रवेशादि बाद में होने वाला जो व्यापार है उससे ही प्राणवियोगरूपी फल सिद्ध होता है। उस बाणव्यापार के पहले धनुष खींचना आदि व्यापार राम में रहते हैं उनके तत्काल बाद बाली का प्राणवियोग नहीं होता है। अतः राम करण न होकर कर्ता ही है। इसी 'अव्यवधानेन फलनिष्पत्ति' को मानकर अन्य कारकों से भी करण का भेद सिद्ध होता है। यह करणत्व विवक्षाधीन होता है। अतः किसी कारकविशेष को ही करण नहीं कहा जा सकता।

करण-कारक का विवेचन समाप्त हुआ।

क्रियामात्रकर्मसम्बन्धाय क्रियायामुद्देश्यं यत् कारकं तत्त्वं सम्प्रदानत्वम्। यथा ब्राह्मणाय गां ददातीत्यादौ दानक्रियाकर्मीभूतगोसम्बन्धाय ब्राह्मणो दानक्रियोद्देश्यः। गोब्राह्मणयोः स्वस्वामिभावः सम्बन्धः, चैत्रो मैत्राय वार्ताः कथयतीत्यत्र मैत्रवार्तयोर्ज्ञेयज्ञातृभावः सम्बन्धश्च।

यत्तु वृत्तिकाराः—सम्यक्प्रदीयते यस्मै तत् सम्प्रदानमित्यन्वर्थसंज्ञेयम् [काशिका १।४।३२]। तथा च गोनिष्ठस्वस्वत्वनिवृत्तिसमानाधिकरणपरस्वत्वोत्पत्त्यनुकूलव्यापाररूपक्रियोद्देश्यस्य ब्राह्मणादेरेव सम्प्रदानत्वम्। पुनर्ग्रहणाय रजकस्य वस्त्रदाने रजकस्य वस्त्रं ददातीति सम्बन्धसामान्ये षष्ठ्येवेत्याहुः।

तन्न। "खण्डिकोपाध्यायः शिष्याय चपेटां ददाति" [म०भा० १।१।१] इति भाष्यविरोधात्। "कर्मणा यमभिप्रैति" [म० भा० १।४।३२] इति सूत्रव्याख्यावसरे भाष्यकृताऽन्वर्थसंज्ञाया अस्वीकाराच्च। अत एव

तदाचक्ष्वासुरेन्द्राय स च युक्तङ्करोतु यत्। [सप्तशती ५।१२९]

इति सप्तशतीश्लोकः सङ्गच्छते। तस्माद् रजकाय वस्त्रं ददातीत्यादि भवत्येव। अत्राधीनीकरणेऽर्थे ददातिः। चपेटां ददातीत्यत्र न्यसनेऽर्थे इति।

साम्प्रतं सम्प्रदानं लक्षयति—क्रियामात्रेति। "मात्रं कात्स्न्र्येऽवधारणे" इति कोशात् मात्रशब्दः साकल्यार्थकः। तेन सकलक्रियाकर्मसम्बन्धाय नतु दानक्रियामात्रकर्मसम्बन्धायेत्यादिरर्थो बोध्यः। एवञ्च "क्रियया यमभिप्रैति सोऽपि सम्प्रदानमि"त्यादिवार्तिकमपि सूत्रेणैव गतार्थमिति बोध्यम्। मात्रग्रहणस्य फलमाह—चैत्रो मैत्रायेति। अत्र कथनक्रियाकर्मीभूतवार्तासम्बन्धाय मैत्रः कथनक्रियोद्देश्यः।

खण्डयितुं काशिकादिवृत्तिकारमतमनुवदति—यत्त्विति। खण्डयति—तन्नेति। खण्डिकोपाध्यायः=क्रुद्धोपाध्यायः, बालोपाध्यायो वेत्यर्थः। लक्ष्यानुसारं दाधात्वर्थभेदं निरूपयति—अत्रेति। रजकाय वस्त्रं ददातीत्यत्र दाधात्वर्थः—अधीनीकरणम्। तच्च—प्रक्षालनेच्छाबोधानुकूलस्थित्यनुकूलो व्यापारः। तत्र 'रजको वस्त्रप्रतियोगिक-प्रक्षाल्य-प्रक्षालकभावसम्बन्धवान् जायताम्' इतीच्छोद्देश्यत्वे रजकस्य सम्प्रदानत्वम्। यदि अधीनीकरणक्रियायां सम्बन्धसामान्यविवक्षा, तदा षष्ठी साधु इति बोध्यम्। चपेटा=प्रसृतकरतलम्। न्यसनम्=कपोलानुयोगिकसंयोगानुकूलव्यापारः। एवमेव 'न शूद्राय मतिं दद्यादि' त्यादौ बोधनार्थको दाधातुः। मतिशब्देन तज्जनकं वेदादिशास्त्रमुच्यते। एवमेवान्यत्रापि बोध्यम्। केचित्तु—शिष्याय चपेटां ददातीत्यत्र विनेतुमिति 'तदाचक्ष्वासुरेन्द्राये'ति सप्तशतीश्लोके च बोधयितुमिति तुमुन्नन्तमध्याहृत्य "क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः" [पा०सू० २।३।१४] इत्यनेन चतुर्थीत्याहुः। एवमेवान्यत्राप्यूह्यम्।

सम्प्रदान-कारक का विवेचन

क्रिमामात्र [=प्रत्येक क्रिया] के कर्म के साथ सम्बन्ध करने के लिये जो कारक क्रिया में उद्देश्य होता है वह [उद्देश्य] होना सम्प्रदानत्व है। [अर्थात् किसी भी क्रिया के कर्म का सम्बन्ध करने के लिये जो इष्ट होता है उसे सम्प्रदान कहा जाता है।] जैसे—ब्राह्मणाय गां ददाति [ब्राह्मण के लिये गाय देता है] इत्यादि में दान क्रिया की कर्मीभूत गाय का सम्बन्ध करने के लिए दान क्रिया का उद्देश्य ब्राह्मण है। गाय एवं ब्राह्मण का स्वस्वामिभाव सम्बन्ध है। और 'चैत्रः मैत्राय वार्ताः कथयति' [चैत्र मैत्र के लिये वार्ता कहता है] इसमें मैत्र एवं वार्ता का ज्ञातृज्ञेयभाव सम्बन्ध है। [मैत्र ज्ञाता है, वार्ता ज्ञेय है]।

विमर्श—'कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्' [पा०सू० १।४।३२] सूत्र सम्प्रदानत्व का बोधक है। सामान्यतया दान क्रिया के कर्म का ग्रहण किया जाता है। परन्तु नागेश ने 'मात्र' का ग्रहण करके प्रत्येक क्रिया के कर्म का सम्बन्ध मानकर सम्प्रदानत्व स्वीकार किया है। इसीलिये 'मैत्राय वार्ताः कथयति' यहां भी सम्प्रदानत्व सिद्ध होता है।

काशिकादिवृत्तिकार का मत और उसका खण्डन

अनु०—[काशिका] वृत्तिकार ने जो यह कहा है—'सम्यक् रूप से प्रदान किया जाता है जिसे वह सम्प्रदान है—इस प्रकार यह अन्वर्थ [अर्थानुसारिणी] संज्ञा है। और इस प्रकार—गो में स्थित अपने अधिकार [=स्वत्व] की निवृत्ति के समानाधिकरण पर [=जिसे दिया जाय उस] के स्वत्व [=अधिकार] की उत्पत्ति के जनक व्यापाररूप क्रिया का उद्देश्य ब्राह्मण आदि ही सम्प्रदान होता है। पुनः वापस लौटाने के लिए धोबी को कपड़े देने पर 'रजकस्य वस्त्रं ददाति' यह सम्बन्धसामान्य में षष्ठी ही होती है।

वह [उपर्युक्त वृत्तिकार का मत ठीक] नहीं है क्योंकि 'खण्डिकोपाध्यायः शिष्याय चपेटां ददाति' [क्रुद्ध अथवा बाल उपाध्याय शिष्य को चपत देता है] इस भाष्य (प्रयोग) से विरोध है और "कर्मणा यमभिप्रैति" (पा० सू० १।४।३२) इस सूत्र की व्याख्या के समय भाष्यकार ने अन्वर्थ संज्ञा नहीं स्वीकार की है। [अन्वर्थ संज्ञा नहीं है] इसीलिए 'तदाचक्ष्वासुरेन्द्राय स च युक्तं करोतु तत्" 'यह बात दैत्यराज को कहो वह जो उचित हो करे' यह दुर्गा-सप्तशती (५।१२९) का श्लोक (सम्प्रदान चतुर्थी का प्रयोग) संगत होता है। अतः 'रजकाय वस्त्रं ददाति' यह (प्रयोग) होता ही है। इस स्थल में 'अधीन करना' अर्थ में दा धातु का प्रयोग है। और 'शिष्य को चपत देता है' यहां न्यसन=लगाना=रखना अर्थ में (दा धातु का प्रयोग है)।

विमर्श—काशिका वृत्तिकार आदि कुछ विद्वानों ने सम्प्रदान संज्ञा को अन्वर्थ मान लिया है। परन्तु भाष्यादिप्रमाणों से इसकी पुष्टि नहीं होती है। भाष्यकार के अनुसार क्रियामात्र के कर्म का सम्बन्ध करने के लिए जिसे चाहा जाता है वह सम्प्रदान होता है। सप्तशती का प्रयोग भी यही सिद्ध करता है। इसके अतिरिक्त दा धातु के भी अनेक अर्थ हैं जिनमें उसका प्रयोग होने पर अन्वर्थता नहीं सिद्ध की जा सकती। ऐसी स्थिति में 'रजकाय वस्त्रं ददाति' यह प्रयोग भी शुद्ध मान लेना चाहिए। सम्बन्ध-सामान्य में षष्ठी सर्वत्र जैसे होती है वैसे ही यहां भी हो सकती है। अतः 'रजकस्य वस्त्रं ददाति' यह प्रयोग भी शुद्ध है।

सम्प्रदानचतुर्थ्यर्थ उद्देश्यः। तथा च ब्राह्मणोद्देश्यकं गोकर्मकं दानमिति बोधो मैत्रोद्देश्यकं वार्ताकर्मकं कथनमिति च [बोधः]। अकर्मकक्रियोद्देश्यत्वं सम्प्रदानत्वमिति लक्षणान्तरम्। यथा पत्ये शेते इत्यादि। पत्युद्देश्यकं नायिकाकर्तृकं शयनमिति बोधः।

ननु दानादीनां तदर्थत्वात्तादर्थ्ये चतुर्थ्यैव सिद्धौ किं 'कर्मणा यम्' (पा. सू. १।४।३२) इति सम्प्रदानसंज्ञया, 'चतुर्थी सम्प्रदाने' (पा. सू. २।३।१३) इति सूत्रं तु 'रुच्यर्थानाम्' (पा.सू. १।४।४३) इति विषये चतुर्थ्यर्थमिति चेत्, न। दानकर्मणो गवादेर्ब्राह्मणार्थत्वेऽपि दानक्रियायाः परलोकार्थत्वात्। अत एव तादर्थ्यचतुर्थ्या दानकर्मणो गवादेः सम्प्रदानार्थत्वेऽपि दानक्रियायास्तदर्थत्वाभावेन चतुर्थ्यन्तार्थस्य दानक्रियायामन्वयानापत्त्या कारकत्वानापत्तिरिति हेलाराजः।

उपकार्योपकारकत्वसम्बन्धस्तादर्थ्यचतुर्थ्यर्थः, ब्राह्मणाय दधीत्यादौ ब्राह्मणोपकारकं दधीति बोधादिति दिक्।

सम्प्रदानचतुर्थ्यर्थं निरूपयति—सम्प्रदानेति। अत्रेदं बोध्यम्—"सम्प्रदाने चतुर्थी" (पा० सू० २।३।१३) इति सम्प्रदाने कारके चतुर्थी भवति। सम्प्रदानञ्च "कर्मणा

यमभिप्रैति स सम्प्रदानम् (पा० सू० १।४।३२) इति सूत्रबोधितम्। अत्र सूत्रे कर्मणा=क्रियाकरणभूतेन कर्मणा, यम् अभिप्रैति=सम्बन्द्धुमिच्छति तत् कारकं सम्प्रदानमिति अर्थकादुद्देश्यमिति फलति। तथा च 'क्रियाया यत् कर्म तत्सम्बन्धजन्यफलाश्रयत्वेनेच्छाविषयत्वम् उद्देश्यत्वम्'। परिष्कृत-सूत्रार्थस्तु—कर्मप्रतियोगिकसम्बन्धप्रकारककर्तृवृत्तीच्छानिरूपितविशेष्यतात्मकविशेष्यताश्रयो यः स सम्प्रदानमिति 'कर्मप्रतियोगिकसम्बन्धप्रकारिका यद्विशेष्यिकेच्छा स सम्प्रदानमिति वा बोध्यः' इत्याहुः। 'मैत्रो विप्राय गां ददाती'त्यत्र क्रिया—स्व-स्वत्व-ध्वसविशिष्ट-परस्वत्वोत्पत्त्यनुकूलेच्छारूपा, तत्कर्म स्व-स्वत्वध्वंसविशिष्टपरस्वत्वरूपफलाश्रयः गौः। कर्मणः करणत्वञ्चाभिसम्बन्धक्रियां प्रति, करणस्य च व्यापारवत्त्वनियमात् कर्मत्वप्रयोजकत्वेनोपस्थितस्य फलस्यैव व्यापारत्वं कल्प्यते। गोपदोत्तरद्वितीयाया आश्रयोऽर्थः। एवञ्च विप्रस्याभेदसम्बन्धेनोद्देश्ये, उद्देश्यस्य च स्वनिष्ठोद्देश्यतानिरूपकत्वसम्बन्धेन 'दा' धात्वर्थेच्छायामन्वयः। गोपदार्थस्य चाभेदेन द्वितीयार्थाश्रयेऽन्वयः, तस्याधेयतासम्बन्धेन स्व(=कर्तृ)-स्वत्वध्वंससमानाधिकरणपरस्वत्वरूपफले, फलस्य च विषयितारूपानुकूलत्वसम्बन्धेनेच्छायामन्वयः। एवञ्च—विप्रोद्देशिका गवाभिन्नाश्रयनिष्ठ-स्व-स्वत्वध्वंससमानाधिकरणपरस्वत्वोत्पत्त्यनुकूला मैत्राभिन्नाश्रयनिष्ठा वर्तमानकालावच्छिन्नेच्छेति बोधः। दानं नाम—स्व-स्वत्वनिवृत्तिसमानाधिकरणपरस्वत्वोत्पत्त्यनुकूलो व्यापारः। उपेक्षायामतिव्याप्तिवारणाय—परेति। स्वस्वत्वनिवृत्तिं विना परस्वत्वोत्पत्यसम्भवात् सापि धात्वर्थ इति। वस्तुतस्तु दानमेव स्वत्वजनकम्। प्रतिग्रहस्तु फलातिशयार्थो न स्वत्वजनको, दानेनान्यथासिद्धत्वात्। अस्वीकारश्च तदुत्पत्तिप्रतिबन्धकः, तस्मिन् सति दानेऽपि न तदुत्पत्तिः। अत एव विदेशस्थपात्रमुद्दिश्य त्यक्तधने स्वीकारमन्तरेणैव पात्रस्य मरणेऽपि उद्देश्यपुत्रादिभिरेव पितृदायत्वेन तद्धनं विभज्य गृह्यते नान्यैरिति व्यवहारः। अदृष्टार्थदत्तास्वीकार एव प्रतिग्रह इति परितोषदत्ततिलतुरगादिस्वीकारे न दोष इति लघुमञ्जूषादौ विस्तरः।

ननु "कर्मणा यमभिप्रैती"ति सूत्रे सम्प्रदानलक्षणस्य कर्मघटकतयाऽकर्मकक्रियोद्देश्यस्य सम्प्रदानत्वं न स्यादत आह—अकर्मकेति। लक्षणान्तरमिति। क्रियया यमभिप्रैति सोऽपि सम्प्रदानमिति वार्त्तिकरूपमित्यर्थः। अकर्मकक्रियोद्देश्यत्वञ्च—अकर्मकक्रियाप्रतियोगिकसम्बन्ध-प्रकारकेच्छाविशेष्यत्वम्। यथा प्रकृते 'पत्ये शेते' इत्यत्र शयनप्रतियोगिक-स्वप्रयोज्य-सम्भोगवत्त्वात्मकसम्बन्धप्रकारिका नायिकावृत्तिः—'पतिः मदीय-शयनप्रतियोगिक-स्वप्रयोज्यसम्भोगवत्त्वात्मकसम्बन्धवान् भवतु'—इतीच्छा, तद्विशेष्यत्वात् पतिः सम्प्रदानं भवतीति भावः।

वस्तुतस्तु प्रस्तुतवार्त्तिकखण्डनपरकभाष्यरीत्या कर्मशब्देन कर्मक्रिययोरुभयोर्ग्रहणात् सूत्रेणैव सिद्धौ वार्तिकं नारम्भणीयमिति। "कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्" (पा० सू० १।४।३२) इति सूत्रे भाष्ये "क्रियाग्रहणमपि कर्तव्यम् इहापि यथा स्यात्—

श्राद्धाय निगर्हते, युद्धाय सन्नह्यते, पत्ये शेते इति । तर्त्तहि वक्तव्यम् ? न वक्तव्यम् । कथम् ? क्रियां हि नाम लोके कर्मेत्युपाचरन्ति—कां क्रियां करिष्यसि ? किं कर्म करिष्यसीति ? एवमपि कर्तव्यम् । कृत्त्रिमाकृत्त्रिमयोः कृत्त्रिमे सम्प्रत्ययो भवति । क्रियापि कृत्त्रिमं कर्म । न सिध्यति, "कर्तुरीप्सिततमं कर्म" (पा० सू० १।४।४९) इत्युच्यते, कथं च नाम क्रियया क्रिया ईप्सिततमा स्यात् ? क्रियापि क्रिययेप्सित-तमा भवति । कया क्रियया ? सन्दर्शनक्रियया वा, प्रार्थयतिक्रियया वाऽध्यवस्यति-क्रियया वा । इह य एष मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति, स बुद्ध्या तावत् किञ्चिदर्थं संपश्यति, सन्दृष्टे प्रार्थना, प्रार्थनायामध्यवसायः, अध्यवसाये आरम्भः, आरम्भे निर्वृत्तिः, निर्वृत्तौ फलावाप्तिः । एवं क्रियापि कृत्रिमं कर्मेत्युक्तम् ।"

हरिरप्याह—

> सन्दर्शनं प्रार्थनायां व्यवसाये स्वनन्तरा ।।
> व्यवसायस्तथारम्भे साधनत्वाय कल्पते ।
> पूर्वस्मिन् या क्रिया सैव परस्मिन् साधनं मता ।।

वा० प० ३।७।१६-१७

एवञ्च पत्ये शेते इत्यत्रापि "कर्मणा यमभी०" (पा० सू० १।४।३२) ति सूत्रेणैव सम्प्रदानत्वं सिद्धम् । पतिसम्प्रदानकमारम्भकर्मभूतं पत्नीकर्तृकं शयनमिति बोध इति बोध्यम् । सम्प्रदानसञ्ज्ञाविधायकसूत्रस्य सार्थक्यमुपपादयति—नन्विति । परलोका-र्थत्वादिति । गोः विप्रार्थत्वेऽपि दानक्रियाया तादर्थ्याभावेन 'तादर्थ्ये चतुर्थी' इत्यस्या-प्राप्तौ सूत्रस्य सार्थक्यं स्पष्टमेव । अत एव = सम्प्रदान-संज्ञायाः सत्त्वादेवेत्यर्थः । कारकत्वानापत्तिरिति । दानक्रियायाः स्वर्गार्थत्वात् स्वर्गरूपोकारकत्वस्य दानक्रिया-कर्तृगामित्वात् तद्गतफलद्वारा तज्जनकत्वरूपतादर्थ्यस्य ब्राह्मणादिनिरूपितस्य दान-क्रियायामभावेन चतुर्थ्यन्तार्थस्य तत्रान्वयानापत्तिरिति भावः । किञ्च तादर्थ्ये एव चतुर्थीविधानं चेत् तदा यूपाय दार्विति शब्दाद् यथा यूपार्थं दार्विति बोधो भवति तथैव 'विप्राय गां ददाती'ति शब्दाद् विप्रार्थं गोकर्मकं दानमित्याद्येव बोधः स्यात् । प्रसङ्गत-स्तादर्थ्यं निरूपयति—उपकार्येति । तस्मै इदं तदर्थम्, तस्य भावस्तादर्थ्यम्, तत्रेत्यर्थः । तादर्थ्यम् = उपकार्योपकारकभावरूपः सम्बन्धः । सम्प्रदानस्थलीयबोधाद् भेदं दर्शयति—ब्राह्मणोपकारकमित्यादि । किन्तु यदा तादर्थ्यस्य सम्बन्धत्वेन भानं तदा षष्ठी—गुरोरिदं गुर्वर्थमिति भाष्ये स्पष्टम् । इति सम्प्रदानकारकविचारः ।

सम्प्रदान चतुर्थी का अर्थ—उद्देश्य है । और इस प्रकार (ब्राह्मणाय गां ददाति—इस वाक्य से) 'ब्राह्मणरूपी उद्देश्यवाला, गोरूपी कर्मवाला दान, और (मैत्राय वार्ताः कथयति इससे) 'मैत्ररूपी उद्देश्यवाला वार्तारूपी कर्मवाला कथन' ऐसा (शाब्दबोध होता है ।) 'अकर्मक क्रिया का उद्देश्य होना (भी) सम्प्रदान होना है' यह दूसरा

लक्षण (वार्तिक) है। जैसे 'पत्ये शेते' इत्यादि है। 'पतिरूप उद्देश्यवाली, पत्नी-रूपी कर्तावाली शयन (क्रिया)—यह बोध होता है।

दान आदि के तदर्थ (=सम्प्रदान के लिये) होने के कारण 'तादर्थ्ये चतुर्थी' (उसके लिए होने पर चतुर्थी हाती है—इस वार्तिक) से ही सिद्धि रहने पर 'कर्मणा यमभि०' (पा०.सू० १।४।३२) इस सम्प्रदान संज्ञा से क्या लाभ? 'चतुर्थी सम्प्रदाने' (सम्प्रदान में चतुर्थी होती है। पा० सू० २।३।१३) यह सूत्र तो 'रुच्यर्थानां प्रीयमाणः' (पा० सू० १।४।३३) इस [सूत्र] के विषय में चतुर्थी (विभक्ति करने) के लिए है—ऐसा यदि (कहते हो) तो नहीं [कह सकते] क्योंकि दान क्रिया के कर्मभूत गाय आदि पदार्थ ब्राह्मण के लिए होने पर भी दानक्रिया तो परलोक (प्राप्ति) के लिए (होती है न कि ब्राह्मण के लिए)। ('तादर्थ्ये चतुर्थी' वार्तिक से निर्वाह नहीं हो सकता है) इसीलिए तादर्थ्य चतुर्थी में दान के कर्म गाय आदि के सम्प्रदानार्थ होने पर भी दान क्रिया के तदर्थ [सम्प्रदानार्थ] न होने के कारण चतुर्थीविभक्त्यन्त पद के अर्थ का दान क्रिया में अन्वय न हो सकने के कारण कारक (विभक्ति) नहीं हो सकती—ऐसा हेला-राज (वाक्यपदीय के व्याख्याकार) ने [लिखा है]।

उपकार्य-उपकारकभाव सम्बन्ध तादर्थ्य चतुर्थी का अर्थ है क्योंकि 'ब्राह्मणाय दधि' इत्यादि में ब्राह्मण (रूपी उपकार्य) का उपकारक दही—ऐसा बोध होता है, यह दिग्दर्शन है।

विमर्श—सम्प्रदान-चतुर्थी का अर्थ—उद्देश्य है। किन्तु यह सकर्मक क्रियास्थल में हो सकता है अतः अकर्मकस्थल में उस क्रिया का ही उद्देश्य मान लिया जाता है। अतः सर्वत्र एकरूपता है। विशेष विवेचन संस्कृत-व्याख्या में देखिये।

कुछ लोग यह कहते हैं कि जहां सम्प्रदान में चतुर्थी होती है वहां 'तादर्थ्ये चतुर्थी' इस वार्तिक से ही निर्वाह सम्भव है क्योंकि सम्प्रदानस्थल में भी कुछ वस्तु किसी के लिये ही होती है। 'चतुर्थी सम्प्रदाने' (पा० सू० २।३।१३) यह सूत्र व्यर्थ होगा अतः 'कर्मणा यमभि०' (पा० सू० १।४।३८) से सम्प्रदान संज्ञा करनी आवश्यक है—ऐसी बात भी नहीं है क्योंकि इस सूत्र की सार्थकता तो 'रुच्यर्थानां प्रीयमाणः' (पा० सू० १।४।३३) आदि से विहित सम्प्रदान संज्ञा-स्थलों पर है।

परन्तु उपर्युक्त मत ठीक नहीं है क्योंकि 'विप्राय गां ददाति' आदि में गाय विप्र के लिये है परन्तु दान क्रिया तो विप्र के लिये नहीं है, उसका उद्देश्य तो स्वर्गादि की प्राप्ति है। अतः विप्र में तादर्थ्यचतुर्थी उपपादित करना कठिन है। इसके अतिरिक्त, तादर्थ्यचतुर्थी में उपकार्योपकारकभाव सम्बन्ध ही प्रतीत होता है, उद्देश्यता नहीं। अतः "कर्मणा यमभि०" (पा० सू० १।४।३२) से सम्प्रदानसंज्ञा करनी आवश्यक है।

सम्प्रदान-कारक का विचार समाप्त हुआ।

तत्तत्कर्तृसमवेततत्तत्क्रियाजन्यप्रकृतधात्ववाच्यविभागाश्रयत्वमपादानत्वम्। तदेवावधित्वम्। विभागश्च न वास्तवसम्बन्धपूर्वको वास्तव एव; किन्तु बुद्धिपरिकल्पितसम्बन्धपूर्वको बुद्धिपरिकल्पितोऽपि। माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतरा इत्यादौ बुद्धिपरिकल्पितापायाश्रयणेनैव भाष्ये पञ्चमीसाधनात्। अत एव चैत्रान्मैत्रः सुन्दर इत्यादिर्लोके प्रयोगः।

अवसरप्राप्तमपादानं निरूपयति—तत्तदिति। 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' [पा० सू० १।४।२४] इति अपादानसंज्ञाबोधकं सूत्रम्। यद्यपि स्थैर्यार्थकात् कुटादेः ध्रु धातोः पचाद्यचि निष्पन्नो ध्रुवशब्दः। एवञ्च ध्रुवमस्थिरमचलमित्यर्थः प्रतीयते तथापि—

अपाये यदुदासीनं चलं वा यदि वाचलम्।
ध्रुवमेवातदावेशात् तदपादानमुच्यते॥

इति अभियुक्तोक्त-कारिकाद्यनुसारेण—ध्रुव-पदमवधि-भूतपरमिति बोध्यम्। प्रकृतधात्वर्थ-प्रधानीभूत-व्यापारानाश्रयत्वे सति तज्जन्य-विभागाश्रयत्वं ध्रुवत्वमिति दीक्षितादिमतम्। मञ्जूषाकारमतन्तु—अपाये = गतिविशेषे सति यद् ध्रुवम् = अवधिभावोपगमाश्रयत्वे सति तदतिरिक्तावधित्वोपयोगिव्यापारानाश्रयत्वं ध्रुवत्वमिति। तन्मते प्रमाणन्तु अपादानसंज्ञासूत्रभाष्यम्। तत्र हि "रथात् प्रवीतात् [= प्रचलितात्] पतितः, त्रस्तादश्वात् पतितः, सार्थाद् गच्छतो हीन इति। किं कारणम्? अध्रुवत्वात्। न वा ध्रौव्यस्याविवक्षितत्वात्। नवैष दोषः। किं कारणम्? अध्रौव्यस्याविवक्षितत्वात्, नात्राध्रौव्यं विवक्षितम्, किं तर्हि, ध्रौव्यमिति।" धात्वर्थव्यापारानाश्रयत्वस्य ध्रुवत्वे तु तदसङ्गतं स्यात्, धात्वर्थव्यापाराश्रयत्वरूपस्य दीक्षिताद्यभिमतस्याध्रुवत्वस्य रथादिष्वभावेन 'सतोऽध्रौव्यस्याविवक्षा' इति भाष्यासङ्गत्यापत्तेरिति दिक्। अन्यत्रप्रोक्तमेव हृदि निधायाह—तत्तत्कर्तृ-समवेता या तत्तत्क्रिया, तज्जन्यः प्रकृतधात्ववाच्यो यो विभागः तदाश्रयत्वमपादानत्वमिति भावः। यथा रामो ग्रामाद् आयातीत्यत्र कर्ता रामः, तस्मिन् समवेता = समवायेन वर्तमाना क्रिया = उत्तरदेशसंयोगानुकूला पादप्रक्षेपादिरूपा गमनक्रिया, तज्जन्यः प्रकृतधात्ववाच्यो यो विभागः तदाश्रयत्वं ग्रामस्यास्तीति लक्षणसमन्वयः। विभागो न हि गम्-धातुवाच्य इति तस्य प्रकृतधात्ववाच्यत्वं सुस्पष्टमेव। तदेव = अपादानत्वमेव। सर्वसङ्ग्रहायाह—विभागश्चेति। बुद्धिपरिकल्पित-सम्बन्धपूर्वक-बुद्धिपरिकल्पित-विभागाश्रये बीजमाह—भाष्ये इति। "ध्रुवमपायेऽपादानम्" [पा. सू. १।४।२४] इति सूत्रे भाष्ये—"जुगुप्साविराम-प्रमादार्थानामुपसंख्यानं कर्त्तव्यम्—अधर्माज्जुगुप्सते, अधर्माद् बीभत्सते, धर्माद् विरमति········। इतश्चोपसङ्ख्यानं कर्तव्यम्—साङ्काश्यकेभ्यः पाटलिपुत्रा अभिरूपतरा इति। तत्तर्हीदं बहु वक्तव्यम्? न वक्तव्यम्। इह तावदधर्माज्जुगुप्सते, अधर्माद् बीभत्सते इति—य एष मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति स पश्यति—दुःखोऽधर्मो

नानेन कृत्यमस्तीति । स बुद्ध्या सम्प्राप्य निवर्तते । तत्र ध्रुवमपायेऽपादानमित्येव सिद्धम् ।......इह च साङ्काश्यकेभ्यः पाटलिपुत्रका अभिरूपतरा इति, यस्तस्मैं साम्यं गतवान् स एतत् प्रयुङ्क्ते ।" [म० भा० १ ४।२४] अत्र बुद्धिपरिकल्पिताऽपायाश्रयण-प्रयुक्तमपादानत्वमिति स्फुटमेवोक्तम् । एवं रीत्या वार्तिकं नानासूत्राणि च प्रत्याख्यातानि । अतएव = बुद्धिपरिकल्पितापायाश्रयणप्रयुक्तापादानत्वस्य स्वीकारादेवेत्यर्थः । लोके प्रयोग इति । बुद्धिपरिकल्पित-सम्बन्धपूर्वक-विभागाश्रयणाभावे उक्तप्रयोगानुपपत्तिरित्यर्थः ।

अपादान-कारक का विवेचन

उस उस कर्ता में समवेत [समवाय सम्बन्ध से स्थित] क्रिया से जन्य, प्रकृत धातु के अवाच्य [अर्थ] विभाग का आश्रय होना अपादान होना है । वह [उस प्रकार के विभाग का आश्रय होना] ही अवधि होना है । और वह विभाग वास्तव-सम्बन्ध-पूर्वक वास्तविक ही हो ऐसा नहीं है किन्तु बुद्धि से परिकल्पित सम्बन्धपूर्वक बुद्धिपरिकल्पित भी [विभाग मान कर उसके आश्रय की अपादान संज्ञा होती है ।] कारण यह है कि 'मथुरा-निवासी पटना-निवासियों से अधिक धनी हैं' इत्यादि [प्रयोगों] में बुद्धिपरिकल्पित अपाय [विभाग] के आश्रयण द्वारा ही भाष्य में पञ्चमी [विभक्ति] सिद्ध की गयी है । [बुद्धिपरिकल्पित भी विभाग मान कर अपादान होता है] इसीलिए 'चैत्रात् मैत्रः सुन्दरः [= चैत्र से मैत्र सुन्दर है] आदि प्रयोग लोक में होता है ।

वृक्षं त्यजति खग इत्यादावपादानत्ववारणाय—प्रकृतधात्ववाच्येति । परस्परस्मान्मेषावपसरत इत्यत्रापादानत्वाय—तत्तत्कर्त्रिति । तत्तत्पशुविशेषनिष्ठ-व्यापारजन्यविभागाश्रयस्तत्तत्पशुविशेषः । किं च मेषपदवाच्ययोः पशुविशेषयोः क्रियाश्रयत्वविवक्षा, परस्परपदवाच्ययोस्तयोस्तु विभागाश्रयत्वविवक्षेत्यौपाधिक-स्तयोर्भेदः । शब्दस्वरूपोपाधिकृतभेदोऽप्यर्थे गृह्यते । यथाऽऽत्मानमात्मना वेत्तीत्यादौ शरीरावच्छिन्नं कर्तृ, अन्तःकरणावच्छिन्नं करणम्, निरवच्छिन्नं निरीहं कर्म । एकस्यैव शब्दभेदाद् भेदः, शब्दालिङ्गितस्यैव सर्वत्र भानात् । तदाह—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यश्शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥

[वा० प० १।१२३] इति ।

वृक्षमिति । विभागानुकूलव्यापारार्थक-त्यज्धात्वर्थ-खगसमवेत-क्रियाजन्य-विभागाश्रयत्वात् वृक्षस्य कर्मत्वं सिद्धम् । प्रकृतधात्ववाच्यत्वस्य ग्रहणाभावेऽपादानत्व-

स्यानिवारणादिति भावः। यत्र खलु विभागो न प्रकृतधातुवाच्यस्तादृशविभागाश्रयस्यैवापादानत्वनियमः यथा वृक्षात्पततीत्यादौ। विभागस्य प्रकृतधात्वर्थत्वे तु उभयप्राप्तौ "अपादानमुत्तराणि कारकाणि बाधन्ते' [म० भा० १।४।१] इति भाष्यात् कर्मत्वमेवेति पूर्वमेवोक्तं ग्रन्थकृतेति बोध्यम्।

ननु परस्परस्मान्मेषावपसरत इत्यादौ का गतिरत आह--परस्परस्मान्मेषाविति। मेषान्तरसमवेत-क्रियाजन्य-विभागाश्रयत्वान्मेषान्यतरस्यापादानत्वम्, स्वसमवेत-क्रियाश्रयत्वाच्च कर्तृत्वमिति। निरूपकभेदात्तयोः कारकयोर्न विरोध इति न परया कर्तृसंज्ञया बाध इति भावः। ननु मेषपदवाच्यौ पशुविशेषौ परस्परपदवाच्यावपि तावेव पशुविशेषाविति तयोरभिन्नत्वेन मेषपदवाच्ययोः क्रियाश्रयत्वेन परस्परपदवाच्ययोरपि क्रियाश्रयत्वात् कर्तृत्वापत्तौ अपादानत्वानापत्तिरित्यत आह--किञ्चेति। तत्तच्छब्दरूपोपाधि-भेदान्मेषपदोपात्तपरस्परपदोपात्तयोर्भेदस्य सत्वान्नैकस्मिन् कर्तृत्वापादानत्वयोः प्रसङ्ग इति न कर्तृसंज्ञयाऽपादानत्वस्य बाधावसर इति भावः। शब्दरूपोपाधिभेदेनार्थभेदस्यान्यत्रापि प्रसिद्धत्वं निरूपयति—यथाऽऽत्मेति। शरीरावच्छिन्नम् = स्थूलशरीरावच्छिन्नमित्यर्थः। अन्तःकरणावच्छिन्नम् = मनोबुध्यहङ्कारात्मक-सूक्ष्मशरीरावच्छिन्नम्। निरवच्छिन्नमिति। ''अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' इत्यादि श्रुत्या चैतन्यस्य निरीहत्वमपि प्रसिद्धमिति। एकस्यैव = प्रकृते चैतन्यरूपस्यैकपदार्थस्यैवेत्यर्थः। शब्दालिङ्गितस्यैव = शब्दरूपोपाधि-विशिष्टस्यैवेत्यर्थः। तदाहेति। वाक्यपदीयकार इत्यर्थः। यः प्रत्ययः = ज्ञानम्, तच्च निर्विकल्पकातिरिक्तमेवेति बोध्यम्, तत्रापि शब्दभाने निर्विकल्पकत्वासिद्धेरिति केचित्। शब्दानुगमाद् = शब्दविषयकत्वाद्, शब्दनिरूपितविषयितारूपसम्बन्धादिति यावत्। ऋते = विना। भवति = जायते सः = प्रत्ययो लोके नास्ति। सर्वम् = प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दजन्यात्मकं ज्ञानं शब्देन तादात्म्यसम्बन्धेनानुविद्धम् = सम्पृक्तम् इव भासते = उपतिष्ठते। एवञ्च शाब्दबोधे शब्दभानं हर्यादिसम्मतम्। अत्र कारिकायाम् 'इव' शब्दप्रयोगेण ज्ञाने शब्दनिरूपितं तादात्म्यमारोपितमेवेति बोध्यम्। तेन न कोऽपि दोषः।

वृक्षं त्यजति खगः [पक्षी वृक्ष को छोड़ता है] इत्यादि में अपादान न हो, इसको रोकने के लिए—प्रकृत धातु के अवाच्य [विभाग का आश्रय हो]—ऐसा निवेश किया गया है। [चूंकि यहाँ विभाग त्यज् धात्वर्थ है अतः उसके आश्रय की अपादान संज्ञा न होकर कर्म संज्ञा होती है।] 'परस्परस्मात् मेषौ अपसरतः' [दो मेष = भेंड़े एक दूसरे से अलग होते हैं] यहाँ अपादान होने के लिये—उस उस कर्ता में [समवेत उस उस क्रिया से जन्य, प्रकृत धातु के अवाच्य विभाग का आश्रय होना अपादानत्व है]—यह [निवेश है।] उस-उस अर्थात् एक-एक पशुविशेष = मेष में रहने वाले व्यापार से जन्य विभाग का आश्रय वह वह पशुविशेष = मेष है। और

भी, मेष पद के वाच्य पशुविशेष को क्रियाश्रय होने की विवक्षा है और परस्पर-पद के वाच्य उन [पशुविशेषों = मेषों] की विभागाश्रय होने की विवक्षा है—इस प्रकार दोनों का [शब्दरूप] उपाधिवाला भेद है। [अर्थात् मेष शब्दसे कर्ता और परस्पर शब्द से विभागाश्रय = अपादान की प्रतीति होती है।] शब्दरूप उपाधि = विशेषण को मानकर होने वाला भेद भी अर्थ में लिया जाता है। जैसे 'आत्मानम् आत्मना वेत्ति' [अपने को अपने से जानता है] इत्यादि में शरीरविशिष्ट आत्मा कर्ता [ज्ञाता] है, अन्तःकरण [मन बुद्धि आदि] से विशिष्ट [आत्मा] करण है और निरवच्छिन्न, निरीह [आत्मा] कर्म [ज्ञान का विषय] है। एक ही [पदार्थ] का शब्दभेद से भेद हो जाता है क्योंकि शब्द से आलिङ्गित [विशिष्ट] ही [अर्थ] का सर्वत्र भान होता है। जैसा कि [भर्तृहरिने] कहा है—

शब्द के अनुगम = अनुसन्धान के विना जो ज्ञान होता है, ऐसा लोक में नहीं है। समस्त ज्ञान शब्द से अनुविद्ध = ग्रथित सा ही प्रतीत होता है। [वा.प. १।१२३]

विमर्श—विभागाश्रय की अपादान संज्ञा होती है। वह विभाग (१) भिन्न-भिन्न कर्ताओं में समवेत क्रिया से जन्य होना चाहिये। और (२) प्रकृत धातु का वाच्य नहीं होना चाहिए। (३) विभाग के लिये पहले सम्बन्ध होना आवश्यक है। यह सम्बन्ध वास्तविक और बुद्धिपरिकल्पित दोनो प्रकार का लिया जाता है। इन तीन विशेषताओं के रहने पर अपादान होता है। इनके फल इस प्रकार हैं—

(१) 'परस्परस्मात् मेषौ अपसरतः' यहाँ दो मेष हैं वे लड़ते समय एक दूसरे से भिड़ते हैं और फिर अलग होते हैं। उस समय दोनों मेषों की क्रियाओं से विभाग होता है। जिसमें एक मेष के लिए दूसरा मेष विभागाश्रय हो जाता है और अपादान संज्ञा होती है। विचारणीय यह है कि मेष क्रियाश्रय भी हैं अतः कर्तृ संज्ञा भी होती है। समाधानार्थ यहाँ 'मेष' और 'परस्पर' इन शब्दों को उपाधि मान लिया जाता है। अतः मेष-पदवाच्यों को क्रियाश्रय मानकर कर्तृत्व तथा परस्पर-पदवाच्यों को विभागाश्रय मान कर अपादानत्व का उपपादन करना चाहिये। इस आशय को वाक्यपदीयकार ने भी व्यक्त किया है—

उभावप्यध्रुवौ मेषौ यद्यप्युभयकर्मजे।
विभागे प्रविभक्ते तु क्रिये तत्र व्यवस्थिते॥
मेषान्तरक्रियापेक्षमवधित्वं पृथक् पृथक्।
मेषयोः स्वक्रियापेक्षं कर्तृत्वञ्च पृथक् पृथक्॥ वा. प. ३।७।१४०-४१

नागेश ने इसे शब्दरूपोपाधि का आश्रयण लेकर उपपादित किया है। भर्तृहरि आदि के अनुसार निर्विकल्पक से अतिरिक्त समस्त ज्ञान शब्द से अनुस्यूत ही प्रतीत होते हैं। चूँकि शब्दार्थ का तादात्म्य है अतः शब्द भी भासित होता है। इस

विषय का उपपादन शक्तिप्रकरण में भी किया जा चुका है। विशेष विस्तार लघुमञ्जूषादि में है।

(२) विभाग प्रकृत धातु का वाच्य नहीं होना चाहिये। इसीलिये 'वृक्षं त्यजति खगः' यहाँ वृक्ष की अपादानता नहीं है। यद्यपि यहाँ विभाग की प्रतीति होती है और उसका आश्रय वृक्ष है परन्तु यह विभाग प्रकृत धातु का ही वाच्य है। अतः अपादान न होकर कर्म होता है।

(३) 'माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्यः आढ्यतराः' ऐसा प्रयोग भाष्यकार ने किया है। यहाँ दूर-दूर होने से वास्तव में दोनों का सम्बन्ध नहीं है। अतः बुद्धि से इनके सम्बन्ध की परिकल्पना करके विभाग की कल्पना है। इसीलिये 'चैत्रात् मैत्रः सुन्दरः' यह प्रयोग लोक में देखा जाता है। विशेष विवेचन संस्कृत-व्याख्या में देखें।

ननु ह्येतदौपाधिकभेदमादायैवात्रापादानत्वे सिद्धे किं तत्तत्कर्तृसमवेतेत्यनेनेति चेत्, न। पर्वतात् पततोऽश्वात् पतत्यश्ववाह इत्यादावश्वस्यापादानत्वाय तत्स्वीकारात्। ननु वृक्षात् पर्णं पततीत्यादौ तादृशफलाश्रयत्वात् पर्णस्याप्यपादानत्वं विभागस्य द्विष्ठत्वादिति चेत्, न; परया कर्तृसंज्ञया बाधात्। अतएव 'अपादानमुत्तराणि कारकाणि बाधन्ते' [म०भा० १।४।१] इति भाष्यं सङ्गच्छते।

अपादानलक्षणे तत्तत्कर्तृसमवेतेत्यस्य निवेशस्य फलं प्रदर्शयितुमाह—नन्विति। स्वीकारादिति। अत्राश्वसमवेत-क्रियाजन्य-प्रकृतधात्ववाच्य-विभागाश्रयत्वेन पर्वतस्यापादानत्वम्, अश्ववाहसमवेतक्रियाजन्यप्रकृतधात्ववाच्य-विभागाश्रयत्वेन चाश्वस्यापादानत्वम्। पर्वतावधिकपतनेऽश्वस्य कर्तृत्वम्, अश्वावधिकपतने चाश्ववाहस्य। एवञ्च तत्तत्कर्तृसमवेतेत्यादिकस्य ग्रहणमावश्यकम्। यद्यपि एकैव पतनक्रिया वर्तते तथापि द्वाभ्यां शब्दाभ्यां प्रतिपादनात् उपाधिभेदाच्च स्वपतनं प्रति अश्वस्य कर्तृत्वम्, अश्ववाहीयपतनं प्रति च अश्ववाहस्य कर्तृत्वमिति निरूपकभेदान्न शक्त्योः विरोधः, न वा परया कर्तृसंज्ञया बाध इति भावः।

इस औपाधिक [मेष एवं परस्पर शब्दरूप उपाधि से होने वाले] भेद को मानकर ही यहाँ [परस्परस्मात् मेषौ अपसरतः में] अपादानत्व के सिद्ध रहने पर तत्तत् कर्ता में समवेत [क्रियाजन्य विभागाश्रय]—इसके निवेश का क्या लाभ ? ऐसा यदि [कहो] तो नहीं [कह सकते], क्योंकि 'पर्वतात् पततोऽश्वात् पतति अश्ववाहः' [घुड़सवार पहाड़ से गिरते हुये घोड़े से गिरता है] यहाँ अपादानत्व के लिये वह [तत्तत्-कर्तृ-समवेत—इत्यादि विशेषण] स्वीकार किया गया है। 'वृक्ष से पत्ता गिरता है' इत्यादि में उस प्रकार के [अर्थात् पर्णसमवेत-क्रियाजन्य प्रकृत धातु के अवाच्य विभागरूप] फल का आश्रय होने से पर्ण भी अपादान होना चाहिये, क्योंकि विभाग द्विष्ठ=दो में रहनेवाला होता है—ऐसा यदि [कहते हो]

तो नहीं [कह सकते], क्योंकि [अपादान की अपेक्षा] परवर्ती कर्तृसंज्ञा द्वारा [अपादान संज्ञाका] बाध हो जाता है। [अतः पर्ण का कर्तृत्व ही रहता है] इसीलिये 'उत्तरवर्ती कारक अपादान का बाध करते हैं' [म० भा० १।४।१] यह भाष्य संगत होता है।

विमर्श—संयोग एवं विभाग ये दो पदार्थों में ही रहते हैं। अतः वृक्षात् पर्णं पतति में पर्ण-समवेत क्रियाजन्य, प्रकृत धातु के अवाच्य विभाग का आश्रय जैसे वृक्ष होता है वैसे ही पर्ण भी होता है। अतः पर्ण की भी अपादान संज्ञा प्रसक्त होती है। इस शंका का उत्तर यह है कि पर्ण विभाग का आश्रय अवश्य है परन्तु वह पतन क्रिया का आश्रय भी है। अतः क्रियाश्रय होने से उसकी कर्तृसंज्ञा भी होती है। और परवर्ती होने से यह अपादानसंज्ञा का बाध कर लेती है। अतः केवल कर्तृ संज्ञा ही होती है। इसलिये अपादान संज्ञा का अवसर नहीं है।]

यत्तु केचिद्—गत्यनाविष्टत्वे सति तज्जन्यविभागाश्रयत्वमपादानत्वमिति। तन्न। तत्तद्वाक्ये मेषाश्वयोरपादानत्वानापत्तेः।

यदपि—अपसरत इति सृधातुना गतिद्वयस्याप्युपादानादेकनिष्ठां गतिं प्रतीतरस्यापादानत्वमविरुद्धमिति। तन्न। क्रियाया एकत्वात्। अत एव 'न वै तिङन्तान्येकशेषारम्भं प्रयोजयन्ति क्रियाया एकत्वात्' [म० भा० १।२।६४] इति भाष्यं सङ्गच्छते।

पञ्चम्यर्थोऽवधिः। वृक्षावधिकं पर्णकर्तृकं पतनमिति बोधः। पर्वतावधिक-पतनाश्रयाभिन्नाश्वावधिकमश्ववाहकर्तृकं पतनमिति बोधः। परस्परमेषावधिकं द्वित्वावच्छिन्नमेषकर्तृकमपसरणमिति बोध इति दिक्।

मतान्तरं निराकरोति—यत्त्विति। गत्यनाविष्टत्वे सति = विश्लेषजनकक्रियाना-श्रयत्वे सतीत्यर्थः। तज्जन्येति। विश्लेषजनकक्रियाजन्येत्यर्थः। तत्तद्वाक्ये = 'परस्परस्मान्मेषावपसरतः', 'पर्वतात् पततोऽश्वात् पतती' त्यादिपूर्वोक्तवाक्ये इत्यर्थः। अपादानत्वानापत्तेरिति। उक्तवाक्ये गत्यनाविष्टत्वाभावात् [विश्लेषजनकक्रियानाश्रय-त्वाभावात्] मेषाश्वयोरपादानत्वं न स्यादिति भावः।

खण्डयितुं भूषणकारमतमनुवदति—यदपीति। भूषणकारादीनामयमाशयः—परस्परस्मान्मेषावपसरत इत्यादौ यत्र एको मेषो निश्चलः = विश्लेषजनकक्रियाया अनाश्रयस्तस्माद् मेषादपसरन् = विभागजनकक्रियाश्रयो यो मेषस्तत्क्रियामादाय निश्चलमेषस्य ध्रुवत्वम्। एवञ्च तत्तन्मेषवृत्तिक्रियायाः व्यक्तेः तद्व्यक्तिभिन्नत्वेन भिन्नतयोभयोस्तत्क्रियानाश्रयत्वेनापादानत्वम्। तद्विश्लेषजनक-क्रियात्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताकाभावस्याविद्यमानत्वेऽपि तद्विश्लेषजनक-क्रियानिष्ठ-तद्व्यक्तित्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताकाभावस्य 'तत्क्रिया नास्ति' इत्याकारकस्य तत्तन्मेषे सत्त्वान्न कश्चिद्दोष

इति भावः। क्रियाया एकत्वादिति। वस्तुतस्तु आश्रयभेदेन क्रियाभेदसत्त्वे तत्तन्मेष-निष्ठव्यापारयोर्भेदेऽपि सृधातुना निवृत्तभेदस्यैवापायस्योपादानादुभयोरपि तत्क्रिया-श्रयत्वेन परत्वात् कर्तृत्वापत्तिरिति भावः। अतएव = क्रियाभेदाभावादेवेत्यर्थः।

अवधिः = अपादानत्वशक्तिमानित्यर्थः। पूर्वोक्तानां वाक्यानां स्वाभिमतं शाब्दबोधं प्रदर्शयति—वृक्षावधिकमिति।॥ इत्यपादानकारकविचारः॥

कुछ आचार्य जो यह [कहते हैं]—'गति = क्रिया का आश्रय न होते हुए उस क्रिया से जन्य विभाग का आश्रय होना अपादान होना है।' [किन्तु] यह [ठीक] नहीं है, क्योंकि उस वाक्य में [परस्परस्मात् मेषौ अपसरतः, पर्वतात् पततोऽश्वात् पतति अश्ववाहः] में मेष और अश्व की अपादानता नहीं हो सकेगी [क्योंकि यहाँ मेष अपसरण क्रिया का आश्रय है अतः परस्परपदवाच्य मेषों का अपादानत्व सम्भव नहीं है और अश्व पतन क्रिया का आश्रय है। अतः उसका भी अपादानत्व सम्भव नहीं होगा।]

भूषणकारादि का खण्डन

[भूषणकारादि] जो भी कहते हैं—'अपसरतः' यह सृ धातु से दोनों गतियों [अपसरणों] का उपादान [ग्रहण] होने से एक में रहने वाली गति = अपसरण क्रिया के प्रति दूसरे का अपादान होना विरुद्ध नहीं है।' [किन्तु] यह [कथन ठीक] नहीं है, क्योंकि [अपसरण] क्रिया एक है। [धातु द्वारा भेदरहित ही क्रिया की प्रतीति होती है] इसीलिये "तिङन्त एकशेष शास्त्र को बनाने में कारण नहीं होते हैं, क्योंकि क्रिया एक ही रहती है" [म० भा० १।२।६४] यह भाष्य संगत होता है।

[अपादान में विहित] पञ्चमी का अर्थ है—अवधि। वृक्षरूप अवधिवाली, पर्ण रूप कर्तावाली पतन क्रिया—यह [शाब्द] बोध [होता है]। पर्वतरूप अवधि-वाली पतन क्रिया के आश्रय से अभिन्न जो अश्व, उस अश्वरूप अवधिवाली, अश्व-वाहरूपी कर्तावाली पतन क्रिया—यह शाब्दबोध होता है। परस्पर [-पदवाच्य] मेषरूप अवधिवाली द्वित्वावच्छिन्न [दो] मेषरूपी कर्ता वाली अपसरण क्रिया—यह बोध होता है। यह दिग्दर्शन है।

विमर्श—भूषणकारादि का यह आशय है कि यहाँ विभाग यद्यपि एक ही है तथापि एक मेष में जो विभागजनक क्रिया है उसके प्रति दूसरा मेष अवधि है और दूसरे मेष में जो विभागजनक क्रिया है उसमें पहला मेष अवधि है। अतः अपादानत्व उपपन्न हो जाता है। परन्तु नागेश इसका खण्डन करते हैं। इनका यह मत है कि एक धातु से दो क्रियाओं की प्रतीति नहीं होती है। अर्थात् आश्रयभेद से क्रिया-भेद उत्पन्न होजाने पर भी स्वतः क्रिया में भेद नहीं होता है। इसीलिये भाष्यकार

ने "सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ" [पा० सू० १।२।६४] इस सूत्र में यह कहा है कि तिङन्त शब्द एकशेष आरम्भ करने में प्रयोजक नहीं होते हैं क्योंकि क्रिया एक ही रहती है। इसलिये नागेश का यह कथन है कि जब ज्ञानमात्र शब्दानुबिद्ध होता है तो यहाँ भी शब्द को उपाधि मानकर अपादानत्व सिद्ध करना उचित है। 'परस्पर' शब्दरूपोपाधिवाले की अपादानता और 'मेष'-शब्दरूपोपाधिवाले की कर्तृता है।

'ध्रुवमपायेऽपादानम्' [पा० सू० १।४।२४] इस सूत्र में 'ध्रुव' पद का उल्लेख है। 'स्थैर्य' अर्थवाली ध्रुव् धातु से अच् प्रत्यय करने पर ध्रुव शब्द निष्पन्न होता है। इस प्रकार इसका अर्थ है—अस्थिर, अचल आदि। परन्तु वाक्यपदीयकारादि के अनुसार यह 'ध्रुव' शब्द अवधिभूत अर्थ का वाचक है। उनकी कारिका है—

'अपाये यदुदासीनं चलं वा यदि वाचलम्।
ध्रुवमेवाऽतदावेशात्तदपादानमुच्यते ॥

[सम्प्रति यह कारिका वाक्यपदीय में नहीं है] इस ध्रुवत्व के विषय में भूषणकारादि का मत यह है—प्रकृत-धात्वर्थ-प्रधानीभूत व्यापार का आश्रय न होते हुये प्रकृतधात्वर्थजन्य विभाग का आश्रय होना ध्रुवत्व है। मञ्जूषाकार का मत यह है—अपाय = गतिविशेष होने पर ध्रुव = अवधिभाव के उपगम = प्राप्ति का आश्रय होते हुए उससे भिन्न अवधित्वोपयोगी व्यापार का आश्रय न होना ध्रुव होता है।

इन दोनों का विशेष-विवेचन लघुमंजूषा एवं शेखरादि में है। यहाँ संस्कृत-व्याख्या में देखना चाहिए।

अपादान-कारक का विवेचन समाप्त हुआ।

कर्तृकर्मद्वारकफलव्यापाराधारत्वमधिकरणत्वम्। यथा स्थाल्यामोदनं गृहे पचतीत्यादौ कर्मद्वारकविक्लित्तिरूपफलाधारः स्थाली, कर्तृद्वारकव्यापाराधारो गृहमिति।

ननु साक्षात्क्रियाधारयोरोदनचैत्रयोरधिकरणत्वलब्धौ परम्परया तदाधारयोर्गृहस्थाल्योस्तत्संज्ञा त्वयुक्तेति चेत्, न। परत्वात्कर्तृकर्मसंज्ञाभ्यां साक्षादाधारीभूते बाधात्। स्थाल्यधिकरणिका या ओदननिष्ठा विक्लित्तिस्तदनुकूलो गृहाधिकरणको मैत्रकर्तृको व्यापार इति बोधः।

अपादानकारकविषयकनिरूपणानन्तरमवसरप्राप्तमधिकरणकारकं निरूपयति—कर्तृकर्मद्वारकेति। अत्रेदं बोध्यम्—"सप्तम्यधिकरणे च" [पा० सू० २।३।३६] इति सूत्रेण अधिकरणे सप्तमी विधीयते। अधिकरणञ्च "आधारोऽधिकरणम्" [पा० सू० १।४।४५] इति सूत्रेण ज्ञायते। एतच्च "कारके" [पा० सू० १।४।२३] इति अधिकारसूत्रान्तर्गतम्। एवञ्च कारके = क्रियाजनके एतस्य प्रवृत्त्योपस्थितत्वादाधारः क्रियाया एव ग्राह्यः। किन्तु "स्वतन्त्रः कर्ता" [पा० सू० १।४।५४] "कर्तुरीप्सित-

तमम्" [पा० सू० १।४।४६] इति सूत्रघटकस्वतन्त्रेप्सितपदाभ्यां स्वाश्रयत्वसम्बन्धेन क्रियाधारयोः कर्तृकर्मसञ्ज्ञाभ्यां बाधात् स्वाश्रयाश्रयत्वसम्बन्धेन क्रियाश्रयस्याधिकरणत्वं बोध्यम् । स्वम् = क्रिया, तदाश्रयः कर्ता कर्म च, तदाश्रयः अधिकरणमिति समन्वयः । अत एवोक्तं हरिणा—

कर्तृकर्मव्यवहितामसाक्षाद्धारयत् क्रियाम् ।
उपकुर्वत् क्रियासिद्धौ शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम् ॥
[वा० प० ३।७।१४८]

एतत्सर्वं हृदि निधायैवात्रोक्तं कर्तृद्वारक-व्यापाराश्रयत्वं कर्मद्वारकफलाश्रयत्वञ्चाधिकरणत्वमिति । तदाधारीभूते = क्रियाधारीभूते इत्यर्थः । एतच्च कैयटदीक्षितादिमतमनुसृत्य निरूपितम् । नागेशस्य स्वमतन्तु लघुमञ्जूषायामेवं दृश्यते—"परेतु—अधिकरणस्य कर्त्राद्यन्वये एव कटाधिकरणकं चैत्रकर्तृकं शयनमित्यादिरीत्या बोधः । तद्द्वारकमेवास्य क्रियान्वयित्वम् कारकाणां भावनान्वयव्युत्पत्तिरप्येतच्छास्त्रबलादीदृशपरम्परान्वयविषयापि । अतएव 'अक्षशौण्ड' इत्यादौ समासः । अतएव भाष्ये तत्रासामर्थ्यशङ्का न कृता । एवञ्चात्रान्तर्भूतक्रियाद्वारा सामर्थ्यमिति कैयटादयश्चिन्त्या एव । अक्षशौण्ड अक्षप्रवीण इत्यादौ दध्योदनादाविव क्रियान्तर्भावेण बोधस्याननुभवात् । अक्षविषयकप्रावीण्यवानित्येव प्रतीतेः । ध्वनितं चेदं हरिग्रन्थेऽपीत्युक्तमित्याहु. । उक्तहरिकारिकायां 'व्यवहिताम्' इत्युक्त्वापि 'असाक्षादि' त्युक्तिर्लोकानुसारेणान्वयोऽपि परम्परयैवेति सूचनायेत्यप्याहुः ।

अत्रत्यं तत्त्वम्—अत्र कैयटदीक्षितादिप्राचां मते अधिकरणकारकस्य परम्परासम्बन्धेन [= स्व-वृत्तिवृत्तित्वसम्बन्धेन] साक्षात् क्रियायामन्वयः । नागेशमते तु अधिकरणस्य साक्षात् कर्तृकर्मणोरेवान्वयः, तद्द्वारा क्रियायामन्वयः न तु साक्षात् क्रियायामिति विशेषः । तथा च प्राचीनमते 'अक्षेषु शौण्डः' इत्यत्राक्षपदार्थस्य शौण्डेऽन्वयाभावात् समासो न स्यादिति शौण्डपदस्य आसक्तशौण्डे लक्षणां कृत्वा आसक्तिक्रियारूपे लक्ष्यार्थे शौण्डपदार्थैकदेशे साक्षादन्वयमादाय समास उपपाद्यः । नवीनमते तु अक्षस्य शौण्डरूपे कर्तरि अन्वयः, शौण्डस्य चाऽस्त्यादिक्रियायामन्वय इति न दोष इत्यन्यत्र विस्तर इति प्रभाटीकाकाराः प्राहुः ।

अधिकरण कारक का विवेचन

कर्ता एवं कर्म के माध्यम से [क्रमशः] व्यापार एवं फल का आधार होना अधिकरण होना है । जैसे :—'स्थाल्याम् ओदनं गृहे पचति' [घर में बटलोई में भात पकाता है] इत्यादि में कर्म [ओदन] के माध्यम से विक्लित्ति [= सीझना, गलना] रूप फल का आधार स्थाली है और [चैत्र आदि] कर्ता के माध्यम से व्यापार [पाकानुकूल क्रिया] का आधार गृह है ।

विमर्श—यहाँ विक्लित्तिरूप फल समवाय सम्बन्ध से ओदन में रहता है और ओदन संयोग सम्बन्ध से स्थाली में रहता है। इस प्रकार स्वसमवायिसंयोगरूप [=स्ववृत्ति-वृत्तित्वरूप] परम्परा सम्बन्ध से विक्लित्ति स्थाली में हैं। अतएव यह अधिकरण है। इसी प्रकार चैत्र में क्रिया समवाय सम्बन्ध से है और चैत्र संयोग सम्बन्ध से घर में है। अतः स्व-समवायि-संयोगरूप [स्ववृत्तिवृत्तित्वरूप] सम्बन्ध से व्यापार का आधार घर है। अतः इसकी अधिकरण संज्ञा होती है।

[अनु०] क्रिया [फल एवं व्यापार] के साक्षात् आधारभूत ओदन एवं चैत्र में अधिकरणत्व का लाभ होने पर परम्परया क्रिया [फल एवं व्यापार] के आधार स्थाली एवं गृह की अधिकरण संज्ञा तो ठीक नहीं है, ऐसा यदि [कहते हो तो] नहीं [कह सकते], क्योंकि परवर्ती होने के कारण कर्म एवं कर्तृ संज्ञाओं द्वारा साक्षाद् आधारीभूत में [अधिकरण का] बाध हो जाता है।] स्थालीरूप अधिकरणवाली, ओदन में रहने वाली जो विक्लित्ति, उसका जनक, तथा गृहरूप अधिकरणवाला, मैत्ररूप कर्तावाला व्यापार—यह [शाब्द] बोध [होता है]।

विमर्श—परमलघुमंजूषा में जो मत प्राप्त होता है वह नागेश के अन्य ग्रन्थों से प्रमाणित नहीं होता है। लघुमंजूषादि में तो इन्होंने यह लिखा है कि अधिकरण का कर्ता एवं कर्म आदि में ही अन्वय होता है। इनके माध्यम से ही इसका क्रिया में अन्वय होता है। इसलिये इस सूत्र आदि के आधार पर परम्परया भी कारकों की क्रियान्वय-विषयता मानी जाती है। इसीलिये 'अक्षेषु शौण्डः' अक्षशौण्डः आदि में समास होता है। और इसीलिये भर्तृहरि की निम्न कारिका में 'व्यवहिताम्' ऐसा कह कर भी पुनः 'असाक्षात्' यह विशेषण है—

कर्तृकर्मव्यवहितामसाक्षाद् धारयत् क्रियाम्।
उपकुर्वत् क्रियासिद्धौ शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम्॥

वा० प० ३।७।१४८

दोनों के मतों में अन्तर यह है कि कैयट एवं भूषणकारादि अधिकरण का अन्वय परम्परा-सम्बन्ध अर्थात् स्ववृत्तिवृत्तित्वरूप सम्बन्ध से क्रिया में ही मानते हैं। किन्तु नागेश अधिकरण का अन्वय साक्षात् कर्ता एवं कर्म में मानते हैं और इनके माध्यम से क्रिया में मानते हैं। वस्तुतः कैयट आदि का मत 'क्रियान्वयित्वं कारकत्वम्' आदि के अनुकूल हैं।

तच्चाधिकरणं त्रिधा—अभिव्यापकमौपश्लेषिकं वैषयिकं चेति। तत्र सकलावयवव्याप्तौ व्यापकाधारत्वम्, यथा तिलेषु तैलमस्तीत्यादि। उप=समीपे श्लेषः सम्बन्धः—उपश्लेषस्तत्कृतमौपश्लेषिकम्। अत एव 'इको यणचि' [पा० सू० ६।१।७७] इत्यादावौपश्लेषिकाधारे सप्तम्युक्ता 'संहितायाम्' [पा० सू० ६।१।७२]

इति सूत्रे भाष्ये। तत्राजादिसामीप्यमेवेगादीनाम्। 'यन्मासेऽतिक्रान्ते दीयते तस्य मास औपश्लेषिकमधिकरणम्--मासिकं धान्यम्' इत्युक्तम् 'तत्र च दीयते' [पा० सू० ५।१।९६] इति सूत्रे भाष्ये।

यत्तु--कटे आस्ते इत्यौपश्लेषिकोदाहरणमुक्तं कैयटेन, तदयुक्तम्, उक्तभाष्य-विरोधात्। एतद्द्वयातिरिक्तं वैषयिकमधिकरणम्। कटे आस्ते, जले सन्ति मत्स्या इत्यादि। अभिव्यापकातिरिक्तं गौणमधिकरणमिति बोध्यम्। सप्तम्य-र्थोऽधिकरणमिति दिक्।

त्रिधेति। अत्र मूलन्तु "संहितायाम्" [पा० सू० ६ १।७२] इतिसूत्रस्थं भाष्यम्। तत्र हि—"अयं योगः शक्योऽवक्तुम्। कथम्! अधिकरणं नाम त्रिप्रकारकम्-व्यापकम्, औपश्लेषिकम्, वैषयिकमिति। शब्दस्य च शब्देन कोऽन्योऽभिसम्बन्धो भवितुमर्हत्यन्यदत उपश्लेषात्। 'इको यणचि' [पा० सू० ६।१।७७] अचि उपश्लिष्टस्येति।" एवमेव "तदस्मिन्नधिकमिति दशान्ताड्डः' [पा० सू० ५।२।४५] इति सूत्रभाष्येऽपि—स तर्हि पञ्चमीनिर्देशः कर्तव्यः। न कर्तव्यः। यद्यपि तावद्वैषयिके व्यापके वाऽधिकरणत्वे सम्भवो नास्ति, औपश्लेषिकमधिकरणं विज्ञास्यते—एकादश कार्षापणा उपश्लिष्टा अस्मिञ्छते—एकादशं शतमिति॥"

ननु अधिकरणस्य त्रैविध्ये गौणमुख्यविचारप्रसङ्ग इति चेदत्रोच्यते—'स्वरितेना-धिकारः' [पा० सू० १।३।११] इति सूत्रे भाष्ये "अधिकरणमाचार्यः किं न्याय्यं मन्यते? यत्र कृत्स्न आधारात्मा व्याप्तो भवति। तेनेहैव स्यात्—तिलेषु तैलम्, दध्नि सर्पिरिति। गङ्गायां गावः, कूपे गर्गकुलमित्यत्र न स्यात्। स्वरितेनाधिकं कार्यं भवती-त्यत्रापि सिद्धं भवति अधिकं कार्यमिति। एवमेव "साधकतमं करणम्" [पा० सू० १।४।४२] इति सूत्रे भाष्येऽपि "तथाऽऽधारमाचार्यः किं न्याय्यं मन्यते? यत्र कृत्स्न आधारात्मा व्याप्तो भवति। तेनेहैव स्यात्—तिलेषु तैलं, दध्नि सर्पिरिति। गङ्गायां गावः, कूपे गर्गकुलमित्यत्र न स्यात्। कारकसञ्ज्ञायां तरतमयोगो न भवतीत्यत्रापि सिद्धं भवति।" एवञ्चैतत्सूत्राणां भाष्येणेद सुस्पष्टं भवति यत् त्रयाणां सप्तमीशक्य-त्वेऽपि अभिव्यापकाधारस्यैव मुख्यत्वमिति। सकलावयवेति। सर्वावयवावच्छेदेनाधेय-सम्बन्धाश्रयः। परिष्कृतमभिव्यापकत्वम्—अवच्छेदकत्वसम्बन्धावच्छिन्ना आधेयत्व-निष्ठा या व्याप्यता तन्निरूपित-समवायसम्बन्धावच्छिन्ना या व्यापकता, तच्छालित्व-मभिव्यापकत्वम्। अवच्छेदकता च यावदवयवनिष्ठा ग्राह्या, यथा 'तिलेषु तैलम्' इत्यत्र यावदवयवावच्छेदेन तिले आधारे तैलस्य आधेयस्य सत्त्वात्। तैलनिष्ठा आधेयता अवच्छेदकतासम्बन्धेन यावदवयवेषु, तत्रैव समवायसम्बन्धेन तिलस्यापि सत्ता, अवय-वावयविनोः समवायनियमात्। तिलः समवायसम्बन्धावच्छिन्न-व्यापकता-शालीत्यभि-व्यापकत्वं तस्मिन्निति समन्वय ऊह्यः। उपगतः श्लेषः—उपश्लेषः, तत आगतमौप-

श्लेषिकम् । 'तत आगत' इत्यर्थेऽध्यात्मादित्वाट्ठञ् । यद्यपि उपश्लेषादागतमधिकरणत्वं न त्वधिकरणं तथापि धर्मधर्मिणोरभेदमादायाधिकरणेऽपि तथात्वम् । "इको यणचि" [पा० सू० ६।१।७७] इत्यादावपि इङ्निरूपितकालिक-सामीप्यावच्छेदेन संयोगस्यापि सत्त्वादौपश्लेषिकाधिकरणत्वम् । शब्दस्य गुणत्वपक्षे तु श्लेषपदेन सम्बन्धमात्रस्य ग्रहणात् स्वाव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्धेनौपश्लेपिकाधिकरणत्वं बोध्यम् । एकदेशावच्छेदेन श्लेषेऽप्यौपश्लेषिकम् । तत्र श्लेषस्य समीपमुपश्लेषम् । आरोपितश्लेष इत्यर्थः । तत आगतम्—औपश्लेषिकम् । एकदेशावच्छेदेन सम्बन्धस्यावयविनि आरोपः । यथा कटे शेते इत्यत्रावयववृत्तिसंयोगस्य अवयविनि कटे आरोपः । तत्कृतं कटात्मकमौपश्लेषिकमधिकरणमिति बोध्यम् । एवमेव गंगैकदेशे तरन्तीषु गोषु कूपैकदेशेस्थिते गर्गकुले—गङ्गायां गावः, कूपे गर्गकुलमित्यादौ बोध्यम् ।

निराकर्तुं कैयटमतमाह—यत्त्विति । भाष्यविरोधादिति । भाष्योक्तरीत्या तु सामीप्याधिकरणे एव औपश्लेषिकत्वं भवति कटे आस्ते इत्यत्र तु संयोगः प्रतीयते । एवञ्चात्र वैषयिकमधिकरणत्वं बोध्यमिति भावः । वस्तुतस्तु उपयुक्तरीत्यात्रैकदेशावच्छेदेन श्लेषेऽप्यौपश्लेषिकमधिकरणं बोध्यमिति कैयटमतेऽपि न दोषः । स्वाभिमतेनाह—एतद् द्वयेति । अभिव्यापकौपश्लेषिकातिरिक्तमित्यर्थः । मूले वृक्षः कपिसंयोगयस्तीत्यादावव्याप्यवृत्तिधर्मवत्कर्तृकक्रिया-समभिव्याहारे मूलाधिकरणककपिसंयोग-विशिष्टवृक्षकर्तृका सत्तेति बोधेऽन्यत्रावयवे तद्विशिष्टवृक्षाभावः प्रतीतेः । कपिसंयोगे तदवच्छेद्यत्वं फलतीति बोद्धव्यम् । शिरसि मे वेदनेत्यादाववच्छेदकतासम्बन्धस्याप्याधारतानियामकत्वान्न दोषः । ग्रामं प्रविशतीत्यादौ कर्मणो ग्रामस्य न कदाप्यधिकरणत्वम् । परया कर्मसंज्ञया बाधात् कर्मद्वारा क्रियाश्रयत्वविवक्षायां संयोगरूपफलाश्रयत्वं विनाऽसम्भवात् । एवं ग्रामं गच्छतीत्यादावपि । इदं च "आ कडारा" [पा० सू० १।४।१] "हृद्द्युभ्याम् च" [का० वा० ६।३।९।१] इत्यत्र च स्पष्टमित्यन्यत्रविस्तरः ।

अधिकरण के तीन भेद

और यह अधिकरण तीन प्रकार का होता है—(१) अभिव्यापक (२) औपश्लेषिक और (३) वैषयिक । [इन तीनों] में—समस्त अवयवों में [आधेय पदार्थ की] व्याप्ति [रहने] में व्यापक [=अभिव्यापक] आधारता [है], जैसे— तिलों में तेल है' इत्यादि । [यहाँ तिल के प्रत्येक अवयव में तैल रहता है अतः तिल अभिव्यापक आधार होता है ।] उप=समीप में श्लेष=सम्बन्ध—उपश्लेष, उससे किया गया—औपश्लेषिक है । [अर्थात् सामीप्यादि-सम्बन्ध से आधेय का आधार औपश्लेषिक आधार कहा जाता है ।] इसीलिये 'इको यणचि' [पा० सू० ६।१।७७] यहाँ औपश्लेषिक आधार में सप्तमी 'संहितायाम्' [पा० सू० ६।१।७२] सूत्र-भाष्य में कही गयी है । वहाँ अच् आदि का सामीप्य ही इक् आदि का है । [अर्थात् सुधी+

उपास्यः आदि में अच् 'उ' के समीप ही 'ई' [इक्] है अतः सामीप्य सम्बन्ध से 'ई' अच्=उ में रहता है। 'महीना बीत जाने पर जो दिया जाता है, महीना उसका औपश्लेषिक अधिकरण है—मासिकं धान्यम्। महीना बीत जाने पर दिया जाने वाला धान्य] ऐसा 'तत्र च दीयते' [पा० सू० ५।१।९६] इस सूत्र पर भाष्यमें है।

'कटे आस्ते' [चटाई पर बैठता है] यह जो औपश्लेषिक का उदाहरण कैयट ने कहा है, वह ठीक नहीं है क्योंकि उक्त भाष्य से विरोध है। [चटाई पर बैठने में सामीप्य सम्बन्ध नहीं अपितु संयोग है। अतः औपश्लेषिक मानना ठीक नहीं है।] इन [अभिव्यापक और औपश्लेषिक] दोनों से भिन्न वैषयिक अधिकरण [होता है]। जैसे 'कटे आस्ते' [चटाई पर बैठता है] 'जले मत्स्याः सन्ति' [पानी में मछलियाँ हैं] इत्यादि। अभिव्यापक के अतिरिक्त [दोनों] गौण अधिकरण हैं—ऐसा समझना चाहिये। सप्तमी का अर्थ—अधिकरण है। यह दिग्दर्शन है।

विमर्श—तीन प्रकार के आधारों के अनुसार अधिकरण भी तीन प्रकार के होते हैं। अब प्रश्न यह है कि इनमें मुख्य कौन है और गौण कौन ? 'साधकतमं करणम्' [पा० सू० १।४।४२] इस सूत्र के भाष्य में यह लिखा है कि आचार्य किस आधार को प्रमुख=न्याय्य मानते हैं ? उत्तर है जहाँ आधेय आधार को पूर्ण रूप से व्याप्त कर लेता है; जैसे—तिलों में तेल, दही में घी। अतः 'गंगा में गायें, कुआँ में गर्गकुल' आदि में अधिकरणत्व का उपपादन कठिन है। अतः प्रस्तुत सूत्र के अनुसार यह सिद्ध होता है कि कारक प्रकरण में 'तरप्-तमप्' योग अर्थात् गौण-मुख्य का विचार नहीं किया जाता है। अतः सर्वत्र अधिकरण-सप्तमी हो जाती है।]

ज्ञापकक्रियाश्रयवाचकादुत्पन्नायाः सत्सप्तम्यास्तु क्रियान्तरज्ञापकत्वमर्थः। तत्रानिर्णीतकालिकायाः क्रियाया निर्णीतकालिका [क्रिया] ज्ञापिका। गोषु दुह्यमानासु गत इत्यादौ गोनिष्ठदोहनक्रियाज्ञापितगमनाश्रयश्चैत्र इति बोधः।

"यस्य च भावेन भावलक्षणम्" [पा० सूः २।३।३७] इत्यस्य लक्ष्यं निरूपयति—ज्ञापकेति। यस्य क्रियया क्रियान्तरं लक्ष्यते ततः क्रियान्तरलक्षकक्रियाश्रयवाचकात् सप्तमी भवतीति सूत्रार्थः। अस्मादेव एतद्विहितसप्तम्याः क्रियान्तर-ज्ञापकत्वमर्थ इति लभ्यते। गोषु दुह्यमानासु गत इत्यादावुभयोरपि पदयोर्ज्ञापकक्रियाश्रयवाचकत्वादुभाभ्यामपि सप्तमी, निर्ज्ञातदेशकालक्रिया अनिर्ज्ञातकालक्रियायाः सम्बन्धिदेशकालपरिच्छेदकत्वेन लक्षणमिति बोध्यम्। एतेन—भूयोदर्शनाश्रयत्वात् ज्ञाप्यज्ञापकभावस्य 'उदिते आदित्ये तमो नष्टम्' इत्यादावेव स्यात् न त्वत्र कदाचिद्धि गोषु दुह्यमानासु असौ गत इत्यपास्तम्। ज्ञापकत्वं च तत्तत्शब्दबोध्यत्वेन विवक्षितमेवैतच्छास्त्रप्रवृत्तौ निमित्तं न तु तस्य मानान्तरेण नियमतो ग्रहणापेक्षेति नेदं भूयोदर्शनाश्रयम्। ज्ञाप्यज्ञापकभावः सप्तम्यर्थोऽत्रेति बोद्धव्यम्। इत्यधिकरणकारकविचारः।

अनु०—['यस्य च भावेन भावलक्षणम्' पा० सू० २।३।३७ का विचार प्रस्तुत है—] ज्ञापक [अज्ञात क्रिया के देश एवं काल का ज्ञान कराने वाली] क्रिया के आश्रय के वाचक [शब्द] से उत्पन्न 'सति सप्तमी' का अर्थ है—अन्य क्रिया का ज्ञापक होना। यहाँ अनिश्चित कालवाली क्रिया की ज्ञापिका निश्चित कालवाली क्रिया होती है। जैसे—'गायों के दुहे जाने पर गया [गोषु दुह्यमानासु गतः] इत्यादि में—गायों में रहनेवाली दोहन क्रिया से ज्ञापित गमन क्रिया का आश्रय चैत्र—यह बोध होता है।

विमर्श—कभी-कभी किसी क्रिया का देश अथवा समय ज्ञात रहता है और किसी का नहीं। ऐसी स्थिति में निश्चित देश एवं कालवाली क्रिया ज्ञापिका होती है और अनिश्चित देश एवं कालवाली ज्ञाप्य होती है। जैसे किसी को चैत्र के जाने का समय नहीं मालूम है। वह प्रश्न करता है—कदा गतः? उत्तर है—"गोषु दुह्यमानासु गतः।" गायों के दुहे जाने का समय प्रातः एवं सायं निश्चित है। अतः इस गोदोहन क्रिया से चैत्र की गमन क्रिया का ज्ञान हो जाता है। ऐसी स्थिति तीनों कालों में सम्भव है, अतः तीनों कालों में ज्ञापिका क्रिया के आश्रयभूत कर्ता एवं कर्म के वाचक शब्दों से सप्तमी होती है।

अधिकरण-कारक का विवेचन समाप्त।

कारकप्रातिपदिकार्थव्यतिरिक्तः स्वस्वामिभावादिः सम्बन्धः षष्ठ्या वाच्यः। तत्र राज्ञः पुरुष इत्यादौ षष्ठीवाच्यसम्बन्धस्याश्रयाश्रयिभावसम्बन्धेन पुरुषेऽन्वयः। राजनिरूपितसम्बन्धवान् पुरुष इति बोधात्।

अन्ते शेष-षष्ठ्यर्थं निरूपयति—कारकेति अत्रेदं बोध्यम्—"षष्ठी शेषे" [पा० सू० २।३।५०] इति सूत्रे भाष्ये "कः शेषः?" इति प्रश्ने 'उपयुक्तादन्यः शेषः' इत्युच्यते। उपयुक्तत्वञ्च पूर्वं कारकप्रातिपदिकार्थयोः। अतस्तद्व्यतिरिक्तः स्वस्वामिभावादिः सम्बन्ध एव शेषपदार्थः, तादृशसम्बन्धवाचिका षष्ठीति सूत्रार्थः। यथा खलु 'राज्ञः पुरुषः' इत्यादौ कर्तृत्वादिकारकशक्तिभ्योऽन्यः प्रातिपदिकार्थाच्चान्यः स्व-स्वामिभावादिरूपः सम्बन्ध एव शेषपदार्थः। यद्यपि कुत्रापि कारकप्रातिपदिकार्थाभ्यां व्यतिरिक्तोऽर्थो न सम्भवति। तथाहि—राज्ञः पुरुषः इत्यत्रापि राजा कर्ता, पुरुषः सम्प्रदानम्,—राजा पुरुषाय ददातीति सम्प्रत्ययात्। एवं पुरुषः कर्ता राजा कर्म—पुरुषो राजानं सेवते' इति सम्प्रत्ययाच्च। एवञ्च सम्बन्धस्यापि कर्तृत्व-कर्मत्वादिशक्तिरूपतैव प्रतीयते तथापि सतोऽपि क्रियाकारकभावस्य कर्मत्वादि-तत्तद्-विशेषरूपेणाविवक्षायां कर्मत्वादितत्तद्व्यापक-सम्बन्धत्वेन रूपेण विवक्षायां स्वस्वामिभावादितत्तद्रूपेण विवक्षायां च स्वस्वामिभावादिर्नाम शेषपदार्थः प्रसिद्धत्येव। तत्रत्यं भाष्यम्—"शेष इत्युच्यते। कः शेषः? कर्मादिभ्यो येऽन्येऽर्थाः स शेषः। यद्येवं शेषो

न प्रकल्पते। न हि कर्मादिभ्योऽन्येऽर्थाः सन्ति। इह तावत् राज्ञः पुरुष इति राजा कर्ता पुरुषः सम्प्रदानम्। वृक्षस्य शाखा इति, वृक्षः शाखायाः अधिकरणम्। तथा यदेतत् स्वं नाम चतुर्भिरेतत्प्रकारैर्भवति—क्रयणाद् अपहरणाद्, याञ्चायाः विनिमयादिति। अत्र च सर्वत्र--कर्मादयः सन्ति। एवं तर्हि कर्मादीनामविवक्षा शेषः। कथं पुनः सतो नामाविवक्षा स्यात्। सतोऽप्यविवक्षा भवति तद्यथा—अलोमिका एडका, अनुदरा कन्येति।'' सम्बन्धश्च सर्वत्र क्रियाकारकभावमूलक एव प्रतीयते। तदुक्तं हरिणा—

सम्बन्धः कारकेभ्योऽन्यः क्रियाकारकपूर्वकः।

श्रुतायामश्रुतायां वा क्रियायां सोऽभिधीयते॥ वा० प० ३।७।१५६

अत्र प्रभाटीकाकारः—शेषषष्ठ्या क्वचित् सम्बन्धसामान्यरूपेण सम्बन्धवाचकता। यथा—मातुः स्मरतीत्यादौ मातृ-सम्बन्धि-स्मरणमित्येव बोधः। क्वचिच्च विशेष-रूपेण स्वत्वत्वादिना सम्बन्धवाचकता। यथा 'राज्ञः पुरुष' इत्यादौ। सर्वत्र सम्बन्ध-सामान्येनैव बोधकत्वे तु चैत्रेण रक्षिते मैत्रीयहस्त्यादौ 'नेदं चैत्रस्य धनम्' इति प्रयोगः सङ्गच्छते। अन्यथा चैत्रसम्बन्धस्यापि तत्र हस्त्यादौ सत्त्वेन निषेधानुपपत्तिः। स्वत्वत्वेन स्वत्वस्य भाने तु चैत्रीयस्य पाल्यपालकभावसम्बन्धस्य सत्त्वेपि तदीय-स्वत्वस्याभावान्निषेधोपपत्तिः।

सम्बन्ध-षष्ठी का विवेचन—

[कर्मादि] कारक एवं प्रातिपदिकार्थ से भिन्न [शेष =] स्व-स्वामिभाव आदि सम्बन्ध षष्ठी का वाच्य है। इसमें 'राज्ञः पुरुषः' [राजा का पुरुष] इत्यादि में षष्ठी के वाच्य [अर्थभूत स्व-स्वामिभाव] सम्बन्ध का आश्रयाश्रयिभाव सम्बन्ध से पुरुष में अन्वय होता है, क्योंकि 'राजा के [= राजनिरूपित] सम्बन्धवाला पुरुष'—यह बोध होता है।

ननु सम्बन्धस्योभयनिष्ठत्वात् पुरुषशब्दादपि षष्ठ्युत्पत्तिरस्त्विति चेत्, न। राजसम्बन्धिपुरुष इति विवक्षायां राजशब्दादेव षष्ठी, 'प्रकृत्यर्थप्रत्ययार्थयोः प्रत्यार्थस्यैव प्राधान्यम्' इति व्युत्पत्त्यनुरोधात्। अन्यथा तद्विवक्षायां राजा पुरुषस्येति पुरुषशब्दात् षष्ठ्यां पुरुषार्थं प्रति षष्ठ्यर्थस्य विशेषणत्वापत्त्या व्युत्पत्तिभङ्गापत्तेः। अत एवाह—

भेद्यभेदकयोश्चैकसम्बन्धोऽन्योन्यमिष्यते।

द्विष्ठो यद्यपि सम्बन्धः षष्ठ्युत्पत्तिस्तु भेदकात्॥ इति॥

भेदकः सम्बन्धनिरूपको, भेद्यः सम्बन्धाश्रयः।

[इति कारकार्थनिरूपणम्]

पुरुषादि-विशेष्यवाचकात् षष्ठीं वारयितुमारभते—नन्विति। अयं भावः—सम्बन्धो हि सम्बन्धिभ्यां भिन्नः, द्विष्ठः, विशिष्टबुद्धि-नियामकश्च। एवञ्च प्रकृते यथा राजशब्दात् षष्ठी उत्पद्यते तथैव पुरुषशब्दादपि तदुत्पत्तिः कथं नेति जिज्ञासायां हरिणा समाहितम्—

> द्विष्ठोऽप्यसौ परार्थत्वाद् गुणेषु व्यतिरिच्यते।
> तत्राभिधीयमानश्च प्रधानेऽप्युपयुज्यते ॥ [वा० प० ३।७।१५७]

अस्या अर्थः—भेदे सति विशेषणतया विवक्षितस्य सम्बन्धं विना विशेषणत्वासम्भवेन तदाकाङ्क्षतत्वात् विशेषणे सम्बन्धः उद्भूततया प्रतीयते इति विशेषणे एव षष्ठी। विशेष्ये तु पदान्तरासमभिव्याहारे स्वार्थनिरूपितविशेष्यत्वेन भासमानत्वरूपस्वनिष्ठत्वादेव न विशेष्यता-नियामक-सम्बन्धाकाङ्क्षा। तत्र विशेषणे षष्ठ्यादिनांशतः प्रतीयमानः प्रधाने [विशेष्येऽपि] उपयुज्यते अर्थात् तस्य द्विष्ठत्वस्वभावत्वाद् राजादि-निरूपित-विशेष्यतायाः राजादि-पदसन्निधाने प्रतीयमानायाः उपकारको भवतीत्यर्थः। राज्ञः इत्यादेस्तु पदान्तर-समभिव्याहारं विनापि अध्याहृतसम्बन्धि-सामान्यनिरूपित-विशेषणत्व-प्रतीतिरिति विशेषः। राज्ञः इति हि स्वामित्वमवगम्यमानमन्यथानुपपत्त्यैव पुरुषे स्वत्वमवगमयति। अतः सम्बन्धस्य बहिरङ्गत्वात् पुरुषादन्तरङ्गा प्रथमैव। एवञ्च राजस्वामिकमिति ततो बोधः। अत एवाग्रे 'किं तदि' ति विशेषजिज्ञासा, पुरुषादिपदैश्च तन्निवृत्तिः।

एवञ्च सर्वत्र सम्बन्धिद्वयवृत्तिधर्म-समूहः सम्बन्धिनोर्भेदे सम्बन्धः। स्पष्टञ्चेदं "यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनमि" । [पा० सू० २।३।९] ति सूत्रे भाष्ये। तत्र हि अधिब्रह्मदत्ते पाञ्चालाः इत्यत्रानेन ब्रह्मदत्ते सप्तम्यां पञ्चालाद् द्वितीया प्राप्नोति। अधेर्द्योत्यस्य ब्रह्मदत्तनिष्ठस्य सम्बन्धस्य सप्तम्योक्तत्वेऽपि तद्द्योत्यस्य पञ्चालनिष्ठसम्बन्धस्य तयाऽसम्प्रत्यात्। उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसीति समाहितमित्यन्यदेतदित्यादिविस्तरस्तु लघुमञ्जूषायाम्।

अपि च, विवक्षानुरोधिनी विभक्तिरिति सिद्धान्तात् राजसम्बन्धिपुरुष इति विवक्षायां राजशब्दादेव षष्ठी, यतो हि 'प्रकृति-प्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतस्तत्र प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यमि' ति व्युत्पत्त्यनुरोधात् सम्बन्धार्थस्य बोधनार्थं राजशब्दादेव षष्ठी—राजा सम्बन्धे विशेषणम्, सम्बन्धश्च पुरुषे, राजसम्बन्धी पुरुष इति शाब्दबोधानुभवात्। तदविवक्षायाम्=राजसम्बन्धिपुरुष इति विवक्षायां व्युत्पत्तिभङ्गापत्तेः=प्रकृति-प्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतस्तत्र प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यमिति व्युत्पत्तिभङ्गापत्तेरित्यर्थः। अत एव=विशेषणवाचकादेव षष्ठ्युत्पत्तिस्वीकारादेवेत्यर्थः।

कारिकार्थः—भेद्यभेदकयोः=भेद्यम्=विशेष्यं भेदकम्=विशेषणम्, तयोः एकसम्बन्धः स्वस्वामिभावादिरूपः अन्योन्यम्=परस्परम् इष्यते। यद्यपि सम्बन्धः

द्विष्ठः = द्विनिष्ठः, तु = किन्तु भेदकात् = विशेषणादेव षष्ठ्युत्पत्तिरिति भावः। कारिकामूलन्तु मृग्यम्।

विदुषां विनोदाय लघुमञ्जूषोक्तं किञ्चित् प्रस्तूयते—संयोगो न सम्बन्धः। सम्बन्धस्य पदार्थयोजनामात्रहेतुत्वात् संयोगस्य स्वतः पदार्थत्वात्। सांसर्गिकविषयतया तस्याभानाच्च। सम्बन्धश्च षष्ठ्यादिभिरेवोच्यते। सम्बन्धपदेनापि सांसर्गिकविषयतावत्त्वेन नोच्यते इति सम्बन्धः सर्वथा पदागम्यः। संयोगस्तु न कदापि षष्ठ्यादिभिस्तया विषयतयोच्यते, इमौ संयुक्ताविव्येव तत्र व्यवहारात्। तत्र सम्बन्धत्वव्यवहारस्तु उभयाश्रितत्वरूपधर्मवत्त्वाद् गौणः। अतएव "मतुप्" [पा० सू० ५।२।९४] इति सूत्रे वृक्षवान् पर्वत इत्याद्यर्थं सप्तम्युपादानं गोमान् देवदत्त इत्याद्यर्थं च षष्ठ्युपादानमिति भाष्ये उक्तम्। षष्ठ्यर्थश्च सांसर्गिकविषयतयैव भासते। अत एव "षष्ठी शेषे" [पा० सू० २।३।५०] इति सूत्रे भाष्ये राज्ञः पुरुष इत्यत्र राजा विशेषणं पुरुषो विशेष्य इत्युक्तम्। अन्यथा सम्बन्धं विशेष्यतया विशेषणतया वा ब्रूयादिति प्राहुः।

'द्रोणो व्रीहिरित्यादौ पदद्वयोपस्थाप्यव्यक्त्योरेकत्वेन सम्बन्धाभावेऽपि विशेष्यविशेषणभावो बोध्यः।

यत्तु—अभेदसम्बन्धेनान्वय इति, तन्न। तस्य सम्बन्धत्वे मानाभावात्, सम्बन्धिभेदनियतत्वात् सम्बन्धस्य। अत एव "आद्यन्तवत्" [पा० सू० १।१।५१] सूत्रे राहोः शिर इत्यादौ षष्ठ्युपपादनाय व्यपदेशिवद्भाव इति भाष्ये उक्तम्। किञ्च तस्य सम्बन्धत्वे नीलो घट इत्यादौ षष्ठ्यापत्तिः। भेदमूलकसम्बन्ध एव षष्ठीत्यर्थस्य सूत्रतो वाच्यवृत्त्याऽलाभावात्। अत एव तार्किकनव्यैरपि कर्मधारयोत्तरभावप्रत्ययस्य पदार्थतावच्छेदकसामानाधिकरण्यवचनत्वं कृत्तद्धितसमासेभ्यः सम्बन्धाभिधानं भावप्रत्ययेनेत्यभियुक्तोक्तेरित्युक्तम्।

अभेदस्य सम्बन्धत्वेन भाने तस्यैव तद्उरभावप्रत्ययवाच्यता युक्ता राजपौरुष्यमित्यादौ पूर्वोत्तरपदार्थयोः सम्बन्धस्येवेति दिक्। विशेषजिज्ञासुभिस्तत्रैव विस्तरो द्रष्टव्य इत्यलम्। इति षष्ठ्यर्थविचारः।

॥ इति आचार्यजयशङ्करलाल-त्रिपाठि-विरचितायां भावप्रकाशिका-
व्याख्यायां कारकार्थविचारः समाप्तः ॥

[स्व स्वामिभाव] सम्बन्ध उभय [= राजा एवं पुरुष दोनों] में रहने वाला है अतः [राजा शब्द के समान ही] पुरुष शब्द से भी षष्ठी [विभक्ति] की

उत्पत्ति होनी चाहिये—यदि ऐसा [कहते हो] तो नहीं [कह सकते], क्योंकि 'राजा का सम्बन्धी पुरुष' ऐसा कहने की इच्छा में 'राजा' शब्द से ही षष्ठी होती है; कारण यह है कि 'प्रकृत्यर्थ एवं प्रत्ययार्थ में प्रत्ययार्थ ही प्रधान होता है' ऐसी व्युत्पत्ति का अनुरोध है। यदि ऐसा नहीं करते हैं तो 'राजसम्बन्धी पुरुष' इस अर्थ की विवक्षा में 'राजा पुरुषस्य'-यहाँ पुरुष शब्द से षष्ठी [होने] में पुरुष पदार्थ के प्रति षष्ठ्यर्थ सम्बन्ध विशेषण होने लगेगा जिससे [उपर्युक्त] व्युत्पत्ति भंग होने लगेगी। (विशेषण से ही षष्ठी होती है) इसीलिये [भर्तृहरि ने] कहा है—

भेद्य [विशेष्य] और भेदक [विशेषण] दोनों में परस्पर एक सम्बन्ध इष्ट है। [वह] सम्बन्ध यद्यपि द्विष्ठ [विशेष्य एवं विशेषण दोनों में रहनेवाला] है तथापि षष्ठी विभक्ति तो [केवल] भेदक = विशेषणवाचक से ही उत्पन्न होती है।

भेदक = सम्बन्ध का निरूपक [प्रतियोगी, विशेषण होता है] और भेद्य = सम्बन्ध का आश्रय [= अनुयोगी, विशेष्य] होता है। [यह कारिका वाक्यपदीय में नहीं है।]

विमर्श—'षष्ठी शेषे' [पा० सू० २।३।५०] यह सूत्र शेष अर्थ में षष्ठी का विधान करता है। भाष्य में शेष की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि 'उपयुक्त से भिन्न शेष होता है'। पहले प्रातिपदिकार्थ एवं कारक में प्रथमा एवं द्वितीयादि विभक्तियाँ की जा चुकी हैं। अब इनसे जो अर्थ बचता है उसे ही शेष मानना चाहिये। यह अर्थ है—सम्बन्ध। यह अनेक प्रकार का होता है।

यद्यपि सामान्यतया सर्वत्र कारक एवं प्रातिपदिकार्थ रहता ही है। जैसे—'राज्ञः पुरुषः' यहाँ भी राजा कर्तृकारक है, पुरुष सम्प्रदान कारक है क्योंकि राजा पुरुष को कुछ देता है—ऐसा ज्ञान होता है। और पुरुष राजा की सेवा करता है। इसलिए पुरुष कर्ता है और राजा कर्म है, यह भी ज्ञान होता है। इस प्रकार सम्बन्ध की भी कर्तृत्व एवं कर्मत्वादि—शक्तिरूपता ही सिद्ध हो जाती है। तथापि विद्यमान भी क्रिया-कारक-भाव की कर्मत्वादि तत्तद्रूप से अविवक्षा में तथा स्वस्वामिभावादि तत्तत् सम्बन्ध रूप से विवक्षा में यह सम्बन्ध शेष पदार्थ सिद्ध हो जाता है। इसी का वाचक षष्ठी है। सम्बन्ध के मूल में क्रिया-कारक-भाव रहता है, यह भर्तृहरि ने भी कहा है—

'सम्बन्धः कारकेभ्योऽन्यः क्रियाकारक-पूर्वकः।
श्रुतायामश्रुतायां वा क्रियायां सोऽभिधीयते ॥

वा० प० ३।७।१५६

यह सम्बन्ध कहीं सामान्यरूप से और कहीं विशेषरूप से प्रतीत होता है। एक प्रश्न यह है कि सम्बन्ध सदैव दो पदार्थों में ही रहता है। अतः स्व-स्वामिभावादि

सम्बन्ध के सम्बन्धी राजा और पुरुष दोनों है। इस स्थिति में सम्बन्ध की वाचिका षष्ठी विभक्ति जैसे राजा से होती है वैसे ही पुरुष से भी होनी चाहिये ? इसका समाधान यह है कि 'राजसम्बन्धी पुरुष' इसको कहने की जब इच्छा होगी तब राजा शब्द से ही षष्ठी होगी। कारण यह है कि प्रकृत्यर्थ एवं प्रत्ययार्थ में प्रत्ययार्थ सम्बन्ध विशेष्य रहता है और प्रकृत्यर्थ राजा विशेषण। यदि पुरुष शब्द से षष्ठी करते हैं तो उसका अर्थ विशेषण होगा, पुरुष विशेष्य होने लगेगा। फलतः प्रत्ययार्थ की प्रधानता का नियम भंग हो जायगा। हाँ यदि 'पुरुष का राजा' इस अर्थ की विवक्षा होगी तो पुरुष विशेषण होगा, सम्बन्ध विशेष्य होगा। पुरुष शब्द से भी षष्ठी होने में बाधा नहीं है—पुरुषस्य राजा। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि सम्बन्ध के द्विष्ठ होने पर भी वह गुण = विशेषण में ही प्रतीत होता है और विशेष्य में भी मान लिया जाता है। जैसा कि भर्तृहरि का कहना है—

> द्विष्ठोऽप्यसौ परार्थत्वाद् गुणेषु व्यतिरिच्यते।
> तत्राभिधीयमानश्च प्रधानेऽप्युपयुज्यते ॥
>
> वा० प० ३।७।१५७

इस विषय में विशेष विवेचन संस्कृत-व्याख्या में देखना चाहिए।

॥ इस प्रकार आचार्य जयशङ्करलाल त्रिपाठि-विरचित बाल-बोधिनी हिन्दी-व्याख्या में कारक-विवेचन समाप्त हुआ ॥

— ० —

[अथ नामार्थनिरूपणम्]

अत्र मीमांसकाः—शब्दानां जातौ शक्तिर्लाघवात्। व्यक्तीनामानन्त्येन तत्र शक्तौ गौरवात्।

"नागृहीतविशेषणा बुद्धिर्विशेष्य उपजायते।

इति न्यायस्य विशेषणे शक्तिर्विशेष्ये लक्षणेति तात्पर्यात्। किञ्च एकस्यां व्यक्तौ शक्त्युपदेशे व्यक्त्यन्तरे तदभावेन तद्बोधाप्रसङ्गात्। गामानयेत्यादावन्वयानुपपत्त्या तदाश्रयलक्षकत्वेन निर्वाहश्चेत्याहुः।

तन्न। गोत्वमस्तीत्यर्थेऽन्वयानुपपत्त्यभावेन गौरस्तीति प्रयोगे व्यक्तिभानानापत्तेः। व्यक्तीनामानन्त्येऽपि शक्यतावच्छेदकजातेरुपलक्षणत्वेन तदैक्येन च तादृशजात्युपलक्षितव्यक्तौ शक्तिस्वीकारेणानन्तशक्तिकल्पनाविरहेणागौरवात्।

लक्ष्यतावच्छेदकतीरत्वादिवत् शक्यतावच्छेदकस्यावाच्यत्वे दोषाभावात्। "नागृहीत०" इति न्यायस्य विशेषणविशिष्टविशेष्यबोधे तात्पर्येऽपि त्वदुक्ततात्पर्ये मानाभावात्। जातेरुपलक्षकत्वेन तदाश्रयसकलव्यक्तिबोधेन व्यक्त्यन्तरबोधाप्रसङ्गभङ्गाच्च। तदाह—

आनन्त्येऽपि हि भावानामेकं कृत्वोपलक्षणम्।
शब्दः सुकरसम्बन्धो न च व्यभिचरिष्यति ॥ इति ॥

[तं० वा० ३।१।१२]

कारकविहित-सुपामर्थान्निरूप्य तदुद्देश्यत्वेन स्मृतं नामार्थं निरूपयन् खण्डयितुं मीमांसकमतमनुवदति—अत्र मीमांसका इति। तेषामयमभिप्रायः—व्यक्तौ शब्दानां शक्तिस्वीकारे तासामानन्त्यादानन्त्यदोषः। किञ्चैकदा एकस्यामेव व्यक्तौ शक्तिग्रहे व्यक्त्यन्तरं शक्तिग्रहाविषयस्तस्या अपि बोधे तु व्यभिचारः, शक्तिग्रहरूप-कारणाभावेपि बोधरूपकार्यदर्शनाद्। ननु शक्तिग्राहक-शिरोमणिना व्यवहारेण व्यक्तावेव तत्परिच्छेदात् कथं जातौ शक्तिरत आह—व्यक्तीनामिति। पूर्वं व्यवहारेण व्यक्तौ शक्तिग्रहेप्यानन्त्यात् तावतीषु सर्वासु व्यक्तिषु शक्तिग्रहासम्भवात् तदाश्रय-भेदभिन्न-नाना-शक्तिकल्पने गौरवादिति भावः। किञ्च, एकव्यक्ति-विषयक-शक्ति-ज्ञानादपरव्यक्तिविषयक-शाब्दबोधाभ्युपगमे तु गोव्यक्तिविषयकशक्ति-ज्ञानादश्वविषयक-बोधापत्त्या तद्व्यक्तिविषयक-शक्तिज्ञानस्य तद्व्यक्तिविषयकबोधे हेतुतया अवश्यकल्प्यतया एकविषयकज्ञानादपर-व्यक्तिबोधानुदयापत्त्या सकलव्यक्तिमानार्थं तावद्व्यक्तिषु शक्तिकल्पनायां गौरस्य स्फुटतया जातावेव शक्तिकल्पनोचितेति बोध्यम्। अत्र जातिपदं प्रवृत्तिनिमित्तस्योपलक्षणं बोध्यम्। तेन गौः, शुक्लः, चलो, डित्थ इत्येतेषां जाति-गुण क्रिया-सञ्ज्ञा-निरूपित-शक्तिमत्त्वं सिद्ध्यति। ननु "नागृहीत-विशेषणा बुद्धिर्विशेष्ये उपजायते" इति न्यायेन विशेषणविशेष्ययोर्जातिव्यक्त्योरुभयोरपि शक्तिरावश्यकीति चेन्न, तन्न्यायस्य तात्पर्यान्तरत्वात्। विशिष्टज्ञानं प्रति विशेषणज्ञानं कारणम्। एवञ्चान्तरङ्गत्वादुपजीव्यत्वाच्च विशेषणीभूतजातावेव शक्तिकल्पनोचिता, व्यक्तौ निरूढलक्षणा। एतदेवाह—तात्पर्यादिति। ननु जातिशक्तिवादे व्यक्तिबोधाय लक्षणाश्रीयते। एवमेव वैपरीत्येन व्यक्तौ शक्तिं स्वीकृत्य जातेर्लक्षणया भानम्। एवञ्च जातिवादेऽपि समानमेव गौरवमापततीत्याशयेनाह—किञ्चेति। तद्विषयकशाब्दबोधं प्रति तद्विषयक-शक्तिग्रहस्य कारणत्वस्वीकारात् यत् किञ्चिदेक-व्यक्ति-निरूपितशक्तौ स्वीकृतायामपि अपरव्यक्तेः शाब्दबोधीयविषयतायाः उपपत्तये व्यक्तिशक्तिवादेऽपि लक्षणाऽवश्यिकी। जातेः शक्यत्वेऽपि 'गामानय' इत्यादिव्यवहारस्य व्यक्ति-विषयकतया व्यक्तिबोधाय लक्षणा स्वीकार्या। एवञ्चोभयमते लक्षणास्वीकारसाम्येऽपि जातिशक्तिवादे व्यक्तिबोधाय

स्वाश्रयत्वरूपः शक्यसम्बन्धः। स्वम् = जातिः। व्यक्तिशक्तिवादे स्वसमवेताश्रयत्वरूपः शक्यसम्बन्धः। स्वम् = व्यक्तिः, तत्समवेता जातिः तदाश्रयत्वरूपः। एवञ्च जातिशक्तिवादे लाघवमित्याहुः। तदभावेन = शक्तिग्रहणाभावेन। तद्बोधाप्रसङ्गात् = व्यक्त्यन्तरबोधाप्रसङ्गाद्। तद्विषयकशाब्दबोधं प्रति तद्विषयकशक्तिग्रहस्य कारणत्वस्य सर्व-सम्मतत्वादिति भावः। ननु व्यक्तिबोधः कथमत आह—तदाश्रयलक्षकत्वेनेति। अयं भावः—जातिशक्तिस्वीकारे 'गाम् आनय' इत्यादौ जातेरानयनासम्भवात् अन्वयानुपपत्त्या जात्याश्रयव्यक्तेर्लक्षकत्वेन व्यक्तिभाननिर्वाह इति तत्र शक्तिकल्पनं व्यर्थम्।

नन्वेवं सर्वत्र गवादिपदाज्जातिव्यक्त्युभयविषयको बोधः सर्वसम्मतः। तदुपपत्तये युगपद् वृत्तिद्वयमङ्गीकार्यम्। किन्तु नैतद् युक्तम्, युगपद्वृत्तिद्वय-विरोधादिति, चेन्न, 'गङ्गायां मीनघोषौ स्तः' इति वाक्यात् प्रवाहे मीनस्य तटे घोषस्य चान्वयबोधस्य सर्वसम्मतत्वेन युगपद्वृत्तिद्वयविरोधे मानाभावात्। शक्तिः तात्पर्याविषये लक्षणा च युगपन्नेत्येतत्तात्पर्यस्यैव तन्न्यायविषयत्वाच्च। प्रकृते तात्पर्यविषये लक्षणा इति न तन्न्यायविरोधः इति मीमांसकमताभिप्रायः इति प्रभाटीकाकाराः।

पूर्वं मीमांसकमतं प्रस्तूय साम्प्रतं निराकरोति—तन्नेति। अयं भावः—यथा 'गोत्वमस्ति' इत्यत्र गोत्वस्य सत्तायामन्वयसम्भवेन अन्वयानुपपत्तिरूप-लक्षणाबीजाभावात् लक्षणा न भवति तथैव जाति-शक्तिवादिनां मते गौरस्ति इति प्रयोगे गोपदात् गोत्वस्याप्युपस्थित्या सत्तायामन्वयसम्भवेन लक्षणाप्रवृत्त्यभावान्न व्यक्तिबोधसम्भवः। ननु व्यक्तिशक्तावानन्त्यदोषो दुरुद्धर इति चेदत आह—व्यक्तीनामिति। तदैक्येन = उपलक्षणधर्मस्यैक्येन च। धर्ममुपलक्षणीकृत्य शक्तिग्रहाद् वस्तुतस्तत्तद्धर्माकृतिविशिष्टा व्यक्तिर्बुध्यते न तु तद्धर्म-प्रकारेणेति व्यक्तिवादः। प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः इति वाक्यतोऽपि वस्तुतस्तत्तद्विशेषणविशिष्टव्यक्तेः स्वरूपेणोपस्थितिः यथा यः शुक्लवासाः स देवदत्त इत्यादौ शुक्लवास उपलक्षिते शक्तिग्रहेऽपि देवदत्तपदजबोधे न तद्भानम्। जात्यादेरिति। एतदेव जात्यादेरुपलक्षणत्वं यत् स्वाश्रयाणां सर्वेषां स्वरूपतः शक्तिग्रहविषयत्वं सम्पाद्य स्वयं शक्तिग्रहाविषयो बोधाविषयश्च। यथा 'काकवन्तो देवदत्तगृहाः' इत्यत्र काकः स्वोपलक्षितोत्तुङ्गत्वादिना तद्गृहमितरगृहेभ्यो व्यावर्तयति। तथा जातिर्व्यक्तीरुपस्थाप्य स्वोपलक्षिताभिस्ताभिः शक्तिमितरेभ्यो व्यावर्तयति। उपलक्षणत्वञ्च—स्ववृत्ति-प्रतियोगि-समानाधिकरण-विभिन्नकालिकाभाव-प्रतियोगित्वम्। स्वम् = लक्षणीयम्। स्वम् = व्यक्तिः तद्वृत्तिः। प्रतियोगिसमानाधिकरणो विभिन्नकालिकोऽभावः—व्यक्तिपक्षे स्वविषयकबोधविषयत्वसम्बन्धेन जात्यादिर्नास्तीति, तत्प्रतियोगित्वं जात्यादेरिति समन्वयः। एवञ्च यद्यपि शक्यव्यक्तीनामानन्त्यं तथापि उपलक्षणीभूत-गोत्वादि - जातेरैक्याच्छक्तेरैक्यं कारणताया निरूपकाश्रयव्यक्तिबाहुल्येऽप्यवच्छेदक-

दण्डत्वादेरैक्यवत् । शक्यतावच्छेदकभेदसत्त्वे एव शक्तेर्भेदो भवति अत्र पक्षे च तदभावान्नानन्त - शक्तिकल्पनमित्याहुः । ननु जातेः शक्यतावच्छेदकत्वे गोत्वादिकमपि शक्यं स्यात्, 'शक्यत्वे सति शक्यविशेषणस्यैव शक्यतावच्छेदकत्व'मिति नियमादत आह--लक्ष्यतेति । अयं भावः--'गङ्गायां गोष' इत्यत्र 'शक्यसम्बन्धो लक्षणे'ति पक्षे तटत्व-तटयोरेकविध-शक्यसम्बन्धरूपा लक्षणा न सम्भवतीति तटत्वस्यालक्ष्यत्वेऽपि तस्य लक्ष्यतावच्छेदकत्वमङ्गीक्रियते, एवमेव घटं प्रति दण्डत्वस्यान्यथासिद्धत्वेन कारणत्वाभावेऽपि कारणतावच्छेदकत्वमङ्गीक्रियते तथैव प्रकृतेऽपि गोत्वादिजातेरशक्यत्वेऽपि शक्यतावच्छेदकत्वे न किमपि बाधकम् । एवञ्च तस्य शक्तिग्रहविषयत्वं नावश्यकमिति बोध्यम् । ननु "नागृहीतविशेषणा बुद्धिर्विशेष्य उपजायते" इति पूर्वोक्तन्यायेन विशिष्टज्ञाने विशेषणज्ञानं कारणमेवञ्चोपजीव्यत्वात् गोत्वादिजातेरेव वाच्यत्वमुचितमत आह--नागृहीतेति । अयं भावः—अनेन न्यायेनेदमेव प्रतीयते यत् विशिष्टज्ञाने विशेषणज्ञानमावश्यकम् । न तु विशेषणे शक्तिर्विशेष्ये लक्षणेति मीमांसकोक्तं मतं सिद्ध्यति । 'किञ्चैकस्यां व्यक्तावि'त्यादिकं यत् पूर्वमुक्तं तदपि निराकरोति—जातेरुपेति । अत्र पक्षे कस्याञ्चिदेकस्यामेव व्यक्तौ न शक्तिः स्वीक्रियतेऽपितु जात्युपलक्षितासु सर्वास्वपि व्यक्तिष्वेकैव शक्तिः कल्प्यते इति सर्वासां बोधे बाधकाभाव इत्यर्थः । तदाहेति । इयं कारिका सर्वैर्व्याख्याकारैर्भर्तृहरेः वाक्यपदीयस्य लिखिता । तत्तु भ्रमात्मकम्, वाक्यपदीयेऽदर्शनात् । किंतु तन्त्रवार्तिके उपलभ्यते । अतः कुमारिलभट्टस्य कारिकेयं बोध्या ।

कारिकार्थः--भावानाम् = व्यक्तीनाम्, आनन्त्येपि = बहुत्वेऽपि एकम् = प्रवृत्तिनिमित्तात्मकं जात्यादिरूपं धर्मम्, उपलक्षणम् = परिचायकम्, कृत्वा = स्वीकृत्य, सुकरसम्बन्धः = सुकरवाच्यवाचकभावसम्बन्धात्मकशक्तिकः, अत्र सम्बन्धपदं शक्तिपरं बोध्यम्, शब्दः = वाचकः, न च व्यभिचरिष्यति = शक्तिग्रहाविषयव्यक्तिं न बोधयिष्यतीत्यर्थः ।

अब नाम = प्रातिपदिक के अर्थों का निरूपण [प्रारम्भ किया जाता है] !

नामार्थविषयक मीमांसकमत

इस [विषय] में मीमांसक कहते हैं—लाघव के कारण शब्दों की शक्ति जाति अर्थ में है । व्यक्तियों के अनन्त होने से उसमें शक्ति [मानने] में गौरव [होता] है । व्यक्ति अनन्त होते हैं उनमें शक्ति मानने पर अनन्त शक्तिकल्पनारूप दोष होता है ।] कारण यह है कि—

'विशेषण का ज्ञान न रखने वाली बुद्धि विशेष्य के विषय में नहीं होती है ।'

इस न्याय का—विशेषण में शक्ति और विशेष्य [अर्थात् जाति में शक्ति और

व्यक्ति] में लक्षणा है—यह तात्पर्य है। और भी, एक व्यक्ति में शक्ति का उपदेश होने पर अन्य व्यक्ति में वह [उपदेश] न होने के कारण उस अन्य व्यक्ति के बोध न होने का प्रसङ्ग आता है। तथा 'गामानय' ['गोत्व को लाओ' इत्यादि में अन्वय की अनुपपत्ति के कारण [गोत्व जाति का आनयन क्रिया के साथ सम्बन्ध न हो सकने के कारण] उस [जाति] के आश्रय [व्यक्ति] के लक्षक होने से निर्वाह हो जाता है।

विमर्श—नाम=प्रातिपदिक का क्या अर्थ है ? इस विषय में शास्त्रकारों में पर्याप्त मतभेद है। मीमांसक केवल जाति मे शक्ति मानते हैं। नैयायिक जात्याकृति-विशिष्ट व्यक्ति में शक्ति मानते हैं। वैयाकरण लक्ष्यानुसार कभी जाति, कभी व्यक्ति और कभी विशिष्ट में शक्ति का समर्थन करते हैं।

मीमांसक व्यक्ति में शक्ति मानने पर दो दोष प्रस्तुत करते हैं—(१) आनन्त्य एवं व्यभिचार। आनन्त्य दोष का तात्पर्य यह है कि देश एवं काल के भेद से व्यक्ति अनन्त हैं, उनकी कोई सीमा नहीं है। प्रत्येक में शक्ति मानने पर आनन्त्य दोष प्रसक्त होता है। इस दोष से मुक्ति पाने के लिए यदि यह तर्क दें कि सभी में शक्ति न मानकर किसी एक में शक्ति मानते हैं तब आनन्त्य दोष नहीं है। परन्तु ऐसा मानने पर व्यभिचार दोष आता है। कारण यह है कि जिस एक व्यक्ति में शक्तिग्रह हुआ है उससे भिन्न का ज्ञान उस शब्द से नहीं होना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता। उससे भिन्न व्यक्तियोंका भी ज्ञान होता ही है। अतः शक्तिज्ञान रूप कारण के न रहने पर भी बोधरूप कार्य होता है। अतः व्यभिचार है। इन दोनों दोषों से बचने के लिए जाति में शक्ति माननी चाहिए। चूँकि आश्रय के बिना जाति नहीं रह सकती है। अतः आश्रयान्यथानुपपत्त्या व्यक्ति का बोध लक्षणा से हो जाता है। इस प्रकार जाति में शक्ति और व्यक्ति में लक्षणा मानकर सारे दोष दूर किये जा सकते हैं।

मीमांसक-मत का खण्डन

अनु०—वह [उपर्युक्त मीमांसकमत ठीक] नहीं है; क्योंकि 'गोत्वमस्ति' [गोत्व है] इस अर्थ में [गोत्व की सत्ता में] अन्वय की अनुपपत्ति न होने के कारण अर्थात् अन्वय की उपपत्ति हो जाने के कारण 'गौरस्ति' [गाय है] इस प्रयोग में व्यक्ति का भान नहीं हो सकेगा। और व्यक्तिओं के अनन्त होने पर भी [व्यक्ति-शक्तिवाद मानने पर भी] शक्यतावच्छेदक जाति के उपलक्षण [=ज्ञापक] होने से और उस जाति के एक होने से उस उपलक्षणीभूत जाति से उपलक्षित व्यक्ति में शक्ति स्वीकार करने से अनन्त शक्तियों की कल्पना न होने से गौरव नहीं है। लक्ष्यतावच्छेदक तीरत्व आदि के समान शक्यतावच्छेदक [जाति] के वाच्य न होने

पर दोष नहीं है। और क्योंकि 'विशेषण का ज्ञान किये बिना बुद्धि विशेष्य के विषय में नहीं होती है" इस न्याय का—विशेषण से विशिष्ट विशेष्य के ज्ञान में तात्पर्य रहने पर भी तुम्हारे [मीमांसक] द्वारा कहे गये [विशेषण = जाति में शक्ति और विशेष्य = व्यक्ति में लक्षणा—इसमें] तात्पर्य में [कोई] प्रमाण नहीं है और जाति के उपलक्षक [सूचक] होने से उस जाति के आश्रय सभी व्यक्तियों का ज्ञान होने के कारण अन्य [एक व्यक्ति से भिन्न] व्यक्ति के बोध न होने के प्रसङ्ग का भंग है अर्थात् सभी व्यक्तियों का बोध होगा। जैसा कि [कुमारिल भट्ट ने] कहा है—

व्यक्तियों के अनन्त रहने पर भी जातिरूप एक को उपलक्षण मान कर शब्द की शक्ति का ज्ञान सुलभ है, शब्द व्यभिचरित नहीं होगा अर्थात् शक्ति के अविषय व्यक्ति का बोध नहीं करायेगा। [विशेष विवेचन पृ० २८१-८२ के 'विमर्श' में देखें।]

युक्तं ह्येतत्—

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान-कोशाप्तवाक्याद्व्यवहारतश्च ।
वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति, सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥

इत्येतेषु शक्तिग्राहकशिरोमणिर्व्यवहारो व्यक्तावेव शक्तिं ग्राहयति, गवादिपदेन लोके व्यक्तेरेव बोधात्।

वस्तुतस्तु "न ह्याकृतिपदार्थकस्य द्रव्यं न पदार्थः" [म० भा० १।२।६४] इति सरूपसूत्रभाष्याद्विशिष्टमेव वाच्यम्, तथैवानुभवात्। अनुभवसिद्धस्यापलापानर्हत्वाच्च।

एतत् = व्यक्तेर्वाच्यत्वम्, हि = निश्चयेन, युक्तम् = उचितम्। कारिकार्थः—वृद्धाः = शब्दप्रयोगज्ञान-कुशला इत्यर्थः, व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतः, वाक्यस्य शेषाद्, सिद्धपदस्य सान्निध्यतः च शक्तिग्रहं वदन्ति—इत्यन्वयः। व्याकरणात्—'पाचकः पचती'त्यादौ "कर्तरि कृत्" [पा० सू० ३।४।६७] "लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः" [पा० सू० ३।४।६९] इति सूत्राभ्यां प्रत्ययानां कर्तरि शक्तिर्बोध्यते। उपमानात्—'गौरिव गवयः' इत्यत्र गवयपदस्य शक्तिग्रहः। कोशात्—'अमरा निर्जरा देवाः' इत्यादितोऽमरादिपदानां देवार्थे शक्तिग्रहः। आप्तवाक्यात्—"वृद्धिरादैच्" [पा० सू० १।१।१] इत्यादिवचनात् वृद्ध्यादिपदानाम् आदैजादौ शक्तिग्रहः, पिकपदस्य कोकिलादौ वा शक्तिग्रहः। व्यवहारतः—प्रयोज्यप्रयोजकवृद्धव्यवहारात् 'गामानय' इत्यादिवाक्यानां तद्घटकपदानाञ्च शक्तिग्रहः। वाक्यस्य शेषात्—'यवैर्जुहोती'-त्यत्र यवपदस्य दीर्घशूकविशिष्टेऽर्थे आर्याणां प्रयोगात्, प्रियङ्गौ म्लेच्छानां प्रयोगात्

क्व शक्तिरिति सन्देहे—'यदान्या ओषधयो म्लायन्ते अथैते मोदमानास्तिष्ठन्तीति वाक्यशेषेण दीर्घशूकविशिष्टे तन्निर्णयः। विवृतेः=विवरणाद्--पचति=पाकं करोति इत्यत्र पाकानुकूलो व्यापार इति शक्तिग्रहः। सिद्धपदस्य=प्रसिद्धपदस्य सान्निध्यतः= सन्निधानात्--'इह सहकारतरौ मधुरं पिको रौती'त्यादौ सहकारपदसन्निधानात् पिक-पदस्य कोकिलार्थे शक्तिग्रहः। एवञ्चात्र शक्तिग्राहकेषु व्यवहारः शिरोमणिभूतः, सच शब्दानां शक्तिं व्यक्तावेव बोधयति, लोके तथैवानुभवात्।

वैयाकरणानां मतं प्रस्तौति—वस्तुतस्त्विति। "सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ" [पा० सू० १।२ ६४] इति सूत्रे भाष्ये "न ह्याकृतिपदार्थस्य द्रव्यं न पदार्थो द्रव्य-पदार्थकस्य चाकृतिर्न पदार्थः, उभयोरुभयं पदार्थः। कस्यचित्तु किञ्चिद् प्रधानभूतं किञ्चिद् गुणभूतम्। आकृतिपदार्थकस्याकृतिः प्रधानभूता, द्रव्य गुणभूतम्। द्रव्यपदार्थ-कस्य द्रव्यं प्रधानभूतमाकृतिर्गुणभूता।" अनेन भाष्येण तयोर्वैशिष्टचस्य स्फुटमेव बोधात्। विशिष्टमिति। आकृतिविशिष्टं द्रव्यम्, द्रव्यविशिष्टाऽऽकृतिर्वा इत्यर्थो बोध्यः। मूले तु सामान्ये नपुंसकमिति प्रयोगः। वैयाकरणेषु आकृति-प्राधान्यवादी आचार्यो वाजप्यायनः। द्रव्य-प्राधान्यवादी च आचार्यो व्याडिरिति भाष्यादौ स्पष्टमित्यलम्।

यह [पूर्वोक्त कथन] ठीक भी है।

वृद्ध लोग (१) व्याकरण, (२) उपमान, (३) कोश, (४) आप्तवाक्य, (५) व्यवहार, (६) वाक्यशेष, (७) विवरण और (८) प्रसिद्ध पद के सानिध्य से शक्ति का ज्ञान कहते हैं।"

इन [शक्ति के ज्ञापकों] में शक्तिज्ञापकों में शिरोमणिभूत व्यवहार व्यक्ति में ही शक्ति का ज्ञान कराता है क्योंकि 'गो' आदि पद से लोक में व्यक्ति का ही बोध होता है।

वास्तव में, "जातिरूपी पदार्थ वाले [शब्द] का द्रव्य पदार्थ नहीं है, ऐसा नहीं है" इस "सरूप०" [पा० सू० १।२।६४] सूत्र के भाष्य से विशिष्ट [जाति-विशिष्ट व्यक्ति] ही वाच्य है क्योंकि वैसा ही अनुभव होता है और अनुभवसिद्ध [वस्तु] का अपलाप नहीं किया जा सकता है।

विमर्श—मीमांसकों ने लक्षण द्वारा=व्यक्ति के बोध का तर्क दिया है। परन्तु वह ठीक नहीं है। कारण यह है कि लक्षणा का बीज है—अन्वयादि की अनुपपत्ति। 'गोत्वमस्ति' यहाँ जैसे अन्वय होता है उसी अर्थ में "गौरस्ति" यह वाक्य मीमांसकों के मत में होगा। अतः अन्वय उपपन्न हो जाने के कारण लक्षणा का प्रसङ्ग ही नहीं आता है अतः लक्षणा से व्यक्ति का बोध सम्भव नहीं है।

जैसे 'काकवन्तो देवदत्तगृहाः' यहाँ काक आदि उपलक्षण होते हैं और अन्यगृहों से देवदत्तगृहों को व्यावृत्त करते हैं उसी प्रकार जाति भी व्यक्तियों को उपस्थापित करती है और उपलक्षित उन व्यक्तियों से शक्ति को अन्यों से व्यावृत्त कराती है। इसलिये उपलक्षणीभूत जाति के एक होने से आनन्त्य दोष नहीं आता है। शक्यतावच्छेदक का भेद रहने पर ही शक्ति का भेद नहीं होता है। अतः अनन्त शक्तिकल्पना दोष भी नहीं है।

'गंगाया घोषः' आदि में 'शक्यसम्बन्धो लक्षणा' इस पक्ष में तट—तटत्व दोनों की एक प्रकार के सम्बन्धरूप लक्षणा सम्भव नहीं है अतः तटत्व के अलक्ष्य होने पर भी उसका लक्ष्यतावच्छेदकत्व जैसे स्वीकार किया जाता है और घट के प्रति दण्डत्व के अन्यथासिद्ध होने से, कारण न होने पर भी, जैसे कारणतावच्छेदकत्व स्वीकार किया जाता है उसी प्रकार प्रस्तुतस्थल में भी गोत्वादिजाति के शक्य न होने पर भी शक्यतावच्छेदक होने में कोई बाधा नहीं है। अतः जाति को शक्तिग्रह का विषय बनाना आवश्यक नहीं है।

'नागृहीतविशेषणा बुद्धिर्विशेष्ये उपजायते' इस न्याय का इतना ही तात्पर्य है कि जहाँ भी विशिष्ट ज्ञान होता है उसमें विशेषणज्ञान कारण होता है। इससे यह नहीं सिद्ध होता है कि विशेषणांश में शक्ति है और विशेष्यांश में लक्षणा।

जाति को उपलक्षक माना जाता है। अतः उससे उपलक्षित समस्त व्यक्तियों का बोध होता है। इस स्थिति में किसी अन्य के बोध न होने का प्रसङ्ग नहीं आता है।

यहाँ जो कारिका उद्धृत है। उसे अधिकांश व्याख्याकारों ने वाक्यपदीयकार भर्तृहरि की मान कर व्याख्या की है परन्तु यह भ्रम है। वाक्यपदीय में ऐसी कारिका नहीं है। यह कारिका कुमारिल भट्ट के तन्त्रवार्त्तिक की है।

व्यक्ति में पदों की शक्ति मानने में सबसे बड़ा प्रमाण हमारा दैनिक व्यवहार है। उसमें जाति का ज्ञान सामान्य जनों को होता ही नहीं है। अतः जाति में पदों की शक्ति मानना अनुभवविरुद्ध भी है।

मीमांसकों एवम् अन्य शास्त्रकारों में मतभेद प्राप्त होते हैं। भाष्यकार ने आचार्य व्याडि को व्यक्तिवाद का और आचार्य वाजप्यायन को जातिवाद का समर्थक कहा है। भाष्यकार इस विषय में उदार दृष्टिकोण रखते हैं। उनके अनुसार जातिविशिष्ट व्यक्ति में शक्ति माननी चाहिये।

आचार्य पाणिनि के मत का उल्लेख भी भाष्यकार ने किया है। इन्होंने 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ" [पा० सू० १।२।६४] यह सूत्र बनाकर व्यक्तिवाद

का समर्थन किया है। और "जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्" [पा० सू० १.२।५८] सूत्र बनाकर जातिवाद का समर्थन किया है। इसका विशेष विवेचन महाभाष्य-पस्पशाह्निक आदि में देखा जा सकता है।

शक्तिग्रह के निम्न आठरूप हैं जिनमें व्यवहार सबसे प्रधान है—

(१) व्याकरण से शक्तिग्रह का उदाहरण है—पाचकः आदि। 'डुपचष् पाके' धातु है और 'कर्तरि कृत्' [पा० सू० ३।४।६७] के अन्तर्गत ण्वुल् = अक प्रत्यय कर्ता अर्थ में होता है। इसलिए पच् धातु का अर्थ है पाक क्रिया और अक का अर्थ है—कर्ता। दोनों मिलाकर बना है—पाककर्ता।

(२) उपमान से शक्तिग्रह—गौरिव गवयः। जो व्यक्ति गवय [जंगली गाय] को नहीं जानता है उसे समझाने के लिये कोई कहता है कि गवय गाय के समान होता है। इस प्रकार उपमान 'गो' से उपमेय 'गवय' में शक्तिग्रह होता है।

(३) कोश से शक्तिग्रह—जैसे 'अमरा निर्जरा देवा' इस अमरकोश-वाक्य से इन शब्दों का शक्तिग्रह देवता अर्थ में होता है।

(४) आप्तवाक्य से शक्तिग्रह—जैसे पाणिनि या अन्य ऋषि किसी अर्थविशेष में शब्दविशेष का प्रयोग करते हैं। उदाहरणार्थ सभी शास्त्रों के पारिभाषिक शब्द लिये जा सकते हैं—वृद्धि, योग आदि।

(५) व्यवहार से शक्तिग्रह—जैसे पिता आदि के द्वारा प्रयुक्त 'गामानय' यह वाक्य सुनकर गाय को लाया जाता देखकर और 'गांनय अश्वमानय' यह सुन कर गाय को वापस लेकर जाते हुए और अश्व को लाते हुये देखकर गाम्, अश्वम, नय, आनय आदि पदों का शक्तिग्रह होता है।

(६) वाक्यशेष से शक्तिग्रह—जैसे आर्य लोग यव शब्द का प्रयोग दीर्घशूक [लम्बे छोरों वाले अन्नविशेष] अर्थ में और म्लेच्छ लोग प्रियङ्गु अर्थ में करते हैं। परन्तु 'यवैर्जुहोति' आदि में किस अर्थ में माना जाय इसके निर्णय के लिये "यदाऽन्या ओषधयो म्लायन्ते अथैते मोदमानास्तिष्ठन्ति' इस वाक्यशेष से दीर्घशूक [जौ] अर्थ में शक्तिग्रह होता है।

(७) विवरण से शक्तिग्रह—जैसे—पचति = पाकं करोति आदि द्वारा पाकानुकूल क्रिया इस अर्थ में शक्तिग्रह होता है।

(८) प्रसिद्ध पद के सन्निधान से शक्तिग्रह—जैसे 'इह सहकारतरौ मधुरं पिको रौति' आदि में सहकारपद के सन्निधान से पिक पद का शक्तिग्रह कोकिल अर्थ में होता है।

इन सभी में लोकव्यवहार सबसे प्रमुख कारण है। अतः जातिविशिष्ट व्यक्ति अर्थ ही मानना उचित है।

लिङ्गमपि नामार्थः, प्रत्ययानां द्योतकत्वात्। अन्यथा वागुपानदादिशब्देभ्य इयं तव वागिति स्त्रीत्वबोधानापत्तेः। अयमितिव्यवहारविषयत्वं पुंस्त्वम् इयमिति-व्यवहारविषयत्वं स्त्रीत्वम्, इदमितिव्यवहारविषयत्वं क्लीबत्वमिति विलक्षणं शास्त्रीयं स्त्रीपुन्नपुंसकत्वम्। अत एव खट्वादिशब्दवाच्यस्य स्तनकेशादिमत्त्व-रूपलौकिकस्त्रीत्वाभावेऽपि तद्वाचकाट्टाबादिप्रत्ययः।

जातिव्यक्त्योर्नामार्थत्वे विशेषवैमत्याभावेन प्रथमं तन्निरूप्य सम्प्रति लिङ्गस्यापि नामार्थत्वं साधयति—लिङ्गमपीति। अन्यथा = लिङ्गस्य नामार्थत्वास्वीकारे। स्त्रीत्वबोधानापत्तेरिति। वाक् उपानद् इत्यादौ स्त्रीत्वबोधक-प्रत्ययाभावेपि स्त्रीत्वस्य प्रतीत्या प्रकृत्यर्थत्वमेव तस्य सिद्धयतीति भावः। अत्र प्रमाणन्तु "स्वमोर्नपुंसकात्" [पा० सू० ७।१।२३] "ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य" [पा० सू० १।२।४७] इत्यादि पाणिनिसूत्रम्। अत एव लिङ्गानुशासनमपि सङ्गच्छते। अतएव = लौकिक-भिन्नशास्त्रीयलिङ्गस्य स्वीकारादेवेत्यर्थः। अत्रेदं बोध्यम्—

स्तनकेशवती स्त्री स्याल्लोमशः पुरुषः स्मृतः।
उभयोरन्तरं यच्च तदभावे नपुंसकम्॥ [म० भा० ४।१।३]

इति लक्षणलक्षितस्य पुंस्त्वादेरचेतने बाधात् खट्वादौ टाबाद्यनापत्तिः। किञ्च; दारानित्यादौ नत्वं न स्यात् तदर्थस्य पुंस्त्वाभावात्। अतः भाष्यकृता सत्त्वरजस्तमसां प्राकृतगुणानां वृद्धिः पुंस्त्वम्, अपचयः स्त्रीत्वम्, साम्यावस्थारूप-स्थितिमात्रं नपुंसकत्व-मित्यादि प्रतिपादितम्। एतदवस्थात्रयस्य पदार्थमात्रे सत्त्वादिदं केवलान्वयि—इयं व्यक्तिरिदं वस्तु अयं पदार्थ इत्यादिव्यवहाराणां सर्वत्राप्रतिबद्धप्रसरत्वात्। लिङ्ग-स्यार्थं नष्ठत्वमिति लघुमञ्जूषादौ मञ्जूषाकारः। भूषणकारस्तु लिङ्गस्य शब्दनिष्ठत्व-मेवाङ्गीचकार इत्यन्यत्रानुसन्धेयम्।

लिङ्ग भी प्रातिपदिक का अर्थ—

[जाति एवं व्यक्ति के साथ साथ] लिङ्ग भी प्रातिपदिक का अर्थ [होता] है क्योंकि प्रत्यय [स्त्रीत्व, पुंस्त्व एवं नपुंसकत्व अर्थों के] द्योतक [होते] हैं [वाचक तो प्रातिपदिक शब्द ही है], अन्यथा अर्थात् प्रत्ययों को ही वाचक मानने पर तो वाक् उपानत् आदि शब्दों से 'इयं तव वाक्' [तुम्हारी यह वाणी) ऐसा स्त्रीत्व का ज्ञान नहीं हो सकता। [कारण यह है कि इनमें स्त्रीत्व का बोधक कोई प्रत्यय आदि नहीं है।] 'अयम्' [यह पुरुष] इस व्यवहार का विषय होना 'पुंस्त्व' है, 'इयम्' [यह स्त्री] इस व्यवहार का विषय होना स्त्रीत्व है, 'इदम्' [यह नपुंसक] इस व्यवहार का विषय होना नपुंसकत्व है, यह विलक्षण शास्त्रीय स्त्रीत्व, पुंस्त्व, नपुंसकत्व है। [लौकिक लिङ्ग से भिन्न शास्त्रीय लिङ्ग होता है] इसीलिये खट्वा

आदि शब्दों के वाच्यार्थ [=चारपाई] के स्तन केश आदि वाला होनारूपी लौकिक स्त्रीत्व के अभाव में भी खट्व के वाचक शब्द से टाप आदि प्रत्यय होते हैं।

विमर्श—वैयाकरणों का यह कथन है कि दधि, मधु, वाक्, उपानत् आदि शब्दों के साथ कोई भी प्रत्यय नहीं है फिर भी नपुंसकत्व एवं पुंस्त्व अर्थ की प्रतीति होती है। अतः ये अर्थ प्रातिपदिक शब्दों के ही मानना उचित है प्रत्यय के नहीं, क्योंकि प्रत्यय इनके द्योतकमात्र हैं।

लोक में लिङ्ग के विषय में यह कथन है—

स्तनकेशवती स्त्री स्याल्लोमशः पुरुषः स्मृतः।
उभयोरन्तरं यच्च तदभावे नपुंसकम् ॥ [म०भा० ४।१।३]

यह लौकिक लिङ्ग व्याकरण शास्त्र में मानना सम्भव नहीं है, क्योंकि अचेतन पदार्थों में इनका मिलना असम्भव है। इसलिए भाष्यकार ने इस विषय में एक स्वतन्त्र सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार पदार्थमात्र में तीन गुण रहते हैं। उनमें जब सत्त्व रजस् एवं तमस् की वृद्धि हो जाती तब पुंस्त्व और जब अपचय होता है तब स्त्रीत्व और जब साम्यावस्था रहती है, तब नपुंसकत्व होता है। ये तीनों अवस्थायें पदार्थमात्र में रहने वाली हैं अतः लिङ्ग केवलान्वयी है। यही कारण है कि 'इयं व्यक्तिः, अयं पदार्थः, इदं वस्तु" यह व्यवहार सर्वत्र सम्भव है।

भट्टोजिदीक्षितादि लिङ्ग को शब्दनिष्ठ स्वीकार करते हैं किन्तु मञ्जूषाकार अर्थनिष्ठ मानते हैं। इस विषय में विस्तृत विवेचन वैयाकरण-भूषण के नामार्थ-निर्णय में और लघुमञ्जूषा के प्रातिपदिकार्थ-निर्णय में देखा जा सकता है।

सङ्ख्याऽपि नामार्थः, विभक्तीनां द्योतकत्वात्। अत एव "आदिर्ञिटुडव" [पा० सू० १।३।५]। इति सूत्रे 'आदिरि'ति बहुत्वे एकवचनम्। वाच्यत्वेऽन्वय-व्यतिरेकाभ्यां जसं विना नामार्थबहुत्वप्रतीत्यभावापत्तेः।

संख्याया अपि नामार्थत्वमुपपादयति—सङ्ख्यापीति। अयं भावः—दधि, मधु इत्यादौ विनापि प्रत्ययं सङ्ख्यायाः प्रतीत्या तस्याः प्रकृत्यर्थत्वमेवोचितम्। ननु लुप्त-विभक्तिस्मरणात्तत्संख्या-प्रतीतिरिति चेन्न, विभक्तिलोपमजानतोपि पुंसो नामत एव तत्प्रतीतेरनुभवात्। ननु तर्हि "द्व्येकयोरि०" [पा० सू० १।४।२२] त्यादि-सूत्राणां वैयर्थ्यमत आह—विभक्तीनामिति। द्योतकतया तदुपयोगादित्यर्थः। अनन्त-प्रकृतीनां शक्तत्वकल्पने गौरवन्तु फलमुखत्वान्न दोषाय। तथागृहीतशक्तिकस्य प्रकृति-मात्रादपि तद्बोधः। अतिप्रसङ्गस्तु व्यवहारानुसारेण तात्पर्यवशात् परिहरणीयः। अत एव=विभक्तीनां द्योतकत्वादेव। अयं भावः—अन्वयव्यतिरेकाभ्यां संख्यायाः

विभक्तिवाच्यत्वमुच्यते । परन्तु "आदिर्ञिटुडवः" । [पा० सू० १।३।५] इति पाणिनिसूत्रे जसोऽभावे बहुवचनप्रतीत्यनापत्तिः । भवति च तत्प्रतीतिरिति व्यतिरेकव्यभिचारस्य सत्त्वात् प्रकृतेरेव तदर्थत्वस्वीकारौचित्यम् । यद्यपि सङ्ख्यायाः प्रकृत्यर्थत्वे एकपदोपस्थाप्ययोरर्थयोः परस्परमन्वये आकाङ्क्षाभावान्नान्वयः उचितस्तथापि एवकारोपस्थापितयोरन्ययोगव्यवच्छेदरूपयोरथ च लिङुपस्थाप्यकृतीष्टसाधनतयोरिवात्रापि अन्वये बाधकाभाव इति बोध्यम् ॥

सङ्ख्या भी प्रातिपदिक का अर्थ—

[जाति, व्यक्ति एवं लिङ्ग के साथ-साथ एकत्व आदि] सङ्ख्या भी प्रातिपदिक की अर्थ है; क्योंकि [प्रथमा आदि] विभक्तियाँ द्योतक [होती] हैं। [विभक्तियाँ द्योतक होती हैं—] इसीलिये "आदिर्ञिटुडवः" [पा० सू० १।३।५] इस सूत्र में 'आदिः' यह बहुत्व [अर्थ] में एकवचन है, अर्थात् बहुत्व अर्थ में प्रथमा एकवचन है। विभक्ति की वाच्य होने पर अन्वयव्यतिरेक से जस् के विना प्रातिपदिक [=आदि] के अर्थ बहुत्व की प्रतीति नहीं हो सकेगी।

विमर्श—प्रातिपदिक से ही संख्या की प्रतीति होती है इसमें प्रमाण है 'आदिर्ञिटुडवः' [पा० सू० १।३।५] सूत्र में 'आदिः' यह एकवचन का प्रयोग। इसका अर्थ है कि धातु के आदि में प्रयुक्त ञि, टु तथा डु की इत्संज्ञा होती है। यहाँ 'आदिः' में एकवचन है उससे बहुत्व की प्रतीति असम्भव है। अतः प्रकृति का ही अर्थ संख्या भी मान लेना चाहिए। प्रकृति ही उसकी बोधिका है विभक्ति केवल द्योतिका है।

कारकमपि प्रातिपदिकार्थ इति पञ्चकं प्रातिपदिकार्थः। नन्वन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रत्ययस्यैव तद्वाच्यमिति चेत्, न। दधि तिष्ठति, दधि पश्येत्यादौ कर्त्रादिकारकप्रतीतेः प्रत्ययं विनापि सिद्धत्वात्। न च लुप्तप्रत्ययस्मरणात्तत्प्रतीतिरिति वाच्यम्; प्रत्ययलोपमजानतोऽपि नामत एव तत्प्रतीतेः।

कारकस्यापि नामार्थत्वं प्रतिपादयति—कारकमपीति। अयं भावः—दधि, मधु इत्यादौ विभक्त्यभावेऽपि कर्तृत्वकर्मत्वादिरूपार्थ प्रतीत्या प्रकृतेरेव कारकवाचकत्वं बोध्यम्। लुप्तस्मरणाद् बोधस्तु न युक्तः, लोपमजानतोपि बोधानुभवात्। पञ्चकमिति। जाति-व्यक्ति-लिङ्ग-सङ्ख्या-कारकरूपमित्यर्थः। तथा चोक्तं भूषणे—

> एकं द्विकं त्रिकं चाथ चतुष्कं पञ्चकं तथा।
> नामार्थ इति सर्वेऽमी पक्षाः शास्त्रे व्यवस्थिताः ॥—वै० भू० का० २५

अत्र जाति-व्यक्ति-लिङ्गानां नामार्थत्वन्तु बाहुल्येनाङ्गीकृतम्। परन्तु संख्याकारकयोस्तदर्थत्वे न तथा सहमतिः। अतएवोक्तम्—

स्वार्थो द्रव्यञ्च लिङ्गञ्च सङ्ख्या कर्मादिरेव च ।
अमी पञ्चैव नामार्थास्त्रयः केषाञ्चिदग्रिमाः ।

वस्तुतस्तु हर्यादिमतेन संख्यादीनां वाच्यत्वं द्योत्यत्वं वेत्यत्राग्रहो नोचितः ।—

वाचिका द्योतिका वा स्युर्द्वित्वादीनां विभक्तयः ।
यद्वा सङ्ख्यावतोऽर्थस्य समुदायोऽभिधायकः ॥

[वा० प० २।१६४]

एवञ्च केवलायाः प्रकृतेः केवलस्य वा प्रत्ययस्य सङ्ख्यादिवाचकत्वं नोचितमपितु प्रकृति-प्रत्ययसमुदायस्यैव तद्वाचकत्वमुरीकरणीयम् । पञ्चकं प्रातिपादिकार्थः इति पक्षस्य मूलम् "अनभिहिते" [पा० सू० २.३.१] इति सूत्रस्थं भाष्यमित्यन्यत्र विस्तरः ।

कारक भी प्रातिपदिक का अर्थ

[कर्तृत्व, कर्मत्व आदि] कारक भी प्रातिपदिक का ही अर्थ है—इस प्रकार पाँच [जाति, व्यक्ति, लिङ्ग, संख्या एवं कारक] प्रातिपदिकार्थ हैं । अन्वयव्यतिरेक से प्रत्यय का ही वह अर्थ है—ऐसा यदि [कहो] तो नहीं [कह सकते], क्योंकि दधि तिष्ठति, दधि पश्य [दही बैठता है, दही को देखो] इत्यादि में किसी प्रत्यय के न होने पर भी कर्ता आदि [कर्म] कारक की प्रतीति सिद्ध है । [ऐसे स्थलों में] लुप्त प्रत्यय के स्मरण से उस कारक की प्रतीति होती है—ऐसा नहीं कहना चाहिये; क्योंकि प्रत्यय का लोप न जानने वाले [व्याकरण शास्त्रीय प्रक्रिया के ज्ञान से शून्य] व्यक्ति को भी केवल प्रातिपदिक शब्द से ही कारक की प्रतीति होती है ।

विमर्श—किस शब्द का क्या अर्थ होना चाहिए इसमें अन्वयव्यतिरेक कारण माना जाता है । कारक यदि प्रत्यय का ही अर्थ होता तो उपर्युक्त वाक्यों में प्रत्ययों के अभाव में कर्तृत्व एवं कर्मत्व की प्रतीति नहीं होनी चाहिये । परन्तु होती है । अतः यही मानना चाहिये कि ये अर्थ प्रकृति के ही हैं, प्रत्यय केवल द्योतक होते हैं ।

विशेषणतया शब्दोऽपि शाब्दबोधे भासते । 'युधिष्ठिर आसीदि'त्यादौ युधिष्ठिरशब्दवाच्यः कश्चिदासीदिति बोधात् ।

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥

[वा० प० १।११३]

इत्यभियुक्तोक्तेः ।

ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च द्वे शक्ती तेजसो यथा ।
तथैव सर्वशब्दानामेते पृथगवस्थिते ॥
विषयत्वमनादृत्य शब्दैर्नार्थः प्रकाश्यते ।
[वा० प० १।५५-५६]

इति वाक्यपदीयाच्च ।

अत एव विष्णुमुच्चारयेत्यादावर्थोच्चारणासम्भवाच्छब्दप्रतीतिः। अत एवानुकरणेनानुकार्य्यस्वरूपप्रतीतिः। तथाहि—स्वसदृशशब्दमात्रबोधतात्पर्यकोच्चारणविषयत्वमनुकरणत्वम्। स्वसदृशशब्दप्रतिपाद्यत्वे सति शब्दत्वमनुकार्यत्वम्। तत्रानुकार्यादनुकरणं भिद्यते इति तयोर्भेदविवक्षायामनुकार्यस्वरूपप्रतिपादकत्वेनार्थवत्त्वात् प्रातिपदिकत्वात् स्वादिविधिः। भेदपक्षज्ञापकः 'भुवो वुग्लुङ्लिटः" । [पा० सू० ६।४।८८] इत्यादिनिर्देशः। अनुकार्यादनुकरणमभिन्नमित्यभेदविवक्षायां चार्थवत्त्वाभावान्न प्रातिपदिकत्वम्, न वा पदत्वम्। अभेदपक्षज्ञापकस्तु 'भू-सत्तायाम्' इत्यादिनिर्देशः। प्रातिपदिकत्वपदत्वाभावेऽपि 'भू' इत्यादि साधु भवत्येव ।

शब्दस्य शाब्दबोधविषयत्वे विप्रतिपन्नानां नैयायिकादीनां मतं निराकर्तुमाह—विशेषणतया शब्दोऽपीति । अर्थं प्रति विशेषणतया शब्दस्यापि भानं भवतीत्यर्थः। प्रमाणमुपन्यस्यति—न सोऽस्तीति । लोके सः प्रत्ययः=बोधः नास्ति यः बोधः शब्दानुगमाद्=शब्दविषयकत्वाद् ऋते=विना भवति । सर्वम्=प्रत्यक्षानुमित्युपमितिशब्दजन्यात्मकं ज्ञानं शब्देन अनुविद्धम्=सम्भिन्नम् इव भासते । अत्र निर्विकल्पकातिरिक्त एव बोधो ग्राह्यः तत्र शब्दभाने निर्विकल्पकत्वासिद्धिः। ज्ञाने शब्दनिरूपितं तादात्म्यमारोपितमेवेति बोधयितुमिव शब्दप्रयोगः। शब्दार्थयोस्तादात्म्यादेव सर्वत्र शब्दभानमुपपद्यते । अत एव अर्थं वदति, अर्थं शृणोतीत्यादिव्यवहारः। अत एव "ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म" [ब्रह्मविद्योपनिषद् ३।१] 'वृद्धिरादैच्" [पा० सू० १।१।१] 'रामेति द्व्यक्षरं नाम मानभङ्गः पिनाकिनः' इत्यादिप्रयोगाः सङ्गच्छन्ते ।

ग्राह्यत्वम्=बोध्यत्वम्, ग्राहकत्वम्=बोधकत्वम्, द्वेशक्ती=प्रकाश्यत्व प्रकाशकत्वे इत्यर्थः, यथा तेजसो भवतस्तथैव सर्वशब्दानाम् एते=ग्राह्यत्व-ग्राहकत्वे, पृथक् अवस्थिते=निश्चिते इति भावः। 'पृथगवस्थिते' इत्युक्त्या तयोः शक्त्योरसमनैयत्यं सूचितम् । यथा दीपादौ विषयसन्निधाने सति प्रकाश्यत्वप्रकाशकत्वोभयशक्तिः विषयासन्निधाने केवलं प्रकाश्यत्वम् । एवमेव यदा अर्थस्य बाधस्तदा केवलं ग्राह्यत्वशक्तिः शब्दे । अर्थस्य बाधाभावे ग्राह्यत्व-ग्राहकत्वोभयशक्तिरिति बोध्यम् । विषयत्वम्=स्व

[= शब्दस्य] विषयताम्, अनादृत्य = असम्पाद्य, शब्दैः = बोधकैरित्यर्थः। अर्थो न प्रकाश्यते = न बोध्यते इत्यर्थः। अयं भावः—द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति आलोकसंयोगस्य हेतुत्वमावश्यकम्, अन्यथा चक्षुःसंयोगावस्थायामन्धकारेऽपि घटादि-पदार्थानां प्रत्यक्षत्वापत्तिः। तथा च यथा दीपो घटं प्रकाशयन् आत्मानमपि प्रकाशयति, तथा अर्थगोचरशब्दनिष्ठशक्तिसहकृत एव शब्दोर्थस्य स्वस्य च प्रत्यायकः। यथा घटाद्यभावे स एवालोकः स्वमात्रविषयकप्रत्यक्षजनकस्तथा अर्थे तात्पर्याभावे शब्दे च तात्पर्ये सति स एव शब्दस्तद्वृत्त्यैव स्वमात्रबोधं जनयतीति प्रभाटीकाकाराः।

अत एव = शाब्दबोधे शब्दस्य भानादेव। शब्दप्रतीतिः = विष्णुशब्दमुच्चारयेति प्रतीतिः, अर्थस्योच्चारणबाधादिति भावः। अत एव = शब्दस्य शाब्दबोधविषयत्वादेवेत्यर्थः। अनुकरणस्य लक्षणमाह—स्वसदृशेति। स्वम् = अनुकरणम्। अनुकार्यं निरूपयति—स्वसदृशेति। अत्र स्वम् = अनुकार्यम्, मात्रशब्देनार्थस्य व्यावृत्तिः। सादृश्यञ्चात्र-स्वपर्याप्तानुपूर्वीमत्त्वेन ग्राह्यम्, अन्यथा एकदेशानुपूर्वीमादाय एकदेशे लक्षणस्यातिव्याप्तिः प्रसज्येत। अनुकार्यानुकरणयोः पक्षद्वयं भेदोऽभेदश्च। तत्र भेदपक्षेऽनुकार्यशब्दस्वरूपस्य प्रतिपादकत्वेनार्थवत्त्वं तेन तन्निमित्तककार्याणि। अस्मिन् पक्षे प्रमाणन्तु "मतौ छः सूक्तसाम्नोः" [पा० सू० ५।२।५९] इति सूत्रस्थं भाष्यम्। तत्र हि अस्यवामीयमित्यत्र अस्यवामेति पदसमूहस्य वेदे पठ्यमानस्यैकदेशानुकरणस्यवामशब्दे छप्रत्ययसिद्ध्यर्थं तस्य अनुकार्येणार्थेनार्थवत्त्वात् प्रातिपदिकत्वं साधयितुम् "एवं योऽसावाम्नायेऽस्यवाम-शब्दः पठ्यते सोऽस्य [छ-प्रत्ययस्य प्रकृतित्वेन विवक्षितस्यास्यवामशब्दस्य] पदार्थः। किं पुनरन्ये आम्नायशब्दा अन्ये इमे? ओमित्याह"। एवञ्चानेन भाष्येणानुकार्यशब्दस्वरूपनिरूपितायाः शक्तेरनुकरणे सत्त्वात् वृत्त्यार्थबोधजनकत्वरूपार्थवत्त्वेन प्रातिपदिकत्वात् तन्निमित्तककार्याणि जायन्ते। अत एव पाणिनेः "भुवो वुग् लुङ्लिटोः" [पा० सू० ६।४।८८] इति षष्ठ्यन्तप्रयोगः सङ्गच्छते। अन्यथा भुवो धातुत्वात्प्रातिपदिकत्वाभावे तन्निर्देशासङ्गतिः स्पष्टैव। अनुकार्यादनुकरणमभिन्नमिति पक्षस्य मूलन्तु "ऋऌक्" [माहे० सू० २] सूत्रस्थं भाष्यम्। तत्र हि "प्रकृतिवदनुकरणं भवति। किं प्रयोजनम्? द्विः पचन्त्वित्याह 'तिङ्ङतिङः'" [पा० सू० ८।१।२८] इति निघातो यथा स्यात्। 'अग्नी इत्याह' "ईदूदेद् द्विवचनं" प्रगृह्यसंज्ञं भवतीति प्रगृह्यसंज्ञा यथा स्यात्। अनेन भाष्येणानुकरणस्यानुकार्यादभेदो लभ्यते। अत्र पक्षेऽर्थवत्त्वाभावान्न प्रातिपदिकत्वादिकार्याणि। 'भू सत्तायाम्' इत्यादिप्रयोगास्तु शिष्टप्रयोगात् साधव एवेति बोध्यम्।

शाब्दबोध में शब्द की प्रतीति

शाब्दबोध [शब्द से होने वाले ज्ञान] में विशेषणरूप से शब्द भी भासित होता

है। कारण यह है कि 'युधिष्ठिर आसीत्' [युधिष्ठिर था] इत्यादि में 'युधिष्ठिर शब्द का वाच्य कोई था' ऐसा ज्ञान होता है। [यहाँ जो ज्ञान हो रहा है उसमें 'युधिष्ठिर' शब्द भी विशेषण रूप से प्रतीत हो रहा है।] क्योंकि—

"लोक में [निर्विकल्पक के अतिरिक्त] वह ज्ञान नहीं है जो शब्द के अनुगम के विना होता है। समस्त ज्ञान शब्द से अनुविद्ध [विधा हुआ, मिला हुआ] के समान भासित होता है।"

ऐसा [भर्तृहरि आदि] अभियुक्तों [आचार्यों] का कहना है और—

"तेज की ग्राह्यत्व एवं ग्राहकत्व [प्रकाश्यत्व एवं प्रकाशकत्व] दो शक्तियाँ जिस प्रकार होती हैं उसी प्रकार समस्त शब्दों की ये दो [बोध्यत्व एवं बोधकत्व] शक्तियाँ पृथक् पृथक् स्थित हैं। [अपनी] विषयता का सम्पादन कराये बिना शब्द अर्थ का प्रकाश [बोध] नहीं कराता है।"

ऐसा वाक्यपदीय [में कहा गया] है।

विमर्श—वैयाकरण आचार्यों का मत है कि जितने भी ज्ञान होते हैं उनमें शब्द की प्रतीति अवश्य होती है। यहाँ निर्विकल्पक ज्ञान को नहीं लेना चाहिये क्योंकि इसमें शब्द का भान मान लेने पर उसका निर्विकल्पकत्व भंग हो जायगा। शब्द एवम् अर्थ में तादात्म्य माना जाता है। यहाँ भेद वास्तविक है अभेद आरोपित है। तादात्म्य भेदाभेदघटित होता है। इसलिये अग्नि आदि के उच्चारण में मुँह नहीं जलता है।

वाक्यपदीयकार ने शब्दनिष्ठ शक्ति की तुलना दीपादिनिष्ठ शक्ति से की है। जैसे दीपक में प्रकाशकत्व और प्रकाश्यत्व शक्ति रहती है उसके साथ जब घटादि पदार्थ का सम्बन्ध होता है तो वह शक्ति दोनों कार्य अर्थात् प्रकाशकत्व और प्रकाश्यत्व कार्य करती है। दीपक अपने को भी प्रकाशित करता है और घटादि पदार्थों को भी। परन्तु जब घटादि पदार्थ नहीं रहते हैं तब वह शक्ति अपने को ही प्रकाशित करती है। यही स्थिति शब्द के विषय में भी है। जब अर्थ के विषय में तात्पर्य नहीं रहता है तब शब्द केवल अपने को ही प्रकाशित करता है, स्वयं प्रकाश्य होता है। अतः प्रकाश्यत्व शक्ति ही कार्य करती है। ये दोनों शक्तियाँ पृथक्-पृथक् स्थित रहती हैं।

अनु०—[शब्द का अर्थ शब्द भी होता है] इसीलिये 'विष्णुमुच्चारय' [विष्णु का उच्चारण करो] इत्यादि में अर्थ [भगवान्] का उच्चारण सम्भव न होने से [विष्णु] शब्द की प्रतीति होती है। इसीलिये अनुकरण द्वारा अनुकार्य की प्रतीति होती है। [अर्थात् जिस शब्द का अनुकरण किया जाता है उसका ज्ञान होता है]

वह इस प्रकार है—अपने [=अनुकरण के] सदृश शब्दमात्र के बोध के तात्पर्य वाले उच्चारण का विषय होना—अनुकरण होना है। अपने [=अनुकार्य के] सदृश शब्द से प्रतिपाद्य होते हुए शब्द होना—अनुकार्य होना है। इसमें 'अनुकार्य से अनुकरण भिन्न होता है' इस प्रकार की अनुकार्य एवम् अनुकरण की भेदविवक्षा में अनुकार्य शब्द के स्वरूप का प्रतिपादक होने से अर्थवत्ता के कारण प्रातिपदिक हो जाने से सु आदि विधियाँ होती हैं। [अनुकार्य एवम् अनुकरण के] भेदपक्ष का ज्ञापक 'भुवो वुग् लुङ्लिटो:' [पा० सू० ६।४।८८] इत्यादि निर्देश है। [भेद न मानने पर 'भू' यह धातु ही समझा जाता, फलतः 'अधातुः' निषेध लागू होने से, प्रातिपदिक संज्ञा न होने से षष्ठी विभक्ति नहीं आ सकती थी।] और 'अनुकार्य से अनुकरण अभिन्न होता है' इस अभेदविवक्षा में अर्थवत्ता न होने के कारण प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होती है और न पदसंज्ञा होती है। [दोनों में] अभेदपक्ष का ज्ञापक तो 'भू सत्तायाम्' [सत्ता अर्थ में भू धातु है—] इत्यादि निर्देश है। प्रातिपदिक एवं पद न होने पर भी 'भू' आदि साधु ही होते हैं।

विमर्श—शाब्दबोध में शब्द की प्रतीति होती है, यह अनुभवसिद्ध है, क्योंकि 'विष्णु का उच्चारण करो' यहाँ विष्णु=भगवान्‌रूपी अर्थ का उच्चारण सम्भव नहीं है। अतः विष्णु शब्द का ही उच्चारण किया जाता है। शब्द का भान होता है इसीलिये अनुकरण से अनुकार्य शब्द के स्वरूप की प्रतीति होती है। अनुकार्य एवम् अनुकरण के विषय में दो पक्ष हैं (१) भेदपक्ष और (२) अभेदपक्ष। जब अनुकार्य की अपेक्षा अनुकरण भिन्न होता है उस समय अनुकरण शब्द अनुकार्य शब्द के स्वरूप का प्रतिपादन करने के कारण अर्थवान् होता है और 'अर्थवदधातु०' "[पा० सू० १।२।४५] से प्रातिपदिक संज्ञा होती है। इसीलिये 'भुवो वुग् लुङ्लिटो:' "[पा० सू० ६।४।८८] यहाँ 'भुवः' इसमें षष्ठी होती है। यदि अनुकार्य की अपेक्षा अनुकरण में भेद नहीं होता तो अनुकार्य 'भू' धातु है। उसकी प्रातिपदिकसंज्ञा नहीं की जा सकती है क्योंकि "अर्थवदधातु०" यहाँ 'अधातु' यह निषेध हैं। अतः दोनों में भेद मानकर ही 'भू' का अर्थवत्त्व एवं प्रातिपदिकत्व आदि उपपादित किया जा सकता है। अनुकार्य की अपेक्षा अनुकरण में अभेद है, इसमें प्रमाण है—'भू सत्तायाम्' आदि निर्देश। यदि भेद होता तो अनुकरण शब्द अनुकार्य का बोध कराने के कारण अर्थवान् होकर प्रातिपदिक बन जाता जिसके फलस्वरूप विभक्ति का प्रयोग रोकना कठिन होता। जब दोनों में अभेद है तो अर्थवत्ता न होने से और 'अधातु' इस निषेध के रहने से प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होती है और न विभक्ति का प्रसङ्ग आता है। 'सत्तायामर्थे भू साधुः' इस तात्पर्य में उसका प्रयोग है। अतः असाधु नहीं है।

ननु 'अपदं न प्रयुञ्जीत' इति भाष्यादसाध्विदमिति चेत्, न। अपदमित्यस्य हि अपरिनिष्ठितमित्यर्थः। परिनिष्ठितत्वं च—अप्रवृत्तनित्यविध्युद्देश्यतावच्छेदकानाक्रान्तत्वम्। देवदत्तो भवतीत्यादौ 'तिङतिङः' [पा० सू० ८।१।२८] इति निघाते जातेऽतङन्तपदपरतिङन्तत्वरूपोद्देश्यतावच्छेदकसत्त्वे अपरिनिष्ठितत्ववारणाय—अप्रवृत्तेति। 'स्वरति०' [पा० सू० ७।२।४४] इत्यादिविकल्पसूत्रस्य पाक्षिकप्रवृत्तौ 'सेद्धा' इत्यादावसाधुत्ववारणाय—नित्यविधीति। अभेदपक्षे तु 'अर्थवत्' [पा० सू० १।२।४५] इति सूत्रस्यार्थवत्त्वरूपोद्देश्यतावच्छेदकानाक्रान्तत्वात् सूत्राप्रवृत्तावपि 'भू' इत्यादि परिनिष्ठितम्। परिनिष्ठितसाधुशब्दौ पर्यायौ।

भू सत्तायामित्यादीनामसाधुत्वं प्रदर्श्य साधुत्वमुपपादयति—नन्विति। इदम्=भू सत्तायामित्यत्र भू-शब्द इत्यर्थः। शङ्काकर्तुरयमाशयः—अभेदपक्षे अर्थवत्त्वाभावेन प्रातिपदिकत्वाद्यभावात् पदत्वं नोपपद्यते पदस्यैव च साधुत्वं बोध्यते। एवञ्चास्यासाधुत्वमिति। परिनिष्ठितत्वमिति। अप्रवृत्तो यो नित्यविधिः तस्य यदुद्देश्यतावच्छेदकं तेनानाक्रान्तत्वम्=अविषयत्वमिति यावत्—परिनिष्ठितत्वम्। यथा—राम सु इत्यवस्थायाम् अप्रवृत्तो नित्यविधिः "ससजुषोः रुः" [पा० सू० ८।२।६६] इति विधिः, तस्योद्देश्यतावच्छेदकम्—पदान्तत्वविशिष्टसत्वम्, तेनाक्रान्तत्वादस्यापरिनिष्ठितत्वम्। रामः इत्यत्र तु पूर्वोक्तशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकानाक्रान्तत्वात् परिनिष्ठितत्वं बोध्यम्। लक्षणघटकपदानां सार्थक्यमुपपादयति—देवदत्तो भवतीति। अत्र नित्यविधेः प्रवृत्तत्वान्नापरिनिष्ठितत्वमिति भावः। नित्यविधीति। 'षिधू शास्त्रे माङ्गल्ये च, "धूदितो वा" [पा० सू० ७।२।४४] इत्यनेन वैकल्पिक इट्। तेन सेधिताइत्यत्र इट्-प्रवृत्तिः, सेद्धा इत्यत्र च नैव। लक्षणे नित्यविधीत्यस्य ग्रहणेन 'सेद्धा' इत्यत्र परिनिष्ठितत्वं सुलभम्।

'अपद का प्रयोग न करे' इस भाष्यवाक्य से यह [भू सत्तायाम्] असाधु है—ऐसा यदि [कहते हो] तो नहीं [कह सकते], क्योंकि 'अपद' का अर्थ है—अपरिनिष्ठित। और परिनिष्ठित होने का अर्थ है—अप्रवृत्त जो नित्य विधि उसकी उद्देश्यता के अवच्छेदक [धर्म] से आक्रान्त न होना अर्थात् रहित होना। [जैसे सुधी + उपास्यः आदि में अप्रवृत्त नित्य विधि 'इको यणाचि' [पा० सू० ६।१।७७] के उद्देश्यतावच्छेदक धर्म—अजव्यवहित-पूर्वत्व-विशिष्ट इकत्व—से आक्रान्त है अतः परिनिष्ठित नहीं है। यण् हो जाने पर 'सुद्ध्युपास्यः'' इस अवस्था में परिनिष्ठितत्व है।] 'देवदत्तो भवति' आदि में' "तिङ्ङतिङः" [पा० सू० ८।१।२८] इससे निघात=अनुदात्त हो जाने पर अतिङन्त पद से परे तिङन्तत्व रूप उद्देश्यतावच्छेदक

के रहने पर अपरिनिष्ठितत्व का वारण करने के लिये—'अप्रवृत्त' यह रखा गया है। [यहाँ नित्य विधि एक बार प्रवृत्त हो चुकी है अतः दोष नहीं है।] 'स्वरतिसूति-सूयति-धूञूदितो वा' [पा० सू० ७।२।४४] इत्यादि वैकल्पिक सूत्र की पाक्षिक प्रवृत्ति में 'सेद्धा' इत्यादि में असाधुत्व का वारण करने के लिये 'नित्य विधि' ऐसा [कहा गया] है। [यह सूत्र विकल्प से इट् करता है अतः सेधिता एवं सेद्धा दोनों साधु हैं। 'सेद्धा' में अप्रवृत्त होने पर भी दोष नहीं है क्योंकि यह वैकल्पिक विधि है।] [अनुकार्य से अनुकरण में] अभेदपक्ष में तो 'अर्थवदधातुः'' [पा० सू० १।२।४५] इस सूत्र के अर्थवत्त्वरूप उद्देश्यतावच्छेदक से अनाक्रान्त होने से [=रहित होने से] सूत्र की प्रवृत्ति न होने पर भी 'भू' इत्यादि परिनिष्ठित ही है। परिनिष्ठित एवं साधु शब्द पर्याय हैं।

नन्वनुकरणस्यानुकार्यस्वरूपबोधकत्वस्याभावेन कथमनुकार्यस्वरूपप्रतीतिरिति चेत्, सादृश्याख्यसम्बन्धेनेति गृहाण। यथा मैत्रसदृशपिण्डदर्शने मैत्रस्मरणम्। एवं भू-इत्याद्यनुकरणज्ञाने तादृशानुकार्यस्य ज्ञानमिति सङ्क्षेपः।

[इति नामार्थ-निरूपणम्]

———

अभेदपक्षेऽनुकार्यस्वरूपप्रतीतिमुपपादयति—नन्विति। अत्राभेदपक्षे इति शेषः। एवञ्चाभेदपक्षे सादृश्यमूलिकानुकार्यस्य प्रतीतिरिति भावः। एवं रीत्याऽनुकार्यप्रत्यायकत्वेऽर्थवत्त्वमादाय प्रातिपदिकत्वाद्यापत्तिर्न शङ्कनीया, "अर्थवदि०" [पा० सू०] ति सूत्रे वृत्त्यार्थप्रत्यायकस्यैवार्थवत्त्वस्य स्वीकाराद् दोषाभावादित्यलम्।

॥ इति आचार्य जयशङ्कर-लाल-त्रिपाठि-विरचितायां भावप्रकाशिका-व्याख्यायां नामार्थविचारः॥

———

[दोनों के अभेदपक्ष में] अनुकरण के अनुकार्यस्वरूप के बोधक न होने के कारण अनुकार्य के स्वरूप की प्रतीति कैसे होगी, ऐसा यदि [कहो] तो नहीं [कह सकते] क्योंकि सादृश्यनामक सम्बन्ध से [अनुकार्य के स्वरूप की प्रतीति हो जायगी] ऐसा मान लो। जिस प्रकार मैत्र के समान पिण्ड [शरीराकृति] दिखाई देने पर मैत्र का स्मरण हो जाता है उसी प्रकार 'भू' इत्यादि अनुकरण का ज्ञान होने पर उस 'भू' इत्यादि अनुकार्य का स्मरण हो जाता है, यह [इस विषय का] संक्षेप है।

विमर्श—'भू सत्तायाम्' आदि में 'भू' यह अनुकरण शब्द है। अनुकरण के विषय में भेदपक्ष एवम् अभेदपक्ष है। भेदपक्ष में अनुकरण का अर्थ अनुकार्य शब्द माना जाता है। इसलिये अर्थवत्ता के कारण प्रातिपदिकत्व एवं विभक्त्युत्पत्ति आदि कार्य होते हैं। जैसा कि 'भुवो वुग्' [पा० सू० ६।४।८८] में है। जब दोनों में अभेद होता है तो उसका वाच्यवाचकभाव न होने से प्रातिपदिकत्व एवं विभक्त्युत्पत्ति आदि नहीं होते हैं। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि विभक्ति के अभाव में पदत्व नहीं होता है। और अपद का प्रयोग नहीं होता है। इसका उत्तर यह है कि पद का तात्पर्य परिनिष्ठित से है। और जिसमें प्रवृत्त न होने वाली नित्य विधि का उद्देश्यतावच्छेदक धर्म नहीं रहता है वह परिनिष्ठित माना जाता है। 'भू-सत्तायाम्' आदि में किसी अप्रवृत्त नित्य विधि के उद्देश्यतावच्छेदक धर्म का आक्रान्तत्व = साहित्य नही है अपितु राहित्य है। अतः यह भी परिनिष्ठित है। और परिनिष्ठित एवं साधु ये दोनों पर्यायवाचक हैं। अतः यहाँ किसी प्रकार का दोष नहीं है।

॥ इस प्रकार आचार्य जयशङ्कर लाल त्रिपाठि-विरचित बालबोधिनी

हिन्दी-व्याख्या में नामार्थ-विवेचन समाप्त हुआ ॥

———

[समासादिवृत्त्यर्थनिरूपणम्]

अथ समासादिवृत्त्यर्थः। वृत्तिर्द्विधा—जहत्स्वार्थाऽजहत्स्वार्था च। अवयवार्थनिरपेक्षत्वे सति समुदायार्थबोधिकात्वं जहत्स्वार्थात्वम्। अवयवार्थसंवलितसमुदायार्थबोधिकात्वमजहत्स्वार्थात्वम्। रथन्तरं सामभेदः, शुश्रूषा = सेवा इति पूर्वस्या उदाहरणम्। राजपुरुष इत्यादावन्त्या।

समासादिपञ्चसु विशिष्टे एव शक्तिर्न त्ववयवे रथन्तरं, सप्तपर्णः, शुश्रूषेत्यादौ अवयवार्थानुभवाभावात्। अत एव भाष्ये व्यपेक्षापक्षमुद्भाव्य 'अथैतस्मिन् व्यपेक्षायां सामर्थ्ये योऽसावेकार्थीभावकृतो विशेषः स वक्तव्यः' [म० भा० २।१।१] इत्युक्तम्। धवखदिरौ, निष्कौशाम्बिः, गोरथो, घृतघटो, गुडधानाः, केशचूडः, सुवर्णालङ्कारो, द्विदशाः, सप्तपर्ण इत्यादौ—साहित्य–क्रान्त–युक्त—पूर्ण—मिश्र-सङ्घात—विकार—सुच्प्रत्ययलोप—वीप्साद्यर्था वाचनिका वाच्या इति तद्भाष्याशयः।

सामान्यतया नामार्थं निर्णीय समासस्यापि नामविशेषतया तदर्थं निरूपयितुमारभते—अथेति। समासादीति। अत्र 'आदिपदेन कृत्तद्धितैकशेषसनाद्यन्तधातुरूपाणामपि

परामर्शः । तेन पञ्चविधा वृत्तयो ग्राह्याः । प्राचीनानां मतेनेदम् । नव्यास्तु एकशेषस्य वृत्तित्वं नेच्छन्ति, परार्थान्वितस्वार्थोपस्थापकत्वाभावात् । वस्तुतस्तु द्वन्द्वापवादतया एकशेषस्यापि वृत्तित्वमुचितमित्यन्यत्रानुसन्धेयम् । अत्र समासत्वन्तु-संकेतविशेषसम्बन्धेन समासपदवत्त्वम्, एकार्थीभावापन्नपदसमुदायविशेषो वा । यत्तु-नैयायिकादयः--अर्थबोधायाननुसन्धीयमानविभक्तिकपूर्वपदकनामसमुदायत्वं तत्त्वम्; तन्न, दधिमधुर-मित्यादावतिव्याप्तेः । विस्तरस्तु लघुमञ्जूषायां द्रष्टव्यः । अर्थमूलकं वृत्तिभेदं निरूपयति द्विधेति । अत्र मानन्तु "समर्थः पदविधिः" [पा० सू० २।१।१] इति सूत्र भाष्यम्—"अथ तेषामेवं ब्रुवतां किं जहत्स्वार्था वृत्तिर्भवति, आहोस्विदजहत्स्वार्था ।" जहति= त्यजन्ति, स्वानि=पदानि यमर्थं सः जहत्स्वः=अर्थः, स्व=पद-कर्तृकत्यागकर्मी-भूतोऽर्थ इति यावत् । जहत्स्वः अर्थो यस्यां वृत्तौ सा जहत्स्वार्था । अत्र स्वशब्द आत्मीयपरः, अर्थस्यात्मीयश्च पदमेवेति बोध्यम् । तथा च जहत्स्वार्थात्वमेवैकार्थीभाव-भावत्वमिति । एवमेव अजहति=न त्यजन्ति स्वानि=पदानि यमर्थं सोऽजहत्स्वार्थः, सो यस्यां वृत्तौ साऽजहत्स्वार्था । अजहत्स्वार्थात्वमेव व्यपेक्षा । इदमेव निरूपयति—अवयवार्थेति । एकार्थीभावे समुदाय एवार्थवान्, विशिष्टार्थस्योपस्थापकः, पदानि तु नार्थोपस्थापकानि । व्यपेक्षापक्षे तु परस्परापेक्षत्वरूपव्यपेक्षात्वस्य सम्भवात् तत्पक्षेऽ-वयवा अपि स्वार्थोपस्थापकाः । एवञ्च स्वार्थपर्यवसायिनां पदानामाकाङ्क्षादिवशात् परस्परान्वयो व्यपेक्षेति फलति । रथन्तरमित्यादौ रथेन तरतीत्यादिप्रतीतिर्नेत्यर्थः । पूर्वस्याः=जहत्स्वार्थायाः । अन्त्या=अजहत्स्वार्था ।

नन्वत्रावयवार्थस्यापि प्रतीतौ विशिष्टशक्तिसिद्धान्तोच्छेद इत्यत आह—विशिष्टे एवेति । समाससञ्ज्ञके समुदाये कृदन्ते, तद्धितान्ते, एकशेषे, सनाद्यन्तधातुसञ्ज्ञके समुदाये च शक्तिपर्याप्तिरिति बोध्यम् । अत एव=समासादौ विशिष्टशक्तिस्वीकारा-देवेत्यर्थः । तद्भाष्याशय इति । अयं भावः—एकार्थीभावपक्षे समुदायो विशिष्टार्थस्यो-पस्थापको भवति । व्यपेक्षापक्षे पदानि स्वार्थोपस्थापकानि । एवञ्च तत्र तत्तदर्थानां बोधाय तत्तद्वचनानां कर्तव्यत्वे गौरवम् । यथा धवखदिरावित्यादौ साहित्याद्यर्थ-बोधनाय पृथग्वचनानि कर्तव्यानि । तदुक्तं भूषणे—

> चकारादि - निषेधोऽथबहुव्युत्पत्ति - भञ्जनम् ।
> कर्तव्यं ते, न्यायसिद्धं त्वस्माकं तदिति स्थितिः ॥ वै० भू० का० ३२

एकार्थीभावत्वञ्च—यत्किञ्चित्-पदजन्यपृथगुपस्थितिविषयार्थकत्वेन लोके दृष्टानां शब्दानां विशिष्टविषयैकशक्त्यैवोपस्थितिजनकत्वम् । घट इत्यादावतिप्रसङ्गवारणाय 'दृष्टानाम्' इत्यन्तनिवेशः । औपगवादौ प्रत्ययानां तथा दृष्टत्वाभावेनाव्याप्तिवारणाय 'यत्किञ्चित्पदजन्येति विशेषणम् । तथा च उपगोरपत्यमित्यादौ अपत्यपदजन्योप-

स्थितिविषयार्थकाणूपदघटितत्वेन तत्त्वमुपपद्यते। विभक्तिघटितेषु 'रामाभ्याम्' इत्यादौ नातिव्याप्तिः, विभक्तिवाच्यार्थवाचकस्य शब्दान्तरस्याभावादिति लघुमञ्जूषादौ द्रष्टव्यम्। अन्ये तु—शक्तिविशिष्टत्वमेकार्थीभावत्वम्। वैशिष्ट्यञ्च—स्वपर्याप्त्यधिकरण-घटितत्व—स्वनिरूपकार्थेतरार्थ-निरूपित-शक्ति-पर्याप्त्यधिकरण-घटितत्व—स्वज्ञान प्रयोज्यज्ञान-विषयशक्तिपर्याप्त्यधिकरणत्वमित्येतत्त्रितयसम्बन्धेन। लक्षणसमन्वयस्तु—वृत्तिघटकपदनिष्ठशक्तिमादाय विधेयः।

अब समास आदि वृत्तियों के अर्थ का विवेचन [प्रारम्भ होता है।] वृत्ति दो प्रकार की होती है १—जहत्स्वार्था और २—अजहत्स्वार्था। अवयवों के अर्थों की अपेक्षा रखने वाला न होते हुए समुदाय के अर्थ की बोधक होना जहत्स्वार्था होती है। [और] अवयवों के अर्थ से संवलित [विशिष्ट] समुदाय के अर्थ की बोधक होना अजहत्स्वार्था होती है। रथन्तर [यह] = साम [वेद] का भेद [विशेष प्रकार], शुश्रूषा = सेवा ये पूर्व = जहत्स्वार्था के उदाहरण हैं। [क्योंकि इनमें अवयवों के अथ की प्रतीति नहीं होती है।] राजपुरुष इत्यादि में अन्तिम = अजहत्स्वार्था हैं [क्योकि इससे राजसम्बन्धी पुरुषः ऐसा अर्थबोध होने पर अवयवों के अर्थ की भी प्रतीति होती है।

विमर्श—इस प्रकरण से पहले नाम = प्रातिपदिकसामान्य के अर्थों का विवेचन किया जा चुका है। समास भी प्रातिपदिक होता है। अतः उसके अर्थ का विवेचन किया जा रहा है। मूल में 'समासादिवृत्ति' शब्दघटक 'आदि' से चार अन्य वृत्तियाँ—कृत्, तद्धित, एकशेष और सनाद्यन्त धातु का भी ग्रहण समझना चाहिये। इस प्रकार पांच वृत्तियों के अर्थों का विवेचन करना प्रतीत होता है। यहाँ लाघव के कारण केवल समास वृत्ति के विषय में ही संक्षिप्त विचार किया गया है। समास का लक्षण—पाणिन्यादि आचार्यों के सङ्केतविशेष सम्बन्ध से समासपदवाला होना अथवा एकार्थीभावापन्न पदों का समुदायविशेष। यही वैयाकरणों का मत है। नैयायिक आदि के मत में—अर्थबोध के लिये अननुसन्धायमान विभक्तियों वाले पूर्वपदवाले नाम का समुदाय—समास है। किन्तु यह लक्षण दधि मधुरम् इस वाक्य में अतिव्याप्त हैं। अतः ठीक नहीं है।

वास्तव में वृत्तियाँ पांच हैं—कृत्, तद्धित, समास, एकशेष और सनाद्यन्त धातु। यहाँ जो 'वृत्तिर्द्विधा' यह लिखा गया है, वह अर्थ को मानकर है, ऐसा समझना चाहिये। जहति = छोड़ देते हैं स्वानि = पद जिसको वह जहत्स्व = अर्थ है। जहत्स्व अर्थ है जिसमें वह जहत्स्वार्था वृत्ति है। इसके विपरीत अर्थात् जहाँ पद अपने अथ का परित्याग नहीं करते हैं, समुदायार्थ के साथ पदों के अर्थों की भी प्रतीति होती रहती है, वह अजहत्स्वार्था मानी जाती है। वैयाकरणों के अनुसार जहत्स्वार्था

एकार्थीभाव और अजहत्स्वार्था व्यपेक्षा है। ये विशिष्ट शक्तिवाद के समर्थक हैं। अवयवों के अर्थ की प्रतीति नहीं मानते हैं। नैयायिक आदि व्यपेक्षावाद के समर्थक हैं। जहाँ अभीष्ट अर्थ की प्रतीति नहीं हो पाती है वहाँ लक्षणा आदि का आश्रय लेते हैं। यह गौरव है। यही आगे कह रहे हैं—]

[अनु०] समास आदि पाँच [वृत्तियों] में विशिष्ट = समुदाय में ही शक्ति रहती है, अवयवों में नहीं; कारण यह है कि रथन्तर, सप्तपर्ण और शुश्रूषा इत्यादि में अवयवों के अर्थ [रथ—करणक तरणकर्ता, सात-सात पर्णवाला, और सुनने की इच्छा] का अनुभव नहीं होता है। [समासादि में विशिष्ट में ही शक्ति स्वीकार की जाती है] इसी लिये महाभाष्य में व्यपेक्षा पक्ष का उद्‌भावन करके "इस व्यपेक्षा सामर्थ्य में जो एकार्थीभाव सामर्थ्य द्वारा किया गया विशेष है, वह कहना होगा" [म० भा० २।१।१] ऐसा कहा गया। (१) धवखदिरौ [धवनामक वृक्षसहित खैर वृक्ष] (२) निष्कौशाम्बिः [कौशाम्बी नगरी से निकाला गया] (३) गोरथः [गौ = बैल से युक्त रथ] (४) घृतघटः [घी से भरा हुआ घड़ा], (५) गुडधाना [गुड़ से मिला धान = लावा] (६) केशचूड़ः [केशों का समुदाय चूल] (७) सुवर्णालङ्कारः [सोने का विकार गहना] (८) द्विदशाः [दो बार दश = बीस] (९) सप्तपर्णः [सात सात पत्तों वाला वृक्ष] इत्यादि में [क्रमशः] (१) साहित्य, (२) क्रान्त = निकला हुआ, (३) युक्त, (४) पूर्ण, (५) मिश्र, (६) संघात = समुदाय, (७) विकार (८) सुच् प्रत्यय का लोप, (९) वीप्सा आदि अर्थ वाचनिक [वार्तिकों द्वारा कह जाने वाले] कहने होंगें यह उस भाष्य का आशय है। [समुदाय में शक्ति मानने वाले वैयाकरणों में मत में तो विशिष्ट शक्ति से ही विशिष्ट अर्थों की प्रतीति स्वाभाविक है। अतिरिक्त वार्तिकों की आवश्यकता नहीं पड़ती है। एकार्थीभाव के स्वरूप आदि का विशेष विवेचन संस्कृत-व्याख्या में देखना चाहिये।

यत्तु व्यपेक्षावादिनो नैयायिकमीमांसकादयः—न समासे शक्तिः। राजपुरुष इत्यादौ राजपदादेः सम्बन्धिनि लक्षणयैव राजसम्बन्धवदभिन्नः पुरुष इति बोधात्। अत एव राज्ञः पदार्थैकदेशत्वान्न तत्र ऋद्धस्येत्यादिविशेषणान्वयः। 'पदार्थः पदार्थेनान्वेति, न तु पदार्थैकदेशेन' इत्युक्तेः। 'सविशेषणानां वृत्तिर्न, वृत्तस्य च विशेषणयोगो न' इत्युक्तेश्च। न वा घनश्यामो, निष्कौशाम्बिः, गोरथ इत्यादाविवादिप्रयोगापत्तिः। लक्षणयैवोक्तार्थतया 'उक्तार्थानामप्रयोग' इति न्यायेन इवादीनामप्रयोगात्। नापि 'विभाषा' [पा० सू० २।१।११] इति सूत्रमावश्यकम्, लक्षणया राजसम्बन्ध्यभिन्न इति बुबोधयिषायां समासस्य, राजसम्बन्धवानिति बुबोधयिषायां विग्रहस्य च प्रयोगनियमसम्भवात्। नापि "शक्तिः

पङ्कजशब्दवद्" इति पङ्कजशब्दप्रतिद्वन्द्विता शक्तिसाधिका, तत्रावयवशक्तिमजानतोऽपि ततो बोधात् । न च शक्त्यग्रहे लक्षणया तस्माद्विशिष्टार्थप्रत्ययः सम्भवति । अत एव राजपदादिशक्त्यग्रहे राजपुरुष इत्यादिषु न बोधः ।

न च चित्रगुरित्यादौ लक्षणासम्भवेऽप्यषष्ठ्यर्थबहुव्रीहौ लक्षणाया असम्भवः, बहुव्युत्पत्तिभञ्जनापत्तेरिति वाच्यम्; प्राप्तोदक इत्यादौ उदकपदे एव लक्षणास्वीकारात्, पूर्वपदस्य यौगिकत्वेन तत्र लक्षणाया धातुप्रत्ययतदर्थज्ञानसाध्यतया विलम्बितत्वात् । प्रत्ययानां सन्निहितपदार्थगतस्वार्थबोधकत्वव्युत्पत्त्यनुरोधाच्च । घटादिपदे चातिरिक्ता शक्तिः कल्प्यमाना प्रत्येकं वर्णेषु बोधकत्वेऽपि विशिष्टे कल्प्यते, विशिष्टस्यैव सङ्केतितत्वात् । प्रकृते चात्यन्तसन्निधानेन प्रत्ययान्वयसौलभ्यायोत्तरपदे एव लक्षणा कल्प्यत इति विशेषः । स्वीकृतं च घटादिपदेष्वपि चरमवर्णस्यैव वाचकत्वं मीमांसकंमन्यैरित्याहुः ।

निरसितुमाह—यत्त्विति । व्यपेक्षा च—पृथगुपस्थितानां पदार्थानामाकाङ्क्षावशात् परस्परं यः सम्बन्धः सः, यथा वाक्ये । नैयायिकादयः वाक्ये वृत्तौ च व्यपेक्षामेव स्वीकुर्वन्ति । अत एव = राजपदादेः राजसम्बन्धिनि लक्षणासत्त्वादेवेत्यर्थः । विशेषणान्वय इति । राजपदेन राजसम्बन्धवानित्यर्थस्योपस्थितौ राज्ञः पदार्थैकदेशत्वम् । तेन तस्मिन् ऋद्धस्येत्यादिविशेषणान्वयो न, व्युत्पत्तिविरोधात् । पदार्थत्वञ्च—आश्रयत्वसम्बन्धावच्छिन्न-बोधविषयतात्वावच्छिन्न - प्रकारतानिरूपित - भगवदिच्छीयविशेष्यताश्रयत्वम् । पदार्थः = पदजन्यप्रतीतिविशेष्यः, पदार्थेन = पदजन्यप्रतीतिविशेष्येण । प्रतिद्वन्द्विता = दृष्टान्तता । तत्र = पङ्कजशब्दादौ । ततः = पङ्कजादितः । अवयवशक्त्यज्ञाने सति लक्षणया विशिष्टस्यार्थस्य प्रतीतिर्नोपपद्यते, लक्षणाज्ञाने शक्तिज्ञानस्य कारणत्वात् । अत एव = अवयवशक्तिज्ञानस्य विशिष्टार्थबोध-प्रयोजकत्वादेवेत्यर्थः । राजपुरुषादौ अवयवशक्तिज्ञानाभावादशायां शाब्दबोधाभावः सर्वानुभवसिद्धः; एवञ्च राजपुरुषादौ बोधाभावस्तादृशावस्थायां स्वीकृत एव ।

चित्रगुरित्यादाविति—चित्राभिन्ना गौरिति शक्त्युपस्थाप्ययोरन्वयबोधोत्तरं तादृशगोस्वामी गोपदेन लक्ष्यते इति भावः । अषष्ठ्यर्थबहुव्रीहाविति—प्राप्तोदको ग्राम इत्यादावित्यर्थः । अत्र प्राप्तोदकादि-द्वितीयाद्यर्थबहुव्रीहौ पृथक्शक्तिवादिनां मते प्राप्तिकर्माभिन्नमुदकमिति बोधोत्तरं तत्सम्बन्धि - ग्राम - लक्षणायामपि उदककर्तृकप्राप्तिकर्म ग्राम इत्यर्थालाभे प्राप्ते 'प्राप्त' इति क्त प्रत्ययस्य कर्त्रर्थकस्य कर्मार्थे लक्षणा यदि क्रियते तदा 'समानाधिकरणनामार्थयोरभेदान्वय एव' इति व्युत्पत्त्या उदकाभिन्नं प्राप्तिकर्मेति बोधःस्यात् । उदकस्य प्राप्तौ कर्तृतयाऽन्वये तु नामार्थयोरभेदान्वयः इति व्युत्पत्तिभञ्जनापत्तिः, प्राप्तेर्धात्वर्थतया तत्रोदकस्य कर्तृता-सम्बन्धेन भेदेनान्वये

'नामार्थ-धात्वर्थयोः साक्षाद्भेदेनान्वयोऽव्युत्पन्न इति व्युत्पत्तेश्च भञ्जनापत्तिः। अन्यथा देवदत्तेन पच्यते इत्यर्थे 'देवदत्तः पच्यते' इत्यपि स्यात्, कर्तृतासम्बन्धेन पाके देवदत्तस्यान्वयसम्भवात्। अतएव च 'तण्डुलं पचतीत्यर्थे 'तण्डुलः पचती'ति प्रयोगो न भवति, अन्यथा कर्मत्वेन पाकेऽन्वयापत्तेः। नामार्थप्रकारक-शाब्दबोधं प्रति विभक्ति-जन्योपस्थितेः कारणत्वमिति व्युत्पत्ति-भञ्जनमपि स्यात्। एतत्सर्वं भूषणादौ प्रपञ्चितम्। लक्षणावादी समाधत्ते—प्राप्तोदक इत्यादाविति। एतादृशस्थलेषु उदकपदे एव लक्षणायाः शीघ्रोपस्थिति-कत्वरूप-विनिगमकाद् उदकप्राप्तिकर्म इत्यर्थे लक्षणा। प्राप्तपदन्तु तात्पर्यग्राहकं बोध्यम्। ननूदकपदे एव लक्षणायां किं विनिगमकमत आह—पूर्वपदस्येति। अयं भावः—प्राप्तेतिपदं यौगिकं तत्र धातोः प्रत्ययस्य तयोरर्थस्य च ज्ञानेन लक्षणा साध्या। धातुप्रत्ययज्ञानं विना तदर्थज्ञानासम्भवेनार्थज्ञानद्वारा धातु-प्रत्ययज्ञानमपि लक्षणायाः प्रयोजकमिति बोध्यम्। ननु व्युत्पत्तिपक्षे उदकपदस्यापि यौगिकत्वं तुल्यमत आह—प्रत्ययानामिति। अतएव राजपुरुषमानयेत्यादौ प्रत्ययार्थ-कर्मत्वं राजपदार्थे नान्वेति। नन्वेवं घटादिपदेष्वपि चरमवर्णे एव वाचकताकल्पनं स्यात्, पूर्वपूर्ववर्णानां तात्पर्यग्राहकत्वेनोपयोगसम्भवात्, प्रत्ययानां सन्निहितपदार्थ-गतस्वार्थबोधकत्वमिति व्युत्पत्त्यनुरोधादिति चेन्न, घटादिपदे व्यवहारादिना समुदाय एव शक्तिग्रहात् प्रत्येकवर्णे पर्याप्त्या बोधकत्वं नास्ति, समासे च प्रत्येकपदे पर्याप्त्या बोधकत्वमिति भेदसत्वान्न तुल्यन्यायापत्तिरित्यत आह—घटादिपदे चेति। अतिरिक्ता शक्तिरिति—। व्युत्पत्तिपक्षे घटपदेऽपि धातुप्रत्ययादिनिष्ठा शक्तिः कल्प्यते, इति तत्रापि गौरवापत्तिः समानैव स्यात् परन्तु तत्र विशिष्टे एव संकेतग्रहस्यानुभवसिद्धत्वात् विशिष्ट एव शक्तिः सिद्ध्यति।

व्यपेक्षावादियों का मत

व्यपेक्षावादी [पृथक् पृथक् शक्ति मानने वाले) नैयायिक एवं मीमांसक आदि जो यह कहते हैं—समास [समुदाय] में शक्ति नहीं है क्योंकि राजपुरुषः आदि में राजपद आदि की सम्बन्धी अर्थ में लक्षण के द्वारा—राजसम्बन्धी से अभिन्न पुरुष यह बोध होता है। [राजपद की राजसम्बन्धी में लक्षणा होती है] इसीलिये राजा पदार्थैकदेश है अर्थात् राजसम्बन्धी अर्थ में विशेषणतया उपस्थित होता है। अतः उस राजपदार्थ में 'ऋद्धस्य' इत्यादि विशेषण का अन्वय नहीं होता है, क्योंकि "पदार्थ = पदजन्य प्रतीति का विशेष्य पदार्थ = पदजन्यप्रतीति के विशेष्य के साथ ही अन्वित होता है न कि पदार्थैकदेश = पदजन्यप्रतीति के विशेषण के साथ" ऐसा कहा गया है और विशेषणविशिष्ट की [समासादि] वृत्ति नहीं होती है और वृत्त [समासादि के अङ्गभूत] के साथ विशेषण का योग नहीं होता है" ऐसा कहा गया है। और न ही घनश्याम [घन के सदृश श्याम] निष्कौशाम्बिः [कौशाम्बी

से निकला हुआ] तथा गोरथ [गो = बैल से युक्त रथ] इत्यादि में इव आदि शब्दों के प्रयोग की आपत्ति आती है; कारण यह है कि लक्षणा के द्वारा ही [सदृश आदि] अर्थों के उक्त हो जाने के कारण "उक्त अर्थ वाले शब्दों का प्रयोग नहीं होता है" इस न्याय से इव आदि का प्रयोग नहीं होता है। और "विभाषा" [पा० सू० २।१।११] यह सूत्र भी आवश्यक नहीं है क्योंकि लक्षणा से 'राजसम्बन्धी से अभिन्न पुरुष' इस प्रकार के बोध कराने की इच्छा में समास का और 'राजा का सम्बन्धी' इस प्रकार का बोध कराने की इच्छा में विग्रह वाक्य के प्रयोग का नियम सम्भव है। और 'समुदाय में शक्ति है पङ्कज शब्द के समान" [अर्थात् जैसे पङ्कज यह शब्द समुदायशक्ति से ही कमल अर्थ का ज्ञान कराता है अवयवशक्ति मानने पर तो पंक से उत्पन्न होने वाले शैवाल आदि की भी प्रतीति होने लगेगी। अतः जैसे यहाँ समुदाय में शक्ति माननी आवश्यक है उसी प्रकार अन्यत्र समासादि में भी मान लेना उचित है]—इस प्रकार पङ्कज शब्द की प्रतिद्वन्द्विता = समानता भी [समुदाय में] शक्ति की साधक नहीं होती है, क्योंकि वहाँ [पङ्कज शब्द में] अवयवों की शक्ति को न जानने वालों को भी उस [पंकज शब्द] से बोध होता है। और अवयवशक्ति का ज्ञान न रहने पर लक्षणा द्वारा उस पंकज शब्द से विशिष्ट अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती है। [क्योंकि शक्तिज्ञान के बिना लक्षणाज्ञान सम्भव ही नहीं है। शक्यसम्बन्ध लक्षणा है] इसीलिये राजपद आदि का शक्तिज्ञान न रहने पर राजपुरुष आदि में अर्थज्ञान नहीं होता हैं।

विमर्श—पदों की परस्पर आकाङ्क्षारूप व्यपेक्षावादी नैयायिक आदि लक्षणा मानकर ही उन अर्थों की प्रतीति का उपपादन कर लेते हैं जिनके लिये वैयाकरण एकार्थीभाव एवं विशिष्ट शक्तिवाद का समर्थन करते हैं।

पंकज शब्द समुदायशक्ति द्वारा कमल अर्थ का ज्ञान कराता है, यहाँ समुदाय में शक्ति है अतः अन्यत्र भी मान लेनी चाहिये—यह तर्क भी ठीक नहीं है क्योंकि इसमें तो अवयवशक्ति का ज्ञान न रहने पर लक्षणा न होने पर भी अर्थबोध होना अनुभवसिद्ध है परन्तु राजपुरुष आदि में तो अवयव शक्ति का ज्ञान न रहने पर अर्थज्ञान न होने से लक्षणा से ही अपेक्षित अर्थ का ज्ञान सम्भव है। यहाँ निर्वाह सम्भव है अतः समुदाय में शक्ति मानने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार दृष्टान्त एवं दार्ष्टान्तिक में बहुत वैषम्य है।

अनु०—चित्रगुः इत्यादि में [चित्राऽभिन्ना गौः—इस शक्ति से उपस्थाप्य अर्थों के बोध के बाद गोपद से ऐसा गोस्वामी लक्षित होता है—इस प्रकार] लक्षणा के सम्भव होने पर भी षष्ठ्यर्थ से अतिरिक्त [द्वितीयाद्यर्थ बहुव्रीहि—प्राप्तोदक

आदि] में लक्षणा सम्भव नहीं है, क्योंकि बहुत सी व्युत्पत्तियाँ भंग होने लगती हैं—ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि प्राप्तोदक [प्राप्त कर लिया है उदक ने जिसको ऐसा ग्राम] आदि में उदक पद में ही लक्षणा स्वीकार की जाती है। कारण यह है कि पूर्वपद [प्राप्त पद] यौगिक है उसमें लक्षणा, धातु, प्रत्यय एवं इनके अर्थों के ज्ञान से साध्य होने से, बिलम्ब से होती है [और उदक पद रूढ है उससे अर्थप्रतीति शीघ्र होती है अतः उसी में लक्षणा मानी जाती है] और "प्रत्यय अपने सन्निहित पदार्थ से अन्वित अपने अर्थ का बोध कराता है" इस व्युत्पत्ति का अनुरोध है। [इन दो कारणों से प्राप्त पद में लक्षणा न करके उदक पद में ही लक्षणा करना उचित है] तथा घट आदि पदों में कल्पित होती हुई अतिरिक्त शक्ति, प्रत्येक वर्ण के बोधक होने पर भी, विशिष्ट [समुदाय] में ही कल्पित की जाती है क्योंकि विशिष्ट = समुदाय का ही सङ्केत होता है। प्रस्तुत [प्राप्तोदक आदि] स्थल में अत्यन्त सन्निधान के कारण प्रत्यय के अन्वय की सुविधा के लिये उत्तर पद में ही लक्षणा की कल्पना की जाती है—यही [दोनों स्थलों में] अन्तर है। तथा मीमांसकम्मन्य लोगों ने घटादि पदों में भी अन्तिम वर्ण का ही वाचक होना स्वीकार किया है।

विमर्श—प्राप्तोदकः आदि में प्रत्यय के अन्वय की सुविधा के लिये जैसे उत्तर पद में ही लक्षणा मानी है उसी तर्क के आधार पर घट आदि पदों में भी अन्तिम वर्ण में ही वाचकता शक्ति माननी चाहिये। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि घट आदि पद में यद्यपि प्रत्येक वर्ण बोधक होता है तथापि समुदाय में ही शक्ति मानी जाती है और उसी में संकेतग्रह भी होता है। प्राप्तोदक आदि में अत्यन्त समीप होने से अन्वय की सुविधा के लिये केवल उत्तरपद में लक्षणा मानी जाती है—इतना दोनों में भेद है।

अत्रोच्यते—समासे शक्त्यस्वीकारे विशिष्टस्यार्थवत्त्वाभावेन प्रातिपदिकत्वं न स्यात्। अत एवार्थवत्सूत्रे भाष्ये 'अर्थवदिति किम्, अर्थवतां समुदायोऽनर्थकः—दश दाडिमानि षडपूपाः कुण्डमजाऽजिनम्'। [म.भा. १।२।४५] इति प्रत्युदाहृतम्। एवं च राजपुरुषपदयोस्त्वन्मते प्रत्येकमर्थवत्त्वेऽपि समुदायस्य दशदाडिमादिवदनर्थकत्वात्प्रातिपदिकत्वानापत्तेः। न च 'कृत्तद्धित'। [पा० सू० १।२।४६] इति सूत्रे समासग्रहणात् तत्संज्ञेति वाच्यम्। तस्य नियमार्थताया भाष्यकृतैव प्रतिपादितत्वात्। अन्यथासिद्धिं विना नियमायोगात्। अत एव राज्ञः पुरुषो देवदत्तः पचतीत्यादिवाक्यस्य मूलकेनोपदंशमित्यादेश्च न प्रातिपदिकत्वम्।

किञ्च समासे शक्त्यस्वीकारे शक्यसम्बन्धरूपलक्षणाया अप्यसम्भवेन लाक्षणिकार्थवत्त्वस्याप्यसम्भवेन सर्वथा प्रातिपदिकत्वाभाव एव निश्चितः स्यादिति स्वाद्यनुत्पत्तौ, 'अपदं न प्रयुञ्जीत' इति भाष्यात्समस्तप्रयोगविलयापत्तेः।

यत्त्वित्यारभ्य आहुरित्यन्तं व्यपेक्षावादिनां मतं प्रदर्श्य साम्प्रतं निराकर्तुमाह—अत्रोच्यते इति। अर्थवत्त्वाभावेन = विशिष्टस्यार्थनिरूपितैकवृत्त्याश्रयत्वाभावेनेत्यर्थः। ननु लक्षणाद्याश्रयत्वमपि अर्थवत्त्वं स्यादत आह—अत एवेति। एकवृत्त्याश्रयत्वमर्थवत्त्वमिति स्वीकारादेवेत्यर्थः। दशदाडिमानीति। अत्र समुदाये परस्पराकाङ्क्षाभावेनैक-वृत्त्याश्रयत्वरूपार्थवत्त्वाभावान्न प्रातिपदिकत्वमिति भावः। प्रत्युदाहृतमिति। अर्थवत्त्वाभावस्योदाहरणत्वेन प्रदर्शितमित्यर्थः। एवञ्चेति। अर्थवतः प्रातिपदिकसंज्ञाविधानेन समासे शक्त्यस्वीकारे चेत्यर्थः। अनर्थकत्वात् = एकवृत्त्यानाश्रयत्वात्। प्रातिपदिकत्वानापत्तेरिति। तेन राजन् ङस् पुरुष सु इत्यस्य प्रातिपदिकत्वाभावेन "सुपो धातुप्रातिपदिकयोः" [पा. सू. २।४।७१] इत्यनेन सुपो लुक् न स्यादिति भावः। तत्संज्ञा = समासस्य प्रातिपदिकसंज्ञा। तस्य = समासग्रहणस्य। नियमार्थतायाा इति। तथा चान्यनिवृत्तिफलक-सिद्धिविषयकविधित्वरूपनियमत्वाय समासस्यार्थवत्त्वमावश्यकम्। सिद्धि विनेति। "सिद्धे सत्यारभ्यमाणो विधिर्नियमाय कल्प्यते" इति न्यायात् अर्थवत्त्वे सत्येव नियमार्थत्वमपि सम्भवति। ननु नियमस्य कि फलमत आह—अत एवेति। समासग्रहणस्य नियमार्थत्वादेवेत्यर्थः। ननु नैयायिकादिमते राज्ञः पुरुषः इत्यादिवाक्ये शक्तेरभावेनार्थवत्त्वाभावादेव तत्र प्रातिपदिकत्व न स्यादत आह—मूलकेनोपदंशमिति। नैयायिकादिमते "कृत्तद्धितसमासाश्च" [पा. सू. १।२।४६] इति सूत्रेऽर्थवत्पदासम्बन्धात् 'कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वकस्यापि ग्रहणमि' ति परिभाषया विशिष्टस्य कृदन्ततदादित्वात् तत्रातिप्रसङ्गो दुर्वार एव। तद्वारणाय समासग्रहणकृतनियमस्य साफल्यं बोध्यम्। शाब्दिकानां मते तु 'कृत्तद्धित' इत्यादि सूत्रेऽर्थवत्पदस्य सम्बन्धेऽपि 'मूलकेनोपदंशमि'त्यादौ वाक्यशक्तिस्वीकारेणार्थवत्त्वेऽपि समासग्रहणीयनियमेन दोषवारणं भवति।

ननु समासे शक्त्यस्वीकारेऽपि तत्र लक्षणयार्थवत्त्वं स्यादत आह—किञ्चेति। समस्तेति। समाससंज्ञक-शब्द-प्रयोगाभावापत्तिरित्यर्थः।

व्यपेक्षावादी नैयायिकादि का खण्डन

यहाँ [व्यपेक्षावादियों के खण्डन के लिये] कहा जाता है--समास [समुदाय] में शक्ति न स्वीकार करने पर समुदाय के अर्थवान् न होने से [उसकी] प्रातिपदिक संज्ञा नहीं हो सकती। [शक्ति न मानने पर समुदाय अर्थवान् नहीं हो सकता] इसीलिये "अर्थवत्" [पा० सू० १।२।४५] सूत्र पर भाष्य में 'अर्थवद्' यह [विशेषण] किस लिये है ? अर्थवानों का समुदाय अनर्थक होता है--'दश अनार, छह पुये, कुण्ड, बकरे का चमड़ा' यह प्रत्युदाहरण दिया गया। [यहाँ प्रत्येक पद अर्थवान् है परन्तु इनका समुदाय अर्थवान् नहीं है, उसकी व्यावृत्ति करने के लिये 'अर्थवद्'

यह है।] और इस प्रकार तुम्हारे [नैयायिकादि] मत में राजा और पुरुष दोनों पदों में प्रत्येक के अर्थवाला होने पर भी समुदाय 'दश दाडिम' आदि के समान अनर्थक होता है अतः प्रातिपदिक संज्ञा नहीं हो सकती। "कृत्तद्धितसमासाश्च" [पा० सू० १।२।४६] इस सूत्र में समास का ग्रहण होने से प्रातिपदिक संज्ञा हो जायगी--ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि वह समासग्रहण नियमार्थ है—यह भाष्यकार ने ही प्रतिपादित किया है। क्योंकि अन्य प्रकार से [समास की प्रातिपदिक संज्ञा की] सिद्धि के विना नियम मानना सम्भव नहीं है। [क्योंकि 'सिद्धे सति आरभ्यमाणो विधिर्नियमाय कल्पते' यह नियम है। अतः पूर्व सूत्र से ही समास की भी प्रातिपदिक संज्ञा होना मानना आवश्यक है और उसके लिये समुदाय = समास का अर्थवान् होना आवश्यक है।) [समासग्रहण नियमार्थ है] इसीलिये 'राज्ञः पुरुषः, देवदत्तः पचति, इत्यादि वाक्य की और 'मूलकेनोपदंशम्' इत्यादि की प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होती है।

[लक्षणा से समास में अर्थवत्ता मानकर प्रातिपदिक संज्ञा हो सकती है, इसका निराकरण करने के लिये कहते हैं—] और भी, समास में शक्ति न स्वीकार करने पर शक्यसम्बन्ध रूप लक्षणा के भी सम्भव न होने से लाक्षणिक अर्थवत्ता भी न होने से सर्वथा प्रातिपदिक संज्ञा का अभाव ही निश्चित है। इस प्रकार 'सु' आदि प्रत्ययों की उत्पत्ति न होने से [सुप्तिङन्तं पदम् पा० सू० १।४।१४ के अनुसार पद न बन सकने से] 'अपद का प्रयोग नहीं करना चाहिए' इस भाष्यवचन से समाससंज्ञक शब्दों के प्रयोग का विलय = अभाव होने लगेगा।

अथ तिप्तस्झी० [पा० सू० १।४।१०१] त्यतः तीत्यारभ्य ङ्योस्सु० [पा० सू० ४।१।२] बिति पकारेण तिप्प्रत्याहारो भाष्यसिद्धः, तत्पर्युदासेन 'अतिप्प्रातिपदिकम्' इत्येव सूत्र्यताम्, ततः 'समासश्च' इति सूत्रं नियमार्थमस्तु किं सूत्रद्वयेनेति सुप्तिङन्तभिन्नं प्रातिपदिकमित्यर्थात् समासस्यापि सा स्यादिति 'समासश्च' इत्यस्य नियमार्थत्वं सुलभमिति चेत्, सत्यम्। प्रत्येकं वर्णेषु संज्ञावारणाय 'अर्थवत्' इत्यस्यावश्यकत्वेन समासेऽव्याप्तिस्तदवस्थैव। तथा च प्रातिपदिकसंज्ञारूपकार्यमेवार्थवत्त्वमनुमापयति—समासः अर्थवान्, प्रातिपदिकत्वात्, यन्नार्थवत्तन्न प्रातिपदिकम्, अभेदविवक्षापक्षे—'भू सत्तायाम्' इत्याद्यनुकरणवदिति।

ननु अर्थवत्-पदाघटित-न्यासेऽर्थवत्वाभावेऽपि समासे प्रातिपदिकसंज्ञा सिद्धिरित्यभिप्रेत्य शङ्कते—अथेति। अयं भावः—"अतिप् प्रातिपदिकम्" ततः "समासश्च" इति न्यासः कार्यः, राजन् ङस् पुरुष सु इति समासस्य तिबन्ततदादिभिन्नतया 'अतिप्

प्रातिपदिकम्' इति न्यासेनैव प्रातिपदिकत्वे सिद्धे 'उत्तरसूत्र नियमार्थं भेत्स्यति। एवञ्च लघुभूताभ्यां सिद्धे गुरुभूतं सूत्रद्वयं न करणीयम्। 'सुप्तिङन्तभिन्नमिति। पूर्वोक्त-तिप्-प्रत्याहारे सुप्तिङोरन्तर्भूतत्वात् तिबन्तभिन्नमिति वाच्यार्थे सुप्-तिङन्तभिन्नमिति फलितार्थकथनं बोध्यम्। सा = प्रातिपदिकसंज्ञा। प्रत्येकं वर्णेष्विति। धनं वनमित्यादौ धकारनकारयोरपि तिङन्तभिन्नतया प्रातिपदिकसंज्ञा-पत्तौ जश्त्व-नलोपाद्यापत्तिः। एवं च 'अर्थवद्' इति विशेषणमावश्यकम्। अव्याप्ति-रिति। समासस्य तिबन्तभिन्नत्वेऽपि अर्थवत्वाभावात् प्रातिपदिकसंज्ञाया अप्राप्त्या समासग्रहणं विध्यर्थमेव कार्यमिति वाक्यस्य संज्ञा दुर्वारा स्यादतः समासग्रहणस्य नियमार्थत्वाय समासे शक्तेः पाणिनिप्रोक्तन्यासस्य चावश्यकतेति बोध्यम्। व्यति-रेकिहेतुकमनुमानमाह—समास इति। अत्रान्वयमुखेनानुमानं न सम्भवति, अनर्थक-निपातेष्वपि प्रातिपदिकसंज्ञादर्शनात्। "निपातस्यानर्थकस्य प्रातिपदिकसंज्ञा वक्तव्या" इति वार्त्तिकेनानर्थकस्यापि निपातस्य संज्ञा भवतीति त्वन्यदेतदिति बोध्यम्।

"तिप्तस्झि०" [पा० सू० ३।४।७८] के 'ति' इससे लेकर "स्वौजस··· ङ्योस्सुप्" [पा० सू० ४।१।२] के पकार के साथ तिप् प्रत्याहार भाष्य-सिद्ध है। उसके पर्युदास = निषेध से 'अतिप् प्रातिपदिकम्' यही सूत्र बनाइये। इसके बाद 'समासश्च' यह सूत्र नियमार्थ हो, [गुरुभूत] दो सूत्रों की क्या आवश्यकता? 'सुबन्त एवं तिङन्त से भिन्न प्रातिपदिक होता है' इस अर्थ से समास की भी वह प्रातिपदिक संज्ञा हो सकती है इस प्रकार "समासश्च" इसका नियमार्थ होना सुलभ है—यदि ऐसा कहते हो तो सही है, किन्तु प्रत्येक वर्ण में संज्ञा का वारण करने के लिये 'अर्थवत्' यह आवश्यक होता है इस कारण समास में अव्याप्ति उसी प्रकार स्थित है। और इस प्रकार प्रातिपदिक संज्ञारूपी कार्य ही [समास की] अर्थवत्ता का अनुमान कराता है—समास अर्थवान् है, प्रातिपदिक होने से, जो अर्थवान् नहीं है, वह प्रातिपदिक नहीं है, अभेदविवक्षापक्ष में 'भू सत्तायाम्' इत्यादि अनुकरण के समान।

विमर्श—यहाँ रहस्य यह है कि 'तिप्' एक प्रत्याहार माना जाय जिसमें तिङ् एवं सुप् सभी हैं। 'अतिप् प्रातिपदिकम्' यह सूत्र हो—सुबन्त एवं तिङन्त से भिन्न प्रातिपदिक होता है, समास भी ऐसा है। अतः उसकी भी प्रातिपदिक संज्ञा सम्भव है। पुनः 'समासश्च' इस द्वितीय सूत्र की कल्पना की जाय। यह नियमार्थ हो जायगा। इस प्रकार छोटे-छोटे दो सूत्रों से ही निर्वाह सम्भव हो जाता है बड़े-बड़े पाणिनीय दो सूत्रों की क्या आवश्यकता? व्यपेक्षावादियों के इस तर्क का उत्तर यह है कि ऐसा मानने पर तो अतिप्—धनं वनम् आदि में प्रत्येक

वर्ण की भी प्रातिपदिक संज्ञा होने लगेगी क्योंकि वे भी तिप् से भिन्न हैं। उसे रोकने के लिये 'अर्थवत्' यह अत्यावश्यक है। जब इसका ग्रहण कर लिया जाता है तो समास की अर्थवत्ता न होने से प्रातिपदिक संज्ञा होना असम्भव ही है। इस प्रकार प्रातिपदिक संज्ञारूप कार्य ही यह सिद्ध कराता है कि समास अर्थवान् होता है।

यत्तु—'पदार्थः पदार्थेन' इति, 'वृत्तस्य विशेषणयोगो न' इति वचनद्वयेन ऋद्धस्येत्यादिविशेषणान्वयो न भवति; तत्तु समासे एकार्थीभावे स्वीकृतेऽवयवानां निरर्थकत्वेन विशेषणान्वयासम्भवात् फलितार्थपरम् अस्माकम्, युष्माकं तु अपूर्ववाचनिकमिति गौरवमित्यग्रे वक्ष्यते।

यत्तु—प्रत्ययानां सन्निहितपदार्थगतस्वार्थबोधकत्वव्युत्पत्तिरिति, तन्न। उपकुम्भम् अर्धपिप्पलीत्यादौ पूर्वपदार्थे विभक्त्यर्थान्वयेन व्यभिचारात्। मम तु प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वव्युत्पत्तेर्विशिष्टोत्तरमेव प्रत्ययोत्पत्तेर्विशिष्टस्यैव प्रकृतित्वात् विशिष्टस्यैवार्थवत्त्वाच्च न दोषः।

किं च राजपुरुषादौ राजपदादेः सम्बन्धिनि सम्बन्धे वा लक्षणा? नाद्यः, राज्ञः पुरुष इति विवरणविरोधात्। वृत्तिसमानार्थवाक्यस्यैव विग्रहत्वात्। अन्यथा तस्माच्छक्तिनिर्णयो न स्यात्। नान्त्यः। राजसम्बन्धरूपपुरुष इत्यन्वयप्रसङ्गात्।

व्यपेक्षावादे दूषणान्तरं प्रस्तौति—यत्त्विति। अस्माकम्=समासशक्तिवादिनां शाब्दिकानाम्। युष्माकम्=व्यपेक्षावादिनां नैयायिकमीमांसकादीनाम्। अग्रे इति। बहूनां वृत्तिधर्माणामित्यादि-कारिकाव्याख्यावसरे इत्यर्थः।

दण्डिनमानयेत्यादौ दण्डे कर्मत्वस्यान्वयवारणाय—प्रकृत्यर्थनिष्ठविषयतानिरूपितविषयतासम्बन्धेन शाब्दबोधं प्रति विशेष्यतासम्बन्धेन प्रत्यय-जन्योपस्थितिः कारणमिति कार्यकारणभावमूलिकायां स्वीक्रियमाणायां 'प्रत्ययानामि' ति व्युत्पत्तौ प्रकृतेः सन्निहितत्वेन निवेशः, तावतैव व्यभिचारवारणात्, प्रकृतित्वेन प्रकृतेः निवेशे गौरवमिति मतं दूषयितुमाह—यत्त्विति। पूर्वपदार्थे उपपदार्थे अर्धपदार्थे चेत्यर्थः। व्यभिचारादिति। अव्यवहितपूर्वत्वेनानुसन्धीयमानत्वरूपसन्निहितत्वस्य उपकुम्भादौ पूर्वपदार्थेऽभावेन उत्तरपदार्थे च सत्वेन तादृशव्युत्पत्तेर्भङ्गात्। मम=विशिष्टशक्तिवादिनां शाब्दिकानामिति भावः।

व्यपेक्षावादिनां मते 'राजपदादेः राजसम्बन्धिनि लक्षणयैव बोध इत्यादि प्रतिपादितम्, तत्खण्डयितुमाह—किञ्च। नाद्यः इति। राजसम्बन्धिनि लक्षणेति पक्षो नेत्यर्थः। विरोधादिति। अयं भावः—राजपुरुषादौ समासस्थले राजपदादेः

सम्बन्धिनि लक्षणायां तस्य चाभेदसंसर्गेण पुरुषपदार्थेऽन्वयो वाच्यः। एवञ्च राज-पुरुष इति समासात् राजसम्बन्धि-प्रकारकस्याभेदसंसर्गकस्य बोधस्य प्रतीतिः, राज्ञः पुरुष इति वाक्याच्च राजसम्बन्धप्रकारकस्याभेद-संसर्गकस्य बोधस्य प्रतीतिरिति समासविग्रहवाक्ययोः समानार्थकत्वाभावात् समास-वाक्यस्य विव्रियमाणस्य विग्रहवाक्येन विवरणेन विरोधः स्पष्ट एवेति बोध्यम्। अन्यथेति। वृत्त्यसमानार्थक-वाक्यस्यापि विग्रहत्वे इत्यर्थः। तस्मात् = उक्तविग्रह-वाक्यात्। राजपदादेः सम्बन्धे लक्षणेति पक्षोऽपि न युक्त इत्याह—नास्य इति। राजपदार्थस्य = राज-सम्बन्धस्य नामार्थत्वेन नामार्थयोरभेदसम्बन्धस्यैव व्युत्पत्तिसिद्धतयाऽभेदसंसर्गेणैव पुरुषेणान्वयः स्यान्नतु आश्रयत्वादिभेदसम्बन्धेनेति भावः, अभेदसंसर्गावच्छिन्न-प्रातिपदिकार्थनिष्ठप्रकारतानिरुपितविशेष्यतासम्बन्धेन शाब्दबोधं प्रति विरुद्धविभक्ति-राहित्यमतूपद-जन्योपस्थितेर्हेतुत्वादिति दिक्।

जो यह कि "पदार्थ = पदजन्य प्रतीतिविशेष्य पदार्थ = पदजन्य प्रतीतिविशेष्य के साथ ही अन्वित होता है" तथा "वृत्त = वृत्ति बने हुए का विशेषणयोग नहीं होता है" इन दो वचनों से [राजपुरुषः आदि में] ऋद्धस्य-इत्यादि विशेषण का अन्वय नहीं होता है—वह तो समास में एकार्थीभाव स्वीकृत कर लेने पर अवयव निरर्थक हो जाते हैं अतः विशेषण का अन्वय = योग सम्भव न होने के कारण हमारा [वैयाकरणों के मत में] फलितार्थ कथन है किन्तु तुम्हारा [नैयायिकों के मत में] अपूर्ववाचनिक है [अपूर्व वार्तिक है] यह गौरव है, यह आगे [कारिका की व्याख्या में] कहा जायगा।

जो यह कि—प्रत्यय सन्निहित = समीपस्थ पदार्थ से अन्वित अपने अर्थ का बोधक होता है—यह व्युत्पत्ति है—वह [ठीक] नहीं है, क्योंकि 'उपकुम्भम्, अर्ध-पिप्पली [कुम्भ के समीप, पिप्पली का आधा] आदि में पूर्वपदार्थ [सामीप्य तथा अर्ध] में विभक्त्यर्थ का अन्वय होने से व्यभिचार = व्युत्पत्ति का भंग है। [अर्थात् समीपवर्ती कुम्भ एवं पिप्पली आदि में ही विभक्त्यर्थ का अन्वय होना चाहिए परन्तु ऐसा न होकर पूर्ववर्ती पदार्थों में होता है जिससे नैयायिकों की व्युत्पत्ति भंग हो जाती है] और मेरे [एकार्थीभाववादी वैयाकरण के] मत में तो प्रत्यय [अपनी] प्रकृति के अर्थ से अन्वित अपने अर्थ के बोधक होते हैं इस व्युत्पत्ति से विशिष्ट [समुदाय] से ही प्रत्यय की उत्पत्ति = विधान होने से विशिष्ट = समुदाय ही प्रकृति होता है। अतः विशिष्ट की ही अर्थवत्ता के कारण कोई दोष नहीं है।

[लक्षणा का खण्डन करते हैं-] और भी, राजपुरुषः आदि में राजपद आदि की सम्बन्धी अर्थ में लक्षणा है अथवा सम्बन्ध अर्थ में ? [इन दोनों पक्षों में] प्रथम

अर्थात् सम्बन्धी में लक्षणा–यह नहीं हो सकता है, क्योंकि राज्ञः पुरुषः इस विवरण [विग्रह के अर्थ] से विरोध है। कारण यह है कि वृत्ति के समान अर्थवाला ही विग्रह होता है। ऐसा न मानने पर उस [विवरणवाक्य] से शक्ति का निर्णय नहीं हो सकता। और न अन्तिम अर्थात् सम्बन्ध में लक्षणा–यह है, क्योंकि राजसम्बन्ध रूप पुरुष इस [अभेदेन] अन्वय का प्रसङ्ग आता है।

विमर्श—राजपुरुषः आदि में दो अर्थों में लक्षणा मानी जा सकती है—(१) सम्बन्धी अर्थ में और (२) सम्बन्ध अर्थ में। इनमें सम्बन्धी अर्थ में लक्षणा ठीक नहीं है क्योंकि राजपद का अर्थ होता है—राजसम्बन्धी। इसका अभेदेन पुरुष पदार्थ में अन्वय होगा। इससे राजसम्बन्धि-प्रकारक–अभेद-संसर्गक पुरुष-विशेष्यक बोध होता है। और राज्ञः पुरुषः इस विग्रहवाक्य से राजसम्बन्ध-प्रकारक–आश्रयत्वसंसर्गक पुरुष विशेष्यक बोध होता है। इस प्रकार वृत्ति एवं विग्रह-वाक्य की समानार्थता नहीं रहती है। फलतः विरोध स्पष्ट ही है। दूसरा पक्ष—सम्बन्ध में लक्षणा—भी ठीक नहीं है क्योंकि 'नामार्थ का नामार्थ के साथ अभेद सम्बन्ध ही व्युत्पन्न माना जाता है', फलस्वरूप यहाँ राजपदार्थ = राजसम्बन्ध रूप नामार्थ का अभेदेन पुरुष पदार्थ में अन्वय होने से–राजसम्बन्धरूप पुरुष–यह होने लगेगा। इसलिये लक्षणा मानना ठीक नहीं है।

ननु तर्हि वैयाकरण इत्यस्य व्याकरणमधीते इति पाचक इत्यस्य पचतीति कथं विग्रहः, वृत्तिसमानार्थत्वाभावादित्यत आह—

आख्यातं तद्धितकृतोर्यत्किञ्चिदुपदर्शकम्।
गुणप्रधानभावादौ तत्र दृष्टो विपर्ययः॥ वा.प. २।३०६ इति।

तद्धितकृतोर्यत्किञ्चिदर्थबोधकं विवरणमाख्यातं तिङन्तमिति यावत्, तत्र विवरणविव्रियमाणयोर्विशेष्यविशेषणभावविपर्ययो दृष्ट इति। कृदन्ततद्धितान्तयोराश्रयप्राधान्यम्; आख्याते व्यापारस्येति बोध्यम्।

ननु वृत्तिविग्रहयोः समानार्थविशेष्य-प्रकारकबोधजनकत्वरूपं समानाकारकबोधजनकत्वरूप वा समानार्थत्वमपेक्षितम्, किन्तु वैयाकरणः, पाचक इत्यादौ तथा नास्ति, व्याकरणमधीते वेत्ति वेति विग्रहस्य व्यापारमुख्य-विशेष्यकबोधजनकत्वम् तद्धिते कृदन्ते च वैयाकरणः, पाचक इत्यादि वृत्तौ आश्रयमुख्य-विशेष्यकबोधजनकत्वस्य दर्शनादित्यत आह—नन्विति। कारिकार्थः—आख्यातम् = तिङन्तम्, एतच्च तिङन्तघटित—विवरणपरमिति बोध्यम्, तद्धितकृतोः = तद्धितान्तकृदन्तयोः, यत् किञ्चिद् = इदमीषदर्थेऽव्ययम्, यत्किञ्चिदथस्य = ईषदर्थस्य उपदर्शकम् = बोधकम्,

प्रतिपादकं विवरणमिति भावः, तत्र = तद्धितान्तकृदन्तयोः, गुणप्रधानभावादौ = विशेष्यविशेषणभावादौ, विपर्ययः = व्यत्यासः, दृष्टः = अनुभवसिद्धः, कृदन्ते तद्धिते च वृत्तिस्थले आश्रयार्थस्य प्राधान्यम्, तिङन्ते च व्यापारस्य प्राधान्यमिति वैपरीत्यं फलबलात् अनुभवानुरोधाच्च कल्पितमिति भावः। एवञ्च तिङन्त-तद्धितान्त-कृदन्त-योर्यत्किञ्चिद् विवरणमेव, न तु साकल्येन विवरणम्। तथा च विवरणतुल्यत्वाद् गौणमिदं विवरणमिति बोध्यम्। एतेन वृत्तिजन्यबोधसमानविषयकबोधजनकत्व-मेव विग्रहत्वं न तु वृत्तिजन्यबोधीयप्रकारताविशेष्यतासमानप्रकारताविशेष्यताकबोध-जनकत्वमिति दिक्।

[वृत्ति एवं विग्रह वाक्य की समानार्थता मानने पर वैयाकरणमत में प्रसक्तदोष का परिहार करने के लिये लिखते हैं—] तो फिर 'वैयाकरणः' इसका 'व्याकरणम् अधीते' और 'पाचकः' इसका 'पचति' यह विग्रह कैसे होता है क्योंकि [दोनों में] समानार्थता नहीं है। [यहाँ विग्रह में व्यापार-विशेष्यक—आश्रयत्व-प्रकारक बोध होता है और तद्धित एवं कृत् वृत्ति में इसके विपरीत आश्रयत्व-विशेष्यक-व्यापार-प्रकारक बोध होता है--] इसलिए [वाक्यपदीय में] कहा है—

तद्धित एवं कृत् के यत्किञ्चित् = थोड़े अर्थ का उपदर्शक आख्यात = तिङन्त होता है। इन [वृत्ति एवं विग्रह] में गुणप्रधानभाव [विशेष्यता एवं विशेषणता] में वैपरीत्य देखा गया है।

तद्धित एवं कृत् के यत्किञ्चित् = थोड़े अर्थ का उपदर्शक = बोधक विवरण आख्यात = तिङन्त है, इनमें विवरण तथा विव्रियमाण (विग्रह एवं वृत्ति) में विशेष्यता एवं विशेषणता में वैपरीत्य देखा गया है। कृदन्त एवं तद्धितान्त [शब्दों] में आश्रय अर्थ प्रधान = विशेष्य रहता है [और व्यापार विशेषण रहता है] आख्यात = तिङन्त में व्यापार अर्थ का प्राधान्य = विशेष्यत्व रहता है, ऐसा समझना चाहिए।

विमर्श—उक्त कथन का तात्पर्य यही है तिङन्त शब्द तद्धित तथा कृदन्त का कुछ ही विवरण है, सम्पूर्णतया नहीं। इस प्रकार विवरणतुल्य होने से विवरण समझना चाहिये। वाक्यपदीय में पूर्वार्ध यह है—

आख्यातं तद्धितार्थस्य यत्किञ्चिदुपदर्शकम्। वा० प० २।३०६

ननु रथन्तरशब्दाद् रथिकस्यापि प्रत्ययः किन्न स्यादिति चेत्, मैवम्। 'रूढिर्योगार्थमपहरति' इति न्यायात्।

ननु विशिष्टशक्तिस्वीकारे पङ्कजपदादवयवार्थप्रतीतिर्मा भूत्, समुदायशक्त्यैव कमलपदवत् पुष्पविशेषप्रत्ययः स्यादिति चेत्, न।

जहत्स्वार्था तु तत्रैव यत्र रूढिर्विरोधिनी ।

इत्यभियुक्तोक्तेः अवयवार्थसंवलितसमुदायार्थे पद्मे शक्तिस्वीकारात् ।

अत एव चतुर्विधः शब्दः, यथा—(१) रूढः, (२) योगरूढः, (३) यौगिकः, (४) यौगिकरूढश्चेति । अवयवार्थमनपेक्ष्य समुदायशक्तिमात्रेणार्थबोधकत्वं रूढत्वम्—रथन्तरमित्यादौ । अवयवार्थसंवलितसमुदायशक्त्याऽर्थबोधकत्वं योगरूढत्वम्—पङ्कजमित्यत्र । अवयवशक्त्यैवार्थबोधकत्वं यौगिकत्वम्—पाचिका, पाठिकेत्यादौ । अवयवशक्त्या समुदायशक्त्या चार्थबोधकत्वं यौगिकरूढत्वम् । मण्डपानकर्तृपरोऽपि गृहविशेषपरोऽपि मण्डपशब्द उदाहरणमिति विवेकः । व्यपेक्षापक्षे दूषणं शक्तिसाधकम् । हरिरप्याह—

समासे खलु भिन्नैव शक्तिः पङ्कजशब्दवत् ।
बहूनां वृत्तिधर्माणां वचनैरेव साधने ॥
स्यान्महद् गौरवं तस्मादेकार्थीभाव आश्रितः ॥

[वै. भू. का. ३१] इति ।

पङ्कजशब्दे योगार्थस्वीकारे शैवालादेरपि प्रत्ययः स्यात् । वृत्तिधर्माः—विशेषणलिङ्गसङ्ख्याद्ययोगादयः, "सविशेषणानां वृत्तिर्न" इत्यादिवचनैरेव साध्याः, इति तत्तद्वचनस्वीकार एव गौरवम् । मम तु एकार्थीभावस्वीकारादवयवार्थाभावाद्विशेषणाद्ययोगो न्यायसिद्धः, वचनं च न कर्तव्यं न्यायसिद्धं चेति लाघवम् ।

ननु एकार्थीभावे स्वीकृतेऽपि व्युत्पत्तिकालिकधातु - प्रत्ययगतार्थस्य रथन्तरमित्यादौ कुतस्त्याग इत्यभिप्रायेण शङ्कते—नन्विति । रथन्तरमित्यत्र रथेन तरतीति विग्रहे "सञ्ज्ञायां भृतृवृजिधारिसहितपिदमः [पा० सू० ३ २।४६] इति सूत्रेण रथशब्दात् "कर्तरि कृत्" [पा० सू० ३।४।६७] इति सहकारेण कर्तरि खच् प्रत्यय इति साधनबलात् रथकरणकतरणकर्तुरपि बोधः स्यात्, एकार्थीभावबलाच्च सामविशेषस्यापि बोधः स्यात् । अत्र प्रकृतिप्रत्ययार्थस्य परित्यागे किं मानमत आह—मैवमिति । ननु एकार्थीभावे पङ्कजपदे पङ्कजनिकर्तृपद्मस्य बोधस्य स्थाने 'पद्म' इत्यस्यैव बोधो भवतु अवयवार्थस्य प्रतीतिर्मास्तु इत्याशयेन शङ्कते—नन्विति । यत्र रूढिर्योगस्य विरोधिनी भवति तत्रैवावयवार्थस्य परित्यागाज्जहत्स्वार्थाऽङ्गीक्रियते, अत्र तथाऽभावान्न अवयवार्थपरित्याग इति बोध्यम् ।

अत एव = अवयवार्थसम्वलित-समुदायार्थे शक्तिस्वीकारादेव । मण्डपशब्दः मण्डं पिबतीति योगशक्त्या मण्डपान-कर्तृबोधकः, प्रकरणविशेषे च रूढिशक्त्या च गृह-विशेषस्य बोधकः । यथा वा अश्वगन्धाशब्दः औषधिविशेषे रूढः, अश्वगन्धवत्त्या च वाजिशालाबोधे यौगिक इति बोध्यम् । शक्तिसाधकमिति । समासे शक्ति-साधक-मित्यर्थः । हरिरण्याहेति । इयं कारिका वाक्यपदीये नोपलभ्यते । भूषणे समास-प्रकरणे एव दृश्यतेऽतो भट्टोजिदीक्षितकर्तृकैवेति समीचीनम् । प्रमादात् हरेरिति प्रतिपादितम् । कारिकार्थः—समास इति वृत्तिमात्रोपलक्षणम् । यथा पङ्कजादि-शब्दे अवयवशक्तितो भिन्नैव पद्मत्वावच्छिन्ननिरूपिता शक्तिः समुदाये स्वीक्रियते तथैव राजपुरुषः इत्यादेः समुदायस्य राजसम्बन्धविशिष्टपुरुषादावयवशक्तितो भिन्नैव शक्तिः । वृत्तिधर्माणामिति एकार्थीभावपक्षे स्वतः सिद्धानां वृत्तिधर्माणां व्यपेक्षापक्षे वचनैः = 'स विशेषणानां वृत्तिर्न' इत्यादि वार्त्तिकरूपैरित्यर्थः, साधने = समर्थने । तस्मात् = व्यपेक्षायां गौरवात् । एकार्थीभाव—इति । शक्तिर्द्विधा—व्यपेक्षारूपा एकार्थीभावरूपा च । तत्र स्वार्थपर्यवसायिनां शब्दानामाकाङ्क्षादिवशात् परस्परं यः सम्बन्धः सा व्यपेक्षा । सा च वाक्ये एव । समासादिवृत्तौ तु एकार्थीभावरूपं सामर्थ्यम् । विशेषणेति । विशेषणं लिङ्गं संख्या च — इत्येतेषामयोगादयो न्यायसिद्धाः ।

अनु०—[एकार्थीभाव मान लेने पर भी अवयवार्थ की प्रतीति होने में क्या बाधा है, इसके समाधानार्थ लिख रहे हैं—]

रथन्तर शब्द से [सामविशेष के साथ साथ] रथिक अर्थ को भी प्रतीति क्यों नहीं होती—यदि ऐसा कहते हो तो नहीं कह सकते क्योंकि 'रूढ़ि यौगिक अर्थ का अपहरण कर लेती है' ऐसा न्याय है । अतः रूढ़ि शक्ति से केवल यौगिक अर्थ की ही प्रतीति होती है, रथेन तरति इस यौगिक अर्थ की नहीं ।]

[वृत्ति में] विशिष्ट शक्ति स्वीकार कर लेने पर पंकज पद के अवयवों के अर्थों की प्रतीति न हो, कमल पद के समान समुदायशक्ति से ही पुष्पविशेष का ज्ञान हो जाय [अर्थात् यौगिक अर्थ मानने की आवश्यकता नहीं है]—ऐसा यदि कहते हो तो नहीं, क्योंकि—'जहत्स्वार्था वृत्ति वहीं होती है जहाँ रूढ़ि [योग शक्ति की] विरोधिनी [होती] है—इस आचार्योक्ति से अवयवार्थ से सम्मिलित समुदायार्थ पद्म में [पङ्कज शब्द को शक्ति स्वीकार को जाती है । [अतः यहाँ अवयवार्थ का परित्याग करके जहत्स्वार्था मानना ठीक नहीं है ।] [पङ्कज आदि में अवयवार्थ-सम्वलित समुदाय अर्थ में शक्ति मानी जाती है] इसीलिए शब्द चार प्रकार के (माने गये) हैं—(१) रूढ़, (२) योगरूढ़, (३) यौगिक तथा (४) यौगिकरूढ़ । (१) अवयवों के अर्थों की अपेक्षा के बिना केवल समुदाय की शक्ति से अर्थ का बोधक होना रूढ़ [शब्द] होता है—जैसे रथन्तर आदि में । [यहाँ रथकरणक तरणकर्ता

रूपी अवयवार्थ की अपेक्षा किये बिना समुदायशक्ति से ही सामवेदविशेष का ज्ञान होता है।] (२) अवयवों के अर्थ से मिली हुयी समुदाय की शक्ति से अर्थ का बोधक होना योगरूढ़ होना है; जैसे पङ्कज आदि में। [इसमें पङ्कात् जायते इस अवयवार्थ के साथ साथ समुदायार्थ की बोधकता है।] (३) केवल अवयवों की शक्ति से ही बोधक होना—यौगिक होना है, जैसे—पाचिका, पाठिका इत्यादि में। [इसमें पच् तथा पठ् धातुओं और ण्वुल=अक प्रत्यय के ही अर्थ का बोध होता है। अतः उन्हीं में बोधकता है] (४) अवयवशक्ति तथा समुदायशक्ति [दोनों] से अर्थ का बोधक होना—योगरूढ़ होना है। मण्ड-पान-कर्ता अर्थ का प्रतिपादक भी गृहविशेष अर्थ का प्रतिपादक मण्डप शब्द [इसका] उदाहरण है—यह ज्ञान [करना चाहिये]।

व्यपेक्षापक्ष में दूषण [समास में विशिष्ट] शक्ति के साधक [होते] हैं। भर्तृहरि ने भी कहा है [वास्तव में अग्रिम कारिकायें वैयाकरण-भूषण की हैं क्योंकि वाक्यपदीय में उपलब्ध नहीं होती हैं।]

समास में पङ्कज शब्द के समान भिन्न ही अर्थात् एकार्थीभावरूपा शक्ति है। [यहाँ समास पद सभी पाँच वृत्तियों का उपलक्षण है]—बहुत से वृत्तिधर्मों को वचनों [वात्तिकों आदि] के द्वारा सिद्ध करने में बड़ा गौरव होगा। इसलिये [वृत्तिस्थल में] एकार्थीभाव ही माना गया है।

[स्वयं व्याख्या करते हैं—] पङ्कज शब्द में योगार्थ [पङ्क से उत्पन्न होने वाला] मानने पर शैवाल आदि का भी ज्ञान होने लगेगा। वृत्तिधर्म=विशेषण, लिङ्ग एवं संख्यादि का योगादि न होना, "सविशेषण=विशेषणविशिष्ट की वृत्ति नहीं होती है' इत्यादि वचनों से ही साध्य है, अतः उन उन वचनों का स्वीकार करना ही गौरव है। मेरे [वैयाकरणों के] मत मे तो एकार्थीभाव स्वीकार करने से अवयवों का अर्थ न होने से विशेषण आदि का योग न होना न्यायसिद्ध है, और वचन=वार्तिक नहीं बनाने हैं, और न्यायसिद्ध हैं—यह लाघव है।

विमर्श—जिस प्रकार पङ्कज शब्द अवयवशक्ति से अलग समुदायशक्ति से बोधक माना जाता है, उसी प्रकार सर्वत्र मानना उचित है। समुदाय से अर्थ की उपस्थिति अर्थात् एकार्थीभाव मानने पर 'ऋद्धस्य राजपुरुषः' आदि में ऋद्ध विशेषण के योग का निषेध करने के लिये स्वतन्त्र वचनों की आवश्यकता नहो पड़ती है, क्योंकि वहाँ राजपदार्थ की पृथक् प्रतीति नहीं होती है।

व्यपेक्षायां दूषणान्तरमाह—

चकारादिनिषेधोऽथ बहुव्युत्पत्तिभञ्जनम् ।
कर्त्तव्यं ते, न्यायसिद्धं त्वस्माकं तदिति स्थितिः ॥
[वै. भू. का. ३२]

घटपटाविति द्वन्द्वे साहित्यद्योतकचकारनिषेधस्त्वया कर्तव्यः । आदिना घनश्याम इत्यादौ इवशब्दस्य । मम तु साहित्याद्यवच्छिन्ने शक्तिस्वीकारात् ''उक्तार्थानामप्रयोग'' इति न्यायात्तेषामप्रयोगः । बहुव्युत्पत्तिभञ्जनमिति— अष्ठ्यर्थबहुव्रीहौ प्राप्तोदक इत्यादौ पृथक्शक्तिवादिनां मते प्राप्तिकर्त्रभिन्नमुदकमित्यादिबोधोत्तरं तत्सम्बन्धिग्रामलक्षणायामपि उदककर्तृकप्राप्तिकर्म ग्राम इत्यर्थालाभे प्राप्ते प्राप्तेति क्तप्रत्ययस्य कर्त्रर्थकस्य कर्मार्थे लक्षणा, ततोऽपि 'समानविभक्तिकनामार्थयोरभेद एव संसर्ग' इति व्युत्पत्त्या उदकाभिन्नं प्राप्तिकर्मेतिस्यात् । उदकस्य कर्तृतया प्राप्तावन्वये तु नामार्थयोरभेदान्वयव्युत्पत्तिभञ्जनं स्यादिति तात्पर्यम् । 'नामार्थप्रकारकशाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति विभक्त्यर्थोपस्थितेः कारणत्वम्' इति व्युत्पत्तिभञ्जनं च । मम तु पृथक् शक्त्यनङ्गीकारात् विशिष्टस्यैव विशिष्टार्थवाचकत्वात् नामार्थद्वयाभावान्न क्वचिदनुपपत्तिरित्यलम् ।

[इति समासादिवृत्त्यर्थनिरूपणम्]

इति श्रीशिवभट्टसुत-सतीदेवीगर्भज-नागेशभट्टकृता
परमलघुमञ्जूषा समाप्ता ॥

———

आहेति । भूषणकारिकायामिति शेषः । चकारादीति । घटश्च पटश्चेति वाक्ये यथा चकारप्रयोगो भवति तथैव घटपटाविति वृत्तावपि व्यपेक्षावादे प्राप्नोति तस्य निषेधो कर्तव्यः साहित्यद्योतनार्थं प्राप्तस्य चकारप्रयोगस्य लोपो वक्तव्य इति भावः । एकार्थीभावपक्षे तु पृथगुपस्थित्यभावात् पृथगुपस्थितिमूलकसमुच्चयस्याप्रतीत्या समुच्चय-विशिष्टस्यैव समुदायशक्त्या प्रतीत्या चकारप्रयोगस्य प्राप्तिरेव नेति महल्लाघवम् । प्राप्तेति—प्राप्त इत्यत्र कर्तरि क्तः । तथा च नामार्थयोरभेदान्वयं इति व्युत्पत्त्या प्राप्तिकर्त्रभिन्नमुदकमिति बोधोत्तरमित्यर्थः । तत्सम्बन्धीति । प्राप्तिकर्त्रभिन्नोदकसम्बन्धिग्रामे लक्षणायां सत्यामपि । अलाभे इति । सम्बन्धिलक्षणायामपि प्राप्तिकर्त्रभिन्नोदकसम्बन्धी ग्राम इत्येवार्थः स्यान्नतु उदककर्तृकप्राप्तिकर्म ग्राम इति । तात्पर्यमिति । अयं भावः—नामार्थयोर्भेदेन साक्षाद-

न्वयोऽव्युत्पन्न इति व्युत्पत्त्या उदकस्य कर्तृत्वसम्बन्धेन प्राप्तावन्वयोऽव्युत्पन्नः । अभेदेनैवान्वये कृते तु उदकाभिन्नप्राप्तिरित्याकारको बोधः स्यात् । उक्तव्युत्पत्तिस्तु अवश्यमङ्गीकार्या अन्यथा देवदत्तः पच्यते इत्यत्र देवदत्तस्य कर्तृत्वसम्बन्धेनान्वय-सम्भवेन इष्टस्यानन्वयास्यानापत्तेः । व्युत्पत्तिभञ्जनं चेति । नामार्थनिष्ठ-भेद-सम्बन्धा-वच्छिन्न-प्रकारता-निरूपितविशेष्यतासम्बन्धेन शाब्दबोधं प्रति विभक्तिजन्योपस्थितिः कारणमिति व्युत्पत्तिः । सापि नष्टा स्यात् । व्युत्पत्त्यस्वीकारे तु 'राज्ञः पुरुष' इत्यर्थे राजा पुरुष इत्यस्यापि प्रामाण्यापत्तिर्दुरुद्धरा । मम तु = एकार्थीभावे विशिष्टशक्ति-वादिनो वैयाकरणस्य तु । अत्रत्यं व्यपेक्षावादिनां मतस्य खण्डनं वैयाकरणभूषण सारे च विस्तरेण प्रतिपादितं तत एवावगन्तव्यमित्याह—अलमिति ।

इति आचार्य-जयशङ्करलालत्रिपाठि-विरचितायां भावप्रकाशिका-
व्याख्यायां वृत्त्यर्थ-निरूपणं समाप्तम् ।

व्यपेक्षा में अन्य दोषों का प्रदर्शन करते हैं—चकार आदि का निषेध और बहुत सी व्युत्पत्तियों का भञ्जन तुम्हें [व्यपेक्षावादियों को] करना होगा, हमारे [एकार्थी-भाववादियों के मत में] तो वह न्यायसिद्ध है, यह स्थिति = वास्तविकता है ।

[घटश्च पटश्च-इति] घटपटौ इस द्वन्द्व में साहित्यद्योतक चकार आदि का निषेध तुम [व्यपेक्षावादियों] को करना होगा । [कारिका के] 'आदि' शब्द से 'घनश्यामः' इत्यादि में [घन इव श्यामः के समान प्राप्त] इव शब्द [का निषेध = लोप तुम्हें करना होगा] । मेरे [एकार्थीभाववादियों के मत में] तो साहित्यादि से विशिष्ट में शक्ति स्वीकार करने से "उक्त अर्थवाले शब्दों का प्रयोग नहीं होता है" इस न्याय से उन [च, इव आदि] का प्रयोग नहीं होता है । बहुत सी व्युत्पत्तियों का भञ्जन यह—षष्ठ्यर्थ से भिन्न बहुव्रीहि 'प्राप्तोदकः' [प्राप्तम् उदकं यम्—इस द्वितीयार्थ बहुव्रीहि] इत्यादि में पृथक् शक्तिवादियों के मत में—प्राप्तिकर्ता से अभिन्न उदक—इत्यादि बोध के बाद उदकसम्बन्धी ग्राम में लक्षणा में भी 'उदक-कर्तृक प्राप्तिकर्मक ग्राम—इस अर्थ का लाभ [ज्ञान] न होने पर 'प्राप्त' इस कर्ता अर्थवाले प्रत्यय की कर्म अर्थ में लक्षणा [की जाती है], उससे भी 'समान विभक्तियों वाले नामार्थों का अभेद हो संसर्ग होता है' इस व्युत्पत्ति से उदकाभिन्न प्राप्तिकर्म यह बोध होगा । उदक का कर्तृत्वसम्बन्ध से प्राप्तिक्रिया में अन्वय करने में तो 'नामार्थों का अभेद सम्बन्ध से ही अन्वय होता है', इस व्युत्पत्ति का भंजन = विरोध होने लगेगा, यह तात्पर्य है । और "नामार्थ-प्रकारक शाब्दबोध के प्रति विभक्त्यर्थ की उपस्थिति कारण होती है' इस व्युत्पत्ति का भंजन होता है । मेरे

[एकार्थीभाववादियों के मत में] तो पृथक् शक्ति न मानने के कारण विशिष्ट [समुदाय] ही विशिष्ट अर्थ का वाचक होता है अतः दो नामार्थों के न होने से कहीं भी अनुपपत्ति नहीं है। इस प्रकार अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है।

विमर्श—व्यपेक्षावादियों के मत में प्रत्येक अर्थ के लिये अलग-अलग शब्दों की आवश्यकता होगी। अतः जैसे घटश्च पटश्च यहाँ साहित्य = सहित होना अर्थ के लिये 'च' शब्द का प्रयोग होता है उसी प्रकार घटपटौ यहाँ भी होना चाहिये। इसी प्रकार घनइवश्यामः = घनश्यामः में इव शब्द का प्रयोग प्राप्त होगा। इनका निषेध = लोप कहना पड़ेगा। यह गौरव है। एकार्थीभाववादी वैयाकरणों के मत में तो समास से ही इन अर्थों की प्रतीति हो जाती है। अतः उन अर्थों के लिए अलग से शब्दों के प्रयोग की आवश्यकता नहीं पड़ती है।

प्राप्तोदकः आदि में प्राप्तम् उदकं यम्—इस द्वितीया-अर्थ वाले बहुव्रीहि में—प्राप्तिकर्ता से अभिन्न उदक—ऐसा बोध करने के बाद उदक-सम्बन्धी ग्राम में लक्षणा करने में भी—उदक-कर्तृक-प्राप्तिकर्मक ग्राम—इस प्रकार के अर्थ का ज्ञान नहीं होगा। अतः 'प्राप्त' में जो क्त प्रत्यय कर्ता अर्थवाला है, उसकी कर्म अर्थ में लक्षणा करनी होगी। इससे भी 'उदकाभिन्न प्राप्तिकर्म' यही बोध होगा क्योंकि 'नामार्थ का नामार्थ के साथ अभेद सम्बन्ध ही रहता है।' यदि इस अभेदान्वय को न मान कर कर्तृत्व-सम्बन्ध से उदक का प्राप्ति में अन्वय करते हैं तो 'नामार्थों का अभेदान्वय होता है' इस व्युत्पत्ति का लोप होगा। और भी, 'जिस शाब्दबोध में नामार्थ प्रकार होता है वहाँ विभक्त्यर्थ की उपस्थिति कारण होती है' इसीलिये राज्ञःपुरुष में राजप्रकारक सम्बन्ध-विशेष्यक बोध होता है। यदि यह व्युत्पत्ति नहीं मानेंगे तो 'राजा पुरुषः' यह भी प्रामाणिक होने लगेगा। एकार्थीभाववादी के मतानुसार पूरा समुदाय एक ही नाम हो जाता है, दो नहीं रहते हैं, अतः उनके अन्वय आदि का प्रश्न नहीं उठता है। समुदाय ही विशिष्ट अर्थ का वाचक होता है। इस स्थिति में कहीं भी कोई अनुपपत्ति नहीं आती है।

इस प्रकार समासादि-वृत्तियों के अर्थ का विवेचन समाप्त हुआ।

इस प्रकार शिवभट्ट के पुत्र एवं सतीदेवी के गर्भ से उत्पन्न नागेशभट्ट द्वारा बनायी गयी परमलघु-मञ्जूषा समाप्त हुई।

।। इस प्रकार आचार्य जयशङ्करलाल त्रिपाठि-विरचित बाल-बोधिनी हिन्दी-व्याख्या में वृत्त्यर्थ-विवेचन समाप्त हुआ ।।

।। समाप्तश्चायं ग्रन्थः ।।

उद्धरण-सूची

उद्धरणानि	मूलस्थाननिर्देशः	पृष्ठम्
अकथितं च	पा० सू० १।४।५१	२४१
अक्ताः शर्करा उपदधाति	तै० ब्रा० १।१५।५	४१
अञ्जलिना जुहोति ।		४१
अञ्जलिना सूर्यमुपतिष्ठते		४१
अत एव......	वा० प० हेलाराज	२५३
अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे	श्लोकवार्त्तिक १।१।२।६	८८
अथ शब्दानुशासनम्	म० भा० पस्पशा	१४२
अथैतस्मिन् व्यपेक्षायाम्	म० भा० २।१।१	२६४
अधिशीङ्स्थासां कर्म	पा० सू० १।४।४६	११७
अनभिहिते	पा० सू० २।३।१	१३२, १३८
अनादिनिधनं ब्रह्म	वा० प० १।१	७४
अनेकव्यक्त्यभिव्यंग्या	वा० प० १।९३	८०
अपदं न प्रयुञ्जीत	म० भा०	३०१
अपादानमुत्तराणि कारकाणि	म० भा० १।४।१	२६१
अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटः	म० भा० पस्पशा०	१७५
अभ्यासार्थे द्रुता वृत्तिः	शिक्षा	७८
अरुणया पिङ्गाक्ष्या०	तै० सं० ६।१।६।७	१३८
अर्थवत्०	पा० सू० १।२।४५	३०३
अर्थवदिति किम्	म० भा० १।२।४५	३०१
असूर्यललाटयोः	पा० सू० ३।२।३६	१६२
अस्ति प्रवर्त्तनारूपम्	वा० प० नाम्नोद्धृतम्	१६१
आख्यातं तद्धितकृतोर्यत्	वा० प० २।२०६	३०७
आतश्च विषमीप्सितम्	म० भा० १।४।५७	२३६
आदिर्ञिटुडवः	पा० सू० १।३।५	२८५
आनन्त्येपि हि भावानाम्	तं० वा० ३।१।१२	२७६
आप्तो नामानुभवेन	चरक-संहिता	११
आर्हाद्	पा० सू० ६।१।१६	३८
आश्रयोऽवधिरुद्देश्यः	वै० भू० का० २४	२३०
इको यणचि	पा० सू० ६।७७	६५
उक्तार्थानामप्रयोगः		२८७, ३१२
उच्चारित एव शब्दः	म० भा० १।१।६९	१८४
उत्पन्नस्य सत्त्वस्य	निरुक्तम्	११७

उपकारः स यत्रास्ति	वा० प० ३।३।६	२२
उपपदमतिङ्।	पा० सू० २।२।१६	११४
उपेयप्रतिपत्त्यर्थाः	वैं० भू० का ६६	८
उपमानानि सामान्यवचनैः	पा० सू० २।१।५५	१५६
ऋतौ भार्यामुपेयात्	स्मृति०	१७७
एकदेशे समूहे वा	वा० प० ३।७।६८	१११
एकः इन्द्रशब्दः	म० भा० १।२।६४	६६
एवे चानियोगे।	का० वा०	१७४
एष वन्ध्यासुतो याति	कूर्मपुराणादौ।	२६
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म	ब्रह्मविद्योपनिषत् ३	२५
कर्तरि कृत्।	पा० सू० ३।४।६७	१३०
कर्त्ता कर्म च करणम्		२२३
कर्मणा यमभिप्रैति	पा० सू० १।४।३२	२५३
कर्मवत् कर्मणा	पा० सू० ३।१।८७	१२०
कारके	पा० सू० १।४।२३	१२४, १३२
कृत्तद्धित०	पा० सू० १।२।४६	३०१
क्रियाप्रधानमाख्यातम्	निरुक्त १।१	१०४
क्रियायाः परिनिष्पत्तिः	वा० प० ३।७।९०	२४६
खण्डिकोपाध्यायः शिष्याय	म० भा० १।१।१४	२५१
गुणभूतैरवयवैः०।।	वा० प० ३।८।४	१११
ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च	वा० प० १।५५-५६	२८८
चकारादिनिषेधोऽथ	वैं० भू० का० ३२	३१२
चक्रे सुबन्धुः	वासवदत्ता	२०५
चतुर्थी सम्प्रदाने	पा० सू० २।३।१२	२५३
(छन्दसि) लिङर्थे लेट्	पा० सू० ३।४।७	१९०
जहत्स्वार्था तु तत्रैव		३०६
णलुत्तमो वा	पा० सू० ७।१।९१	२०५
तत्त्वमसि	छा० उप० ६।८।७	५१
तत्र च दीयते	पा० सू० ५।१।९६	२६७
तत्साहश्यमभावश्च		१५६
तदाचद्वासुरेन्द्राय	दुर्गा सप्तशती ५।१२६	२५१
तथायुक्तम्	पा० सू० १।४।५०	२४०
तस्मिन्	पा० सू० १।१।६६	६५
तिङ्ङतिङः	पा० सू० ८।१।२८	२६२
तेजो वैधृतम्		४१
देवांश्च याभियंजते		२२१
धातुः पूर्वं साधनेन युज्यते	म० भा० ६।१।१५	१५०
धातुनोक्त०	वा० प० नास्ति	२२३

धातोः साधनयोगस्य	वा० प० २।१८४	१९२
नक्षत्रं दृष्ट्वा वाचं विसृजेत्		४८
नञिवयुक्तमन्यसदृश०	म० भा० ३।३।१९	१४४
नपदान्त०	पा० सू० १।१।५८	६२
न वै तिङन्तान्येकशेष०	म० भा० १।२।५८	२६२
न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके	वा० प० १।१२३	२८७
न हि गुड इत्युक्ते मधुरत्वम्	म० भा० २।१।१	१२
नह्याकृतिपदार्थस्य	म० भा० १।२।६४	२८०
नागृहीतविशेषणा		२७५
नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति	मै० सं० ४।७।६	२१६
पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः	वाल्मीकि० कि० कां०	१७७
पदसमूहो वाक्यम्	न्या० भा० २।१।२५	६
पदार्थः पदार्थेनान्वेति		२६७
पदे न वर्णाः विद्यन्ते	वा० प० १।७३	७५
परस्परव्यपेक्षां सामर्थ्यमेके	म० भा० २।१।१	८४
परा वाङ्मूलचक्रस्था		७२
पर्युदासः सदृग्ग्राही		१९८
पूर्वमुपसर्गेण०	म० भा० ६।१।१३५	१९०
प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दः	न्या० सू० १।१।३	११
प्रयोजनवती रूढा		२२
प्रसज्यप्रतिषेधोऽयम्		१६२
प्रसज्यायं क्रियागुणौ०	म० भा० २।२।६	१६२
फलव्यापारयोर्धातुः	वै० भू० का० २	१८४
फलव्यापारयोस्तत्र	वै० भू० का ३	१८४
बहूनां वृत्तिधर्माणाम्	वै० भू० का० ३१	३०९
बुद्धिस्थादभिसम्बन्धात्	वा० प० २।१८६	१९३
ब्राह्मणो न हन्तव्यः		२१६
व्रीहीनवहन्ति ।	आप० श्रौ० सू० १।१९।११	१७७
भावप्रधानमाख्यातम्	निरुक्तम् १।१	९६, १३४
भुवो वुग्लुङ्लिटोः ।	पा० सू१ ६।४।८८	२८८
भूसत्तायाम् ।	धा० पा० १	२८८
भेद्यभेदकयोश्चैक		२७१
यजतिषु येयजामहं करोति		१६७
यन्मासेऽतिक्रान्ते	म० भा० ५।१।९६	२६७
यश्च निम्बं परशुना	वा० प० पुण्यराज २।३१६	४२
यावत् सिद्धमसिद्धं वा	वा० प० ३।८।१	१११
रामेति द्व्यक्षरं नाम		२५

रुच्यर्थानां प्रीयमाणः	पा० सू० १।४।३३	२९३
लः कर्मणि	पा० सू० ३।४।६९	१०३, १०८
लटः शतृशानचौ	पा० सू० ३।२।१२।७	१३०, १६४
लोके व्यवायामिष०	भागवतम् ११।५।११	१७७
वर्तमाने लट्	पा० सू० ३।२।१२३	१८४
वाचकत्वाविशेषेऽपि	वा० प० ३।३।३०	३३
विधिरत्यन्तमप्राप्तौ	त० वा० १।४।४२	१७७
विभाषा	पा० सू० २।१।११	२६७
विशेषदर्शन यत्र	वा० प० ३।७।३६	११०
विषयत्वमनादृत्य	वा० प० १।५६	२८८
वृद्धिरादैच्	पा० सू० १।१।१	२५
शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान		२८०
शक्तिः पंकजशब्दवत्		२६८
शब्दज्ञानानुपाती	यो० सू० १।९	२५
शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेः ।	वा० प० १।७८	७८
संकेतस्तु पदपदार्थयोः	यो० भा० ३।१७	२२
संयोगो विप्रयोगश्च	वा० प० २।३१७–१०८	४०
संहितायाम्	पा० सू० ६।१।७२	२६६
सतां च न निषेधोऽस्ति०	खण्डनखण्डखाद्यम्	१७०
समयज्ञानार्थंचेदम्	न्या० भा०	२२
समानविभक्तिकानमार्थयोः		३१२
समानायामसर्थगत	ममा० पस्पशा०	३३
समासे खलुभिन्नैव	वै० भू० का० ३१	३०
समिधो यजति		२२१
सर्गादिभुवां महर्षि०	न्यायवाचस्पत्यम्	२५
सर्वं वाक्यं सावधारणम्		१७५
सर्वे सर्वार्थवाचकाः		९४
सविशेषणानां वृत्तिर्न	म० भा०	२६४
साक्षात् प्रत्यक्षतुल्ययोः	अमरकोष ३।२४८	१४५
सुप आत्मनः	पा० सू० ३।१।७	११७
सुबन्तं हि यथानेकतिङन्तस्य	वा० प० नास्ति	१३६
सौत्रामण्यां सुराग्रहान्		१७७
स्फोटस्य ग्रहणे हेतुः	वा० प० १।७७	७७
स्वरति-सूति	पा० सू० ७।२।४४	
स्वर्गकामो यजति	तै० सं० २।२।५	२०६
स्वर्गकामोऽश्वमेधेन		१७७
हुतशेषं भक्षयेत्		१७७
हेतुमति च ।	पा० सू० ३।१।२६	१०८

अशुद्धिपत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
भूमिका—			
यदाधर	गदाधर	६	१
शब्दबोध	शाब्दबोध	१७	२१
ग्राम	ग्रामं	२०	३
संयोग	संयोगः	२०	१३
व्यवछेद	व्यवच्छेद	२१	२३
ल	लः	२२	७
का	भूमिका	२३	शीर्षक
ग्रंथ—			
साधरण	साधारण	१	२०
पद पदाथयोः	पदपदार्थयोः	२२	२३
इतरेतराधयास	इतरेतराध्यास	२५	१
रुप	रूप	२७	२६
अथलक्षण	अर्थलक्षण	४६	१५
मामांसकादिमत	मीमांसकादिमत	५४	२६
लक्ष्यतावच्छेदक	लक्ष्यतावच्छेदकं	५६	१८
दार्थः	पदार्थः	६०	१६
जा	जो	६४	२
परश्रात्र	परश्रोत्र	७३	३
स्फाटरूपी	स्फोटरूपी	७३	६
उपपधेयस्य	उपधेयस्य	७६	२७
आकङ्क्षा	आकाङ्क्षा	८५	२८
निवर्हार्थं	निर्वाहार्थम्	९६	२४
अनुकूलत्वञ्चेति	अनुकूलत्वञ्चेति	९८	१६
परिधतिः	परस्थितिः	१०२	२
सर्वत्रोमय	सर्वत्रोभय	१०२	११
प्रीति	प्रतीति	११०	७
इत्थादि	इत्यादि	११०	२४
कारकांक्रययोः	कारकक्रिययोः	११२	७
भावासयादीनाम्	भावादस्त्यादीनाम्	११२	१०
अन्यकारस्य	अन्यकारकस्य	११४	२५
भावनायः	भावनायाः	११८	१
कर्मोमेवकर्म	कर्मोपमेयकर्म	११९	१-२
शविम	विमर्श	११९	२९
अध्यासित	अध्यासिताः	१२०	८
पूर्वार्घस्य	पूर्वार्धस्य	१२०	३१
नयायिक	नैयायिक	१२९	६
नामार्थयारभेद	नामार्थयोरभेद	१३२	१
क्रुछ	कुछ	१३३	१४
कारके "कारके"	"कारके"	१३४	५
पाकक्रियाश्रः	पाकक्रियाश्रयः	१३५	२८
प्रधान्य	प्राधान्य	१३६	७

सुपष्ट	सुस्पष्ट	१३७	१७
क्रिया विशेष्यैव	क्रिया विशेषस्यैव	१३७	२३
तत्प्रतयाख्यान	तत्प्रत्याख्यान	१३९	९
गचकवाचकपदं	वाचकपदम्	१४३	४
ब्याकरणों	वैयाकरणों	१४५	६
धातत्वं	धातुत्वं	१५२	३२
परनिष्ठपदा	परिनिष्ठितपदा	१५३	१६
कश्चि	कश्चिद्	१५७	१३
पुम्वद्भावः	पुम्वद्भावः	१५७	२५
समव्याहृत	समभिव्याहृत	१६२	१८
त्वंना	त्वं नासीरयत्र	१६६	३३
वाय्यधिकणिका	वाय्वधिकरणिका	१६९	१२
घटपदस्य	घटपदस्य	१७२	१६
नयायिक	नैयायिक	१७३	९
नियोगोऽधारणम्	नियोगोऽवधारणम्	१७४	२
दाढ्यं	दाढर्यं	१७४	३१
वक्रता	वक्रता	१७८	२४
जह	जहां	१९०	१
लङर्थे	लिङर्थे	१९०	१७
सर्गः	संसर्गः	१९७	३
बोधस्यव	बोधस्यैव	१९८	२५
यगपदेव	युगपदेव	२००	३२
चेष्टनिष्ट	चेष्टनिष्ठ	२१६	४
नयायिकमत	नैयायिकमत	२१७	२५
निव :	निर्वाह्यः	२२१	२५
स्थानिना	स्थानिनां	२२१	२६
सराच्च	सत्वाच्च	२२८	३२
बाधाभावात्त्	बाधाभावात्	२३४	१४
बोधत	बोधित	२३५	२३
विभान्नुकूल	विभागानुकूल	२४३	१०
मस्त्वित	मस्त्विति	२४०	१४
ज्या	क्या	२६१	२६
एका	एको	२६२	२७
प्रत्यार्थस्यैव	प्रत्ययार्थस्यैव	२७१	२३
बाधे	बोधे	२७६	११
तरेभ्यी	तरेभ्यो	२७७	२७
सानिध्य	सान्निध्य	२८१	१७
लत्तण	लक्षण	२८१	२९
नष्टत्व	निष्ठत्व	२८४	२०
प्रत्थय	प्रत्यय	२८७	१८
बाधः	बोधः	२८८	१८
शक्त	शक्ती	२८८	२६